विषय-सूची

अध्याय | पृष्ठ

अध्याय १

अर्थशास्त्र की परिभाषा और उसका क्षेत्र

प्रत्येक व्यक्ति की अनेक आवश्यकताएँ होती है परन्तु जिन वस्तुओ या सेवाओ में आवश्यकता-पूर्ति की शक्ति होती है वे मुफ्त नही मिलती। उन वस्तुओ या सेवाओ के प्राप्त करने के लिए परिश्रम करना पडता है। इस कारण मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति तभी हो सकती है जब वह परिश्रम करके उन वस्तुओ अथवा सेवाओ को प्राप्त करे जो उसकी आवश्यकताओ की पूर्ति कर सके। यह तो सत्य है कि प्रकृति कुछ वस्तुएँ या शक्तियाँ मनुष्य जाति को मुफ्त देती है इस अर्थ मे कि जब प्रकृति मनुष्य जाति को सूर्य का प्रकाश, हवा, वर्षा, नदी, पहाड, इत्यादि देती है तो वह मनुष्य जाति से उनका मूल्य नही माँगती। सूर्य यह कभी नही कहता कि मै आज अस्त हो रहा हूँ और कल उदय नही होऊँगा, क्योकि जो मैने आज प्रकाश दिया उसका मूल्य मुझको मनुष्य जाति ने कुछ नही दिया। हवा यह कभी नही कहती कि मै अब नही बहूँगी और न मनुष्यो को साँस ही लेने दूँगी क्योकि मेरी इन सेवाओ का मुझको कुछ पुरस्कार नही मिलता। इसी तरह वर्षा भी यह कभी नही कहती कि मुझको कुछ मूल्य दो और न नदी या पहाड कभी यह कहते है कि हम मनुष्य जाति की सेवा तभी करेगे जब हमको कुछ वेतन मिलेगा। प्रकृति अवश्य इन वस्तुओ का कोई मूल्य नही माँगती। परन्तु इसका यह तात्पर्य नही कि मनुष्य इन वस्तुओ का प्रयोग बिना परिश्रम के ही कर सकता है। हवा साधारणत मुफ्त मिलती है परन्तु साँस लेने में कुछ परिश्रम करना पडता है और तभी हमारी साँस लेने की आवश्यकता की पूर्ति होती है। यदि मनुष्य की इन्द्रियाँ साँस लेने का परिश्रम बन्द कर दें तो चाहे प्रकृति हवा मुफ्त में ही क्यो न देती हो, मनुष्य की साँस लेने की आवश्यकता की पूर्ति नही हो सकती और उसका जीवित रहना असम्भव हो जायगा। नदी या कुएँ से पानी मुफ्त मे ही मिलता हो परन्तु जब किसी व्यक्ति को प्यास लगती है तो उसको बुझाने के लिए कुएँ या नदी के पास जाना पडता है और अपने हाथो परिश्रम द्वारा पानी उठाकर पानी पीना पडता है और तभी प्यास की आवश्यकता की पूर्ति होती है। कुँआ या नदी मनुष्य के पास नही आते वरन् मनुष्य को अपनी

प्यास बुझाने के लिए उनके पास जाना पड़ता है। यदि कुँआ या नदी मनुष्य के समीप हो तो वह थोड़ा सा परिश्रम करने पर ही अपनी प्यास बुझा सकता है। जब कोई नदी चार-पाँच मील या और अधिक दूर हो तो प्यास बुझाने के लिए उतना ही अधिक परिश्रम करना होगा। जब कुँआ या नदी पानी मुफ्त देते हैं तो प्यास बुझाने के लिए केवल पानी प्राप्त और सेवन करने का ही परिश्रम करना पड़ता है। जब पानी मुफ्त न मिले तो उसको प्राप्त करने का परिश्रम और अधिक होगा क्योंकि ऐसी अवस्था में पानी मोल लेना होगा और पानी मोल लेने के लिए या तो परिश्रम करके कुछ रुपया कमाना होगा या किसी वस्तु का उत्पादन करना होगा जिसको देकर हम पानी प्राप्त कर सकें। फिर यह भी आवश्यक नहीं कि यदि कोई वस्तु मुफ्त मिलती है तो वह लाभदायक ही हो। अनेक बार हवा से तूफान आता है, अधिक वर्षा से बाढ़ और अधिक सूर्य की गर्मी से मनुष्य बीमार पड़ जाते हैं। अर्थात् प्रकृति की मुफ्त दी हुई वस्तुओं से हानि भी हो सकती है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मनुष्य की बिना परिश्रम किये किसी भी आवश्यकता की पूर्ति नहीं हो सकती। हवा, पानी या अन्य वस्तुओं की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए परिश्रम करना अनिवार्य है। कुछ वस्तुओं के लिए कम परिश्रम करना पड़ता है, कुछ के लिए अधिक। दूसरी ओर मनुष्य की आवश्यकताएँ असीमित होती हैं। मनुष्य को खाने के लिए अच्छे भोजन और पहनने को वस्त्र और रहने को आश्रय ही नहीं बल्कि उत्तम वस्त्र, शानदार मकान, मोटर, रेडियो, हवाई जहाज इत्यादि अनेक वस्तुएँ चाहिये। उसको अपार धन और शक्ति भी चाहिये। इन असीमित आवश्यकताओं की पूर्ति करना किसी भी मनुष्य की सामर्थ्य से बाहर है क्योंकि उसके साधन और समय सीमित है। सीमित समय में वह असीमित वस्तुओं का उत्पादन नहीं कर सकता। उसकी परिश्रम करने की शक्ति भी सीमित है और इसी कारण से उसके साधन भी सीमित मात्रा में हैं। सारांश यह है कि मनुष्य के एक ओर तो असीमित आवश्यकताएँ है और दूसरी ओर इन आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए उसके साधन और समय सीमित हैं। इसी कारण उसके सामने एक बड़ी समस्या आ खड़ी होती है। यदि उसकी असीमित आवश्यकताओं के साथ उसके साधन और समय भी असीमित होते तो उसके सामने कोई समस्या न थी, क्योंकि वह अपनी प्रत्येक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता था; और यदि उसके साधन और समय सीमित है तो उसकी आवश्यकताएँ भी इतनी ही होतीं कि उन साधनों से और उस समय में उन आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती तो भी कोई समस्या न थी। परन्तु व्यावहारिक जीवन में तो

मानुषिक आवश्यकताएँ असीमित हैं और उनकी पूर्ति के लिए समय और साधन सीमित हैं। साथ ही साथ आवश्यकताओ की एक बार पूर्ति होने से उनकी सदा के लिए तृप्ति नही हो जाती और कुछ घण्टो या समय के बाद उन्ही आवश्यकताओ का फिर से अनुभव होता है और नई आवश्यकताएँ प्रतिदिन उत्पन्न होती रहती हैं। ऐसी स्थिति मे मनुष्य का लक्ष्य यह होता है कि वह अपने सीमित समय व साधनो का प्रयोग इस तरह करे कि वह अपनी अधिक से अधिक आवश्यकताओ की पूर्ति कर सके जिससे अधिकतम सन्तोष प्राप्त हो। प्रत्येक मनुष्य का यही लक्ष्य होता है। जब आप रोटी खाते है, पढते है, ज्ञान प्राप्त करते हैं, धन कमाते है, कलक्टर बनना चाहते है तो इसी लक्ष्य की पूर्ति मे ही आप काम करते है क्योंकि इन अन्य कार्यो से आप अपनी आवश्यकताओ की तृप्ति करने का प्रयत्न करते है जिससे अधिकतम सन्तोष प्राप्त हो। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए प्रत्येक मनुष्य के सामने एक निर्वाचन समस्या उपस्थित होती है कि वह अपने सीमित साधनो से किन आवश्यकताओ की पूर्ति करे और किन आवश्यकताओ को अतृप्त ही रहने दे। अर्थशास्त्र इसी का अध्ययन करता है कि मनुष्य अपने सीमित समय, परिश्रम या साधनो को किस प्रकार उपयोग में लाये कि जिससे उसको अधिकतम सन्तोष प्राप्त हो। यदि यह सन्तोष उसको उचित आवश्यकताओ की पूर्ति से प्राप्त होता है तो उसको अधिक सन्तोष से अधिक सुख भी प्राप्त होगा। मनुष्य-जीवन का मुख्य लक्ष्य पूर्ण सुख प्राप्त करना है परन्तु उसकी प्राप्ति में सीमित समय और साधन बाधाएँ हैं। अर्थशास्त्र में हम मानवीय आचरणो का इस दृष्टिकोण से अध्ययन करते है कि सीमित साधनो का मनुष्य किस प्रकार प्रयोग करता है कि जिससे उसको अधिक सुख प्राप्त हो। वह कुछ आवश्यकताओ की पूर्ति करता है और विवश होने के कारण कुछ आवश्यकताएँ अतृप्त ही रह जाती हैं। जब कुछ आवश्यकताओ की पूर्ति होती है तो कुछ अन्य आवश्यकताएँ अतृप्त रह जाती हैं। अर्थशास्त्र स्वार्थो की एकात्मकता नही बतलाता परन्तु उनके पारस्परिक विरोध की ओर दृष्टि आकर्षित करता है। यदि मनुष्य अपनी एक आवश्यकता की पूर्ति करता है तो वह उस समय और साधनो को दूसरी आवश्यकता की पूर्ति में नही ला सकता और उन दूसरी आवश्यकताओ को अतृप्त ही रखना पडता है। इससे स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र प्रकृति की उदारता और विपुल सम्पत्ति की प्रशसा न करके उसकी क्रूरता की ओर ध्यान आकृष्ट करता है क्योंकि इसी कारण तो मनुष्य अपनी सारी आवश्यकताओ की पूर्ति नही कर सकता और उसके सामने एक निर्वाचन समस्या उपस्थित हो जाती है। अर्थशास्त्र जीवन के शोकान्त-पक्ष की ओर भी दृष्टि आकृष्ट

करता है और बतलाता है कि मनुष्य यदि एक आवश्यकता की पूर्ति करता है तो उसको अपनी कुछ अन्य आवश्यकताएँ विवश होकर अतृप्त रखनी होगी। जहाँ कही मानवीय आचरण अभाव से संघर्ष करता है वहाँ ही आर्थिक पक्ष विद्यमान रहता है क्योकि यदि वस्तुओ का अभाव न हो तो कोई आर्थिक समस्या उपस्थित ही नही होती है। आर्थिक समस्या तो तभी उठती है जब वस्तुओ का अभाव हो और आपको यह निश्चित करना पडे कि आप अपने परिश्रम और समय को किन वस्तुओ को प्राप्त करने में प्रयोग करे कि जिनसे उन वस्तुओ की आवश्यकता की पूर्ति हो और अन्य वस्तुओ की आवश्यकताएँ अतृप्त रहें। वस्तुओ का अभाव और समय और साधनो का सीमित होना ही एक निर्वाचन समस्या उपस्थित कर देता है और जहाँ कहीं या जब भी एक निर्वाचन समस्या उपस्थित होती है तब एक आर्थिक समस्या खडी हो जाती है, क्योकि ऐसी स्थिति में यह निश्चित करना पडता है कि अधिकतम सन्तोष या सुख प्राप्त करने के लिए किस प्रकार का आचरण किया जाय।

मनुष्य की प्रत्येक आवश्यकता चेतन नही होती, कुछ आवश्यकताएँ अचेतन होती हैं। चेतन आवश्यकताओ से मनुष्य को दुख होता है और यह दुख उन आवश्यकताओ की तृप्ति से ही मिटता है जिससे सुख प्राप्त होता है। अचेतन आवश्यकताओ की सन्तुष्टि से सुख होता है परन्तु उनके अतृप्त रहने से दुख नही होता है। कुछ सन्तोषी प्रकृति के मनुष्य, साधु-महात्मा अपनी अनेक चेतन आवश्यकताओ को त्याग देते हैं जिस कारण उनकी अतृप्ति से उन्हें दुख नही होता है। मनुष्य को अधिक से अधिक उचित आवश्यकताओ की उचित रीति से तृप्ति करने से अधिक सुख प्राप्त होता है क्योकि अतृप्त आवश्यकताओ की मात्रा कम हो जाती है, परन्तु जब अधिक आवश्यकताओ के सन्तुष्ट करने से अनेक नई आवश्यकताएँ उत्पन्न होती जाँय जो अतृप्त रहें तो उनसे उत्पन्न हुआ दुख भी बढता जाता है। पिछली कुछ सदियो में उत्पादन मे उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है जिसके कारण वर्तमान मे मनुष्य अनेक प्रकार की वस्तु और सेवाओं का उपभोग अधिक करता है परन्तु केवल इसी बात का ध्यान रखकर हम यह नही कह सकते कि वह अपने पूर्वजो से अधिक सुखी है, क्योकि उनके उपभोग की मात्रा और प्रकार आज की अपेक्षा कम थे। यदि वर्तमान का मनुष्य अपनी अधिक आवश्यकताओ की पूर्ति कर सकता है तो साथ ही साथ उसकी अतृप्त आवश्यकताओ की मात्रा भी बहुत अधिक है। रेडियो, मोटर, बिजली का पंखा इत्यादि सुख के अच्छे साधन हैं परन्तु इनके उत्पादन से अनेक मनुष्य अपनी इन वस्तुओं की आवश्यकता की पूर्ति नही कर सकते जिससे उनकी अतृप्त आवश्यक-

ताओ की मात्रा बढ जाती है। और जो व्यक्ति इन वस्तुओ को प्राप्त कर सकते हैं उनको अन्य कई मूल्यवान वस्तुओ को प्राप्त करने की इच्छा रहती है। वास्तविक सुख अधिक आवश्यकताओ की पूर्ति से ही नही मिलता। अधिक आवश्यकताओ की पूर्ति से अधिक उपयोगिता तो प्राप्त होती है परन्तु अधिक उपयोगिता प्राप्त होने से अधिक सुख नही मिलता। वास्तव में सुख तृप्त आवश्यकताओ पर ही निर्भर नही परन्तु अतृप्त आवश्यकताओ पर भी निर्भर है। अधिक आवश्यकताओ की तृप्ति करने से अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है परन्तु अधिक अतृप्त आवश्यकताओ से अधिक दुख भी होता है और वास्तव मे सुख इन दोनो पर ही निर्भर है। यदि एक व्यक्ति अपनी दूसरे की अपेक्षा अधिक आवश्यकताओ की पूर्ति करता हो तो यह आवश्यक नही कि वह उससे अधिक सुखी हो, क्योकि सम्भव है उसकी अतृप्त आवश्यकताएँ जो दुख देती हो दूसरे की अपेक्षा कही अधिक हो। धनी व्यक्ति एक गरीब व्यक्ति की अपेक्षा अधिक आवश्यकताओ की पूर्ति करता है जिससे उसको अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है। परन्तु यह आवश्यक नही कि वह गरीब व्यक्ति की अपेक्षा अधिक सुखी हो। यह सम्भव है कि इस धनी व्यक्ति की अतृप्त आवश्यकताएँ भी अधिक हो और उनकी अतृप्ति से इसको दुख भी अधिक होता हो, जब कि गरीब व्यक्ति की अतृप्त आवश्यकताएँ कम हो और उनकी अतृप्ति से उसको कम दुख होता हो क्योकि वह अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार जो कुछ प्राप्त कर सकता हो उसी में प्रसन्न रहता हो।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि किसी व्यक्ति को पूर्ण सुख तभी प्राप्त हो सकता है जब वह अपनी प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति करे और कोई आवश्यकता अतृप्त न रहे। परन्तु यह सम्भव नही क्योकि आवश्यकताएँ असीमित होती हैं और उन सबकी पूर्ति नही हो सकती। यदि वह अपनी बहुत सी आवश्यकताओ की पूर्ति कर भी ले तो भी कुछ आवश्यकताएँ अतृप्त रह जाती हैं और जिन आवश्यकताओ की पूर्ति एक बार हो भी जाती है उनका पुन उसे अनुभव होता है। आवश्यकताओ के अस्तित्व से दुख होता है और इस दुख को मिटाने ही के लिए मनुष्य परिश्रम करके आवश्यकताओ की पूर्ति करता है। इस कारण यदि आवश्यकताएँ हो ही नही तो दुख भी न हो और दुख उत्पन्न होने का कोई कारण ही न रहे। दुख का अभाव ही सुख है। इन्ही विचारो को सामने रखते हुए प्रो० मेहता का कथन है कि पूर्ण सुख प्राप्त करने के लिए मनुष्य को एक ऐसी स्थिति पर पहुँचना चाहिए जहाँ उसे कोई आवश्यकता ही न रहे। इसी कारण उन्होने अर्थशास्त्र की परिभाषा इन शब्दो में की है, "अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मानवी आचरणो का इस दृष्टि से अध्ययन

करता है कि वह आचरण मनुष्य को ऐसी स्थिति पर, जहाँ कोई आवश्यकता ही न हो, पहुँचाने मे कहाँ तक सहायक है *।" आवश्यकताओ से छुटकारा मोक्ष मिलने पर ही होता है। अर्थात् पूर्ण सुख तभी प्राप्त होता है जब आवश्यकताओ के बन्धन से शरीर मुक्त हो जाय। परन्तु जब तक मनुष्य जीवित है यह सम्भव नही। जब तक मनुष्य जीवित रहता है शरीर की कुछ न कुछ आवश्यकताएँ होती हैं जिनकी पूर्ति करना जीवित रहने के लिए अनिवार्य है। हवा, पानी और कुछ मात्रा मे भोजन का सेवन किये बिना मनुष्य अधिक समय तक जीवित नही रह सकता। परन्तु मनुष्य के लिए यह सम्भव है कि वह अपनी आवश्यकताओ को कम कर दे जिससे उनके अनुभव से जो दुख होता है कम हो जाय। इस विवेचन से हम आवश्यकताओ के त्याग के आदर्श पर पहुँचते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उन आवश्यकताओ का जिसकी वह पूर्ति न कर सके त्याग करने का प्रयत्न करना चाहिये जिससे वह अपनी आवश्यकताओ को इतना घटा दे कि उसके साधनो से उन घटी हुई सब आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। ऐसी स्थिति में कोई अतृप्त आवश्यकता न होगी क्योकि जिन आवश्यकताओ की पूर्ति करने के साधन उसके पास न होगे उनको वह त्याग देगा और बची हुई आवश्यकताओ की पूर्ति वह अपने साधनो के द्वारा कर लेगा। इन तृप्त आवश्यकताओ का कुछ समय पश्चात् फिर से अनुभव होगा और इस कारण उसको उनकी तृप्ति बार बार करनी होगी। इससे हमारा यह तात्पर्य नही कि मनुष्य अपनी आर्थिक उन्नति के प्रयत्न न करे। उसको ऐसे प्रयत्न करने चाहिये जिससे वह अपना जीवन अधिक सुखी बना सके। परन्तु सुख के लिए सन्तुष्ट होना आवश्यक है और इसी कारण मनुष्य को अपनी अनुचित और व्यर्थ आवश्यकताओ का त्याग कर देना चाहिये। ऐसा करने से यदि उसकी आय कम है तो भी उसकी अतृप्त आवश्यकताओ से उसको दुख बहुत कम होगा।

अर्थशास्त्र गाय, बैल व अन्य पशुओ के आचरणो का अध्ययन नही करता †। वह तो केवल मानवी आचरणो का ही अध्ययन करता है।

---

* "Economics must therefore be defined as the science of human activities considered as an endeavour to reach the state of wantlessness."—Prof. J. K Mehta, "Advanced Economic Theory"

† जिस अर्थशास्त्र का हम अध्ययन करते है वह केवल मानवी आचरणो से ही सम्बन्ध रखता है। गाय, बैल व अन्य पशुओ को भी निर्वाचन

इन समस्याओं का अध्ययन इस दृष्टि से करता है कि वस्तु के अभाव का इन आवश्यकताओं पर क्या प्रभाव पड़ता है। यदि प्रत्येक वस्तु अपार मात्रा में प्राप्त हो, फिर तो अर्थशास्त्र की आवश्यकता ही नहीं रह जाती क्योंकि ऐसी स्थिति में कोई समस्या ही नहीं होती। परन्तु संसार में सब वस्तुएँ और सेवाओं को प्राप्त करने के लिए उद्योग करना पड़ता है। इसी कारण प्रत्येक मानवी आचरण अभाव से प्रभावित रहता है। यदि मनुष्य एक समय में एक कार्य करता है तो कोई दूसरा कार्य उस समय नहीं कर सकता। इस कारण उसको यह निश्चित करना पड़ता है कि वह कौन से कार्य करे और किन की आवश्यकताओं की पूर्ति करे जिससे उसको अधिकतम सुख प्राप्त हो। यह कहना भूल है कि कुछ मानवी आचरण आर्थिक होते हैं और कुछ नहीं होते। वास्तव में प्रत्येक मानवीय आचरण का आर्थिक पक्ष भी होता है जिस प्रकार उसी आचरण के राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, कानूनी इत्यादि पक्ष भी होते हैं। अर्थशास्त्र में हम प्रत्येक आचरण के एक ही पक्ष से अध्ययन करते हैं। इस कारण केवल अर्थशास्त्र का अध्ययन मानवी आचरणों का बिल्कुल अपूर्ण अध्ययन है। उन आचरणो के सब पक्षो का अध्ययन करने के लिए विभिन्न विज्ञानो का अध्ययन करना आवश्यक है; तभी हम मनुष्य के आचरणो के सम्पूर्ण पक्षो का अध्ययन कर सकते हैं। इस कारण यह कहना गलत है कि यदि कोई व्यक्ति अपने प्रयोग के लिए धन कमाता है तो उसका अर्थशास्त्र में अध्ययन होता है और यदि प० जवाहरलाल नेहरू या गाधी जी देश की सेवा के लिए कार्य करते हैं तो उन कार्यों का अध्ययन नही होता या जब कोई व्यक्ति ईश्वर-भक्ति करता है तो उसका अध्ययन नही होता। अर्थशास्त्र में इन सब आचरणो का अध्ययन होता है परन्तु उनके आर्थिक पक्ष का ही। प्रत्येक व्यक्ति (चाहे देशभक्ति से या ईश्वर-भक्ति से या धन कमाने से) अपनी विभिन्न रीतियो से पूर्ण सुख प्राप्त करना चाहता है। महात्मा गाधी देशसेवा इसलिए करते थे कि उनकी देशसेवा की आवश्यकता की पूर्ति हो और उस पूर्ति से उनको सुख प्राप्त हो। इसी प्रकार जब कोई मनुष्य ईश्वर-भक्ति करता है तो वह भक्ति इसी कारण करता है कि

समस्या का सामना करना पडता है। क्योकि उनको भी यह निश्चय करना पडता है कि वह अपने सीमित साधनो से अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति किस प्रकार करें। इस कारण पशुओ के आचरणो के अध्ययन का भी एक नवीन अर्थशास्त्र विज्ञान में अध्ययन हो सकता है।

उससे उसकी एक आवश्यकता की पूर्ति होती है और उसको सुख प्राप्त होता है। जब वह ईश्वर-भक्ति करता है तो उस समय सो नही सकता, बातचीत नही कर सकता, पढ नही सकता, किसी कारखाने में काम नही कर सकता इत्यादि। अर्थात् एक विशेष समय अपनी ईश्वर-भक्ति की आवश्यकता-पूर्ति करने के कारण वह अपनी अन्य आवश्यकताओ की पूर्ति नही कर सकता। उन अनेक आवश्यकताओ की पूर्ति की अपेक्षा वह उस समय ईश्वर-भक्ति की आवश्यकता की पूर्ति करता है क्योकि इससे उसको अधिक सुख प्राप्त होता है। आप भोजन करते है, पढ़ते है, ज्ञान प्राप्त करते है, धन प्राप्त करते है, कलक्टर होना चाहते हैं, न्यायाधीश होना चाहते है, परीक्षा में सफल होना चाहते है, ईश्वर-भक्ति करते है, देश-सेवा इत्यादि करते है इसी कारण कि आप अपनी विभिन्न आवश्यकताओ की पूर्ति करके अधिक सुख प्राप्त कर सके। कोई व्यक्ति धन कमाना देशसेवा से अधिक लाभदायक समझता है और कोई अन्य व्यक्ति इसके विपरीत समझता है। इस कारण एक व्यक्ति अपना समय देशसेवा में व्यतीत नही करता क्योकि उसको अन्य कार्यो से ही अधिक सुख प्राप्त होता है। दूसरा व्यक्ति जिसे देशसेवा से अधिक सुख प्राप्त होता है अपना अधिक समय देशसेवा में ही व्यतीत करता है क्योकि उसको अन्य कार्यो से इतना सुख नही मिलता। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति अधिक सुख प्राप्त करने के लिए ही अपने विभिन्न कार्य विभिन्न प्रकार से करता है। चोर चोरी इसलिए करता है क्योकि इससे उसकी आवश्यकता की पूर्ति होती है और उपयोगिता प्राप्त होती है। अर्थशास्त्र उसको यह बतलाता है कि वह चोरी किस तरह करे कि जिससे कम से कम परिश्रम करने से वह सफल हो सके। वह चोरी इसलिए भी करता है क्योकि उसे परिश्रम की अपेक्षा चोरी करके धन कमाना सरल और अच्छा लगता है। कुछ व्यक्ति मादक वस्तुओ का उपयोग करते है क्योकि उनको उससे उस समय उपयोगिता प्राप्त होती है चाहे बाद मे हानि ही हो और उन्हें पछताना पडे। इसी प्रकार कुछ लोग ईमानदारी की अपेक्षा बेइमानी और धोखे से धन कमाते है क्योकि उनको ऐसा करने से अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है। यदि आप एक अर्थशास्त्री से पूछें कि "मै उस व्यक्ति को चपत लगाऊँ या नही" तो वह यही उत्तर देगा कि यदि आपको चपत लगाने से उपयोगिता प्राप्त होती हो तो ऐसा करिये, अन्यथा नही। इसी तरह यदि आप उसकी राय लें कि आप शराब का सेवन करें या चोरी करे या नही, तो वह यही उत्तर देगा कि यदि इन कार्यो से आपको उपयोगिता प्राप्त हो और आपकी आवश्यकता की पूर्ति होती हो तो आप ऐसे कार्य अवश्य कीजिये। इसी कारण कुछ लेखको का कहना है

कि अर्थशास्त्र आवश्यकताओं की अच्छाई बुराई का निर्णय नहीं करता। मनुष्य की आवश्यकता चाहे अच्छी हो या बुरी नैतिक या अनैतिक, यदि उसकी पूर्ति से उपयोगिता प्राप्त होती है तो अर्थशास्त्र की दृष्टि से उसकी पूर्ति करनी चाहिये। परन्तु यह तभी सत्य है जब हम केवल उस की आवश्यकता पर ध्यान दें। यदि हम मनुष्य के मुख्य और अन्तिम लक्ष्य अर्थात् अधिकतम सुख प्राप्त करने पर ध्यान दें तो हम यह पाते हैं कि मादक वस्तुओं का सेवन करना उसको उसके इस लक्ष्य से दूर ले जायेगा। इन अनुचित आवश्यकताओं की पूर्ति से उस समय तो चाहे उसे उपयोगिता प्राप्त होती हो परन्तु कुछ समय बाद उसको पछताना पड़ेगा कि उसने अपनी शक्तियों का दुरुपयोग किया। जिससे उसके अन्तःकरण को दुःख होगा और आत्मा का पतन होगा। इसी कारण उच्च और उचित आवश्यकताओं की पूर्ति, नैतिक रीति से मनुष्य के सत्य और अन्तिम लक्ष्य पर पहुँचने के लिए, अधिक लाभदायक है और इसके विपरीत आचरण करना अनुचित और हानिकारक है। यदि मनुष्य के अनेक कार्यों को हम इस दृष्टि से देखें तो हम कह सकते हैं कि उसको उन कार्यों का करना उचित नहीं है जो उसे उसके लक्ष्य से दूर ले जायं। इसी कारण एक अर्थशास्त्री चोर को चोरी करने की सलाह न देगा चाहे उसको उस समय चोरी करने से उपयोगिता ही प्राप्त हो क्योंकि ऐसा करने से वह अपने अन्तिम और मुख्य लक्ष्य से दूर हट जायेगा।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं अर्थशास्त्र मानवी आचरणो के एक ही पक्ष का अध्ययन करता है। यदि एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के चपत लगाता है तो इसी क्रिया को अर्थशास्त्र इस दृष्टि से अध्ययन करेगा कि इस व्यक्ति की एक आवश्यकता थी और चपत लगाने का परिश्रम करने से उस आवश्यकता की पूर्ति हो गई, जिससे उसको उपयोगिता प्राप्त हुई। धार्मिक दृष्टि से इस क्रिया की निन्दा करेंगे, कानूनी दृष्टि से उसे इस क्रिया के करने का दण्ड मिलेगा। इसी तरह हिरोशिमा पर जो एटम बम गिरा उस क्रिया का अध्ययन हम विभिन्न विज्ञानो की दृष्टि से कर सकते है। भौतिक विज्ञान उसको इस दृष्टि से देखता है कि एक एटम को तोडने से इतनी शक्ति उत्पन्न होती है कि लाखो मनुष्यो को हानि पहुँचती है और एक बडा शहर नष्ट हो जाता है। राजनैतिक दृष्टि से इस क्रिया का इतना महत्त्व था कि इसके कारण जापान को सुलह की भीख माँगनी पडी। धार्मिक दृष्टि से अमरीका के लिए यह उचित न था कि वह युद्ध जीतने के लिए हजारो निर्दोप व्यक्तियो को मौत के घाट उतार दे। ऐतिहासिक दृष्टि से इस घटना का वहुत महत्त्व है कि जिसने युद्ध के सारे इतिहास को एक नई ओर मोड दिया।

आर्थिक दृष्टि से अमरीका ने एटम बम का प्रयोग इस कारण किया कि युद्ध मे अधिक परिश्रम करने की अपेक्षा शीघ्र ही विजय प्राप्त कर लें। इस तरह अमरीका ने युद्ध जीतने की आवश्यकता की पूर्ति की और परिश्रम की बचत भी की। एक ही क्रिया का विभिन्न विज्ञानो मे विभिन्न दृष्टि से अध्ययन होता है। यह कहना अनुचित होगा कि अमुक क्रिया राजनैतिक या धार्मिक है, इस कारण उसका अध्ययन अर्थशास्त्र मे नही होता। कोई विशेष क्रिया न धार्मिक है, न राजनैतिक है, न आर्थिक, परन्तु प्रत्येक क्रिया का प्रत्येक विज्ञान की दृष्टि से अध्ययन किया जा सकता है। हम अर्थशास्त्र में प्रत्येक क्रिया का आर्थिक दृष्टि से अध्ययन करते हैं जिस प्रकार अन्य विज्ञानो में उसी क्रिया का उन विज्ञानो की दृष्टि से अध्ययन कर सकते हैं। यदि हम किसी क्रिया का पूर्ण अध्ययन करना चाहते हो तो यह तभी सम्भव है जब हम उस क्रिया का विभिन्न विज्ञानो की दृष्टि से अध्ययन करे।

रौबिन्स (Robbins) की अर्थशास्त्र की परिभाषा

'लण्डन स्कूल आफ इकोनौमिक्स' के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रोफेसर रौबिन्स ने अर्थशास्त्र की परिभाषा इन शब्दो में की है* :—

"अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मानवीय आचरणो का, साध्य और सीमित साधनो के विभिन्न प्रयोगो के पारस्परिक सम्बन्ध की दृष्टि से अध्ययन करता है।"

प्रोफेसर रौबिन्स ने यह अनुभव किया कि अर्थशास्त्र की जो परिभाषाएँ उस समय तक विभिन्न अर्थशास्त्रियो ने दी थी उनमें त्रुटि थी। इस कारण सन् १९३२ में उन्होने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक लिखी जिसमें अर्थशास्त्र के क्षेत्र की छानबीन करी और उसको ध्यान में रखते हुए उक्त लिखित परिभाषा दी। इस परिभाषा में उन्होने बताया है कि अर्थशास्त्र एक विज्ञान है जो मानवीय आचरणो का अध्ययन करता है। उन आचरणो का अध्ययन इस विज्ञान में केवल एक ही दृष्टि से होता है कि मनुष्य अपने अनेक साध्यो को प्राप्त करने के लिए सीमित साधनो का—जिनके विभिन्न प्रयोग है—प्रयोग किस प्रकार करता है। उन्होने बतलाया है कि मनुष्य के अनेक और अनगिनत साध्य होते है जिन्हें विशेषतानुसार क्रम से रखा जा सकता है। मनुष्य अपने सीमित साधनो का इस प्रकार प्रयोग करता है कि प्रथम अधिकतम उपयोगी साध्यो की पूर्ति करे और उसके उपरान्त उनसे कम उपयोगी साध्यो की। जो साध्य सीमित

---

* "Economics is the science which studies human behaviour as a relationship between ends and scarce means which have alternative uses"—Lionel Robbins: 'An Essay on the Nature and Significance of Economic Science'

साधन होने के कारण वह प्राप्त नही कर सकता है वह उन साध्यो से कम उपयोगी होते हैं जो प्राप्त किए जा चुके हैं। इन साध्यो की विभिन्न उपयोगिता होने के कारण ही मनुष्य यह निर्णय कर सकता है कि सीमित साधनो के कारण वह कौन से साध्यो को प्राप्त करने का प्रयत्न करे और किन्हे अप्राप्य ही रहने दे। प्रो० रौबिन्स के अनुसार मनुष्य की विभिन्न आवश्यकताएँ उसके विभिन्न साध्य हैं। मनुष्य को भोजन चाहिये यह एक साध्य है, उसे वस्त्र चाहिए यह दूसरा साध्य है। वह सोना चाहता है, बातचीत करना चाहता है, स्कूल जाना चाहता है, भगवान की भक्ति करना चाहता है, अपने माता-पिता की सेवा करना चाहता है, धन कमाना चाहता है, एक मोटर चाहता है, इत्यादि, इत्यादि। मनुष्य के अनेक साध्य है। मनुष्य के अनेक और अनगिनत साध्यो से ही कोई समस्या उपस्थित नही होती यदि उनके प्राप्त करने के लिए समय और साधन उसके पास हो। रौबिन्स ने इस परिभाषा में बतलाया है कि साधन और समय दोनो ही सीमित है परन्तु इन साधनो और समय का विभिन्न प्रयोग हो सकता है। किसी एक समय आप पढ सकते हैं या सो सकते है या खेल सकते है या सिनेमा जा सकते है या ईश्वर-भक्ति कर सकते हैं, इत्यादि, इत्यादि। अर्थात् अपना समय आप चाहे जिस साध्य की प्राप्ति में लगाये। इसी तरह जो विभिन्न साधन होते हैं उनके भी विभिन्न प्रयोग होते है, चाहे कुछ प्रयोग अच्छे हो और कुछ बुरे या मूर्खतापूर्ण हो। जैसे किसी एक निश्चित समय मे एक मेज को आप लिखने की मेज के काम में ला सकते हैं या उस पर खाना खा सकते हैं या सो सकते हैं, अपनी किताबे या अन्य वस्तुएँ रख सकते हैं या उसको जलाकर भोजन या चाय बना सकते है। इसी तरह एक चश्मा आँखो पर लगाया जा सकता है या उससे बच्चे खेल सकते है या उससे कागज दबा सकते हैं जिससे वे हवा में न उडे। जूता पैर में पहना जा सकता है, उससे कुत्ते को भी मार सकते है और छोटे बच्चे जूतो से कभी कभी खेलते भी है। साराश यह है कि प्रत्येक वस्तु के एक से अधिक प्रयोग होते हैं। एक विशेष समय में उसका आप वह प्रयोग करते है जो आपके विचार में उस समय अन्य प्रयोगो से अधिक उपयोगी हो। साधारणत एक रेशमी रूमाल जेब मे रखने के प्रयोग में लाया जाता है परन्तु जब आपके हाथ में चोट आ गई हो और खून बह रहा हो तो और कोई दवाई पास में न होने के कारण अ प रेशमी रूमाल को जलाकर उसकी राख खून का बहाव रोकने के लिए लगा देते है, क्योकि उस समय रूमाल का यही प्रयोग अधिक उपयोगी है। इसी प्रकार आप जूता इसलिए नही खरीदते कि उससे कुत्तो को मारा करेंगे परन्तु किसी समय आप जूते को

इस प्रयोग में लाते है क्योकि उस समय जूते का यह प्रयोग अधिक उपयोगी लगता है। साराश यह है कि प्रत्येक वस्तु के विभिन्न प्रयोगों में से विभिन्न समयो पर कोई भी एक प्रयोग अन्य प्रयोगो की अपेक्षा अधिक उपयोगी हो सकता है। परन्तु उस वस्तु का एक निश्चित समय मे वही उपयोग किया जाता है जो उस समय सबसे अधिक उपयोगी हो।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि एक ओर तो आपके अनेक और अनगिनत साध्य है और दूसरी ओर सीमित समय और साधन। अर्थशास्त्र यही अध्ययन करता है कि आप अपने सीमित समय और साधनो का प्रयोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में किस प्रकार करते है। रौबिन्स ने बताया है कि अर्थशास्त्र में प्रत्येक मानवी आचरण का जो सीमित समय और साधनो से सम्बन्ध रखता है अध्ययन होता है। अर्थशास्त्र के क्षेत्र पर इसके अतिरिक्त और कोई बन्धन नही है। अर्थात् हम यह नही कह सकते कि कुछ मानवी आचरण आर्थिक है और कुछ दूसरे मानवी आचरण आर्थिक नही है। परन्तु यदि मानवी आचरण इस प्रकार का हो कि एक साध्य प्राप्त करने के लिए (या एक आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए) किसी दूसरे साध्य का त्याग करना (या किसी दूसरी आवश्यकता को अतृप्त रखना) आवश्यक हो, क्योकि समय और साधन सीमित है, तो उस मानवी आचरण का आर्थिक पक्ष होता है जिसका अध्ययन हम अर्थशास्त्र में करते है। प्रत्येक मनुष्य के लिए समय और साधन सीमित है। इसी तरह प्रत्येक मनुष्य के अनगिनत साध्य (या आवश्यकताएँ) होते है जिनकी पूर्ति करना सम्भव नही, क्योकि समय और साधन सीमित है। इसी कारण उसके सामने एक निर्वाचन समस्या उपस्थित होती है और उसको यह निश्चित करना होता है कि वह किन साध्यो को प्राप्त करेगा और किनको अप्राप्त रहने देगा। यह निर्वाचन समस्या ही अर्थशास्त्र की समस्या है।

अब हम रौबिन्स की परिभाषा की आलोचना करेंगे। रौबिन्स की परिभाषा यह बतलाती है कि हम केवल मानवी आचरणो का अध्ययन करते है। यह सत्य है, क्योकि हमारा अर्थशास्त्र पशुओं इत्यादि के आचरण का अध्ययन नही करता। रौबिन्स ने कहा है कि, "अर्थशास्त्र एक विज्ञान है।" इससे यह भाव उत्पन्न होता है कि अर्थशास्त्र कला नही। जैसा कि हम अध्याय २ मे बतायेगे अर्थशास्त्र का विज्ञान भी है और कला भी। इस कारण यह उचित होता कि प्रो० रौबिन्स अपनी परिभाषा में यह कहते, "अर्थशास्त्र का विज्ञान . . अध्ययन करता है।" जिससे यह स्पष्ट हो जाता कि अर्थशास्त्र की कला भी है।

जब रौबिन्स अपनी परिभाषा में साधन शब्द के पहले 'सीमित'

विशेषण लगा देते है तो उससे ऐसा अनुभव होता है कि कदाचित् कुछ साधन असीमित भी है। परन्तु हम जानते हैं मनुष्य के पास कोई भी साधन असीमित मात्रा मे नही है। प्रत्येक साधन को प्राप्त करने के लिए उसे कुछ न कुछ परिश्रम करना पडता है। कुछ साधनो को प्राप्त करने के लिए अधिक परिश्रम करना पडता है और कुछ के लिए कम। जिनके लिए अधिक परिश्रम करना पडता है वह अधिक सीमित हैं और जिनके लिए कम परिश्रम करना पडता है वह कम सीमित हैं। उक्त विवेचन को ध्यान मे रखते हुए हम कह सकते हैं कि "सीमित" विशेषण की कोई आवश्यकता ही न थी क्योकि प्रत्येक साधन सीमित मात्रा में ही होता है। प्राय प्रो० रौबिन्स ने इस विशेषण का प्रयोग इस कारण किया कि वह साधनो के सीमित होने पर विशेष वल देना चाहते थे। यहाँ यह वतला देना अनुचित न होगा कि रौबिन्स द्वारा की गई 'सीमित' की व्याख्या में कुछ त्रुटि है। रौबिन्स के अनुसार यदि किसी वस्तु (या साधन) की पूर्ति माँग से कम है तो वह वस्तु (या साधन) सीमित है, अर्थात् वस्तु का सीमित होना उसकी मात्रा पर निर्भर नही है। इसको समझाने के लिए उन्होने ताजे और सडे अण्डो का उदाहरण दिया है। ताजे अण्डो की मात्रा सडे अण्डो की अपेक्षा वहुत होती है तो भी वे सीमित होते है क्योकि उनकी मात्रा सव मनुष्यो की माँग से कम होती है; इसी कारण कुछ परिश्रम और मूल्य देने पर ही ताजे अण्डे प्राप्त किए जा सकते हैं। सडे अण्डे चाहे दो या चार ही क्यो न हो परन्तु उनकी माँग शून्य होती है। इस कारण वे इतनी कम मात्रा में भी असीमित होते हैं। सीमित शब्द की यह परिभाषा त्रुटिहीन नही है। मान लीजिये कि आप एक कमरे मे बन्द हो जिसमें हवा आने का कोई रास्ता न हो। कुछ समय बाद ताजी हवा की कमी के कारण आपका दिल घवडाने लगेगा, चाहे कमरे के वाहर कितनी ही हवा क्यो न हो। रौबिन्स के अनुसार हम कह सकते हैं कि हवा सीमित नही है। परन्तु हवा प्राप्त करने के लिए आपको कमरा तोडकर वाहर आना होगा अर्थात् परिश्रम करना होगा। इस कारण यह उचित होगा कि हम सीमित की व्याख्या इस प्रकार करे कि यदि किसी वस्तु या साधन को प्राप्त करने में परिश्रम करना पडता है तो वह सीमित है। यदि अधिक परिश्रम करना पडे तो अधिक सीमित है, यदि कम परिश्रम करना पडे तो कम सीमित है। गगा से पानी मुफ्त मिलता है परन्तु उसके प्राप्त करने में कुछ न कुछ परिश्रम करना पडता है—गगा के किनारे तक जाइये और झुक कर चुल्लू भर पानी उठाइये—इस कारण वह सीमित है।

रौबिन्स ने अपनी परिभाषा में कहा है कि प्रत्येक साधन के

विभिन्न प्रयोग होते हैं। इससे यह अनुभव होता है कि यदि साधनों के विभिन्न प्रयोग न हो तो कोई आर्थिक समस्या ही न होगी। अपनी पुस्तक में रौबिन्स ने बताया है कि यदि रौबिन्सन क्रूसो के पास लकड़ियों का ढेर है और यदि लकडियो का एक ही प्रयोग है अर्थात् वह उनको जला सकता है (लकड़ी की नाव नही बना सकता, मेज नही बना सकता, उनसे जानवरो को नहीं मार सकता इत्यादि, क्योकि लकडियो का एक ही प्रयोग है) तो जहाँ तक लकडियो का प्रश्न है रौबिन्सन क्रूसो के लिए कोई आर्थिक समस्या नही। उसे सोचने की आवश्यकता नहीं, निश्चय करने की आवश्यकता नही, उसका आचरण स्वाभाविक होगा क्योकि लकडियो का एक ही प्रयोग है। इस मत से हम सहमत नही। यदि लकडियो का एक ही प्रयोग हैं परन्तु उनकी मात्रा सीमित है तो एक आर्थिक समस्या खडी हो जाती है। लकड़ियों की मात्रा सीमित होने से क्रूसो को मितव्ययता से लकडियाँ जलानी होगी और यह निश्चय करना होगा कि कौन से कार्यो के लिए लकड़ी जलावे और कौन से कार्यों के लिए नही। अर्थात् लकडी जलाने का प्रयोग भोजन या चाय बनाने के लिए करे या स्नान के लिए पानी गरम करने के लिए करे या शीत ऋतु में तपने के लिए करे या प्रकाश के लिए करे, लकडियो को २४ घण्टे जलने दे या जब आवश्यकता हो तब ही जलावे। इस कारण हम कह सकते है कि किसी वस्तु का एक ही प्रयोग क्यों न हो यदि वह वस्तु सीमित है तो उसका प्रयोग भी एक आर्थिक समस्या उपस्थित कर देता है।

मार्शल (Marshall) की अर्थशास्त्र की परिभाषा

अर्थशास्त्र का विवेचन करते समय डा० मार्शल ने अर्थशास्त्र की परिभाषा निम्न शब्दो में की है* :—

"अर्थशास्त्र मनुष्य-जीवन की साधारण क्रियाओ का अध्ययन करता है। यह व्यक्तिगत और सामाजिक क्रियाओ के उस भाग की जाँच करता है जो स्पष्ट रूप से सुखी रहने के भौतिक साधनो के प्रयोग व उनकी प्राप्ति से सम्बन्वित है।

---

* Economics is a study of mankind in the ordinary business of life ; it examines that part of individual and social action which is most clearly connected with the attainment and with the use of the material requisites of wellbeing

Thus it is on the one side a study of wealth , and on the other, and more important side, a part of the study of man "— Dr Alfred Marshall, 'Principles of Economics', page 1.

युद्ध, एटम बम का फेंका जाना, हत्या, आत्महत्या, भयंकर दुर्घटना इत्यादि साधारण क्रियाएँ नही परन्तु इन सबका अर्थशास्त्र में अध्ययन होता हैं। क्योकि ये सब क्रियाएँ सीमित साधनो से प्रभावित हैं। मार्शल ने भी अपनी पुस्तक में यह कही नही लिखा है कि अर्थशास्त्र में इन क्रियाओ का अध्ययन नही होता। उनके अनुसार इन क्रियाओ का भी अर्थशास्त्र मे अध्ययन होता हैं। परन्तु उन्होनें क्रियाओ के पूर्व 'साधारण' विशेषण का प्रयोग किया जिससे स्पष्ट है कि उनके विचार में कुछ ऐसी मानवी क्रियाएँ थी जिनका अध्ययन अर्थशास्त्र में नही होता है। इन क्रियाओ का स्पष्ट उल्लेख इन्होने कही नही किया है। उनकी परिभाषा में यह त्रुटि है क्योकि अर्थशास्त्र में प्रत्येक मानवी क्रिया का अध्ययन होता है जैसा कि हम समझा चुके हैं।

मार्शल ने लिखा है कि अर्थशास्त्र व्यक्तिगत व सामाजिक क्रियाओ का अध्ययन करता है। वह यह नही कहते कि अर्थशास्त्र व्यक्तिगत क्रियाओं का अध्ययन नही करता तो भी उनके चेलो ने अर्थशास्त्र का क्षेत्र, यह कहकर कि अर्थशास्त्र केवल सामाजिक मनुष्यो का और उनकी सामाजिक क्रियाओ का अध्ययन करता है, सकुचित कर दिया। जैसा कि हमने अध्याय ४ मे बताया है अर्थशास्त्र सामाजिक और व्यक्तिगत दोनो ही स्थितियो का अध्ययन करता है और ऐसे मनुष्यो के आचरण का भी अध्ययन करता है जो समाज से अलग रहते हो यदि उनके आचरण सीमित साधनो से प्रभावित हो।

मार्शल ने "सुखी रहने के भौतिक साधनो के प्रयोग व उनकी प्राप्ति" का वर्णन किया है। अर्थात् अर्थशास्त्र उन मानवी आचरणो का अध्ययन नही करता जिनसे भौतिक साधनो की उत्पत्ति नही होती हैं। सगीत सुनना, सिनेमा देखना, व्याख्यान सुनना, ईश्वर-भक्ति करना इत्यादि से आवश्यकताओ की पूर्ति होती है और सन्तोष प्राप्त होता है। इन आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए मनुष्य परिश्रम भी करता है। परन्तु संगीतज्ञ, सिनेमा दिखानेवाला और वक्ता तथा भक्त जो उपयोगिता उत्पन्न करते हैं वह किसी भौतिक पदार्थ के रूप में नही होती। इस उपयोगिता उत्पन्न करने से उनको सन्तोष या धन की प्राप्ति होती है। क्या इन आचरणो का अर्थशास्त्र में अध्ययन न होगा? मार्शल का इस वाक्याश का इतना सकुचित अर्थ न था क्योकि उन्होने स्वय अपनी पुस्तक मे सगीत का उदाहरण दिया है। तो भी इस वाक्याश से स्पष्ट है कि उनके विचार में अर्थशास्त्र के क्षेत्र की कुछ सीमाएँ थी जिनको उन्होने स्पष्ट रूप से नही लिखा।

मार्शल ने लिखा है कि "अर्थशास्त्र एक ओर धन का अध्ययन करता है।" इन शब्दो का उनके साथियो ने सकुचित अर्थ निकाला और इसी कारण उनका कथन है कि अर्थशास्त्र ऐसी क्रियाओ का अध्ययन नही करता जो देश-सेवा, ईश्वर-भक्ति और माता पिता के प्रेम इत्यादि के

कारण की जाती है। यह मतभेद 'धन' शब्द के अर्थ पर निर्भर है। धन शब्द का सकुचित अर्थ भी किया जा सकता है और व्यापक भी। सकुचित रीति से माता-पिता की सेवा, स्त्री-पुत्र से प्रेम, महात्मा गाधी व पडित नेहरू का देशप्रेम व उनकी देशसेवा का धन से कुछ सम्बन्ध नही। परन्तु मार्शल इस शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग करते थे। अर्थशास्त्र मे हम प्रत्येक उपयोगिता व सन्तोष की नाप धन से करते है और हम कहते है कि अमुक व्यक्ति को अमुक कार्य से इतने धन या द्रव्य के बराबर उपयोगिता प्राप्त होती है। इस दृष्टिकोण से देशसेवा, स्त्री-पुत्र से प्रेम इत्यादि को हम धन मे नाप सकते है और हम कह सकते है कि प्रत्येक मानवी आचरण का आदर्श धन की उत्पत्ति होता है जिससे मानवी आवश्यकताओ की पूर्ति होती है। मार्शल ने जब अर्थशास्त्र को धन का अध्ययन कहा तो उनके मस्तिष्क मे इस प्रकार के विचार थे, क्योकि वे स्वय इस बात पर जोर देते थे कि हम प्रत्येक मानवी सतोष या उपयोगिता की नाप द्रव्य या धन मे कर सकते है। परन्तु उनके चेले और साथियो ने इस परिभाषा मे धन का सकुचित अर्थ किया और कहा कि कुछ ऐसी मानवी क्रियाएँ है जिनका धन से सबध नही और इस कारण उन क्रियाओ का अर्थशास्त्र में अध्ययन नही होता। यह उनकी भूल है परन्तु इससे यह स्पष्ट है कि यदि अर्थ-शास्त्र की परिभाषा में धन का प्रयोग न हो—जैसा रौबिन्स ने किया है—तो अधिक उचित होगा, क्योकि उस स्थिति में उस परिभाषा को गलत समझने का कोई अवसर ही न मिलेगा। मार्शल ने धन का व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है यह इससे भी स्पष्ट है कि वह लिखते है कि अर्थ-शास्त्र "अधिक महत्त्वपूर्ण ओर" मनुष्य के जीवन का अध्ययन करता है। अर्थात् अर्थशास्त्र के अध्ययन का मुख्य उद्देश्य मनुष्य है, धन नही, धन तो केवल इस अध्ययन में सहायक है। मार्शल ने यह भी लिखा है कि अर्थशास्त्र मनुष्य के जीवन के केवल एक भाग का अध्ययन करता है। यह बिल्कुल सत्य है। मार्शल एक महान् और प्रसिद्ध अर्थशास्त्री थे और उनको इस बात का पूर्ण अनुभव था कि केवल अर्थशास्त्र तो मनुष्य-जीवन के एक पक्ष का ही अध्ययन करता है और अन्य पक्षो का अध्ययन दूसरे विज्ञानो में होता है। इससे भी यह स्पष्ट है कि मार्शल के विचार में अर्थशास्त्र का क्षेत्र विस्तृत था क्योकि उन्होने लिखा कि 'अर्थशास्त्र मनुष्य के जीवन के एक भाग का अध्ययन करता है', अर्थात् प्रत्येक आच-रण का अध्ययन एक दृष्टि से अर्थशास्त्र में होता है और मनुष्य-जीवन के अन्य दूसरे भागो का या उन आचरणो का दूसरी दृष्टि से अध्ययन दूसरे विज्ञानो मे किया जाता है।

अर्थशास्त्र के अध्ययन का महत्त्व

अर्थशास्त्र विचार-वितर्क की एक रीति है। अर्थशास्त्र बतलाता है कि अमुक कारणो का अमुक परिणाम होगा और अमुक परिणाम के अमुक कारण होगे। इस कारण उसके अध्ययन से विचार और तर्कशक्ति का विकास होता है और मनुष्य की उस पूर्णता का प्रकाशन होता है जो उसमें गुप्त रीति से है।

अर्थशास्त्र मानवी आचरणो के अत्यन्त उपयोगी और महत्त्वपूर्ण पक्ष का अध्ययन करता है जो व्यावहारिक जीवन में अधिक लाभदायक है। मानवी आचरणो का अध्ययन बिल्कुल अपूर्ण होगा यदि उनका अध्ययन आर्थिक दृष्टि से भी न किया जाय। अर्थशास्त्र का अध्ययन साधनो की सीमित मात्रा पर ध्यान आकर्षित करता है और इस कारण उत्पादन और उत्पादन-शक्ति की वृद्धि की आवश्यकता पर जोर देता है। वह बतलाता है कि सीमित साधनो के कारण मनुष्य को निर्वाचन समस्या का सामना करना पडता है और अभाव ही उसे राजनैतिक और आर्थिक सघर्षो की ओर प्रेरित करता है। अभाव के कारण ही मनुष्य अपने पडोसियो, मित्रो, सम्बन्धियो इत्यादि का शोषण करता है और इसी कारण पूंजीपति मजूरो को कम-से-कम वेतन देकर अधिक-से-अधिक काम लेना चाहता है। यह अभाव का ही परिणाम है कि एक राष्ट्र या जाति दूसरे राष्ट्र या जाति पर आक्रमण करते है जिससे उसे पराजित करके अपने सुख के साधन बढा सके। यदि हमारे साधन सीमित न होते तो मनुष्य-जीवन बहुत उच्च और श्रेष्ठ होता।

अर्थशास्त्र के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि हम अपनी प्रत्येक आवश्यकता की तृप्ति कदापि नही कर सकते, क्योकि हमारी आवश्यकताएँ असीमित है और साधन और समय सीमित है। इस प्रकार अर्थशास्त्र आवश्यकताओ के त्याग के महत्त्व पर प्रकाश डालता है और बतलाता है कि आवश्यकताओ का घटाना भी मनुष्य के लिए हितकर है।

अर्थशास्त्र यह बतलाता है कि हम अपने सीमित साधनो का प्रयोग किस प्रकार करें कि जिससे हमको अधिकतम सुख व सन्तोष प्राप्त हो। इस प्रकार वह बुद्धिमानी के साथ व्यय करने के महत्त्व पर जोर देता है। वह बतलाता है कि हमको दूरदृष्टि से ऐसी वस्तुओ का सेवन करना चाहिए जिससे स्वास्थ्य और कार्यक्षमता में वृद्धि हो और यह भी बतलाता है कि ऐसी वस्तुओ का सेवन नही करना चाहिये जिनसे स्वास्थ्य या कार्यक्षमता को हानि पहुँचे या जो कुछ समय के लिए आनन्द दे परन्तु वास्तव में जिनका विपरीत प्रभाव हो। अर्थशास्त्र यह भी बतलाता

है कि हमको अपनी आय इस सीमान्त उपयोगिता के नियम के अनुसार व्यय करनी चाहिये जिससे हम अधिकतम उपयोगिता प्राप्त कर सकें। यह हमें भी बतलाता है कि इस प्रकार व्यय करने के लिए पारिवारिक बजट बनाकर उसी अनुसार व्यय करना आवश्यक है।

अर्थशास्त्र के अध्ययन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यदि उत्पादन में अधिक वृद्धि की जाय तो सामूहिक परिश्रम से हम निर्धनता का अन्त कर सकते हैं। उत्पादन की वृद्धि और समान वितरण से देश का लाभ होता है जिससे प्रत्येक वर्ग लाभान्वित हो सकता है। यदि प्रत्येक वर्ग—पूँजीपति, मजदूर इत्यादि—यह समझ जाय कि अधिक उत्पादन से ही मनुष्य-जाति के सुख के साधन बढ़ा सकते हैं जिससे सबको लाभ होगा तो उनमें पारस्परिक विरोध की अपेक्षा एकता के विचारों का प्रचार होगा।

अर्थशास्त्र के अध्ययन से राजनीतिज्ञ और अर्थमन्त्री को भी अधिक लाभ है। जिन अनेक समस्याओं का उनको सामना करना पड़ता है उनमें से अधिकांश को अर्थशास्त्र की सहायता से हल किया जा सकता है। अर्थशास्त्र यह बतलाता है कि कर द्वारा या अन्य तरीकों से कितना धन राज्य के व्यय के लिए एकत्रित किया जाय और यह धन किन व्यक्तियों से और प्रत्येक से कितना एकत्रित किया जाय। वह यह भी बतलाता है कि राष्ट्र की आय किस प्रकार व्यय की जाय अर्थात् किन-किन कार्यों पर व्यय की जाय और प्रत्येक कार्य पर कितनी जिससे देश और जनता को अधिकतम लाभ हो।

भारत में अर्थशास्त्र के अध्ययन का महत्त्व

अर्थशास्त्र के अध्ययन का महत्त्व ऊपर बताया जा चुका है। उसके अतिरिक्त भारतवर्ष की वर्तमान स्थिति में अर्थशास्त्र का महत्त्व और भी अधिक है। हमारे देश में खेती, कारखानो व अन्य उद्योग-धन्धो की उपज पाश्चात्य देशों की अपेक्षा कम है। खेती अधिकतर पुरानी रीति से ही होती है और कारखानो में भी उपज कम होती है क्योकि हमारे पास पाश्चात्य देशो की जैसी अच्छी मशीनें नही है। हमारे मजूर व कारीगरो की कार्यक्षमता भी उनकी अपेक्षा वहुत कम है। शिक्षित लोगो की सख्या भी वहुत कम है। भारतवासियो का स्वास्थ्य भी इतना अच्छा नही होता जिससे वे रोगो के शिकार आसानी से वन जाते हैं। ऐसी स्थिति में आर्थिक उन्नति की योजनाओ का अधिक महत्त्व है। हमको अपनी खेती की उपज वढानी होगी और नए नए उद्योग-धन्धो व वडे-वडे कारखानो की स्थापना करनी होगी जिससे वेकारी समाप्त हो जाय, लोगो की आय वढ जाय और उनके रहन-सहन का दर्जा भी ऊँचा हो जाय। नये

कारखानों की स्थापना और उत्पादन की वृद्धि के साथ साथ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि इनके साथ जो बुराइयाँ पाश्चात्य देशो में उपस्थित हुईं वह यहाँ न आने पायें। नये कारखानो की स्थापना के साथ इनके आसपास की आवादी घनी होती जाती है जिससे बीमारियाँ फैलने का डर होता है और मजूरो व अन्य निर्धन व्यक्तियों के रहने के लिए अच्छे मकान भी नही होते। देश के बढते हुए धन के साथ साथ यह भी आवश्यक है कि इस धन की मात्रा कुछ इने-गिने व्यक्तियो के पास ही एकत्रित न होकर उचित वितरण हो जिसमे देश की आर्थिक उन्नति का लाभ जनता प्राप्त कर सके और मजूर, पूँजीपति व अन्य वर्गो में पारस्परिक विरोध न हो।

भारत की आर्थिक दशा अत्यन्त शोचनीय है। आर्थिक समस्याओ ने भयकर रूप धारण कर लिया है। उत्पादन में वृद्धि नही होती और वस्तुओ के मूल्य बढ़ते जा रहे हैं। नाज की मात्रा जो राशन द्वारा मिलती है वह पर्याप्त नहीं है जिससे लोगो के स्वास्थ्य और कार्यक्षमता पर बुरा प्रभाव पडता है। दूसरी अन्य आवश्यक वस्तुओ की भी कमी है। बडे बड़े शहरो में मकानो का अभाव है और शरणार्थियो के कारण इस समस्या ने और भी भयकर रूप धारण कर लिया है। सरकार का व्यय बढ़ता जाता है परन्तु जनता से ऋण पर्याप्त मात्रा में नही मिलता जिससे विकास की योजनाओ को कार्यरूप में परिणत नही किया जा सकता। इन अनेक समस्याओ को हल करने में अर्थशास्त्र का बहुत बड़ा हाथ है।

कुछ भ्रान्त धारणाएँ

कुछ लेखको का कहना है कि हम ऐसे ही व्यक्तियों का अध्ययन करते है जो समाज के सदस्य हो। यह विचार गलत है। यदि कोई व्यक्ति समाज का सदस्य न हो और एकान्त मे रहता हो तो उसकी भी आवश्यकताएँ होती है और उनकी पूर्ति परिश्रम करने से ही हो सकती है। ऐसे व्यक्तियो को भी यह निश्चय करना होता है कि सीमित समय और सीमित साधनों का प्रयोग किस प्रकार करें कि उनकी अधिकतम आवश्यकताओ की पूर्ति हो सके। उनके सामने भी एक निर्वाचन समस्या उपस्थित होती है जिस कारण उनका भी अर्थशास्त्र में अध्ययन किया जाता है। ऐसे व्यक्तियो की समस्याएँ समाज में रहनेवाले व्यक्तियों की अपेक्षा सरल और सीधी होती हैं। समाज में रहने से अनेक नई नई समस्याओ का सामना करना पड़ता है। जो व्यक्ति समाज से अलग रहते हैं उनकी आवश्यकताएँ समाप्त नहीं हो जाती, वरन् कुछ आवश्यकताएँ दूसरी प्रकार की होती हैं। मनुष्य समाज में रहे या समाज से अलग,

गृहस्थ मे रहे या सन्यास धारण कर ले, धन से प्रेम करे या उससे साधु-महात्माओ की तरह घृणा, अपना जीवन चाहे ईमानदारी से व्यतीत करे या बेइमानी से, इत्यादि, प्रत्येक स्थिति मे आवश्यकताएँ तो उसे सताती ही है जिनकी पूर्ति के लिए उसको परिश्रम करना पडता है, क्योकि प्रत्येक व्यक्ति के लिए समय और साधन सीमित है।

यह भी कहा जाता है कि वह मानवी आचरण जो प्रेम, धर्म, मनोरञ्जन या देश-भक्ति के कारण किये जाते है उनका अर्थशास्त्र में अध्ययन नही होता क्योकि ऐसे आचरणो का उद्देश्य धन का कमाना नही होता है। परन्तु यह कहना गलत है कि अर्थशास्त्र में केवल उन्ही आचरणो का अध्ययन होता है जिनका उद्देश्य धन का कमाना हो। जब स्त्री प्रेम के कारण अपने कुटुम्ब का भोजन बनाती है तो इस क्रिया से कुटुम्ब के प्रत्येक व्यक्ति की भोजन की आवश्यकता की पूर्ति होती है। जो परिश्रम व समय वह स्त्री भोजन बनाने में व्यतीत करती है उसका प्रयोग अन्य किसी कार्य के लिए नही हो सकता। अर्थात् एक आवश्यकता थी जिसकी पूर्ति उस स्त्री के परिश्रम से जो उपयोगिता उत्पन्न होती है उससे पूरी होती है। इसी तरह देशभक्त की आवश्यकता देशभक्ति से पूरी होती है, और किसी धार्मिक व्यक्ति की ईश्वर-भक्ति से। जब कोई व्यक्ति कबड्डी, क्रिकेट या अन्य खेल मनोरंजन के लिए खेलता है तो उस क्रिया का भी अध्ययन अर्थशास्त्र में होता है। क्योकि उस खेल के खेलने से उसकी एक आवश्यकता की पूर्ति होती है। वह समय और साधन जो उस खेल के खेलने में प्रयुक्त होते है अन्य किसी कार्य मे प्रयुक्त नही किये जा सकते। अर्थात् खेलने की आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए कुछ अन्य आवश्यकताएँ जिनकी उपयोगिता खेल से कम है अतृप्त रह जाती है। खेलने से खेल की आवश्यकता की पूर्ति होती है और सन्तोष प्राप्त होता है। जब कोई व्यक्ति अपने धर्म की रक्षा के लिए अपना लहू बहाता है तो वह ऐसा इसीलिए करता है क्योकि उसको इससे उपयोगिता और सन्तोष प्राप्त होते हैं, जिससे उसकी आवश्यकता की पूर्ति होती है। वह अपना समय और साधन अन्य किसी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए प्रयुक्त नही कर सकता। साराश यह है कि ऐसे आचरण जिनका उद्देश्य देश की सेवा, ईश्वर की भक्ति, धर्म की रक्षा, मनोरञ्जन या प्रेम इत्यादि होता है उन सबका अध्ययन अर्थशास्त्र में आर्थिक दृष्टि से होता है। ऐसे कार्य कुछ आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए किये जाते है जिसके कारण जो समय और साधन इन कार्यो में लगाये जाते हैं दूसरी अन्य आवश्यकताओ की पूर्ति में नही लगाये जा सकते।

कभी कभी यह भी कहा जाता है कि अर्थशास्त्र मे केवल साधारण व्यक्तियो का ही अध्ययन होता है। ऐसे व्यक्ति सामान्य या औसत रुचि के होते है। इस कारण ऐसे व्यक्ति जो अत्यन्त कजूस, शरावी या अपव्ययी हो व नपुसक व बच्चो के आचरणो का अर्थशास्त्र मे अध्ययन नही होता। यह मत बिल्कुल गलत है। इन प्रत्येक व्यक्तियो की आवश्यकताएँ होती हैं और इनके आचरणो पर सीमित समय व साधनो का प्रभाव होता है। कुछ व्यक्ति किसी एक वस्तु या स्वभाव--जैसे शराव, कजूसी इत्यादि--पर अधिक वल देते हैं परन्तु इस कारण यह कहना अनुचित है कि उनका अर्थशास्त्र मे अध्ययन नही होता। इससे तो केवल यही स्पष्ट है कि किसी वस्तु की उपयोगिता और आदर्शो का महत्त्व प्रत्येक व्यक्ति के लिए भिन्न होता है। इस कारण यह कहना अनुचित होगा कि केवल उन्ही व्यक्तियो का अर्थशास्त्र में अध्ययन होता है जिनके आदर्श और स्वभाव अधिकाश व्यक्तियो के आदर्श और स्वभाव के समान होते है।

हम इस अध्याय के प्रारम्भ मे समझा चुके है कि अर्थशास्त्र में प्रत्येक मानवी आचरण का अध्ययन आर्थिक दृष्टि से होता है। इस कारण यह कहना अनुचित है कि कुछ आचरण आर्थिक है और कुछ अन्य आचरण आर्थिक नही है। यह भी कहना गलत है कि कुछ आवश्यकताएँ आर्थिक है और कुछ आर्थिक-व्यक्ति है; क्योकि प्रत्येक आवश्यकता और प्रत्येक व्यक्ति अर्थशास्त्र के क्षेत्र के अन्दर है। यह भी कहना गलत है कि कुछ क्रियाओ का लक्ष्य आर्थिक होता है और कुछ का नही। प्रत्येक क्रिया का लक्ष्य सन्तोष या उपयोगिता की प्राप्ति होता है और इस कारण कोई भी मानवी क्रिया, जो सीमित समय और साधनो से प्रभावित है, अर्थशास्त्र के क्षेत्र के वाहर नही है।

अभ्यास के प्रश्न

१. अर्थशास्त्र की परिभाषा विस्तारपूर्वक समझाइये।
२ 'अर्थशास्त्र के क्षेत्र' पर टिप्पणी लिखिये और अर्थशास्त्र के विज्ञान की सीमाएँ बतलाइये।
३. क्या आवश्यकताओ का घटना भी मनुष्य के लिए हितकर है?
४ अर्थशास्त्र मानवी आचरणो का किस दृष्टिकोण से अध्ययन करता है? क्या अर्थशास्त्र मानवीय आचरणो के सव पक्षो का अध्ययन करता है?
५ रौबिन्स और मार्शल की अर्थशास्त्र की परिभाषाएँ समझाइये। आपकी राय मे इनमें से कौन-सी परिभाषा श्रेष्ठ है?
६ अर्थशास्त्र के अध्ययन के महत्त्व का वर्णन कीजिये और वतलाइये कि भारत में इसके अध्ययन से क्या लाभ है।

अध्याय २

कला और विज्ञान

कुछ लोग कला की परिभाषा करते समय उसको विज्ञान का एक भाग बताते है। यह उचित नही। एक चतुर सगीतज्ञ के लिये यह आवश्यक है कि उसको सगीत के विज्ञान का ज्ञान हो और साथ ही साथ सगीत की कला में निपुण हो। यदि उसको केवल सगीत के विज्ञान का ही ज्ञान है तो यह आवश्यक नही कि वह उसकी कला मे भी उतना ही निपुण हो। इसी तरह कोई व्यक्ति चित्रकारी के विज्ञान में निपुण है तो यह आवश्यक नही कि वह स्वय चतुर चित्रकार हो। अर्थात् कला और विज्ञान विभिन्न है। कुछ लोग कहते हैं कि अर्थशास्त्र विज्ञान है जब कि सगीत कला है। यह गलत है क्योंकि दोनो ही का विज्ञान भी है और कला भी है। विज्ञान ज्ञान है और उस ज्ञान के व्यावहारिक प्रयोग को ही कला कहते है। विज्ञान में हम ज्ञान का विकास करते है या कारण-परिणाम-प्रणाली का अध्ययन करके नियमो का निर्माण करते हैं। विज्ञान विचार करने की रीति है। कुछ लेखक विज्ञान को व्यवस्थित ज्ञान कहते है परन्तु ज्ञान तो व्यवस्थित ही होता है। यदि वह व्यवस्थित नही तो ज्ञान नही कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त पूर्णतया व्यवस्थित कोई भी ज्ञान नही होता और उसमे सदा उन्नति का स्थान रहता है। यदि हम विज्ञान की परिभाषा व्यवस्थित ज्ञान कहकर करें तो यह भी प्रश्न उठता है कि वह कितने प्रतिशत व्यवस्थित है और पूर्णतया व्यवस्थित होने में कितनी कमी है। इस कारण विज्ञान को हम ज्ञान ही कहेंगे। विज्ञान पढाया जा सकता है और पढा जाता है परन्तु कला सीखी जाती है और अभ्यास करने मे आती है। जिस तरह समय बीतता जाता है, विज्ञान की उन्नति होती रहती है और जितनी भी उन्नति विज्ञान की भूतकाल में होती है उसका लाभ वर्तमान और भविष्य काल के व्यक्ति उठाते है। अर्थात् विज्ञान की लगातार उन्नति होती रहती है और किसी भी विज्ञान के ज्ञान का विकास का आरभ हम वहाँ से करते है जहाँ तक उसकी उन्नति भूतकाल में हो चुकी हो। सक्षेप में हम कह सकते है कि जितने भी विज्ञान हैं उनका ज्ञान आज इतना बढा हुआ है कि जितना भूतकाल में न था, क्योंकि वह सदा उन्नति करते रहे है। किसी विज्ञान

का जो ज्ञान हमको पहले था उसमें हम नवीन खोज करके उन्नति करते हैं और नये नये नियमों का उद्घाटन करते हैं। परन्तु कला के लिये यह नहीं कहा जा सकता कि प्रत्येक कला का सर्वोत्तम आधुनिक कलाकार भूतकाल के कलाकारो की अपेक्षा अधिक निपुण है। उदयशकर प्रसिद्ध नृत्यकार है परन्तु यह आवश्यक नही कि उसके उपरान्त उससे निपुण नृत्यकार हो जब कि यह बात निश्चित है कि नृत्य का विज्ञान भविष्य में भी उन्नति करेगा जैसा कि प्रत्येक विज्ञान अब तक उन्नति करता आया है। किसी भी कला का सबसे चतुर कलाकार सैकड़ो वर्ष पूर्व हुआ हो और उसके बाद उतना निपुण कलाकार पैदा न हो जैसे माइकल एंजिलो (Michael Angelo) एक प्रसिद्ध मूर्तिकार, ल्योनार्डो डा विन्ची (Leonardo da Vinci) एक प्रसिद्ध चित्रकार, बियोवन (Beethoven) एक प्रसिद्ध संगीतज्ञ सैकडो वर्ष पूर्व हुए परन्तु उनकी कला उनके साथ चली गई, केवल अपनी कला के कुछ प्रमाण वे ससार में छोड गये। लेकिन विज्ञान में जो उन्नति बड़े-बडे वैज्ञानिको ने की, उसका लाभ आनेवाली पीढियो ने उठाया; और जो नये-नये नियमो का उद्घाटन उन्होने किया उस ज्ञान से उन्होंने ससार को धनी बनाया। उनकी की हुई उन्नति उनके साथ नही गई और उनके बाद की पीढियो ने उन उन्नतियो को मान कर ही आगे उन्नति की। किसी विज्ञान की कला मनुष्य को आप ही आप आती है। कलाकार जन्मजात होता है, उसको बनाया नही जा सकता। अभ्यास से कलाकार अपनी कला की उन्नति कर सकता है परन्तु कला भावना और अनुभूति पर ही निर्भर होती है, वह सीखने या पढने पर ही निर्भर नही होती। कोई व्यक्ति कितना ही चतुर क्यो न हो परन्तु यदि उसको किसी कला के प्रति अभिरुचि नही है तो उसको वह कला चाहे कितनी ही सिखाइये अथवा पढाइये वह एक अच्छा कलाकार नही हो सकता। गाधीजी या पंडित नेहरू अत्यन्त विद्वान् मनुष्य हुए हैं परन्तु अत्यन्त परिश्रम करने से भी वह निपुण संगीतज्ञ या नर्तक नही हो सकते, यदि उनमें संगीत या नृत्य की रुचि न हो। विश्वविद्यालय और कॉलेजो में विभिन्न विज्ञानो का अध्ययन किया जाता है, केवल कुछ व्यावहारिक आदेश जो भौतिक-शास्त्र, रसायन-शास्त्र, संगीत, चित्रकारी इत्यादि में दिये जाते है वही 'कला का सिखाना' कहा जा सकता है। अर्थात् अर्थशास्त्र, राजनीति, इतिहास इत्यादि का विज्ञान विद्यालयो में पढाया जाता है परन्तु उनका व्यावहारिक जीवन में प्रयोग उनकी कला के ज्ञान पर निर्भर है। एक निपुण अर्थशास्त्री जिसको अर्थशास्त्र के विज्ञान का पूर्ण ज्ञान हो उसके लिये यह आवश्यक नही कि वह अपनी उपयोगिता, सन्तोष या सुख अधिकतम करने में दूसरो की अपेक्षा अधिक सफल हो। यह तभी सम्भव है जब वह अर्थशास्त्र की

कला में भी उतना ही निपुण हो, क्योकि अर्थशास्त्र के विज्ञान का ज्ञान और उसका व्यावहारिक प्रयोग (जो कला है) विभिन्न बातें हैं।

उक्त विवेचन को ध्यान मे रखते हुए हम कह सकते है कि प्रत्येक विज्ञान की कला भी होती है। अर्थात् अर्थशास्त्र, सगीत, चित्रकारी, राजनीति इत्यादि का विज्ञान भी है और कला भी। यह आवश्यक नही कि जो व्यक्ति इन विज्ञानो में निपुण हो वह उनकी कला मे भी उतना ही निपुण हो। हो सकता है कि वह विज्ञान अच्छी तरह जानता हो परन्तु उस विज्ञान की कला मे उतना निपुण नही हो। जैसे, एक व्यक्ति नृत्य का विज्ञान जानता हो अर्थात् उसको परिचय हो कि पैर कैसे उठाना चाहिये और अन्य अगो का किस प्रकार सचालन करना चाहिये परन्तु स्वय नृत्यकार न हो। परन्तु जो व्यक्ति कोई भी कला अच्छी तरह जानता है उसको उस कला के विज्ञान का ज्ञान अवश्य होता है चाहे उसका विज्ञान उसने पढा न हो और उसको स्वय आप ही आप आता हो। जो एक निपुण नर्तक होता है उसने चाहे नृत्य का विज्ञान न पढा हो तो भी उसको उसका ज्ञान होता है और वह जानता है कि कौन से अग का किस प्रकार सचालन करे, अन्यथा वह निपुण नर्तक हो ही नही सकता।

आदर्श (Normative) और वास्तविक (Positive) विज्ञान

विज्ञान दो प्रकार के होते हैं—आदर्श और वास्तविक। आदर्श विज्ञान हमको बतलाता है कि 'क्या होना चाहिये', अर्थात् वह बतलाता है कि हमको किन आदर्शों को प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिये। आदर्श विज्ञान मनुष्य-जीवन की घटनाएँ या मनुष्य के कार्यो का इस विचार से अध्ययन करता है कि वह माने हुए आदर्शो की दृष्टि से कहाँ तक उचित और कहाँ तक अनुचित हैं—जैसे, धर्म एक आदर्श विज्ञान है। धर्म कुछ आदर्श मानता है और मनुष्य को बतलाता है कि उसे उन आदर्शो को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। यदि कोई मनुष्य झूठ बोलता है तो धर्म का विज्ञान उसको बतलाता है कि उसको झूठ नही बोलना चाहिये और सदा सत्य ही बोलना चाहिये। इसी तरह यदि कोई व्यक्ति चोरी या बेइमानी से धन कमाता है तो धर्म का विज्ञान उसको बतलाता है कि यह अनुचित है और उसको ईमानदारी से ही धन कमाना चाहिये।

वास्तविक विज्ञान 'क्या है' का ही अध्ययन करता है। वह क्रियाओ और घटनाओ का जिस प्रकार वे होती है उसी प्रकार उनका अध्ययन करता है, उन पर कोई निर्णय नही करता क्योकि वह कोई आदर्श नही मानता, जैसे, गणित-शास्त्र चाहे चोरी का धन हो, चाहे ईमानदारी से कमाया हुआ हो दोनो रीति से एकत्रित किये हुए धन का जोड लगाता

है। इसी तरह जब धन उचित रीति से व्यय किया जाय या बुरे कार्यों में व्यय किया जाय गणित-शास्त्र दोनो का अध्ययन करता है। गणित-शास्त्र चोर, साहुकार, अर्थमन्त्री इत्यादि सब व्यक्तियो की आय-व्यय का जोड इत्यादि लगाता है। परन्तु जिस वस्तु का जोड लगाता है उस पर कोई निर्णय नही करता।

जब एक व्यक्ति चोरी करके धन कमाता है या झूठ बोलकर अपनी स्वार्थ-सिद्धि करता है तो इस क्रिया का आदर्श विज्ञान मे अध्ययन करते समय इसकी निन्दा होगी और इसको अनुचित बताया जायेगा। वास्तविक विज्ञान उसी क्रिया का अध्ययन करते समय उसको उचित या अनुचित कुछ न कहेगा। वह उसका अध्ययन करेगा और उसका प्रभाव बतायेगा।

उक्त विवेचन को ध्यान मे रखते हुए अब हम बतला सकते हैं कि अर्थशास्त्र वास्तविक विज्ञान है या आदर्श विज्ञान। किसी व्यक्ति को चोरी *करनी चाहिये या नही, इसका उत्तर अर्थशास्त्र में नही मिलेगा और एक* अर्थशास्त्री यही कहेगा कि यदि ऐसा करने से उस व्यक्ति को अधिक सन्तोष प्राप्त होता है तो उसे चोरी करनी चाहिये और यदि उसको चोरी करने की अपेक्षा कोई और दूसरा कार्य करने से अधिक सन्तोष प्राप्त हो तो वही कार्य करना चाहिये, चोरी नही। अर्थात् अर्थशास्त्र यह नही बतलाता कि कौन कार्य करना उचित है और कौन अनुचित। वह तो केवल इतना ही बतलाता है कि जिस कार्य को करने से अधिक सन्तोष या उपयोगिता प्राप्त हो—चाहे वह कार्य अच्छा हो या बुरा—उसको ही करना चाहिये। इसी विचारधारा को सामने रखते हुए कुछ लेखको का कथन है कि अर्थशास्त्र एक वास्तविक विज्ञान है। अर्थशास्त्री का यह कर्तव्य नही कि वह किसी को आलस्य या धन कमाने की सम्मति दे। उसका तो केवल यही कार्य है कि यदि कोई व्यक्ति धन कमाना चाहता हो तो उसको यह बतला दे कि वह किस प्रकार और क्या कार्य करे जिससे वह अधिकतम धन कमा सके। इस मत से हम सहमत नही है। अर्थशास्त्र यह मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति का आदर्श अधिकतम सन्तोष या सुख प्राप्त करना है। इस कारण वह बतलाता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना धन सम सीमान्त उपयोगिता के नियम के अनुसार व्यय करना चाहिये और यदि वह उस नियम के अनुसार व्यय नही करता है तो उसके व्यय की निन्दा करके उसको बतलाता है कि वह अपना व्यय किस प्रकार करे कि जिससे अधिक उपयोगिता प्राप्त कर सके। अर्थशास्त्र बतलाता है कि वह अपने सीमित समय और साधनो का प्रयोग किस प्रकार करे कि जिसमे वह अधिकतम सन्तोष प्राप्त कर सके। ऐसा करने के लिए एक ही उपाय है कि वह सम सीमान्त उपयोगिता के नियम का पालन करे।

अर्थात् अर्थशास्त्र उन क्रियाओं की निन्दा करता है जो अधिकतम उपयोगिता प्राप्त करने के आदर्श में बाधाएँ डालती हैं और उन क्रियाओं की प्रशंसा करता है जो इन आदर्श की प्राप्ति में सहायक होती हैं। कुछ व्यक्ति इन विचारों से पूर्णतया सहमत नहीं। उनका कहना है कि यदि किसी व्यक्ति को मदिरा-सेवन से उपयोगिता प्राप्त होती है तो अर्थशास्त्र धर्म के समान उस क्रिया की निन्दा नहीं करता वरन् उसको उपयोगिता की कसौटी पर ही जाँचता है। यदि मदिरा पर व्यय सम सीमान्त उपयोगिता के नियम के अनुसार है तो वह व्यय उचित है। परन्तु यह कठिनाई तभी तक प्रतीत होती है जब तक हम मनुष्य का आदर्श अधिकतम सन्तोष या उपयोगिता प्राप्त करना मानते हैं। यदि हम मनुष्य के प्रमुख उद्देश्य की ओर ध्यान आकर्षित करें तो यह कठिनाई दूर हो जाती है। प्रत्येक मनुष्य का प्रमुख उद्देश्य अधिकतम सुख प्राप्त करना है और उसके प्रत्येक कार्य का अर्थशास्त्र में इसी दृष्टि से अध्ययन करना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति के लिए इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए एक ही मार्ग है। कुछ कार्य उसको उस उद्देश्य के समीप ले जाते हैं और कुछ अन्य कार्य उसे उस उद्देश्य से दूर ले जाते हैं। जब कोई व्यक्ति मदिरा सेवन करता है, चोरी करता है, झूठ बोलता है या बेइमानी करता है तो उसको उस समय अधिक उपयोगिता तो प्राप्त होती है परन्तु यह कार्य उसको उसके प्रमुख उद्देश्य से दूर ले जाते हैं और इसी कारण इन कार्यों की हम अर्थशास्त्र मे निन्दा करते हैं। अर्थशास्त्री का यह कर्तव्य है कि वह उस व्यक्ति को बतलाये कि इन कार्यों से चाहे उसे कुछ समय के लिए सुख प्राप्त हो परन्तु उसको ऐसा नही करना चाहिए क्योंकि यह कार्य उसको उसके उद्देश्य की प्राप्ति के समीप न ले जाकर और दूर पटक देते हैं। अर्थात् अर्थशास्त्र बतलाता है कि अपना प्रमुख उद्देश्य प्राप्त करने के लिए कौन-सा कार्य करना उचित है और कौन से कार्य करना अनुचित है। इसी कारण हम अर्थशास्त्र को आदर्श विज्ञान कह सकते है। 'राजस्व' के अध्याय मे हम बतलायेंगे कि राज्य का प्रमुख कर्तव्य यह है कि वह जनता का सुख बढाये और इस कारण उसे धनी व्यक्तियो पर अधिक कर लगाकर निर्धनो पर अधिक व्यय करना चाहिए। जो जनतन्त्र राज्य ऐसा नही करते उनकी कर-नीति की अर्थशास्त्र निन्दा करता है क्योंकि वह उनके आदर्श की प्राप्ति में बाधा डालती है।

प्रत्येक व्यक्ति के लिए अधिकतम सुख के प्रमुख उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए एक ही मार्ग है जो उस उद्देश्य पर सीधे और सरल रीति से शीघ्र पहुँचाता है। उस उद्देश्य पर पहुँचने का प्रत्येक व्यक्ति के लिए केवल वही एक मार्ग नही है परन्तु विभिन्न व्यक्तियो के लिए विभिन्न

मार्ग है, एक विशेष व्यक्ति के लिए एक विशेष मार्ग ही है परन्तु दूसरे व्यक्ति के लिए वही मार्ग उचित होना आवश्यक नही; क्योकि विभिन्न व्यक्तियो की रुचि, अरुचि, आदत, जीवन के प्रति दृष्टिकोण, आनन्द भोग सकने की क्षमता, विभिन्न होते है। इसी कारण विभिन्न व्यक्तियो के लिए उसी उद्देश्य पर पहुँचने के लिए विभिन्न मार्ग है जब कि एक विशेष व्यक्ति के लिए एक विशेष मार्ग ही है। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायगा। यदि आप दिल्ली नगर में किसी भी स्थान पर हो तो वहाँ से प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू के मकान के अनेक मार्ग है। उनमें से एक ही मार्ग सबसे छोटा है परन्तु विभिन्न स्थानो से सबसे छोटे मार्ग भी विभिन्न होगे। समीप के स्थानो के लिए लगभग एक ही मार्ग सबसे छोटा होगा। इसी तरह समान व्यक्तियो को लगभग एक ही मार्ग प्रमुख उद्देश्य पर पहुँचायेगा।

अभ्यास के प्रश्न

१. कला और विज्ञान में क्या भेद है? अर्थशास्त्र कला है या विज्ञान?
२. आदर्श और वास्तविक विज्ञान का अन्तर समझाते हुए बतलाइये कि अर्थशास्त्र इनमें से कौन-सा विज्ञान है।

अध्याय ३

अर्थशास्त्र की मान्यताएँ, नियम और अध्ययन की रीति

अर्थशास्त्र की मान्यताएँ

अर्थशास्त्र यह मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति अधिकतम सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। साधारणत अधिक उपयोगिता प्राप्त करने से अधिक सुख मिलता है परन्तु यह आवश्यक है कि उपयोगिता की प्राप्ति उचित आवश्यकताओं की पूर्ति से ही हो। अनचित आवश्यकताओ की पूर्ति से---जैसे बेइमानी से धन कमाना या मदिरा सेवन---उपयोगिता प्राप्त होती है और कुछ समय के लिए सुख भी मिलता है परन्तु कुछ समय के उपरान्त ही इनके हानिकारक प्रभावो का अनुभव होता है और वास्तव में इस प्रकार से प्राप्त की गई उपयोगिता अधिकतम सुख प्राप्त करने में बाधा डालती है। अनुचित कार्यो से प्राप्त की गई उपयोगिता मनुष्य को उसके प्रमुख उद्देश्य अधिकतम सुख की प्राप्ति की ओर न ले जाकर गलत मार्ग की ओर ले जाती है। मनुष्य का प्रमुख उद्देश्य 'अधिकतम सुख की प्राप्ति' मानना स्वाभाविक और ठीक है। प्रत्येक मनुष्य आप ही आप अपने आचरणो को अपनी समझ के अनुसार इस उद्देश्य की प्राप्ति मे ही लगाता है। यह सम्भव है कि अज्ञानता या भूल से वह ऐसे आचरण करे जो उसके इस उद्देश्य की प्राप्ति मे बाधा डालें। अर्थशास्त्र इस उद्देश्य को मानता है तो इसमे कोई गलती नही है। यदि मनुष्य का उद्देश्य अधिकतम सुख प्राप्त करना न हो तो क्या उसका उद्देश्य दुख की प्राप्ति या अधिकतम दुख या कम सुख की प्राप्ति माना जायेगा? इनमें से कोई भी उद्देश्य मानना बिल्कुल गलत होगा क्योकि कोई भी व्यक्ति ऐसे उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए प्रयत्न नही करता। अर्थशास्त्र यह भी मानता है कि मनुष्य अपने आचरणो का प्रयोग बुद्धिमानी और ज्ञान से करता है अर्थात् वह जान-बूझकर कुएँ में नही गिरता और न अपने हाथो से अपने पैरो पर कुल्हाडी मारता है। ऐसा वह तभी करेगा जब इससे उसका लाभ हो। ये मान्यताएँ बिल्कुल स्वाभाविक है और इनका कोई अपवाद नही।

अर्थशास्त्र यह भी मानता है कि प्रत्येक मनुष्य स्वार्थी है और वह अपने स्वार्थ के ही कार्य करता है। यहाँ 'स्वार्थ' शब्द का व्यापक अर्थ में

प्रयोग किया गया है। स्वार्थ शब्द का अर्थ अपने सुख और सन्तोष के लिए प्रयत्न करना है। जब एक व्यक्ति किसी अनाथ या अपाहिज को दान देता है तो क्या यह आचरण स्वार्थी नही ? वह दान इसीलिए देता है क्योकि उसको ऐसा करने से सुख या सन्तोष प्राप्त होता है। जब कोई व्यक्ति दूसरो की सहायता करता है तो वह भी ऐसा इसीलिए करता है क्योकि उसको सन्तोष प्राप्त होता है। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति अपनी अपनी विभिन्न रीतियो से अधिक सन्तोष या सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। किसी व्यक्ति को अधिक सुख देशसेवा से प्राप्त होता है, किसी को दूसरो की सहायता करने से, किसी को धर्म का प्रचार करने से और किसी को केवल अपने कुटुम्ब पर व्यय करने मे ही। प्रत्येक स्थिति मे मनुष्य वही कार्य करता है जिससे उसके स्वार्थ की पूर्ति हो, अर्थात् जिस कार्य को करने से उसको सन्तोष या सुख प्राप्त हो। जब कोई व्यक्ति धर्म-प्रेम या रीति-रिवाज के दवाव से कोई कार्य करता है तो वह इसीलिए करता है क्योकि उस कार्य के न करने से उसे दुख होता और उस दुख का न होना ही सुख है। महात्मा गांधी या पंडित नेहरू को देश-सेवा करने से सुख प्राप्त होता है और वह देश-सेवा इसी कारण करते हैं क्योकि सुख प्राप्त करने के लिए उनके लिए यह कार्य अनिवार्य है और इसलिए वह भी अपने स्वार्थ सम्बन्धी कार्य करते है। साधारणत लोग स्वार्थ शब्द को घृणा की दृष्टि से देखते हैं परन्तु जब हम अर्थशास्त्र में यह मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थी है तो हमारे कहने का केवल यही तात्पर्य है कि प्रत्येक व्यक्ति वही कार्य करता है जिससे उसे सन्तोष या उपयोगिता प्राप्त होती है। यह मान्यता विल्कुल स्वाभाविक है और इसका कोई अपवाद नहीं।

अर्थशास्त्र के नियम

अर्थशास्त्र के नियम यह वतलाते हैं कि अमुक कार्य का अमुक परिणाम होगा। वह वतलाते है कि कुछ दिये हुए कारणो का एक निश्चित परिणाम अवश्य होगा। जैसे माँग का नियम वतलाता है कि मूल्य वढने पर माँग अवश्य कम हो जायगी और सीमान्त उपयोगिता के ह्रास का नियम यह वतलाता है कि किसी वस्तु के उपभोग की अविच्छिन्न क्रिया में उस वस्तु की प्रत्येक इकाई से प्राप्त उपयोगिता क्रमानुसार क्रमश कम होती जाती है। यह नियम अनिवार्य है। परन्तु ऐसा हो सकता है कि कुछ कारणो से ऐसे परिणाम हो जो नियम के विरुद्ध हो—जैसे, यदि लोगो की आय वढ़ जाय तो हो सकता है कि किसी वस्तु का मूल्य वढ़ने पर भी उस वस्तु की माँग कम न हो। ऐसी घटनाओ को ध्यान में रखकर हम

यह नही कह सकते कि अर्थशास्त्र के नियम अटल नही होते। उनसे तो यह स्पष्ट होता है कि नियम अटल है परन्तु वह लागू उस कारण नही हो रहा है क्योकि मूल्य बढने के साथ साथ आय मे भी परिवर्तन हो गया है। यदि आय मे परिवर्तन न होता तो मांग अवश्य घट जाती। इन उदाहरणो को ध्यान मे रखकर हम यह नही कह सकते कि अर्थशास्त्र के नियमो मे कुछ अनिश्चितता होती है। कुछ लेखक उक्त उदाहरणो को नियम का अपवाद मान लेते है और इसी कारण कहते है कि अर्थशास्त्र के नियम भौतिक विज्ञानो के नियमो के समान निश्चित और अनिवार्य नही होते। उनके मत का यह भी कारण है कि वे कहते है कि अर्थशास्त्र का प्रत्येक नियम तभी सत्य होता है जब "अन्य परिस्थितियाँ समान रहे।" परन्तु यह ध्यान मे रखना चाहिये कि "अन्य परिस्थितियो का समान रहना" केवल अर्थशास्त्र के नियमो के लिए ही आवश्यक नही है। रसायन-शास्त्र के नियम यह कहते है कि उचित या विशेष मात्रा मे खाद का प्रयोग करने से उपज अच्छी होती है। परन्तु यह तभी सम्भव है जब "अन्य परिस्थितियाँ समान रहे।" यदि ऐसा न हो तो आप कितना ही अच्छा खाद क्यो न प्रयोग करे परन्तु टिड्डी, बाढ या भूचाल से उपज बिल्कुल नष्ट हो सकती है। इसी तरह गुरुत्वाकर्षण (Law of Gravitation) का नियम यह कहता है कि प्रत्येक वस्तु को पृथ्वी अपनी ओर आकृष्ट करती है परन्तु एक पतग या हवाई जहाज पृथ्वी पर आने की अपेक्षा हवा मे ऊपर उड़ता है। ऐसा होने से हम यह नही कहते कि गुरुत्वाकर्षण नियम अनिवार्य नही परन्तु ऐसा तो इसीलिए होता है क्योकि "अन्य परिस्थितियाँ समान नही है।" इसी तरह ग्रीष्मकाल मे मक्खन या घी पिघल जाता है परन्तु यदि उसे बर्फ मे रख दे तो वह पिघलने की अपेक्षा जम जायेगा। साराश यह है कि "अन्य परिस्थितियो का समान रहना" तो प्रत्येक विज्ञान के नियमो के लागू होने के लिए आवश्यक है। अर्थशास्त्र के नियम यह बतलाते है कि यदि कुछ कारण उपस्थित है तो अन्य बाधाओ के न होने पर विशेष परिणाम अनिवार्य है।

कुछ लेखको का कहना है कि अर्थशास्त्र के नियम प्राकृतिक नियमो के समान पूर्ण नही होते। दो भाग हाइड्रोजन और एक भाग औक्सीजन से पानी बनता है तो हम निश्चित रूप मे कह सकते है कि हाइड्रोजन और औक्सीजन की मात्रा दुगनी करने से दुगना पानी बनेगा और तीन गुनी करने से तिगुना पानी बनेगा। परन्तु माँग का नियम यह नही बतलाता कि मूल्य मे ५० % कमी होने से माँग कितनी बढ जायेगी। वह तो केवल इतना ही बतलाता है कि मूल्य कम होने से माँग की प्रवृत्ति वृद्धि की ओर होगी। परन्तु यह तुलना ठीक नही है। उक्त प्राकृतिक

नियम के समान अर्थशास्त्र मे उपज का नियम यह बतलाता है कि यदि उत्पत्ति के प्रत्येक साधन को दुगुना कर दिया जाय तो उपज दुगुनी हो जायेगी और यदि प्रत्येक साधन को तिगुना कर दिया जाय तो उपज भी तिगुनी हो जायेगी। परन्तु जब उत्पत्ति के साधनो में से एक ही साधन की मात्रा बढाई जाय तो हम यह नही कह सकते कि उपज में क्या परिवर्त्तन होगा। जब मूल्य ५०% घट जाता है तो हम यह नही कह सकते कि माँग भी ५०% बढ जायेगी; क्योकि माँग का नियम माँग और मूल्य में एक सम्बन्ध तो स्थापित करता है परन्तु यह नही कहता कि जिस मात्रा में मूल्य घटेगा उस मात्रा में ही माँग बढ़ेगी। ऐसी आशा रखना तो गलत होगा क्योकि नियम इस विषय पर यह नही कहता कि माँग और मूल्य का पारस्परिक घटने-बढने का सम्बन्ध समान अनुपात में होता है। उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र के नियम उतने ही पूर्ण, अटल और अनिवार्य होते है जितने अन्य प्राकृतिक विज्ञान के नियम होते है।

कुछ लेखक कहते है कि अर्थशास्त्र के नियम सामाजिक होते हैं, परन्तु यह आवश्यक नही है। जैसा कि हम अगले अध्याय में बतलायेगें अर्थशास्त्र सामाजिक और व्यक्तिगत दोनो स्थितियो का अध्ययन करता है*। इस कारण उसके मूल नियम व्यक्तिगत स्थिति में भी लागू होते हैं। सीमान्त उपयोगिता के ह्रास का नियम ऐसे व्यक्ति पर भी लागू होता है जो समाज से बिल्कुल अलग हो। सामाजिक समस्याएँ अधिक जटिल होती हैं और इसी कारण समाज के अर्थशास्त्र के नियम एक एकान्तवासी व्यक्ति की अपेक्षा अधिक होगे। जैसे कर का नियम एक सामाजिक नियम है और वह एकान्तवासी व्यक्ति के लिए व्यर्थ है क्योकि उस स्थिति में कर की कोई समस्या ही नही होती। यह भी कहना गलत है कि अर्थशास्त्र के नियम मनुष्य की उन मनोवृत्तियो से सम्बन्ध रखते है जो धन या द्रव्य में नापी जा सकें*। जैसा कि हमने पहले अध्याय में बतलाया है अर्थशास्त्र पर इस प्रकार के कोई बन्धन नही है और उसमे प्रत्येक मानवी आचरण का अध्ययन होता है यदि वह आचरण सीमित समय और साधन से प्रभावित हो।

अध्ययन की रीतियाँ

प्रत्येक विज्ञान के अध्ययन की दो रीतियाँ होती है —(१) निगमन रीति और (२) आगमन रीति। निगमन रीति (Deductive Method) में सामान्य सत्य से हम विशिष्ट सत्य पर पहुँचते है। इस प्रणाली में

* पृष्ठ २०–२१ देखिये

हम कुछ आधारभूत और स्वयसिद्ध वातो को अपना आधार मान लेते हैं और फिर उनसे कुछ परिणामो पर पहुँचते है। उदाहरणत हम जानते है कि प्रत्येक मनुष्य की मृत्यु अवश्य होती है। इस आधारभूत वात को लेकर हम इस परिणाम पर पहुँच सकते हैं कि राम की मृत्यु अवश्य होगी क्योकि राम मनुष्य है। प्रत्येक मनुष्य की मृत्यु अवश्य होती है यह सामान्य सत्य है इससे हम एक विशिष्ट परिणाम पर पहुँचते हैं कि राम की भी मृत्यु होगी। यह अध्ययन की निगमन रीति कहलाती है।

आगमन रीति (Inductive Method) मे हम कुछ विशिष्ट बातो का अध्ययन करते है और उससे कुछ सामान्य तथ्य खोज निकालते है। इस रीति मे हम घटनाओ का अध्ययन करते है और उस अध्ययन से विशेष वस्तुओ में कारण और परिणाम का सम्बन्ध स्थापित करते है। यदि हम राम, श्याम, मोहन इत्यादि व्यक्तियो का अध्ययन करे और इस परिणाम पर पहुँचे कि उनमे से प्रत्येक की ऊँचाई, वजन, रग इत्यादि विभिन्न है परन्तु प्रत्येक व्यक्ति मे विचारशक्ति है जो अन्य पशुओ मे नही पाई जाती, तो हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि मनुष्य एक विचार-शक्ति वाला जीव है। यह अध्ययन की आगमन रीति कहलाती है। इस रीति से हम निगमन रीति द्वारा प्राप्त किये परिणामो की जाँच भी कर सकते है जिससे निगमन रीति के परिणामो की सत्यता सिद्ध हो जाती है। हम आगमन रीति द्वारा प्राप्त किये परिणामो से निगमन रीति द्वारा नई विशिष्ट वातो का पता लगा सकते है। जैसे, जब आगमन रीति से हम इस परिणाम पर पहुँचे कि प्रत्येक व्यक्ति विचार-शक्ति वाला जीव है तो अव हम निगमन रीति द्वारा इस परिणाम पर पहुँचते है कि कृष्ण और गोविन्द भी विचार शक्ति रखते है क्योकि वे मनुष्य है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि किसी भी विज्ञान के अध्ययन के लिए निगमन या आगमन दोनो रीतियो का प्रयोग आवश्यक है, क्योकि यह दोनो रीतियाँ एक दूसरे की सहायक और पूरक हैं। अर्थशास्त्र मे भी नियमो का उद्घाटन दोनो रीतियो द्वारा किया जाता है। कुछ समस्याओ के अध्ययन के लिए निगमन रीति अधिक उचित होती है और कुछ के लिए आगमन रीति। सीमान्त उपयोगिता के ह्रास के नियम का उद्घाटन हम निगमन रीति से करते हैं। हम जानते है कि मनुष्य के लिए यह स्वाभाविक है कि जब उसकी एक विशेष आवश्यकता की कुछ मात्रा में पूर्ति हो जाती है तो उस आवश्यकता की तीव्रता घट जाती है और इसी कारण किसी वस्तु का अविच्छिन्न उपभोग करने से क्रमानुसार घटती हुई उपयोगिता प्राप्त होती है। जव इस नियम का उद्घाटन हम निगमन रीति से कर लेते है, तो इसकी जाँच आगमन रीति से हो सकती है।

हम देखते है कि एक विशेष व्यक्ति राम पहली रोटी के लिए अधिक मूल्य देने को तय्यार है और दूसरी के लिए कम और तीसरी के लिए उससे भी कम। इस प्रकार निगमन रीति से उद्घाटित किए नियम की सत्यता आगमन रीति से जाँच ली जाती है। माल्थस ने आगमन रीति से अपना प्रसिद्ध जनसख्या का नियम निकाला। इसी तरह हम एक बाजार में विभिन्न मूल्यो पर माँग की मात्रा का अध्ययन कर सकते है और जब हम यह देखते है कि मूल्य बढने से माँग घटती है और मूल्य घटने से बढती है तो हम माँग के नियम का निर्माण करते है। उसके उपरान्त जब हम एक विशेष वस्तु का मूल्य घटता हुआ देखते है तो तुरन्त निगमन रीति के प्रयोग द्वारा कह सकते है कि अब उस वस्तु की माँग बढ जायेगी। कुछ अर्थशास्त्र की समस्याओ के अध्ययन में निगमन रीति अधिक सुगम होती है और कुछ समस्याओ मे आगमन रीति। इस कारण दोनो रीतियो का प्रयोग लाभदायक और आवश्यक है। कुछ प्रारम्भिक अर्थशास्त्रियो ने केवल निगमन रीति का ही प्रयोग किया परन्तु ऐसा करने से उन्होने अनेक त्रुटियाँ की। उन्होने 'आर्थिक मनुष्य' की कल्पना की जो केवल धन प्राप्ति में ही लगा रहता है। उन्होने यह भी माना कि ऐसा मनुष्य धर्म, रीति-रिवाज, देश-प्रेम, ईश्वर-भक्ति, स्त्री-प्रेम इत्यादि की अपेक्षा धन को ही अधिक महत्त्व देता है। ऐसा काल्पनिक मनुष्य जो सदा धन को ही अधिक महत्त्व दे व्यावहारिक जीवन में नही पाया जाता। इसी कारण उनके द्वारा जिन नियमो का निर्माण हुआ उनमें त्रुटि थी। यदि वह आगमन रीति द्वारा अपने नियमो की जाँच करते तो उनको अपनी त्रुटि मालूम हो जाती। इसी कारण हमने ऊपर बताया है कि दोनो रीतियो का प्रयोग लाभदायक और आवश्यक है। आधुनिक अर्थशास्त्रियो का यही मत है।

अभ्यास के प्रश्न

१ अर्थशास्त्र किन मान्यताओ को लेकर चलता है? क्या इन मान्यताओ में कुछ त्रुटि है?
२ अर्थशास्त्र के नियमो की प्राकृतिक विज्ञानो के नियमो से तुलना कीजिये।
३. अर्थशास्त्र के अध्ययन की दोनो रीतियो को समझाइये। इनमें से कौन-सी रीति अधिक आवश्यक है?

अध्याय ४

अर्थशास्त्र का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध

क्या अर्थशास्त्र सामाजिक विज्ञान है ?

उक्त प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व यह समझना उचित होगा कि समाज और सामाजिक विज्ञान का ठीक-ठीक अर्थ क्या है। यदि किसी सभ्यता या देश मे एक ही व्यक्ति रहता हो जिसका और किसी व्यक्ति से कोई सम्बन्ध न हो और उनसे वि कुल अलग रहता हो तो वह एक व्यक्ति की सभ्यता कहलायेगी। ऐसी स्थिति में समाज का अस्तित्व नही होता। समाज एक से अधिक व्यक्तियो द्वारा बनता है और समाज के अस्तित्व के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्तियो की सख्या एक से अधिक हो। जो विज्ञान समाज या समाज की समस्याओ का अध्ययन करता है उसको सामाजिक विज्ञान कहते है। सामाजिक विज्ञान उन्ही व्यक्तियो का या उनकी समस्याओ का अध्ययन करता है जो समाज के सदस्य हो। सामाजिक विज्ञान ऐसे व्यक्तियो का अध्ययन नही करता जो समाज से बिल्कुल अलग हो और जिनके ससार में वह एक व्यक्ति ही मनुष्य हो।

यह ठीक ठीक पता चलाने के लिए कि अर्थशास्त्र सामाजिक विज्ञान है या नही उक्त व्याख्या आवश्यक थी, क्योकि बहुत से लोगो का अटल विश्वास होता है, कि अर्थशास्त्र तो सामाजिक विज्ञान ही है और इस विश्वास के विरुद्ध वह सोचने की इच्छा ही नही रखते। अर्थशास्त्र में हम मनुष्य की क्रियाओ का अध्ययन करते है। यह अध्ययन एक ही पक्ष से किया जाता है जैसा कि हम अध्याय १ में समझा चुके है। जहाँ कही भी मनुष्य का अस्तित्व होता है, चाहे वह समाज मे रहता हो या समाज से बिल्कुल अलग (रौबिन्सन क्रूसो के समान), वही ऐसी समस्याएँ होती है जिनका अध्ययन अर्थशास्त्र में होता है। अर्थशास्त्र के इस क्षेत्र में केवल एक ही बन्धन है कि मनुष्य का जीवन सीमित समय व साधनो से प्रभावित हो। यदि कोई ऐसा समाज हो जहाँ समय और साधन सीमित न हो या कोई ऐसा व्यक्ति हो जो अकेला ही ऐसी दुनिया मे रहता हो जहाँ समय व साधन सीमित न हो तो इन स्थितियो में कोई आर्थिक समस्या नही उठती। परन्तु व्यावहारिक जीवन मे ऐसे व्यक्ति या समाज का होना असम्भव है। यदि ससार में एक ही व्यक्ति होता तो भी आर्थिक

समस्या उसको सताती; क्योंकि उसके लिए समय और साधन सीमित होते। उसको यह निश्चय करना होता कि वह अपना कितना समय सोने में व्यतीत करे, कितना घूमने मे, कितना भागने में, कितना ईश्वर-भक्ति में, कितना अपनी भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति करनेवाली वस्तुओं के उत्पादन मे, इत्यादि इत्यादि। उसको यह भी निश्चय करना होता कि यदि वह बाग लगाना चाहे या खेती करना चाहे तो अपने परिश्रम का कितना भाग उस खेती की जगली जानवरो से रखवाली करने में या उसके चारो ओर वाढ लगाने मे व्यतीत करे। अर्थात् उसको अनेक आर्थिक समस्याओ का सामना करना पडता। इस कारण अर्थशास्त्र उसका अध्ययन करता और उसकी समस्याएँ सुलझाने मे उसके लिए उपयोगी प्रतीत होता। इस कारण हम कह सकते है कि अर्थशास्त्र एक व्यक्तिगत विज्ञान भी है। अर्थशास्त्र एक ऐसे व्यक्ति का भी अध्ययन करता है जो ससार में अकेला हो। वह समाज का भी अध्ययन करता है और ऐसे व्यक्ति का भी जो समाज का सदस्य हो। जो व्यक्ति समाज का सदस्य होता है उसके सामाजिक व व्यक्तिगत दोनो प्रकार के आचरणो का अध्ययन अर्थशास्त्र मे होता है। इस कारण एक व्यक्तिगत अर्थशास्त्र भी हो सकता है और सामाजिक अर्थशास्त्र भी। व्यक्तिगत अर्थशास्त्र में हम केवल ऐसे व्यक्ति के आचरणो का अध्ययन करेंगे जो ससार में अकेला हो और सामाजिक अर्थशास्त्र में हम समाज का और उसके सदस्यो का अध्ययन करेंगे। इस प्रकार अर्थशास्त्र गणितशास्त्र, भूगोल या अन्य प्राकृतिक विज्ञानो के समान है जो ऐसे ससार की समस्याओ का भी अध्ययन करते है जहाँ केवल एक व्यक्ति हो और ऐसे ससार का भी जहाँ अनेक व्यक्ति हो। इसके विपरीत राजनीति या न्यायशास्त्र ऐसे विज्ञान है जो समाज के अस्तित्व पर ही निर्भर है। यदि समाज न हो तो इन शास्त्रो के अध्ययन की भी कोई आवश्यकता नही। जो व्यक्ति ऐसे ससार मे रहता हो जहाँ वह अकेला हो वहाँ न राजनीति की समस्या उठती है और न न्याय की, इस कारण यह शास्त्र सामाजिक शास्त्र है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यह कहना बिल्कुल गलत होगा कि अर्थ-शास्त्र साधुओ, चोरो इत्यादि के आचरण का अध्ययन नही करता। इन व्यक्तियों की भी आवश्यकताएँ होती है और उनकी पूर्ति के लिए उन्हें परिश्रम करना पडता है क्योंकि उनके भी समय और साधन सीमित है। साराश यह है कि कोई व्यक्ति और उसका कोई भी आचरण अर्थशास्त्र के क्षेत्र के बाहर नही है जब तक उस पर सीमित समय या साधनो का प्रभाव हो।

अब हम अर्थशास्त्र के अन्य विज्ञानो से सम्बन्ध का अध्ययन करेंगे। इसके पहले यह बता देना आवश्यक है कि उन समस्त विज्ञानो में जो मनुष्य

का अध्ययन करते हैं एक वडी भारी एकता है। इनमें से प्रत्येक विज्ञान मनुष्य के आचरणो का एक पक्ष से अध्ययन करता है। राजनीति-शास्त्र में हम मनुष्य के आचरणो का राजनीति की दृष्टि से अध्ययन करते है, नीतिशास्त्र में नीति की दृष्टि से, धर्म में धर्म की दृष्टि से, न्यायशास्त्र में न्याय की दृष्टि से, स्वास्थ्य-विज्ञान में स्वास्थ्य की दृष्टि से, इत्यादि। अर्थशास्त्र मे हम उन्ही आचरणो का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और आवश्यक दृष्टि से अध्ययन करते हैं। उन्ही आचरणो के दूसरे पक्षो का अध्ययन दूसरे शास्त्रो में होता हैं। मानवी आचरणो का एक ही दृष्टि से अध्ययन करना अपूर्ण और एकागी अध्ययन होगा। उन आचरणो का पूर्ण अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक है कि उनका अध्ययन विभिन्न दृष्टियो से विभिन्न शास्त्रो की सहायता से किया जाय। विभिन्न दृष्टियो से मानवी आचरणो के अध्ययन का विभिन्न महत्त्व है परन्तु एक निश्चित समय पर कौन सी दृष्टि से अध्ययन करने का अधिक महत्त्व है यह इस बात पर निर्भर है कि हमारे अध्ययन करने का उद्देश्य क्या है।

अर्थशास्त्र और राजनीति-शास्त्र

राजनीति-शास्त्र मे हम राज्य और उसके नागरिको के पारस्परिक सम्वन्ध का अध्ययन करते हैं। हम यह भी अध्ययन करते है कि शासन किस प्रकार का है और उस राज्य का दूसरे राज्यो से क्या सम्वन्ध है। आर्थिक उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि देश में पूर्ण शान्ति और व्यवस्था स्थापित हो। इनके अभाव से उत्पादन मे कमी होगी जिसके कारण उपभोग की मात्रा भी घट जायेगी। इसी प्रकार राजनैतिक क्रान्ति या उथल-पुथल से जनता की आर्थिक स्थिति को हानि पहुँचेगी। देश की राजनीति का भी आर्थिक स्थिति पर वडा प्रभाव पडता है। यदि विदेशी नीति आक्रामक हो तो उस देश को हिटलर के जर्मनी के समान 'मक्खन की अपेक्षा वन्दूको' का उत्पादन वढाना होगा। आजकल हम देखते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे आशकापूर्ण नीति के कारण प्रत्येक राज्य अपनी आय का अधिक भाग सैनिक और शस्त्र पर व्यय करता है। इस वर्ष केवल अमेरिका लगभग २० हजार करोड रुपया अपनी तथा अपने मित्र-राष्ट्रो की सुरक्षा की योजनाओ पर व्यय करेगा। यदि ससार में शका और डर की अपेक्षा शाति और विश्वास हो तो यह धन जनता के सुख के साधनो के वढाने में लगाया जा सकता है। आर्थिक स्थिति का भी राजनीति पर वडा प्रभाव पडता है। यह हमारी आर्थिक स्थिति का ही कारण है कि हमारे राष्ट्र ने जमीदारी-उन्मूलन का कानून वनाया है और मदिरा का प्रयोग वन्द किया है। आर्थिक स्थिति की उन्नति और

जनता के हित के ही कारण राष्ट्रीयकरण की योजनाएँ बनाई जाती है। जनता में साहस की कमी और उसके पिछडे होने के कारण राज्य को स्वय उत्पादन की ओर कदम बढाना पडता है और नई नई उत्पादन-योजनाओ मे सहायता करनी पडती है। यदि आवश्यक वस्तुओ की अधिक कमी हो तो राज्य के लिए उन वस्तुओं का मूल्य नियन्त्रित करना और राशन द्वारा वितरण करना अनिवार्य हो जाता है और ऐसे कानून बनाने पडते है कि जो लोग इसका विरोध करे उन्हें दण्ड दिया जाय।

अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र

नीतिशास्त्र के अध्ययन से हम अच्छे और बुरे का ज्ञान प्राप्त करते है। नीतिशास्त्र हमें अच्छे और बुरे में अन्तर मालूम करने का मापदण्ड देता है। धन कमाने की अनेक रीतियाँ है और किसी रीति से भी धन कमाया जाय तो धन की आवश्यकता की पूर्ति होती है। परन्तु धन ईमानदारी और परिश्रम से भी कमाया जा सकता है और डाका डालकर भी। एक रीति उचित है और दूसरी अनुचित। कुछ समय के लिए डाके के धन से सुख के साधन मिल सकते है परन्तु ऐसे धन कमाने से अन्त करण को दुख होता है और आत्मा का पतन होता है। इस प्रकार नीतिशास्त्र हमको बतलाता है कि मनुष्य के प्रमुख उद्देश्य अधिकतम सुख को प्राप्त करने के लिए उचित रीतियो से उपयोगिता या सन्तोष प्राप्त करना लाभदायक है। जिस समाज के लोग समृद्धिवान् होगे वे ईमानदार और सच्चे भी होगे और उनकी नीति के आदर्श भी ऊँचे होगे। जो लोग सच्चे और ईमानदार होते हैं उनका जीवन आर्थिक दृष्टि से महान् और अधिक सुखी होगा। ऐसे समाज मे बेइमानी, घूस, शोषण और चोर बाजार इत्यादि जो जनता को सुख प्राप्ति में बाधाएँ है, न होगे। जब मजूरो का वेतन उनकी माँग और पूर्ति पर निर्भर होता है तो हो सकता है कि वह इतना कम हो कि उनका चरित्र भ्रष्ट हो जाय और उनका नैतिक पतन हो जाय। इन हानियो को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि उनको अधिक वेतन दिया जाय। नीतिशास्त्र हमको यह बतलाता है कि शोषण पाप है और अर्थशास्त्र भी यही बतलाता है कि शोषण जन-साधारण की उन्नति में बाधा है।

अर्थशास्त्र और धर्म

मनुष्य का आर्थिक स्वार्थ उसको बतलाता है कि दुर्बल और दूध न देनेवाली गायो का वध करना लाभदायक है क्योकि ऐसे पशु हमारे देश के घास इत्यादि के सीमित क्षेत्र मे भार है, परन्तु हमारा धर्म ऐसा करने से हमको रोकता है। इसी प्रकार धार्मिक विश्वासो के कारण

विवाह और मृत्यु के अवसर पर अनेक कार्यो का करना आवश्यक होता है और उन पर किया गया व्यय वहन करना बडा कठिन होता है। अनेक किसान इत्यादि ऐसे कार्यो के लिए ऋण ले लेते है जिसमे वे जन्मभर छुटकारा नही पाते। हिन्दूधर्म के अनुसार कन्यादान और पुत्र द्वारा दाह-कर्म स्वर्ग की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। इन विचारो का जनसख्या पर बडा प्रभाव पडता है क्योकि ऐसी स्थिति मे एक पुत्र और एक पुत्री होना आवश्यक है, जिसके कारण विवाह एक धार्मिक सस्था है। धर्म के अनुसार शोषण करना पाप है, और धर्म दान और दुर्बलो की सहायता का महत्त्व भी बतलाता है। इस प्रकार धर्म के नियम मानने से असमान वितरण की समस्या हल हो जाती है। इसी समस्या को हम राजस्व में धनवानो पर अधिक कर लगाकर और निर्धनो पर अधिक व्यय करके हल करते हैं।

अर्थशास्त्र और न्यायशास्त्र

न्यायशास्त्र इस बात के नियम बनाता है कि मनुष्य क्या कर सकता है और उसे क्या नही करना चाहिये और वर्जित कार्यों के करने से बनाये हुए कानूनो के द्वारा दण्ड मिलता है। कोई व्यक्ति कानून अपने हाथ मे नही ले सकता और यदि उसे दूसरो के विरुद्ध कुछ शिकायते है तो उसको कानून की सहायता लेकर उनको दूर करना चाहिए। अच्छे कानून आर्थिक उन्नति में सहायक होते है। यदि एक ही स्थान पर बहुत से कारखानो के एकत्रित होने की प्रवृत्ति हो या एक ही प्रकार के कारखानो में अधिक धन लगाने की प्रवृत्ति हो तो ऐसे कानून बनाये जा सकते है जिससे नये कारखानो की स्थापना ऐसे स्थानो पर की जाय जो देश के लिए अत्यधिक लाभदायक हो और नई पूंजी भी ऐसे कारखानो में लगाई जाय जो देश की आवश्यकता की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण हो। मजूरो के हित के नियम उनकी कार्यक्षमता की वृद्धि के लिए हितकर होते हैं। कानूनो का आर्थिक स्थिति पर भी अधिक प्रभाव पडता है। विलायत मे Law of Primogeniture के अनुसार सारी जमीन बडे बेटे को मिलती है, जिस कारण वहाँ बडे बडे खेत है। हिन्दुओ में सारी जायदाद सब पुत्रो में बाँटने के नियम के कारण भारतवर्ष में छोटे छोटे खेतो के अलग अलग स्वामी होते है जिससे कृषि को हानि पहुँचती है। किसी देश के कानून उसकी आर्थिक स्थिति पर भी निर्भर होते है। उन्नतिशील देशो मे बच्चो से मजूरी कराना मना होता है, प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य होती है, निश्चित मजूरी से कम देना मना होता है, बीमारी और बुढापे की बीमे की योजनाएँ और बेकारी में सहायता देने इत्यादि के कानून होते है।

अर्थशास्त्र और मनोविज्ञान

अर्थशास्त्र का अध्ययन मनोविज्ञान के कुछ सत्यो को दृष्टि में रखकर किया जाता है, जैसे सीमान्त उपयोगिता के ह्रास के नियम का निर्माण मनोविज्ञान के इस सत्य से किया जाता है कि जब किसी व्यक्ति की एक वस्तु की आवश्यकता कुछ मात्रा में सन्तुष्ट हो जाती है तो उस वस्तु की आवश्यकता की तीव्रता घट जाती है। इसी कारण उस वस्तु के उपभोग से क्रमानुसार घटती हुई उपयोगिता प्राप्त होती है। मनोविज्ञान हमको बतलाता है कि मनुष्य परिश्रम की अपेक्षा विश्राम को अधिक पसन्द करता है। इसी कारण परिश्रम करने में उसको दुख होता है क्योकि उसको विश्राम का त्याग करना पडता है। इस दुख का ही परिणाम है कि मनुष्य परिश्रम करने पर कुछ वेतन की आशा रखता है चाहे यह वेतन उसको द्रव्य मे प्राप्त हो या उपयोगिता मे। पूंजीपति को उसकी लगाई पूंजी का व्याज भी इसीलिए देना पडता है क्योकि मनुष्य का स्वभाव ही यह है कि वह वर्तमान सन्तोष को भविष्य में प्राप्त होनेवाले समान सन्तोष से अधिक महत्त्व देता है। नये उत्पादन के कार्यो मे पूंजी लगाना अनेक बातो पर निर्भर है जिसमें से पूंजीपतियो की मनोवृत्ति विशेष है। यदि पूंजी-पतियो के विचार में आर्थिक स्थिति मे गडबड होने का डर है तो वे अपनी पूंजी को नये कार्यो या कारखानो में लगाने से हिचकिचायेंगे, चाहे इससे देश और जनता को अधिक हानि हो। इसी प्रकार विभिन्न वस्तुओ का मूल्य या अर्घ इसी पर निर्भर होता है कि समाज या उपभोक्ता के विचार में उस वस्तु का क्या महत्त्व है। लोग ऐसे ही कपडे पहिनते हैं जो उस समाज मे उचित समझे जाँय। भारतवर्ष को स्वतन्त्रता मिलने के उपरान्त टाई और टोप की प्रथा बहुत कम हो गई है और लोगो के विचार में गाँधी टोपी और शेरवानी ही उचित वस्त्र है। कपडो के फैशन मे जो परिवर्त्तन होता है वह मनुष्य के विचारो पर ही निर्भर है। जिस समाज की आर्थिक स्थिति अच्छी होती है उसके सदस्य भी विचारशील और गभीर होते हैं।

अर्थशास्त्र और आर्थिक इतिहास

आर्थिक इतिहास में हम मनुष्य के आर्थिक विकास का अध्ययन करते है और भिन्न भिन्न समयो पर उसकी आर्थिक स्थिति का पता लगाते है। आर्थिक इतिहास के अध्ययन से हमको पता चलता है कि आर्थिक स्थिति का सामाजिक सस्थाओ पर क्या प्रभाव पडा है। इस अध्ययन से हम यह भी पता लगा सकते हैं कि राज्य की कर-नीति का देश के उत्पादन

और जनता के उपभोग पर कैसा प्रभाव पड़ता है। आर्थिक इतिहास से हमको यह भी पता लगता है कि अब तक समाज की जो उन्नति हुई उसके क्या कारण थे और जिन आपत्तियों का उसको अनुभव हुआ उसको भविष्य में किस प्रकार रोका जा सकता है। इस अध्ययन से ही हमको पता लगता है कि असमान वितरण होने के कारण उत्पादन अधिक होने पर वस्तुओं का विक्रय नहीं हो सकता; क्योंकि जिनको उस वस्तु की आवश्यकता है उनके पास क्रय करने के साधन नहीं है और जिनके पास साधन है उनको उस वस्तु की आवश्यकता नहीं है। इससे देश या संसार आर्थिक संकट में पड़ जाता है। आर्थिक इतिहास के अध्ययन से ही हमको पता लगता है कि स्वदेशी माल की इस प्रकार रक्षा करने की नीति से जिससे वह विदेशी माल की अपेक्षा सस्ता बिक सके नये नये उद्योगों को आरम्भ किया जा सकता है। भारत में इस नीति के ही द्वारा कागज, सीमेंट, लोहे इत्यादि के कारखाने स्थापित किये गये और अब इन वस्तुओं की माँग की पूर्ति बहुत कुछ भारतीय कारखानों से ही होती है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने भी प्रारम्भ मे अपनी आर्थिक उन्नति इस नीति को अपनाकर ही की।

अर्थशास्त्र और आर्थिक विचारो का इतिहास

आर्थिक विचारों के इतिहास का अध्ययन करने से हमको मालूम होता है कि आर्थिक विचारो और नियमो में किस प्रकार परिवर्त्तन हुआ। मध्य-काल में मनुष्य बहुत कुछ कृषि पर ही निर्भर था। जिसके पास अधिक भूमि थी वही धनी माना जाता था। इसी कारण फ्रान्स के प्रारम्भिक अर्थशास्त्रियों ने (जिनको Physiocrats कहा जाता है) भूमि को ही सम्पत्ति का स्रोत माना और कहा कि कृषि द्वारा ही मनुष्य कुछ उत्पादन करता है—कुछ बीज डालने से मनो नाज पैदा होता है—क्योंकि अन्य कार्यों में तो वह केवल पदार्थों के रूप मे ही परिवर्त्तन करता है। उनकी यह भूल थी। कृषि में भी पदार्थों के रूप का ही परिवर्त्तन होता है। मार्क्स (Marx) का अर्थ का सिद्धान्त के वस्तुओ का मूल्य उन पर व्यय किये गये परिश्रम पर ही निर्भर है (Labour Theory of Value), शोषण की प्रतिक्रिया थी। इसके पूर्व अर्थशास्त्री पूर्ण प्रतिस्पर्धा (Perfect Competition) का ही अध्ययन करते थे। उस स्थिति मे मजूरो को वेतन कम मिलता था और धन पूंजीपतियो के पास ही एकत्रित होता रहता था। मार्क्स के विचारो को जब विज्ञान की कसौटी पर कसा गया तो अपूर्ण प्रतिस्पर्धा (Imperfect Competition) के सिद्धान्त का निर्माण हुआ। इससे वैज्ञानिक रीति से यह बतलाया गया कि राज्य के

हस्तक्षेप न करने की नीति (Laissez faire) देश व जनता के लिए हितकर नही है। असमान वितरण और धन का कुछ इने-गिने व्यक्तियों के पास एकत्रित होने से ही अर्थशास्त्रियों ने कर-नीति का महत्त्व वतलाया और 'सामर्थ्य के अनुसार कर लगाने के सिद्धान्त' (Ability Theory of Taxation) की महत्ता दर्शायी।

अर्थशास्त्र और भूगोल

मनुष्य का जीवन वहुत कुछ भौगोलिक स्थिति पर निर्भर है। इगलैण्ड जैसे ठढे देशो में अधिक कपडे, आश्रय और भोजन की आवश्यकता होती है। वहाँ की जलवायु भी ऐसी होती है जिसमें मनुष्य अधिक परिश्रम कर सकता है। इस कारण उन देशो ने आर्थिक उन्नति की। गर्म देशो में कपडे, आश्रय इत्यादि की आवश्यकता कम होती है और प्रकृति की देन के कारण थोडा-सा परिश्रम करने पर ही फल-फूल व अनाज भी उत्पन्न हो जाते हैं। इन कारणो से मनुष्य आलसी हो जाते हैं और जलवायु भी ऐसी होती है कि अधिक परिश्रम करना कठिन होता है। इसीलिए पूर्वी देश अधिकतर कृषि पर ही निर्भर हैं और आर्थिक उन्नति में पीछे रह गये हैं। इगलैण्ड का समुद्री तट वहुत कटा हुआ है जिससे वहाँ अच्छे अच्छे वन्दरगाह हैं। छोटा टापू होने से किसी भी स्थान से समुद्र वहुत दूर नही है। इसी कारण वहाँ के लोग प्राचीन युग मे भी निपुण मल्लाह होते थे। इससे वे साहसी भी होते हैं। दूर दूर के देशो से व्यापार भी करते है तथा वहाँ जाकर वस भी जाते हैं।

अर्थशास्त्र और अंकशास्त्र व गणित

आर्थिक नियमो को अकशास्त्र की सहायता से सिद्ध किया जा सकता है। अकशास्त्र के अध्ययन से नये आर्थिक नियमो का निर्माण भी होता है। माल्थस ने अकशास्त्र द्वारा अध्ययन करने के उपरान्त ही जनसंख्या के सिद्धान्त का उद्घाटन किया। अकशास्त्र द्वारा ही हम सिद्ध करते है कि अधिक कर का उत्पादन पर वुरा प्रभाव पड़ता है क्योंकि उसमे वचत और नये कारखानो की स्थापना में वाधा पड जाती है। अकशास्त्र से हम यह भी सिद्ध करते है कि यदि उत्पादन मे वृद्धि न हो तो द्रव्य की मात्रा वढने से वस्तुओ के मूल्य वढ जाते है। आर्थिक नियमो को गणित द्वारा प्रतिपादित करने से उनमें अधिक निश्चितता और स्पष्टता आ जाती है। अर्थशास्त्र मे गणित द्वारा ही मात्रा की अधिकता और न्यूनता का ज्ञान होता है।

अर्थशास्त्र और भौतिक व प्राकृतिक विज्ञान

यह रसायन-शास्त्र का नियम है कि मनुष्य न पदार्थ को उत्पन्न कर सकता है. न उसका नाश ही कर सकता है। वह केवल पदार्थों का रूप वदल सकता है। इसी नियम पर अर्थशास्त्र मे उत्पादन और उपभोग की परिभाषा निर्भर है। फ्रान्स के प्रारम्भिक अर्थशास्त्री (Physiocrats) रसायन-शास्त्र के इस नियम की अज्ञानता के कारण उत्पादन की ठीक ठीक परिभाषा न दे सके। मनुष्य मदिरा का सेवन करे या फल के रस का, उसकी एक आवश्यकता की पूर्ति होती है। परन्तु स्वास्थ्य-शास्त्र वतलाता है कि एक से हानि और दूसरे से उसके स्वास्थ्य को लाभ पहुँचेगा। इसी प्रकार भूख की तृप्ति तो किसी प्रकार का भोजन भी करने से हो सकती है परन्तु स्वास्थ्य-शास्त्र वतलाता है कि किन वस्तुओ का अधिक उपभोग करना चाहिये कि जिससे स्वास्थ्य और कार्यक्षमता मे उन्नति हो। भौतिक और प्राकृतिक विज्ञानो के आविष्कारो से उत्पादन-शक्ति मे वृद्धि होती है और नई नई वस्तुओ का उत्पादन होता है जिससे जीवन अधिक सुखी और महान् वनता है। मोटर, रेल, हवाई जहाज, रेडियो इत्यादि का उत्पादन भौतिक व प्राकृतिक विज्ञानो के आविष्कारो द्वारा ही हुआ है। साथ ही साथ यह भी सत्य है कि मनुष्य-जीवन को अधिक सुखी बनाने की आवश्यकता ही मनुष्य को नये नये आविष्कारो की ओर प्रेरित करती है।

अभ्यास के प्रश्न

१. क्या अर्थशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है ? इसको विस्तारपूर्वक समझा-कर लिखिये।

२ अर्थशास्त्र का अन्य विज्ञानो से सम्वन्व स्पष्ट कीजिये।

अध्याय ५

अर्थशास्त्र के विभाग और उनका पारस्परिक सम्बन्ध

अर्थशास्त्र में मानवी आचरणो का (जो अभाव से प्रभावित है) आवश्यकता और उनकी पूर्ति के दृष्टिकोण से अध्ययन होता है। सुगमता और विस्तार से अध्ययन करने के लिए इसको कई भागों में बाँटा जाता है, जो निम्नलिखित है —

(१) उपभोग, (२) उत्पादन, (३) विनिमय, (४) वितरण, (५) राजकीय अर्थशास्त्र।

उपभोग (Consumption).—आवश्यकताओ की पूर्ति वस्तुओं और सेवाओ के उपभोग के द्वारा होती हैं। जब किसी वस्तु से मानवी आवश्यकता की पूर्ति होती है तो पूर्ति करनेवाली वस्तु की उपयोगिता या तो कम हो जाती है या लुप्त हो जाती है। इस कारण किसी मानवी आचरण का वस्तुओ की उपयोगिता के घटने की दृष्टि से किये गये अध्ययन को 'उपभोग' कहते हैं। उपभोग में इससे सम्बन्ध रखनेवाली सब समस्याओ का अध्ययन होता है।

उत्पादन (Production)—उपभोग के लिए वस्तुएँ या सेवाएँ मुफ्त नही मिलती। इस कारण उनको प्राप्त करने के लिए परिश्रम करना पडता है। परिश्रम से या तो उन वस्तुओ को प्राप्त करते है जिनसे आवश्यकता की पूर्ति होती है या उस उपयोगिता का उत्पादन करते हैं जो उपभोग द्वारा लुप्त हो जाती है। मानवी क्रियायों का उपयोगिता की वृद्धि के दृष्टिकोण से किया गया अध्ययन ही 'उत्पादन' कहलाता है। मानवी परिश्रम द्वारा जिस उपयोगिता की वृद्धि या उसका निर्माण किया जाता है उसी को उत्पादन कहते हैं। उत्पादन का अर्थशास्त्र में बडा महत्त्व है, क्योकि विना उत्पादन के उपभोग सम्भव नहीं है। नदी से पानी पीने मे या जंगल से फल तोडकर खाने में या साँस लेने में भी परिश्रम करना पडता है, जिससे कुछ उपयोगिता का निर्माण होता है और प्यास, भूख या हवा की आवश्यकता की पूर्ति होती है। उत्पादन में हम यह अध्ययन करते हैं कि उत्पादन किस प्रकार होता है, उसकी क्या समस्याएँ है, उस पर कौन से नियम लागू होते हैं, इत्यादि।

विनिमय (Exchange):—ऐसी स्थिति के अतिरिक्त, जहाँ प्रत्येक मनुष्य अपनी सब आवश्यकताओ की पूर्ति करने के लिए प्रत्येक वस्तु का

स्वय उत्पादन करता है, विनिमय की आवश्यकता होती है। ऐसी सभ्यता में भी विनिमय की आवश्यकता होती है जहाँ एक कुटुम्ब मिलकर अपनी प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति स्वय प्रत्येक वस्तु का उत्पादन करके करता है। ऐसी स्थिति मे पिता खेत में परिश्रम करता है और माता भोजन बनाती है, मकान में झाड़ू लगाती है, कपड़े धोती व सीती है इत्यादि और बच्चे छोटा-मोटा काम करते है। इस प्रकार पिता अपने परिश्रम से उत्पादन किये गये नाज को देकर अपनी स्त्री के परिश्रम (क्योंकि वही रोटी बनाती है) और प्रेम से विनिमय करता है। जो नाज पिता उत्पन्न करता है उनमें से कुछ वह स्वय खाता है और कुछ उसकी स्त्री और बच्चे। अर्थात् वह कुछ नाज अपनी स्त्री और बच्चो को देता है, उसके बदले में उसकी स्त्री भोजन बनाती है और उनमे पारस्परिक प्रेम है। सारांश यह है कि पिता कुछ नाज स्वय खाता है और कुछ नाज का विनिमय स्त्री के परिश्रम व प्रेम से करता है। इसी प्रकार जगली सभ्यता मे भी विनिमय होता है। रोगी और बीमार व्यक्ति घर पर ही रहकर काम करते है और स्वस्थ और शक्तिमान् व्यक्ति शिकार करते है। वह अपने परिश्रम द्वारा जो शिकार लाते है उसके कुछ भाग का विनिमय रोगी साथियो के परिश्रम से करते हैं जो उनका भोजन इत्यादि बनाते है। जहाँ कुछ व्यक्ति एक वस्तु का उत्पादन करते हैं और दूसरे अन्य व्यक्ति दूसरी अन्य वस्तुओ का वहाँ विनिमय का अधिक महत्त्व होता है। जब एक व्यक्ति गेहूँ पैदा करता है और दूसरा कपडा, तो उनकी कपडे व भोजन की आवश्यकता की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि वे कुछ गेहूँ व कपडे का विनिमय करें।

विनिमय भी उत्पादन ही है। क्योकि जब हम विनिमय करते है तो एक ऐसी वस्तु देते हैं जिसकी उपयोगिता हमारे लिए प्राप्त की गई वस्तु की अपेक्षा कम होती है। इससे उपयोगिता का लाभ होता है अन्यथा विनिमय करने के हेतु कोई प्रस्तुत ही न होता।

एक विशेष अर्थ में विनिमय तब भी होता है जब प्रत्येक व्यक्ति अपनी सारी आवश्यकताओ की पूर्ति उन वस्तुओ का स्वय उत्पादन करके करता है। जब वह उत्पादन की गई उपयोगिता का उपभोग न करके उसको भविष्य में उपभोग करने के लिए बचाता है तो वह वर्तमान के सन्तोष का भविष्य के सन्तोष से विनिमय करता है। वह ऐसा करने को तभी प्रस्तुत होगा जब इसमें उसका लाभ हो अर्थात् भविष्य के सन्तोष की मात्रा वर्तमान के सन्तोष की मात्रा से अधिक हो। इस प्रकार बचत भी उत्पादन है क्योकि उससे उपयोगिता की वृद्धि होती है। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि साधारणतया 'विनिमय' का प्रयोग अर्थशास्त्र

में इस अर्थ मे नही होता। विनिमय सदा दो व्यक्तियो मे होता है। अर्थशास्त्र के इस विभाग मे हम उन समस्याओ का अध्ययन करते है जो विनिमय से सम्वन्ध रखती हो, जैसे द्रव्य, शाख, वैंकिग, अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय इत्यादि।

वितरण (Distribution) —जब एक से अधिक व्यक्ति या उत्पादन के साधन मिलकर किसी वस्तु या सेवा का उत्पादन करते हैं तो उनका अलग अलग भाग मालूम करने और उसके बाँटने की आवश्यकता होती है। इसी को 'वितरण' कहते है। किसी भी वस्तु या सेवा के उत्पादन के लिए उत्पादन के विभिन्न साधनो का प्रयोग और उनमे पारस्परिक सहयोग आवश्यक है। जव इन विभिन्न उत्पादन के साधनो की पूर्ति एक ही व्यक्ति द्वारा की जाती है तो यह मालूम करने की कि प्रत्येक उत्पादन के साधन का उत्पादित वस्तु में कितना भाग है कोई विशेष आवश्यकता प्रतीत नही होती। ऐसी स्थिति मे वह व्यक्ति विभिन्न उत्पादन के साधनो का मालिक स्वय ही होता है परन्तु विज्ञान की दृष्टि से यह मालूम करना लाभदायक होगा कि उत्पादन के प्रत्येक साधन का उस वस्तु के मूल्य में कितना भाग है; अर्थात् जो वस्तु का मूल्य उसको मिलता है उसका कौन-सा भाग उसको पूंजीपति की हैसियत से मिलता है और कौन-सा श्रम, साहस इत्यादि की पूर्ति करने से। ऐसी सभ्यता में जहाँ प्रत्येक परिवार अपने उपभोग की वस्तुएँ स्वय उत्पादन करता है और इस प्रकार स्वावलम्वी होता है तो भी यथार्थ वितरण की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु जव उत्पादन की गई वस्तु में उत्पादन के साधन एक से अधिक व्यक्ति लगाता है जो अपनी आय अलग अलग व्यय करना चाहते है तो वितरण का महत्त्व वढ जाता है। वर्तमान जटिल समाज मे जहाँ किसी वस्तु या सेवा के उत्पादन में कई व्यक्ति उत्पादन के साधन लगाते है तो वितरण का अध्ययन अर्थशास्त्र की दृष्टि से अधिक आवश्यक और लाभदायक हो गया है। वितरण में हम इन्ही समस्याओ का अध्ययन करते है कि प्रत्येक उत्पादन के साधन का उत्पादित धन में क्या भाग है और वह किन नियमो द्वारा निर्धारित किया जाता है। यह भी पता लगाते है कि वितरण की इन रीतियो में कौन-सी कमियाँ है जिनसे अनेक हानि और समस्याएँ उत्पन्न होती है।

राजकीय अर्थशास्त्र (Public Finance) —समाज के विकास के साथ साथ यह अनुभव हुआ कि कुछ सामूहिक आवश्यकताओ की पूर्ति एक सगठित सस्था द्वारा अधिक मितव्ययता से हो सकेगी। इस प्रकार राज्य का निर्माण हुआ। राज्य को अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए कर लगाने पडते है और उस आय को व्यय करने से राज्य की आव-

श्यकताओ की पूर्ति होती है। रौबिन्सन क्रूसो जैसी सभ्यता मे राज्य की कोई आवश्यकता नही, क्योकि राज्य एक सामाजिक सस्था है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट होगा कि अर्थशास्त्र के विभागो में घनिष्ठ सम्बन्ध है; क्योकि वे एक ही वैज्ञानिक अध्ययन के अलग अलग भाग हैं। अब हम इन भागो के पारस्परिक सम्बन्ध का विस्तारपूर्वक वर्णन करेंगें।

उपभोग और उत्पादन :—प्रत्येक व्यक्ति उसी वस्तु का उत्पादन करता है जिसका उसको उपभोग करना हो या जिसकी उपभोक्ताओ की ओर से माँग हो। इसी तरह कभी-कभी उत्पादन भी उपभोग का सचालन करता है। अनेक बार उत्पादक यह अनुमान लगाता है कि प्रचार से नई आवश्यकताओ का अनुभव कराया जा सकता है और इस कारण वह ऐसी वस्तुओ का भी उत्पादन करता है जिनकी माँग उपभोक्ताओ की ओर से प्रारभ नही होती। उदाहरणत हमारे देश में टमाटर और शकरकन्द का उपभोग प्रचार द्वारा बढ गया है। इस प्रकार उपभोग और उत्पादन का एक दूसरे पर अधिक प्रभाव पडता है।

उपभोग और विनिमय '—विनिमय द्वारा हम उन वस्तुओ का उपभोग करते है जो हम स्वय उत्पन्न नही कर सकते। प्रत्येक व्यक्ति चतुर नर्तक और सगीतज्ञ नही हो सकता, परन्तु अपने धन का कुछ भाग विनिमय कर नृत्य और सगीत का आनन्द उठा सकता है। इसी प्रकार वह मोटर, घडी, किताबे इत्यादि खरीद सकता है। साराश यह है कि विनिमय द्वारा उन आवश्यकताओ का क्षेत्र बढ़ जाता है जिनकी पूर्ति की जा सकती है। उन्ही वस्तुओ का अधिक विनिमय होता है जिनकी आवश्यकता उपभोग के लिए होती है।

उपभोग और वितरण .—किसी व्यक्ति को उत्पादित धन का जो भाग वितरण द्वारा प्राप्त होता है उसी पर उसके उपभोग की मात्रा निर्भर होती है। इसी कारण वितरण द्वारा जो भाग शारीरिक परिश्रम को दिया जाता है उसको बढाने की आवश्यकता पर जोर दिया जाता है, जिससे मजूरो के उपभोग की मात्रा अधिक हो और उनका रहन-सहन का दर्जा ऊँचा हो सके। जब उत्पादन एक सगठित कार्य का परिणाम है तो व्यक्तिगत उपभोग तभी सम्भव है जब उत्पादित धन का वितरण हो जाय। क्योकि लोग अपने भाग का उपभोग करना चाहतें है इसीलिए वितरण करने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

उपभोग और राजकीय अर्थशास्त्र—यदि नागरिको में हानिकारक वस्तुओ के उपभोग का प्रचार है तो राष्ट्र ऐसी वस्तुओ के उपभोग पर रोक लगा सकता है। जैसे हमारे देश में 'शराब पीने की मनाही की नीति' अपनाई है। वस्तुओ पर कर लगाकर राष्ट्र उनके उपभोग पर प्रभाव

डाल सकता है। वस्तुओं की कमी होने पर राष्ट्र उनके मूल्य नियन्त्रित कर सकता है और राशन द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के उपभोग का भाग निश्चित कर सकता है और प्रत्येक के उचित भाग के बँटवारे का प्रबन्ध कर सकता है। राष्ट्र लाभदायक वस्तुओ के उपभोग की मात्रा भी बढा सकता है। राष्ट्र अपने व्यय द्वारा निर्धनो के उपभोग के दर्जे को ऊँचा भी कर सकता है, जैसे उनके लिए मुफ्त शिक्षा, खेलने के मैदान व उद्यान, सस्ता नाज इत्यादि का प्रबन्ध कर सकता है।

उत्पादन और विनिमय'—जैसा कि हमने ऊपर बताया है विनिमय भी एक दृष्टि से उत्पादन ही है। विनिमय से उत्पादित वस्तु की उपयोगिता मे वृद्धि होती है क्योकि विनिमय द्वारा वह वस्तु ऐसे व्यक्ति के पास चली जाती है जिसके लिए उसकी उपयोगिता उत्पादक की अपेक्षा अधिक होती है। यदि विनिमय सम्भव न हो तो उत्पादन को बडी हानि पहुँचे; क्योकि उस स्थिति में लोग उसी वस्तु का उत्पादन करेंगे जिसका वे स्वय उपभोग कर सकें। यदि विनिमय सम्भव न होता तो आजकल के अनेक सुखी रहने के साधनो—जैसे मोटर, साइकिल, रेडियो, घडी इत्यादि—से हम निराश रह जाते। विनिमय के कारण ही श्रम का विभाजन और कार्य विशेष में विशेषज्ञ होना सम्भव है। यदि विनिमय न होता तो पडित जवाहरलाल नेहरू को भी स्वय अपना नाज पैदा करना पड़ता, कपडे बनाने होते, उन्हे स्वय धोना पडता, रहने के लिए मकान स्वय बनाना पडता इत्यादि। साराश यह है कि उत्पादन की उन्नति विनिमय पर ही निर्भर है। साथ ही साथ यदि उत्पादक के पास अपने उपभोग के अतिरिक्त कुछ शेष न रहे तो विनिमय के लिए वस्तुएँ ही न हो।

उत्पादन और वितरण:—उत्पादन सगठित होने के कारण यथार्थ वितरण आवश्यक है और क्योकि यथार्थ वितरण सम्भव है तो उत्पादन भी सगठित हो सकता है। यदि उत्पादन अधिक है तो वितरण की मात्रा भी अधिक होगी। उत्पादन कम होने पर वितरण की मात्रा भी कम होगी, जिससे प्रत्येक का भाग कम हो जायेगा। इससे यह स्पष्ट है कि जनता का लाभ उत्पादन की वृद्धि मे ही है, जिससे प्रत्येक का भाग अधिक हो सके। उचित रीति से वितरण होने पर उत्पादन को लाभ पहुँचता है क्योकि उससे कार्यक्षमता में वृद्धि होती है और असन्तोष लुप्त हो जाता है। जो व्यक्ति अपने साधनो का स्वय प्रयोग नही कर सकते वह उनको दूसरे व्यक्तियो को प्रयोग के लिए दे सकते है और वितरण द्वारा उत्पादित धन में उनका भाग निश्चित किया जा सकता है। इससे उनका व देश का लाभ होता है। यदि वितरण उचित रीति से नहीं होता है तो उत्पादन में हडताल, तालाबन्दी इत्यादि से अडचन पडने की सम्भावना है।

उत्पादन और राजकीय अर्थशास्त्र.—राष्ट्र के कार्यों का क्षेत्र उसकी आय पर निर्भर होता है। राष्ट्र की आय उसके नागरिको के कर देने की शक्ति पर निर्भर होती है जो उत्पादन पर आधारित है। यदि देश में उत्पादन अधिक होता है तो राष्ट्र अधिक कर वसूल कर सकता है। यदि उत्पादन मे अशान्ति, आशका व अन्य कारणो से रुकावटे पडती है तो राष्ट्र की आय भी कम हो जायेगी। कर-नीति का भी उत्पादन पर अधिक प्रभाव पडता है। यदि राष्ट्र की कर-नीति उचित नही है तो उत्पादन कम हो जायेगा क्योंकि लोग नये कारखानो की स्थापना रोक देंगे और चालू कारखानो में उत्पादन की मात्रा कम कर देंगे। राष्ट्रीय व्यय का भी उत्पादन पर प्रभाव पडता है। यदि राष्ट्र स्वदेशी वस्तुएँ ही खरीदे तो देश के उत्पादन मे वृद्धि होगी। राष्ट्र, स्वदेशी माल की इस प्रकार रक्षा करने की नीति से जिससे वह विदेशी माल की अपेक्षा सस्ता बिक सके, नये नये उद्योगो और कारखानो की स्थापना में सहायता दे सकता है।

विनिमय और वितरण.—वितरण तभी सम्भव है जब सगठित उत्पादन द्वारा उत्पन्न की गई वस्तुओ का विनिमय द्वारा विक्रय किया जाय। यदि उन वस्तुओं का विनिमय नही होता तो वितरण में बाधाओ का सामना करना पडेगा। यदि वितरण सम्भव न हो तो उत्पादित वस्तु का विनिमय द्वारा विक्रय का महत्त्व बहुत कम हो जाता है।

विनिमय और राजकीय अर्थशास्त्र.—राष्ट्र की आय व व्यय विनिमय द्वारा ही सम्भव है। विनिमय द्वारा ही नागरिक राष्ट्र को कर सुगमता से दे सकते है और प्राप्त किये गये धन को राष्ट्र जिस प्रकार चाहे व्यय कर सकता है। अनुचित कर-नीति विनिमय मे बाधाएँ डाल सकती है जैसे क्रय-विक्रय या आयात-निर्यात पर अधिक कर लगाने से व्यापार और विनिमय को धक्का पहुँचता है और उनकी मात्रा कम हो जाती है। अधिक विनिमय होने से कुछ करो, जैसे विक्रय-कर, द्वारा राज्य की आय बढ जाती है। यदि विनिमय सम्भव न हो तो प्रत्येक व्यक्ति उत्पादित वस्तुओ का स्वय उपभोग करेगा और ऐसी स्थिति में विक्रय-कर और उत्पादन-कर की आय न्यून हो जायेगी।

वितरण और राजकीय अर्थशास्त्र.—असमान वितरण और आधुनिक उत्पादन की रीतियो के कारण धन इने-गिने व्यक्तियो के पास एकत्रित होता जाता है। इससे समाज मे असमानता फैलती है और इसके कारण एक ओर ऐसे व्यक्ति होते है जिनके पास अत्यधिक धन होता है और दूसरी ओर ऐसे निर्धन व्यक्ति होते है जिनको पेट भर भोजन और पर्याप्त मात्रा में कपडे मिलना भी कठिन होता है। ऐसी स्थिति में जनता के

हित के लिए धनवालों पर अधिक कर लगाकर निर्धनों पर अधिक व्यय करना आवश्यक होता है। आधुनिक उत्पादन की रीतियों के द्वारा पूंजीपतियों को देश की आय का अधिक भाग मिलता है परन्तु राज्य की कर-नीति द्वारा उसका एक बड़ा अंश राज्य ले लेता है जिसका निर्धनों पर व्यय होता है। इस प्रकार पूंजीपतियों के अहंकार की सन्तुष्टि हो जाती है और उनकी पूंजी और ज्ञान से उत्पादन भी अधिक होता है। राज्य की कर व व्यय-नीति द्वारा असमान वितरण की समस्या कुछ सीमा तक हल की जा सकती है। वितरण में जितनी कम असमानता होगी उतनी ही राज्य के लिए धनवानों पर अधिक कर लगाने की आवश्यकता कम होगी। साम्यवादी समाज में वितरण द्वारा पूंजीवादी समाज की अपेक्षा शारीरिक परिश्रम को अन्य उत्पादन के साधनों से अधिक भाग मिलता है, जिस कारण विभिन्न व्यक्तियों की आय में अधिक असमानता नहीं होती। इससे राज्य को एक वर्ग पर अधिक कर लगाकर दूसरे वर्ग पर अधिक व्यय नहीं करना पड़ता, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति पर लगभग बराबर ही कर लगाना पड़ता है। वास्तव में ऐसे समाज में राज्य उत्पादित धन का कुछ भाग अपने पास व्यय करने को रख लेता है जिसका यही परिणाम होता है कि लगभग प्रत्येक व्यक्ति को समान कर देना पड़ता है।

अभ्यास के प्रश्न

१ अर्थशास्त्र के मुख्य भागों का वर्णन कीजिये और बतलाइये कि प्रत्येक भाग में किन समस्याओं का अध्ययन होता है।

२. अर्थशास्त्र के मुख्य भागों का पारस्परिक सम्बन्ध लिखिये।

अध्याय ६

आर्थिक जीवन का विकास

जब से मनुष्य का अस्तित्व हुआ उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने की भी समस्या उठी। मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति सदा से की है। यह पूर्ति किस प्रकार और किन रीतियों से हुई है सदा समान न रही वरन् युग युग मे इसमें परिवर्तन होता रहा है। यह परिवर्तन उन्नति की दृष्टि से ही किया गया। इस परिवर्तन के इतिहास के अध्ययन से हमको मनुष्य की आर्थिक उन्नति का ज्ञान होता है और पता लगता है कि सभ्यता की उन्नति के साथ साथ उसकी आवश्यकताओं में क्या परिवर्तन हुआ और उनकी पूर्ति की रीतियाँ उसने किस प्रकार बदली। उसकी आवश्यकताएँ भी ऊँचे दर्जे की होती गई और अपनी भूख और प्यास की सन्तुष्टि के अतिरिक्त, उसे ज्ञान, विज्ञान प्राप्त करने तथा आध्यात्मिक उन्नति इत्यादि आवश्यकताओ की पूर्ति की भी आवश्यकता पडी। यदि हम मनुष्य के जीवन के इतिहास का आवश्यकताएँ और उनकी पूर्ति की दृष्टि से अध्ययन करें तो उस इतिहास को निम्नलिखित चार भागो में बाँटा जा सकता है :—

(१) शिकारी जीवन का युग।

(२) पशुपालन का युग।

(३) कृषि का युग।

(४) औद्योगिक युग।

इन युगो का विस्तारपूर्वक वर्णन करने के पूर्व यह बतला देना आवश्यक है कि प्रत्येक देश में मनुष्य के आर्थिक जीवन का विकास उक्त क्रम से हुआ हो यह जरूरी नही। कुछ देश या जातियो में पशुपालन और कृषि की प्रथा साथ साथ अपनाई गई और कुछ अन्य देशो में शिकारी जीवन के बाद ही मनुष्य ने कृषि करना आरभ किया। ऐसा भी नही हुआ कि प्रत्येक देश में नये युग का आरभ एक ही निश्चित समय में हुआ हो। कुछ देश व जातियो ने शीघ्र उन्नति की और एक युग से दूसरे युग की ओर वह दूसरो की अपेक्षा जल्दी बढ गये। इस उन्नति के साथ साथ ऐसा नही हुआ कि पुराने युग की प्रथाओ की बिल्कुल इतिश्री हो गई हो। पुरानी प्रथाएँ भी जारी रही परन्तु जैसे जैसे मनुष्य उन्नति करता

गया पुरानी प्रथाओ का महत्त्व कम होता गया। आधुनिक औद्योगिक युग मे भी कुछ लोग भेड, वकरी पालकर जीवन व्यतीत करते है और प्रत्येक देश में, चाहे उसने कितने ही औद्योगिक उन्नति क्यो न की हो, कृषि द्वारा भी लोग धन कमाकर अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति करते है। इसी तरह कुछ लोग अव भी शिकार खेलते हैं। यह सत्य है कि आजकल शिकार नये शस्त्रो द्वारा किया जाता है और खेती में भी मशीन व अन्य औजारो का प्रयोग होता है। परन्तु जिन उक्त लिखित भागो में हमने मनुष्य के आर्थिक जीवन के विकास को वाँटा है साधारणत. अधिकतर मनुष्य शिकारी जीवन के युग मे शिकार करके, पशुपालन के युग मे पशुओ को पालकर इत्यादि प्रकार से जीवन व्यतीत करते थे। आधुनिक औद्योगिक युग में अधिकतर मनुष्य कृषि द्वारा ही जीवन व्यतीत करते है, कुछ लोग पशुपालन मे लगे हुए हैं परन्तु केवल शिकार से ही जीवन व्यतीत करनेवाले लोगो की सख्या वहुत कम है। केवल जगली जातियाँ ही शिकार करके जीवन व्यतीत करती है।

शिकारी जीवन का युग—हजारो वर्ष तक मनुष्य ने शिकार करके ही जीवन व्यतीत किया। वह मैदानो में या पेडो के नीचे रहता था और वाद में गुफाओ और कन्दराओ मे भी रहने लगा। वह कन्दमूल और जगली फल खाता था या मुर्ग, खरगोश, लोमडी, कुत्ते इत्यादि जैसे छोटे-छोटे जानवरो का शिकार करता था। प्रारभ में विना हथियारो के ही जानवरो का शिकार करता था। कुछ समय वाद उसने पत्थर के हथियार वनाये और शिकार में अधिक सफलता प्राप्त करने लगा। उसने वडे जानवरो जैसे जगली घोडे, वारहसिंगे इत्यादि का भी शिकार आरभ कर दिया और अपने हथियार अधिक पैने और नुकीले वनाये। कुछ समय वाद उसने धातु का भी प्रयोग आरंभ कर दिया जिससे हथियार अधिक अच्छे वनने लगे। अपने तन ढकने को वह पत्ते या जानवरो की खाल का प्रयोग करता था। जैसे-जैसे जानवर घास की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते थे तो मनुष्य भी उनके पीछे पीछे अपना निवास-स्थान वदलता रहता था। शिकार की कमी होने पर कभी कभी वच्चो व दुर्वल मनुष्यो को मारकर उनका मास भी खाता था। समुद्री तट के पास वह मछलियो का शिकार करता था और ऐसे मनुष्यो को एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की आवश्यकता कम थी क्योकि मछलियों की संख्या जल्दी वढती है। इस स्थिति में मनुष्य अपने उपभोग की वस्तुओ का उत्पादन स्वयं करता था। वह कोई वस्तु वनाता नही था परन्तु जो कुछ भी प्रकृति की देन होती थी उसको अपनाकर अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति करता था।

पशुपालन का युग—कुछ समय के उपरान्त मनुष्य को यह अनुभव हुआ कि यदि वह जानवरो को पालतू वना ले तो उसके भोजन की समस्या

अधिक सुगमता और निश्चितता से हल हो जावेगी। मनुष्य ने घोडे, कुत्ते, गाय, बैल, भेड़ इत्यादि को पालतू बनाया। वह उनका मांस भी खाता था और उनको सवारी के प्रयोग में भी लाने लगा। बाद में कुछ जानवरों का दूध भी पीने लगा परन्तु अब भी वह जानवरो के लिए घास की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान में घूमता रहा। घास की कमी के कारण कभी कभी दो गिरोहो में परस्पर युद्ध भी होता था। पराजित मनुष्यों को मारने की अपेक्षा (क्योंकि मनुष्य को मास खाने की प्रथा कम हो चली थी) उनको दास या गुलाम बना लिया जाता था और वह अपने स्वामी की सेवा और उसके पालतू जानवरो की देख-भाल करते थे। पालतू जानवर ही धन माने जाते थे। इस युग मे भी मनुष्य अधिकतर स्वयं ही अपने उपभोग की वस्तुएँ उत्पन्न करता था। परन्तु अब वह अन्य मनुष्यों के साथ काम करने लगा क्योकि जानवरो के झुण्ड की देखभाल करने के लिए कई व्यक्तियो की आवश्यकता होती थी। पालतू जानवरो को धन मानने की प्रथा से व्यक्तिगत सम्पत्ति का विकास हुआ।

कृषि का युग :—प्रारभ में मनुष्य ने जानवरो के लिए घास उगाना तथा बाद मे कुछ नाज भी पैदा करना आरभ किया। अब भी वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमता रहता था और इस कारण उसके खेत बदलते रहते थे। जब कृषि द्वारा वह अधिक नाज उत्पन्न करने लगा तो वह एक ही स्थान पर रहने लगा और इस प्रकार छोटे छोटे गाँव बस गये। केन्द्रीय स्थानो पर बडे बडे गाँव बने। अभी तक भूमि व्यक्तिगत सम्पत्ति नही थी वरन् उस पर जाति का ही अधिकार था चाहे मनुष्य उस पर खेती अपने कुटुम्ब की सहायता से करता था। अकाल पडने पर एक जाति या गाँव नाज या पशुओ की खोज मे दूसरी जाति या गाँव पर आक्रमण करते थे। पराजित व्यक्तियो को दास बना लिया जाता था और वे अपने स्वामी के खेतो पर काम करते थे। विनिमय का आरभ तो शिकारी जीवन के युग में ही हो गया था, जब कुछ लोग जो शिकार नही कर सकते थे हथियार बनाकर उनका विनिमय मास इत्यादि से करते थे। इस युग में विनिमय का महत्त्व बढ गया और जो नाज या जानवर आवश्यकता से अधिक होते थे उनका विनिमय दूसरे प्रकार के नाज, जानवर या हथियारो से होता था। तब भी अधिकतर प्रत्येक मनुष्य स्वावलम्बी था और अपने उपभोग की वस्तुओ को स्वय ही उत्पन्न करता था।

औद्योगिक युग —कृषि के युग में ही मनुष्य ने मिट्टी के बर्तन और रहने को झोपडियाँ बनानी आरभ कर दी थी। वह हथियार भी बनाता था परन्तु अब उसने कपडे व, जेवर इत्यादि भी बनाना आरभ कर दिया। प्रारंभ में एक ही परिवार के लोग अपने लिए कपडे, बर्तन, मकान इत्यादि

स्वय वनाते थे। कुछ समय के वाद मनुष्य को अनुभव हुआ कि यदि वह किसी एक पेशे में विशेषता प्राप्त कर ले तो उसकी उत्पादन-शक्ति में वृद्धि होगी। इस प्रकार पेशेवर दस्तकारो का विकास हुआ और खाती, मोची, लोहार, राज इत्यादि के अलग अलग वर्ग वन गये। यह लोग औजार काम मे लाते थे परन्तु मशीन के अभाव मे हाथ से ही काम करते थे। यह औजार इनके अपने होते थे और वह अपने घरो में अपने कच्चे माल से वस्तुएँ तय्यार करते थे और उनका नाज इत्यादि से विनिमय करते थे। कुछ दस्तकारो के कुटुम्व के अन्य लोग कृषि भी करते थे और जानवर भी पालते थे। प्रत्येक दस्तकार-वर्ग ने अपना सघ बनाया जिससे वह अपने वर्ग के स्वार्थों की रक्षा कर सके। यह सघ उत्पादित वस्तुओ का मूल्य भी निर्धारित करते थे। कुछ समय के उपरान्त दस्तकारी की वस्तुओ की माँग वढने पर उनका वाजार अधिक विस्तृत हो गया जिस कारण पूँजीपति की आवश्यकता पडी। दस्तकार पूँजीपति से कच्चा माल ले जाते थे और अपने घरो में वस्तुएँ बनाकर पूँजीपति को दे आते थे जो उन वस्तुओ को वेचता था। इस प्रकार की प्रथा अभी तक कही कही दिखाई देती है। जैसे, अलीगढ मे दस्तकार कच्चा माल कारखाने वालो से लेकर अपने घरो में ताले वनाते है और अपनी मजूरी लेकर ताले कारखाने वालो को दे देते है। कुछ समय के उपरान्त जव वाजार और भी विस्तृत होने लगा तव पूँजीपति ने वहुत से दस्तकारो को मजूर रखा और वह एक स्थान पर काम करके अपने स्वामी के अधीन वस्तुओ का उत्पादन करने लगे। इसके वाद जव मशीन का आविष्कार हुआ तो बडे वडे कारखानो की स्थापना हुई। भाप या कोयले से चलनेवाली मशीनो के उपयोग के द्वारा औद्योगिक क्रान्ति हुई। यातायात के साधनो ने और भी उन्नति की जिससे वाजार और भी विस्तृत हो गये। उत्पादन भी वडे पैमाने पर होने लगा और एक कारखाने द्वारा उत्पादित वस्तुएँ उससे सैकडो मील दूर तक विकने लगी। ऐसे कारखानो में अधिक पूँजी की आवश्यकता हुई और उनकी स्थापना साधारण कारीगरो की शक्ति और साहस के वाहर थी। कारीगरो को मजूरी पर इन कारखानो में काम करना पडा जिससे पूँजीपति और मजूरो के दो वर्ग वन गये। आजकल माँग का पहले से ही अनुमान लगाकर उत्पादन किया जाता है जिससे विक्रय के पहले ही उत्पादन के साधनो पर व्यय करना पडता है। इसी कारण अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है। साथ ही साथ द्रव्य और साख का प्रचलन हुआ जिसके द्वारा विस्तृत वाजार और वडे पैमाने के कारखानो की स्थापना सम्भव हुई। उत्पादन और कार्यक्षमता में मशीनो के आविष्कार और श्रम विभाजन से अधिक उन्नति हुई।

इससे वस्तुओ के मूल्य कम हुए और भिन्न-भिन्न वस्तुओ का उपभोग अधिक व्यक्ति करने लगे। इसके साथ कुछ हानियाँ भी उपस्थित हुईं। वडे पैमाने के उत्पादन की रीति द्वारा धन इने-गिने व्यक्तियो के पास एकत्रित होने लगा जिससे एक ओर अत्यन्त धनी व्यक्ति होने लगे और दूसरी ओर अधिकाश निर्धन व्यक्ति। धन का उत्पादन तो वहुत वढा परन्तु शोषण के कारण निर्धनो और मजूरो की सख्या वढती गई। शोषण के रोकने के लिए मजूरो के सघ वनाये गये और मजूरो ने आन्दोलन करके अपनी मजूरी वढाने की माँग की। वडे वडे कारखानो के कारण एक ही स्थान पर जनसख्या वढने लगी जिससे मजूरो और निर्धनो को छोटे छोटे मकानो में रहना पडा। उनके रहने के मकान भी गन्दे मुहल्लो में होते हैं और सफाई का भी उचित प्रवन्ध नही होता जिससे उनका स्वास्थ्य विगड जाता है और वे वीमारियो के शिकार वन जाते हैं। ऐसी स्थिति में राज्य के लिए 'हस्तक्षेप न करने की नीति' का प्रयोग असम्भव हो गया क्योकि यह नीति जनता के लिए अत्यधिक हानिकारक थी। राज्य को मजूरो के हित के लिए कानून वनाने पडे। राज्य का कार्य केवल आन्तरिक और वाह्य रक्षा करना ही नही वरन् समाज सेवा करना हो गया। ऐसे राज्य का मुख्य आदर्श समाज का सुख है और इसी कारण असमान वितरण की हानियो को रोकने के लिए और जनहित के लिए उसे धनवानो पर अधिक कर लगाकर निर्धनो पर अधिक व्यय करना पडता है।

यातायात के साधनो के विकास और उनकी उन्नति के कारण एक दूसरे देशो मे पारस्परिक व्यापार वहुत वढ गया है। प्राचीन काल के स्वावलम्वी परिवार की अपेक्षा आजकल प्रत्येक देश के मनुष्य अपनी वहुत-सी आवश्यकताओ की पूर्ति विदेशी वस्तुओ से ही करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का महत्त्व वहुत वढ गया है, जिससे एक देश के आर्थिक सकट का प्रभाव दूसरे देशो पर पडता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि मनुष्य-जाति के हित के लिए प्रत्येक देश की आर्थिक उन्नति होना आवश्यक है जिससे सव देश परस्पर लाभ उठा सकें।

अभ्यास के प्रश्न

१ आदिकाल से अव तक मनुष्य के आर्थिक जीवन का जो विकास हुआ है उसको युगो में विभाजित कीजिये और प्रत्येक युग के मुख्य लक्षण सक्षेप में वतलाइये।

२ "आधुनिक औद्योगिक क्रान्ति से लाभ के अतिरिक्त कुछ हानियाँ भी हुई है"—इस कथन को समझाइये।

अध्याय ७

कुछ आवश्यक परिभाषाएँ

अर्थशास्त्र की अपनी कोई वैज्ञानिक शब्दावली नही है। इस विज्ञान मे प्रतिदिन की बोलचाल के शब्दो को ही अपना लिया गया है और उनका विशेष वैज्ञानिक अर्थों में प्रयोग किया गया है। इस कारण अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडता है। जब एक साधारण शब्द का हम प्रयोग करते है तो यह सम्भावना रहती है कि कुछ लोग उसको वैज्ञानिक अर्थ में समझें और कुछ लोग उसको साधारण अर्थ में ही समझे। यह भी सम्भावना है कि कुछ लोग उस शब्द का अर्थ थोड़ा वैज्ञानिक अर्थ में और थोडा साधारण अर्थ मे समझे। हमे केवल इन्ही कठिनाइयों का सामना नही करना पडता वरन् एक विशेष कठिनाई यह भी है कि विभिन्न अर्थशास्त्री एक ही शब्द का वैज्ञानिक अर्थ एक समान नही समझते है। विभिन्न अध्यायो का अध्ययन करने से ये कठिनाइयाँ दूर हो जायेंगी क्योकि उन अध्यायो मे अनेक साधारण बोलचाल के शब्दो का वैज्ञानिक अर्थ में प्रयोग किया गया है और प्रयोग करने से पूर्व उनका वैज्ञानिक अर्थ समझाया भी गया है। यह अनुभव किया गया है कि पाठक उन शब्दो का वैज्ञानिक अर्थ या तो भूल जाते हैं या ठीक ठीक समझने का महत्त्व नही जानते। इस कारण आर्थिक नियमों और आर्थिक समस्याओ के समझने में उन्हे कठिनाई पडती है। यदि अर्थशास्त्र मे भौतिक विज्ञान (Physics), रसायन विज्ञान (Chemistry), वनस्पति विज्ञान (Botany) इत्यादि के समान वैज्ञानिक शब्दावली होती तो उक्त लिखित कठिनाइयो का सामना न करना पडता। ऐसी शब्दावली के अभाव मे यह आवश्यक है कि जिन शब्दो का हम वैज्ञानिक अर्थ में प्रयोग करते है उनकी परिभाषा स्पष्ट कर दी जाय। इस अध्याय में हम केवल 'वस्तुएँ' और 'सम्पत्ति' की परिभाषा समझायेगे। अन्य आवश्यक शब्दो* की परिभाषाएँ दूसरे अध्यायो मे समझा दी गई है।

वस्तुएँ —साधारणत इस शब्द का प्रयोग वस्तुएँ या सेवाएँ दोनो के लिए होता है। जिसमें मानवी इच्छा या आवश्यकता की पूर्ति करने का

---

* उत्पादन, उपभोग, उपयोगिता, अर्घ, वितरण, पूंजी, बचत, विनिमय, मूल्य, सचय, इत्यादि।

गुण या लक्षण हो उसे 'वस्तु' कहते हैं। जैसे हवा, पानी, किताब, रोटी इत्यादि मानवी आवश्यकताओं की पूर्ति के काम में आती हैं और इस कारण 'वस्तुएँ' कहलाती हैं। कुछ लेखक असीमित मात्रा मे मिलनेवाली वस्तुओं (Free Goods) और आर्थिक वस्तुओं (Economic Goods) में अन्तर करते हैं; परन्तु यह तर्कसम्मत नहीं है जैसा कि हम पहले अध्याय में समझा चुके हैं। प्रत्येक वस्तु सीमित मात्रा में होती है। यह कहना गलत है कि कुछ वस्तुएँ मुफ्त मिलती हैं क्योंकि प्रत्येक वस्तु को प्राप्त करने के लिए कुछ न कुछ परिश्रम अवश्य करना पड़ता है। परिश्रम की मात्रा चाहे कितनी ही कम हो परन्तु बिना परिश्रम किये कोई वस्तु प्राप्त नहीं हो सकती। किसी वस्तु का उपभोग करने से पूर्व उसको अपनाना और प्राप्त करना आवश्यक है। चाहे प्रकृति कुछ वस्तुएँ मुफ्त दे, परन्तु उनका भी उपभोग करने से पूर्व उनको अपनाना और प्राप्त करना पड़ता है और वही उनका मूल्य है। हम यह कह सकते हैं कि ऐसी वस्तुएँ बहुत सस्ती मिलती हैं क्योंकि उनका मूल्य उनके स्वामी (अर्थात् प्रकृति) को नही देना पड़ता वरन् उनके प्राप्त करने में थोड़ा-सा परिश्रम ही करना पड़ता है। ऐसी वस्तुएँ भी कभी कभी अधिक दुर्लभ हो जाती हैं, जैसे, रात को प्रकाश, गहरी खान के अन्दर हवा, रेगिस्तान में पानी और गर्मियो मे ठडी हवा।

जैसा कि हम ऊपर बता चुके है वस्तुओ में सेवाओ की भी गिनती होती है। यदि कोई कुली आपका बोझा उठाता है तो वह आपकी सेवा करता है और उस सेवा को भी हम वस्तु ही कहते हैं। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति आपकी सेवा सगीत सुनाकर करे तो सगीत भी एक वस्तु है और उसका भी आपको मूल्य देना होगा और वही उस वस्तु का मूल्य कहलायेगा। कुछ वस्तुएँ पार्थिव (Material Goods) होती है और कुछ अपार्थिव (Non-material Goods) होती हैं। पार्थिव वस्तुएँ किसी पदार्थ की बनती हैं, जैसे रोटी, मकान, किताब इत्यादि। कुछ अन्य वस्तुएँ पदार्थ की नही बनती परन्तु उनमें मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति करने की शक्ति होती है, जैसे सगीत, व्याख्यान, प्रेम इत्यादि।

सम्पत्ति—जिसमें भी उपयोगिता या मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति करने की शक्ति हो वह 'सम्पत्ति' कहलाती है। प्रत्येक वस्तु सम्पत्ति है। सम्पत्ति का यह गुण है कि उसमे उपयोगिता होती है और वह दुर्लभ होती है।

व्यक्तिगत सम्पत्ति (Personal Wealth)—एक व्यक्ति की सम्पत्ति में कुल पार्थिव पदार्थ जिसका वह स्वामी है सम्मिलित किये जाते है। उसकी सम्पत्ति मे जो ऋण उसको लेना है वह जोडा जायेगा

और जो ऋण देना है उसे घटाया जायेगा। यदि कोई व्यक्ति चतुर डाक्टर है तो उसके लिये इस चतुराई की बहुत उपयोगिता है। परन्तु यह उपयोगिता इसलिए है कि उस चतुराई के योग से वह चतुर सेवाएँ कर सकता है। यदि वह उस चतुराई का प्रयोग न कर सके तो वह चतुराई व्यर्थ है। इसी कारण उस चतुराई की अपेक्षा उस चतुराई द्वारा उत्पादित सेवाएँ सम्पत्ति हैं। इसी प्रकार मनुष्य के हाथ, कान, पैर भी उत्पादन में सहायता करते हैं परन्तु वे सम्पत्ति नहीं कहलाते। उनके प्रयोग द्वारा जो परिश्रम करके उत्पादन किया जाता है वह सम्पत्ति कहलाती है। इसी प्रकार एक नर्तक या संगीतज्ञ की कला सम्पत्ति नहीं वरन् उस कला द्वारा उत्पादित नृत्य और संगीत सम्पत्ति है।

राष्ट्र की सम्पत्ति (National Wealth).—मालूम करने के लिए उसके प्रत्येक व्यक्ति की सम्पत्ति जोड़नी चाहिये। राष्ट्र की सम्पत्ति के अनुमान में उसके नागरिकों के पारस्परिक ऋण को नहीं गिनना चाहिये। जो ऋण उसके नागरिकों या राज्य को दूसरे राष्ट्र के नागरिकों या राज्य को देना हो उसको अनुमानित सम्पत्ति में से घटा देना चाहिये और जो ऋण लेना हो उसको जोड देना चाहिये। इसमें सार्वजनिक सम्पत्ति जैसे सड़कें, अजायब-घर, राष्ट्रीय इमारतें इत्यादि भी जोड़नी चाहिये। राष्ट्र की प्राकृतिक देन जैसे नदियाँ, पहाड़, अच्छी जलवायु और उसके नागरिकों का चरित्र इत्यादि भी उसके लिए लाभदायक है। परन्तु इनको सम्पत्ति में न गिनकर इनके द्वारा जो सहायता इत्यादि उत्पादन में मिलती है वह उस राष्ट्र के लिए सम्पत्ति है। ऐसे वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा दी गई सहायताएँ, जो अन्य राष्ट्रों को अप्राप्त है, उस राष्ट्र की सम्पत्ति है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्पत्ति (International Wealth)—मालूम करने के लिये प्रत्येक राष्ट्र की सम्पत्ति जोड़ी जाती है। इसमें जो ऋण विभिन्न राष्ट्रों को आपस में लेने देने हैं उनको नहीं जोड़ना चाहिये। ऐसे वैज्ञानिक आविष्कार और उत्पादन के तरीके जो प्रत्येक राष्ट्र को मालूम है और जिनसे उत्पादन को सहायता मिलती है उनको अन्तर्राष्ट्रीय सम्पत्ति में न जोड कर उनके द्वारा दी गई सहायता को अन्तर्राष्ट्रीय सम्पत्ति मे जोड़ना चाहिये। इसी प्रकार जो सहायता समुद्र इत्यादि से मिलती है और जो किसी राष्ट्र की सम्पत्ति में नहीं जोड़ी गई है उसको भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्पत्ति में जोड़ना चाहिये।

उक्त विवेचन से स्पष्ट होगा कि सम्पत्ति के लक्षण उसमें उपयोगिता या उसका दुर्लभ होना ही नहीं है वरन् उसकी यह भी विशेषता है कि वह एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को दी जा सकती है। कोई व्यक्ति

अध्याय ८

उपभोग

प्रत्येक मनुष्य की कुछ न कुछ आवश्यकताएँ अवश्य होती है जिनकी तृप्ति के लिए उसे कुछ कार्य करने पडते है। विना कुछ कार्य किये आवश्यकताओ की पूर्ति नही हो सकती क्योकि ससार में वे वस्तुएँ या सेवाएँ जिनमें आवश्यकताओ की पूर्ति करने की शक्ति होती हैं मुफ्त मे नही मिलती। आवश्यकता से हमारा तात्पर्य इस बात से है कि मनुष्य में ऐसी इच्छा होती है कि किसी वस्तु के मिलने या उपभोग करने से उस इच्छा की पूर्ति हो जाती है। किसी वस्तु या सेवा में किसी आवश्यकता की पूर्ति करने की शक्ति को ही उपयोगिता कहते हैं। यह आवश्यक नही कि जिस चीज का मूल्य अधिक हो उसकी मनुष्य को अधिक आवश्यकता हो। उदाहरणत वायु तो मुफ्त ही मिल जाती है परन्तु मनुष्य-जीवन के लिए उसकी उपयोगिता वहुत अधिक है। किसी वस्तु की उपयोगिता किसी मनुष्य की आवश्यकता और उस वस्तु पर निर्भर रहती है, जैसे अडा, मछली या मास एक ब्राह्मण के लिए कोई उपयोगिता नही रखते, क्योकि उसके धर्म में इन वस्तुओ का उपयोग वर्जित है। इसी प्रकार यदि किसी व्यक्ति का पेट भरा है और उसको भूख नही है तो कितना ही स्वादिष्ट भोजन क्यो न हो उसकी उपयोगिता उस समय उस मनुष्य के लिए अत्यन्त न्यून होगी, चाहे कुछ समय बाद उसी भोजन की उपयोगिता काफी अधिक हो जायेगी। इसी भोजन की उपयोगिता एक दूसरे मनुष्य-के लिए जो भूखा है वहुत अधिक है जब कि ऊपरवाले व्यक्ति के लिए उसकी उपयोगिता कुछ नही है क्योकि उसको भूख नही है। इसी तरह गर्मियो में एक ऊनी कोट की उपयोगिता कुछ नही होती वरन् उसके पहनने से तो कष्ट ही होता है। बिजली का पखा गर्मियो में वडा सुखद लगता है परन्तु शीत ऋतु में तो कोई भी व्यक्ति उसका उपयोग करना पसन्द नही करता। अत प्रत्येक वस्तु या सेवा की उपयोगिता प्रत्येक मनुष्य के लिए प्रत्येक समय विभिन्न होती है।

मानुषिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए किसी वस्तु या सेवा के उपयोग को ही उपभोग कहते हैं। जैसे भूख की आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए मनुष्य रोटी खाता है तो खाने का कार्य उपभोग कहलाता

है। उपभोग से रोटी की उपयोगिता कुछ न रही और इसीलिए यह कहा जाता है कि उपभोग से उपयोगिता का ह्रास होता है। यह तो हम जानते ही है कि भौतिक पदार्थ का न तो नाश ही होता है और न निर्माण हो सकता है। मनुष्य केवल उनके रूप मे परिवर्त्तन कर सकता है। रोटी खाने से जो रोटी में भौतिक पदार्थ है उनका शरीर मे जाकर परिवर्त्तन हो जाता है। इसलिए उपभोग से तात्पर्य किसी वस्तु की उपयोगिता मे कमी होने से ही होता है, जैसे कि उत्पादन उपयोगिता की वृद्धि को कहते है। उपभोग से कुछ मानुषिक आवश्यकताओ की पूर्ति तो होती है परन्तु इससे उपयोगिता का ह्रास होता है। रोटी खाने की क्रिया को हम दूसरी दृष्टि से भी देख सकते है। मनुष्य रोटी इसलिए खाता है कि रोटी खाने से शक्ति वढती है तो क्या रोटी खाने का कार्य उत्पादन नही है? इसी तरह कोयला जलाने से भोजन पकता है, कोयलो का अवश्य उपभोग हो गया परन्तु साथ ही साथ आटा इत्यादि जिससे भोजन तय्यार किया गया उसकी उपयोगिता वढ गई। 'भोजन वनाना' एक ही क्रिया है परन्तु एक दृष्टि से उत्पादन है क्योकि इस क्रिया से उपयोगिता की वढती होती है। दूसरी दृष्टि से कोयले और आटे का उपभोग हो गया। इसलिए हम कह सकते है कि किसी भी क्रिया को हम उत्पादन या उपभोग की दृष्टि से देख सकते है। यदि हम उसे एक आवश्यकता की पूर्ति की दृष्टि से देखें तो वह उपभोग है जैसे रोटी खाने से भूख की आवश्यकता की पूर्ति होती है। परन्तु उसी क्रिया को यदि हम पूर्ति के साधन की दृष्टि से देखे तो वह उस क्रिया का उत्पादन पक्ष होगा। जैसे, रोटी खाने से एक मानुषिक आवश्यकता की पूर्ति होती है, यह उस क्रिया का उपभोग की दृष्टि से अध्ययन हुआ। और यदि हम उसी क्रिया का उत्पादन की दृष्टि से अध्ययन करें तो कहेगे कि रोटी खाने से मनुष्य मे शक्ति उत्पन्न होती है जिसकी उपयोगिता रोटी की उपयोगिता से अधिक है। इस तरह उपयोगिता की वृद्धि हुई और यह उत्पादन कहा जायगा, या यो भी कह सकते है कि किसी क्रिया से जो प्रत्यक्ष सन्तोष मिलता है वह उपभोग है और जो परोक्ष सन्तोष मिलता है वह उत्पादन है। रोटी खाने से मनुष्य की एक आवश्यकता प्रत्यक्ष रूप से पूरी हो जाती है और रोटी खाने से एक परोक्ष सन्तोष भी प्राप्त होता है—कि शक्ति उत्पन्न होती है और शक्ति से उसको एक इच्छा-पूर्ति होती है। इसी वात को हम एक और दृष्टि से भी देख सकते है कि उपभोग सदा वर्तमान में होता है क्योकि उसका सम्वन्ध किसी क्रिया से जो प्रत्यक्ष सन्तोष मिलता है उससे होता है। उत्पादन सदा भविष्य में होता है क्योकि परोक्ष सन्तोप भविष्य के सन्तोष का प्रतिविम्व है। उक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि उपभोग

और उत्पादन कोई अलग अलग मानुषिक क्रियाएँ नही है अर्थात् हम यः नही कह सकते है कि ये क्रियाएँ तो उत्पादन हैं और दूसरी विभिन्न क्रियाएँ उपभोग हैं। सच तो यह है कि हर एक मानुषिक क्रिया को दो दृष्टियो से देखा जा सकता है—(१) उपभोग-दृष्टि और (२) उत्पादन दृष्टि।

उपभोग-दृष्टि से उपयोगिता का ह्रास होता है और उत्पादन-दृष्टि से उसकी वृद्धि होती हैं। यहाँ हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि क्या वास्तव मे कोई मनुष्य कभी ऐसा कार्य करता है कि जिसका फल उपयोगिता का ह्रास हो? मनुष्य तो सदा ही ऐसे ही कार्य करता है और करना चाहता हैं कि जिसका फल उपयोगिता की वृद्धि हो। कोई मूर्ख ही ऐसा कार्य करेगा कि जिसका परिणाम उपयोगिता का ह्रास हो, या वह ऐसा कार्य गलती से या अज्ञानवश कर सकता हैं! तो हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि वास्तव में हर मानुषिक क्रिया उत्पादन ही है क्योकि मनुष्य का आदर्श हमेशा उपयोगिता की वृद्धि ही होता है। वह रोटी इसलिए खाता है क्योकि शक्ति की उपयोगिता रोटी से अधिक हैं। वह मिल या कारखानो मे कपडे का उत्पादन इसलिए करता है क्योकि इसकी उपयोगिता रूई, कोयला या मशीन इत्यादि जो उसके उत्पादन के काम में आते है इनकी उपयोगिता से अधिक है। इससे यह परिणाम निकलता हैं कि सब मानुषिक क्रियाएँ उत्पादन की इच्छा से ही की जाती है। उपभोग तो केवल उन क्रियाओ के करने में जो प्रत्यक्ष सन्तोष (Direct satisfaction) प्राप्त होता है वही है। यह कहने से हमारा तात्पर्य यह नही है कि उपभोग का अध्ययन ही नही करना चाहिए। माना कि मनुष्य किसी भी क्रिया को इसी कारण करता है कि उस क्रिया के करने से उसकी उपयोगिता की वृद्धि होती है परन्तु फिर भी हम उस क्रिया को उपभोग की दृष्टि से देख सकते हैं। साथ ही साथ यह अध्ययन हमको यह भी बतलाता है कि मानुषिक आवश्यकताओ की पूर्ति का कितना महत्त्व है।

कुछ लोगो का कहना है कि आवश्यकताओ की सन्तुष्टि के लिए उपयोगिता का नष्ट होना ही उपभोग हैं। यह कथन उचित नही। मनुष्य रोटी खाता है तो यह कहना अनुचित है कि वह रोटी को नष्ट कर रहा है। रोटी खाने से तो रोटी का उपयोग होता है चाहे उसका परिणाम यही हो कि रोटी, रोटी के रूप में नही रही। यदि वह रोटी को एक नाली में फेंक दे तब यह कहना उचित होगा कि उसने रोटी नष्ट कर दी। इसी तरह हम कहते हैं कि जो एटम बम हिरोशिमा मे गिरा उसने उस शहर को नष्ट कर दिया या जब एक मकान की छत भूचाल या किसी अन्य कारण से कमजोर हो जाती है और उसके गिरने का डर होता है तो ऐसी कमजोर टूटी-फूटी इमारत को हम नष्ट करना चाहते

है। अन्यथा कोई भी समझदार मनुष्य किसी लाभदायक वस्तु को नष्ट नही करता। नष्ट शब्द का तात्पर्य विनाशकारी भावना से है, इस कारण उपभोग के सम्बन्ध में उसका प्रयोग करना अनुचित है। उपभोग का तात्पर्य उपयोगिता के ह्रास से है, उपयोगिता को नष्ट करने से नही। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि कुछ वस्तुओ की उपयोगिता शीघ्र ही समाप्त हो जाती है और कुछ वस्तुओ की उपयोगिताओं का धीरे धीरे ह्रास होता है। जैसे रोटी खाने से रोटी की उपयोगिता उसी समय समाप्त हो जाती है परन्तु जूता या कमीज पहनने से इन वस्तुओ की उपयोगिता उसी समय समाप्त नही होती, परन्तु धीरे धीरे उनके उपयोग करने से कम होती जाती है और अन्त मे जब वह जूता या कमीज बिल्कुल फट जाते है और पहनने के काम के नही रहते तभी उनकी उपयोगिता समाप्त होती है। कुछ व्यक्ति उपभोग को एक दूसरी दृष्टि से भी दो भागो में बाँटते है—(१) अन्तिम उपभोग और (२) उत्पादक उपभोग। अन्तिम उपभोग से उनका तात्पर्य उस उपभोग से होता है जब किसी वस्तु का उपयोग मनुष्य की आवश्यकता को सीधी तौर से पूरा करने में किया जाय, जैसे प्यास बुझाने को पानी पिया जाय। उत्पादक उपभोग से उनका मतलब किसी वस्तु के उस उपयोग से होता है जो मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति सीधी तरह तो न करती हो परन्तु उस वस्तु के उपयोग से कोई ऐसी वस्तुएँ बनाई जायँ जो अन्तिम उपभोग के काम मे आती हो; जैसे कोयला व आटे का उपयोग रोटी बनाने में किया जाय जब कि रोटी खाने से अन्तिम उपभोग होता है। परन्तु यह कथन गलत है। पहले तो उत्पादन उपभोग में ही विरोध है। यदि आप किसी क्रिया को उत्पादन की दृष्टि से देखते है तो वह उपभोग नही है और यदि आप उसको उपभोग की दृष्टि से देखते है तो वह उत्पादन कैसे हो सकता है? उक्त लिखित विभाजन किसी उलझन का परिणाम है। जिस क्रिया को उत्पादक उपभोग कहा जाता है वह तो वास्तव में उस क्रिया का उत्पादन दृष्टि से अध्ययन है। जैसा कि हम ऊपर बता चुके है आटा और कोयले के उपयोग से रोटी बनती है इस क्रिया को अगर रोटी बनने की दृष्टि से देखें तो उत्पादन है क्योंकि रोटी की उपयोगिता आटे और कोयले की उपयोगिता से अधिक है। यदि इसी क्रिया को हम आटे और कोयले इत्यादि की उपयोगिता की ह्रास की दृष्टि से देखें तो यह उपभोग है। जब यह लोग उत्पादक उपभोग कहते है तो इनका तात्पर्य वास्तव में यह कहने का होता है कि किसी भी क्रिया को हम उत्पादन की दृष्टि से देख सकते है। यदि इनका कथन मान लिया जाय तो अर्थशास्त्र मे उत्पादन के लिए कहीं स्थान ही न रहेगा क्योंकि प्रत्येक उत्पादन-क्रिया

को उत्पादक उपभोग कहा जायेगा। हम धोती वनाते है तो कारखाने में कोयला, रूई व परिश्रम का उपयोग होता है और धोती इसलिए वनाई जाती है कि वह एक मानुषिक आवश्यकता की पूर्ति करती है। सारा उत्पादन ही इसी दृष्टि से होता है। यदि कोई वस्तु मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति न कर सके तो उसका उत्पादन ही न किया जायेगा।

उपभोग का महत्त्व

कुछ प्राचीन अर्थशास्त्री उत्पादन पर ही जोर देते थे और उपभोग को अर्थशास्त्र का एक मामूली-सा भाग समझते थे। परन्तु आधुनिक काल में उपभोग का महत्त्व वहुत वढ गया है जिसके कई कारण हैं। मनुष्य मे उपभोग करने की इच्छा ही मानुषिक क्रियाओ को जन्म देती है। यदि मनुष्य में उपभोग करने की इच्छा ही न हो तो उसे शारीरिक या मानसिक परिश्रम करने की कोई आवश्यकता ही नही। यदि संसार में वस्तु और सेवाएँ इतनी अत्यधिक मात्रा में होती कि वे मुफ्त में ही मिल सकती तो भी उपभोग की समस्या तो रहती ही जव तक मनुष्य की आवश्यकताएँ रहती। हमें साँस लेने के लिए वायु प्रकृति से मुफ्त में प्राप्त होती है तव भी उसके उपयोग की आवश्यकता है क्योंकि वह मनुष्य की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आवश्यकता की पूर्ति करती है। जिस संसार में हम रहते है उसमें तो अत्यधिक वस्तुएँ सीमित हैं और परिश्रम करने से ही प्राप्त होती हैं। मानुषिक परिश्रम और समय सीमित है, परन्तु मनुष्य की आवश्यकताएँ अत्यधिक है। इसी कारण मनुष्य के सामने निर्वाचन समस्या उपस्थित होती है। यदि वह पढना चाहता है तो उसी समय न वह सो सकता है और न गप्प ही लडा सकता है। उसको यह निश्चय करना होगा कि किसी एक समय या तो वह पढ़ ले या सो ले या गप्प लड़ा ले। तीनो काम एक साथ एक समय नही हो सकते। जंगली और असभ्य मनुष्यो की भी आवश्यकताएँ होती हैं और उन्हे भी उपभोग की समस्या का सामना करना पडता है। जैसे जैसे सभ्यता की उन्नति होती है मनुष्य की आवश्यकताएँ वढती जाती है और उसके साथ साथ उपभोग का महत्त्व भी। प्रारंभ मे आवश्यकताएँ ही मनुष्य को क्रियाशील वनाती हैं और इस क्रियाशीलता के कारण ही नई आवश्यकताएँ उत्पन्न हो जाती है जिसके कारण आवश्यकताओ का समूह वढ़ता ही जाता है। साथ ही साथ एक आवश्यकता की पूर्ति करने से सदा के लिए उसकी तृप्ति नही हो जाती। भूख-प्यास मनुष्य की प्रारंभिक आवश्यकताएँ है और वार वार खाने और पीने से कुछ समय के लिए अवश्य उनकी पूर्ति हो जाती है परन्तु सदा के लिए उनकी तृप्ति कभी नही हो सकती। एक वार सिनेमा देखने से एक आवश्यकता की अवश्य

पूर्ति हो जाती है परन्तु कुछ समय या कुछ दिनो के बाद फिर वह आवश्यकता पुन प्रकट हो जाती है।

यह सच है कि आधुनिक काल में उत्पादन अत्यधिक बढ गया है परन्तु केवल उत्पादन के बढने से ही जन-साधारण का जीवन सुखी नही होता। क्योंकि ऐसा देखा गया है कि आधुनिक पूंजीवादी सभ्यता मे उत्पादन अवश्य अधिक होता है परन्तु सम्पत्ति कुछ गिने-चुने मनुष्यो के पास ही एकत्रित होती जाती है। इस कारण जन-साधारण की उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि अधिक उत्पादन के साथ साथ उसका वितरण भी उचित रीति से हो, जिससे कि जन-साधारण अपनी अत्यधिक आवश्यकताओ की पूर्ति कर सकें। आधुनिक काल की (जब कि चारो ओर जनतान्त्रिक विचारो की प्रगति हो रही है और जन-साधारण की शक्ति में वृद्धि होती जा रही है) माँग भी यही है कि अधिक उत्पादन का वितरण इस तरह होना चाहिए कि जन-साधारण अपने उपभोग की शक्ति बढा सकें।

उपभोग के आँकडो से हम कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न हल कर सकते हैं और ये आँकडे उन प्रश्नो पर प्रकाश डालते हैं। इन आँकड़ो की जाँच से हम यह पता लगा सकते है कि हानिकारक वस्तुओ का उपभोग तो नही बढ रहा है और यदि बढ रहा है तो क्या राज या समाज उसके रोकने के लिए उचित उपाय कर सकता है? यह आँकड़े उत्पादक के लिए भी बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योकि आधुनिक काल मे उत्पादन भविष्य की माँग की गणना के अनुसार होता है। यदि एक उत्पादक धोतियाँ बनाना चाहे तो उसे कई महीने पहिले मजूर लगाने होगे, कोयला, सूत इत्यादि खरीदना होगा और तब ही ठीक समय पर वह धोतियाँ बना सकेगा। जिस वस्तु का उपभोग नही होता उसका उत्पादन भी नही होता और जिसका उपभोग अधिक होता है उसका उत्पादन भी अधिक होता है, क्योकि उत्पादक अपने उपभोग के लिए ही वस्तुएँ नही बनता परन्तु उनको विक्रय के लिए ही बनाता है। एक पूंजीपति अपने रहने के लिए तो एक ही मकान बनायेगा और बाकी तो किराये पर ही उठायेगा। सिनेमा-घर की माँग होती है तो वह सिनेमा-घर बनवाता है, न कि मजूरो के रहने के मकान। उपभोग ही उत्पादन को सचालित करता है। इसी कारण आधुनिक काल में जब कि उत्पादन बडे परिमाण में होता है उपभोग का बहुत महत्त्व है। साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि मनुष्य ऐसी वस्तुओ का उपभोग करें कि जिससे उनके स्वास्थ्य और कार्यक्षमता की उन्नति हो। इसी कारण उपभोग का अध्ययन अत्यधिक आवश्यक है। इसी अध्ययन से हम यह पता लगा सकते है कि कौन व्यक्ति अपना उपभोग उचित रीति से करते हैं और कौन अनुचित रीति से, और किस

तरह अनुचित रीति से उपभोग करनेवालो को सही रास्ते पर लाया जाय जिससे कि उनका और देश का भला हो।

उपभोग और बचत

किसी भी वस्तु के दो उपयोग हो सकते हैं, या तो उसको उपभोग के काम मे लाया जाय या उसको बचा लिया जाय । किसी वस्तु या धन को मनुष्य इसलिए बचा कर रखता है कि उसका भविष्य में उपभोग करे । इसी कारण बचत को हम भविष्य का उपभोग कह सकते हैं। साराश यह हुआ कि जब वस्तु का आधुनिक काल मे उपभोग होता है तो उसे उपभोग कहते हैं और जब आधुनिक काल मे उपभोग न करके उसका उपभोग भविष्य के लिए स्थगित कर दिया जाय तो उसे बचत कहते हैं। यदि आधुनिक उपभोग और भविष्य के उपभोग की बराबर उपयोगिता हो तो मनुष्य आधुनिक उपभोग ही पसन्द करेगा, क्योकि साधारणत. मनुष्य उपभोग के लिए रुकना नही चाहता जब तक कि इस रुकने से कुछ लाभ न हो। मानुषिक वृत्ति ऐसी होती है कि वर्तमान के एक सुख को भविष्य के बराबर के सुख से अधिक पसन्द करती है। इसका कारण यह है कि भविष्य अनिश्चित होता है। आधुनिक काल का सुख छोड कर भविष्य का सुख मनुष्य तभी पसन्द करता है जब इसमे कुछ लाभ हो। यह आवश्यक नही कि यह लाभ रुपयो में ही प्राप्त हो। लेकिन यह लाभ उपयोगिता की वृद्धि में प्राप्त होना चाहिए। यदि एक व्यक्ति के पास ५००) रुपये हो तो यह सम्भव है कि इनमे से अन्तिम १००) रुपयो की उपयोगिता उसके लिए अभी कम हो और इन्ही १००) रुपयो की उपयोगिता भविष्य में अधिक हो। इसका कारण यह हो सकता है कि भविष्य में उसकी आय कम होने की सम्भावना हो या उसकी आवश्यकताएँ बढ जायँ जब कि आय मे कोई वृद्धि न हो, या वह बीमारी या अन्य कारणो से अपने काम पर न जा सके और आय कम हो जाय। ऐसी सूरत में वह १००) रुपये बचाना पसन्द करेगा क्योकि इन १००) रुपयो की आधुनिक उपयोगिता कम है और भविष्य की उपयोगिता अधिक है। यह समस्या मनुष्य के सामने सदा रहती है कि वह किसी वस्तु का उपभोग अभी करे या भविष्य मे, अर्थात् उसको उपभोग के काम में लाये या बचत के। जब यह बचत और अधिक उत्पादन के काम में लायी जाती है तो पूंजी का रूप धारण कर लेती है और पूंजी कहलाती है। किसी भी बचत को पूंजी का रूप धारण करने के लिए यह आवश्यक नही कि वह किसी कारखाने या मिल में ही लगाई जाय क्योकि हो सकता है कि घर में रखे रहने से भी उसकी उपयोगिता में वृद्धि हो। उदाहरणत एक किसान फसल के समय थोड़ा अनाज बीज के लिए बचा कर रख लेता है। वह उस

इनाम का उपभोग अधिक कर देता है क्योंकि उसे मालूम है कि ऐसा करने से इनाम की उपयोगिता शीघ्र ही समाप्त [illegible] आवेगी। संचय (Saving) संचय (Hoarding) से भिन्न है। जब एक कंजूस रुपया एकत्रित करता चला जाता है क्योंकि उसको ऐसे एकत्रित करने से आनन्द प्राप्त होता है तो उसको संचय कहा जा सकता है यदि वह उस रुपया एकत्रित न करता हो कि भविष्य में उस धन की उसके लिए उपयोगिता अधिक होगी या उसको उस धन का भविष्य में उपभोग करने का ध्यान ही न हो। वह तो उस धन से केवल प्रत्यक्ष सन्तोष प्राप्त करता है और किसी उत्पादक क्रिया के काम में न आता ही नहीं है, जैसे शाहजहां राजा की कहानी सब लोगों को मालूम ही है। वह धन केवल इसलिए एकत्रित करता था कि उसको उस धन को देखकर आनन्द प्राप्त होता था। उसको उस धन का भविष्य में उपभोग करने का ध्यान ही न था और न वह इसलिए एकत्रित करता था कि भविष्य में उस धन की उसके लिए उपयोगिता अधिक होगी। ऐसे संचय से देश और समाज का कोई लाभ नहीं होता जब तक वह संचय के रूप में रहता है। जब वह संचय से बचत का रूप धारण करता है और अधिक उत्पादन में सहायक होता है तभी पूंजी (Capital) कहलाता है। पूंजी का उद्योग-धन्धों में लगाना देश और समाज के लिए लाभदायक है।

उपभोग और बचत दोनो ही उत्पादन की सहायता करते है और उन दोनों में उचित समानता उत्पादन की वृद्धि के लिए आवश्यक है। जब मनुष्य अपना धन उपभोग की वस्तुओं पर व्यय करते हैं तो उत्पादित वस्तु का विक्रय होता है। यदि उन वस्तुओं का विक्रय न हो तो उत्पादक और दूकानदारों के पास माल का ढेर लगता चला जायेगा और वह उत्पादन बन्द कर देंगे और उत्पादन को इस कारण हानि पहुँचेगी। इसी तरह यदि किसी समाज में बचत होती ही न हो तो उत्पादन के लिए पूंजी की कमी हो जायेगी और उत्पादन को हानि पहुँचेगी। जब किसी समाज में उसके सदस्य बचत करके वह धन नये-नये उत्पादक कार्यों में लगाते हैं तभी उस देश में उत्पादन की वृद्धि होती है जिससे सभी को लाभ होता है। अधिक उत्पादन होने से मजूरों को अधिक काम और अधिक मजूरी मिलती है। यदि देश का उत्पादन ही कम होगा तो वहाँ मजूरी और काम भी कम ही होगा। इसका मतलब यह नही कि धन का उपभोग करना आवश्यक नहीं। यदि मनुष्य उपभोग की वस्तुओं पर व्यय ही नही करेंगे तो उत्पादित वस्तुओं का विक्रय ही नहीं होगा और उत्पादन को धक्का पहुँचेगा। उक्त उल्लेख से हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि उपभोग और बचत मे उचित सन्तुलन होना चाहिए।

परन्तु प्राय यह देखा जाता है कि कभी तो जन-साधारण उपभोग पर व्यय अधिक करते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि देश की बचत की मात्रा घट जाती है। इस कारण नये कारखानो इत्यादि के चलाने के लिए पर्याप्त पूंजी नही मिलती। देश मे उत्पादन कम होता है और उससे देश की आर्थिक वृद्धि में अडचन पडती है। कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि देश में उपभोग के लिए व्यय कम हो रहा है और बचत उस देश की स्थिति की आवश्यकता से अधिक हो रही है। ऐसी दशा मे एक ओर तो बचत अधिक होने से नये-नये उत्पादन-कार्यो मे अधिक पूंजी लगाई जाती है और देश में उत्पादन की वृद्धि होती जाती है। दूसरी ओर उपभोग पर व्यय कम होने से उत्पादित वस्तुओ का विक्रय कम होता है। माल दूकानदार और कारखाने वालो के पास एकत्रित होता जाता है जिसके कारण वह उत्पादन घटाने के लिए विवश हो जाते है। जब वह उत्पादन कम करते हैं तो उन्हें मजूर निकालने पडते हैं जिससे देश में बेकारी फैलती है। ये बेकार व्यक्ति काम करने के योग्य होते हैं परन्तु उत्पादन की कमी होने के कारण इनकी सेवाएँ उत्पादन के काम में नही आतीं, इससे इनकी और देश की बहुत हानि होती है। ऐसी अवस्था मे आवश्यकता इस बात की है कि जनता उपभोग की वस्तुओ पर तो व्यय अधिक करे और अपनी बचत कम कर दे, जिससे ये बेकार लोग उत्पादक कार्यो में लग जायँ। यह एक इतनी बडी समस्या है कि किसी एक व्यक्ति के कम बचाने और अधिक व्यय करने से हल नही हो सकती परन्तु राज्य को इसके हल करने में भाग बटाना चाहिए। सबसे पहले सन् १९२९ मे स्वीडन के एक महान् अर्थशास्त्री प्रोफेसर लिन्ढौल (Prof. Lindahl) ने बताया कि राज्य की आय और बचत में परिवर्त्तन करने से जनता की ओर से अधिक व्यय या अधिक बचत से उत्पन्न होनेवाले सकटो को स्थगित किया जा सकता है। उन्होने बताया कि जब जनता देश की स्थिति की आवश्यकता से अधिक बचत कर रही हो तो राज्य को अपना व्यय बढा देना चाहिए जिससे उत्पादित वस्तुओ का विक्रय हो सके और जब जनता उपभोग की वस्तुओ पर अधिक व्यय कर रही हो तो राज्य को अपना व्यय कम करके बचत अधिक कर देनी चाहिए। इसका परिणाम यह होगा कि किसी वर्ष राज्य को अपनी आय से अधिक व्यय करना होगा और किसी वर्ष उससे कम, जिससे राज्य को प्रतिवर्ष अपना व्यय अपनी आय के बराबर रखने की आवश्यकता नही। परन्तु इस बात की आवश्यकता है कि राज्य कई वर्षो के अन्दर अपनी आय और व्यय बराबर करे। इस नियम को स्वीडन ने वास्तविक रीति से १९३७ में अपनाया और आज-

कल तो लगभग सभी पूंजीवादी देशो मे इस नीति को अपना लिया गया है। सयुक्त राष्ट्र अमेरिका की नवीन प्रथा (New Deal) का यही आधार है कि जब व्यक्तिगत क्रियाशीलता में कमी है तो राज्य निश्चित और ठोस ऐसे कार्य करता है जिससे देश की उत्पादन-शक्ति में शिथिलता न आये। इगलैण्ड मे भी यह प्रथा सन् १९४४ में प्रकाशित हुए White Paper on Employment Policy में अपनाई गई, जिसमें सरकार ने इस बात की जिम्मेवारी मान ली कि किसी सम्भावित बेकारी को स्थिति को रोकने के लिए वह उचित योजनाओ का प्रयोग करेगी। उसी वर्ष भारत के अर्थमन्त्री ने भी भारत की कानूनी सभा में ऐसे ही विचार प्रकट किये और उन्होने बतलाया कि प्रान्तीय राज्य जो धन युद्ध के समय एकत्रित कर रहे थे उसे युद्ध के समाप्त होने पर (पैदा होनेवाले बेकारी के सकट को रोकने के लिए) उत्पादक योजनाओ के उपयोग में लाया जायेगा।

अभ्यास के प्रश्न

१. उपभोग से आप क्या समझते है ? उपभोग का महत्त्व विस्तारपूर्वक लिखिये ।
२ उत्पादन के लिए उपभोग अधिक लाभदायक है या बचत ?
३. बचत (Saving) और सचय (Hoarding) में क्या अन्तर है ? देश के लिए इनमें से कौन लाभदायक है ?

अध्याय ६

आवश्यकताएँ

प्रत्येक मनुष्य को कुछ-न-कुछ आवश्यकताएँ अवश्य होती है चाहे वह किसी देश या समाज मे रहता हो। असभ्य और जगली मनुष्यो की भी कुछ आवश्यकताएँ अवश्य होती है। भूख, प्यास, ठढ या वर्षा से रक्षा करने की इच्छा प्रत्येक मनुष्य को अनुभव होती है चाहे वह पहाड की गुफाओ मे या निर्जन द्वीप में निवास करता हो। साधु-महात्माओ को भी इन आवश्यकताओ की तृप्ति करनी होती है। यह सम्भव है कि कुछ मनुष्यो को ये आवश्यकताएँ अधिक तीव्र मालूम देती हो जब कि दूसरे अन्य मनुष्यो को यह इतना न सताती हो। आवश्यकताओ की तीव्रता और उनकी सख्या प्रत्येक मनुष्य के लिए भिन्न भिन्न होती है और वह अनेक कारणो पर निर्भर है जिनमें से मुख्य कारणो का नीचे विवेचन किया गया है।

प्रकृति ने मनुष्य को इस प्रकार का बनाया है कि उसको जीवित रहने के लिए कुछ आवश्यकताओ की पूर्ति करना अनिवार्य है। केवल भूख और प्यास मिटाने के लिए भोजन और पानी ही पर्याप्त नहीं। उसे ऐसा भोजन और पानी चाहिए जिससे उसका स्वास्थ्य बना रहे और वह अपना कार्य अच्छी प्रकार कर सके। गन्दा पानी पीने से प्यास अवश्य बुझ सकती है परन्तु मनुष्य का स्वास्थ्य विगड जायेगा और उसे अनेक रोग घेर लेगे। इस कारण उसे स्वच्छ पानी की आवश्यकता है और इसीलिए उसे भोजन के पदार्थ भी ऐसे चाहिए जो स्वास्थ्यप्रद हो जिससे उसकी शक्ति में कमी न होकर वृद्धि ही हो। इसी तरह मनुष्य-जाति को शुद्ध हवा और धप आदि की आवश्यकता होती है। सर्दी, गर्मी और वर्षा से बचत के लिए भी किसी आश्रय की आवश्यकता होती है। परन्तु यदि उसकी आर्थिक स्थिति अच्छी है तो वह अच्छे अच्छे भोजन खायेगा और यदि निर्धन है तो सादे भोजन से ही अपनी भूख मिटायेगा। वह उन खाद्य-पदार्थो का भी उपयोग न करेगा जो उसके धर्म के अनुकूल न हो, जैसे ब्राह्मण मछली या मास का उपयोग नही करता जब कि अनेक देशो में इनके खाने की बहुत प्रथा है।

मनुष्य की आवश्यकताएँ देश की भौगोलिक स्थिति पर भी निर्भर होती है, जैसे ठढे देशो में अधिक गर्म कपडों की आवश्यकता होती है,

परन्तु भारतवर्ष जैसे गर्म देश में तो वर्ष में ९ महीने ठंडे कपडों से ही काम चल जाता है। इसी तरह ठंडे देश के रहनेवाले लोग ऐसे भोजन के पदार्थ उपयोग में लाते हैं जिनसे उनके शरीर को गर्मी मिल सके, जब कि गर्म देश में रहनेवाले लस्सी और ठंडाई का उपयोग करना चाहेंगे। मसूरी या नैनीताल के आस-पास के गांव वालों को वहाँ की भौगोलिक स्थिति के कारण नारकिल एक बेकार-सी ही वस्तु है जब कि मैदान में बसे शहरों और गांवों में इसका बहुत प्रयोग है।

मनुष्य की आवश्यकताएँ इस बात पर भी निर्भर होती हैं कि वह किस और कैसे समाज में रहता है। एक गांव वाले को मेज-कुर्सी की कोई आवश्यकता नहीं होती परन्तु हमारे वे भाई जो अगरेजी तरीको से रहते हैं उन्हें टाई और सूट की भी आवश्यकता होती है और खाने के बर्तन भी चीनी के चाहिएँ। साधारणत. भारतवासी कांटे छुरी से भोजन नहीं करते परन्तु जो व्यक्ति अगरेजी सभ्यता से रहते हैं उन्हें इन वस्तुओं की भी आवश्यकता पड़ती है। जब कि हमारे गांव में रहनेवाली बहनें पान और मह्दी का उपयोग करती हैं तो हमारी आजकल की सभ्य बहनो को होठो में लगाने को लिपस्टिक (Lip-stick), नाखूनो में लगाने को नेल पौलिश (Nail Polish) और आँखो की भौह पर लगाने को आई-ब्रो (Eye-brow) और पहनने को जौर्जट की साडी की आवश्यकता होती हैं। रीति-रिवाज और फैशन का भी आवश्यकताओं पर बडा प्रभाव पडता है। यदि कोई गुजरात में रहता है तो उसे अपने अतिथियों का चाय से स्वागत करना पड़ता है जब कि एक गाँव में हुक्के या दूध, मट्ठे से। भारतवर्ष के स्वतत्र होने के पहले टाई और सूट का फैशन था परन्तु अब वह जगह गाधी टोपी ने ले ली है। गाधी टोपी की माँग अधिक बढ गई है क्योंकि उसका पहनना अब एक फैशन सा हो गया है। कई बार मनुष्य की आवश्यकताएँ उसकी आदत पर निर्भर होती हैं जैसे चाय या सिगरेट की आदत पडने पर वह अनिवार्य आवश्यकताएँ बन जाती हैं।

मनुष्य की आवश्यकताएँ बहुत कुछ उसकी आर्थिक स्थिति पर भी निर्भर होती हैं। यदि उसकी आय कम है तो उसकी आवश्यकताएँ भी कम होगी। यह तो सच है कि एक मजूर भी यह चाहता है कि वह भी एक शानदार बगले में रहे, मोटर, रेडियो और बिजली का पखा भी रखे, पर उसकी आय कम होती है इसी कारण उसको उसके खाने-पीने की आवश्यकताएँ ही अधिक सताती हैं। एक रईस जमीदार को रहने के लिए एक शानदार बगले की, जिसमें तीन चार माली काम करते हो और अच्छे अच्छे फूल लगे हो, आवश्यकता होती है। एक गरीब किसान घी का सेवन ही नहीं करता जब कि एक रईस अत्यधिक घी में बने हुए अच्छे अच्छे भोजन के पदार्थ प्रतिदिन सेवन करता है।

मनुष्य की आवश्यकताएँ उसके जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण पर भी निर्भर रहती है। यदि वह सीधा-साधा, धार्मिक और सन्तोषी मनुष्य है तो उसकी आवश्यकताएँ अधिक तीव्र न होकर सीधी-साधी और कम होंगी। भारतवर्ष में सदा 'सादा जीवन और उच्च विचार' का आदर्श रहा है। इसी कारण हमारी आवश्यकताएँ पाश्चात्य देशो से कही कम है। साधारणत मनुष्य सौन्दर्य-प्रेमी भी होता है और उसे अनेक ऐसी वस्तुओ की भी आवश्यकता होती है जो उसकी इस भावना को सन्तुष्ट कर सके। कुछ मनुष्यों मे देश या समाज-सेवा की भावना बडी तीव्र होती है और इसी कारण उनकी आवश्यकताएँ भी भिन्न प्रकार की होती है। यह कहना तो असत्य होगा कि महात्मा गाधी की आवश्यकताएँ कम थी। सत्य तो यह है कि उनकी आवश्यकताएँ किसी एक साधारण व्यक्ति से बहुत अधिक थी। कोई एक व्यक्ति तो यही चाहता है कि उसका धन बढ़े और वह और उसके कुटुम्ब वाले आराम का जीवन व्यतीत करें। यह सम्भव हो सकता है यदि वह उपाय करे और सफल हो। परन्तु महात्मा जी की तो इच्छा यह थी कि सारा देश धनी हो और सब देश-निवासी सुखी हो और वे अपनी अधिक से अधिक अनिवार्य आवश्यकताओ की पूर्ति कर सकें। महात्मा जी की इस इच्छा की पूर्ति करना अधिक कठिन है।

आवश्यकताओं के लक्षण

मनुष्य की अनेक आवश्यकताएँ होती है। वास्तव में आवश्यकताएँ असीमित या अनन्त होती हैं। यदि खाने-पीने की आवश्यकताएँ सन्तुष्ट हो जाती है तो उसे मकान और कपड़ा चाहिए और यह भी मिल जाय तो उसे अच्छे-अच्छे भोजन के पदार्थ और रेशमी और महीन कपडे मिलें और वह सोचता है कि घूमने को मोटर होनी चाहिए, गाने और समाचार सुनने को रेडियो और गर्मी से बचत के लिए खस के पर्दे और बिजली का पखा। ये वस्तुएँ मिलने पर भी आवश्यकताओ की समाप्ति नहीं होती परन्तु अब वह यह सोचता है कि एक हवाई जहाज भी होना चाहिए, रेल से यात्रा करने के लिए एक पूरा डिब्बा या गाडी हो इत्यादि इत्यादि। और यदि उसके लिए सब आराम के साधन है तो वह सोचता है कि यह सब उसके सम्बन्धियो के लिए भी होने चाहिएँ। साराश यह है कि मनुष्य की आवश्यकताओ की कोई सीमा नहीं और इसी कारण उसकी सब आवश्यकताओ को सन्तुष्ट करना असम्भव है। सभ्यता, विज्ञान और ज्ञान की उन्नति से मनुष्य की आवश्यकताएँ भी बढती जाती है। यह सभ्यता की उन्नति का ही कारण है कि अब हमें विभिन्न प्रकार के भोजन के पदार्थ और कपडे चाहिएँ। विज्ञान की उन्नति के ही कारण अब

रेडियो और टेलीफोन की आवश्यकता प्रतीत होती है। कुछ लोगो का कथन है कि आवश्यकताओ का यह लक्षण साधु-सन्यासी और महात्माओ को लागू नही, परन्तु यह बिल्कुल गलत है। उनकी आवश्यकताएँ रेशमी कपडे और टेलीफोन की न हो परन्तु साधारण पुरुष की अपेक्षा उनकी आवश्यकताओ को सन्तुष्ट करना अत्यन्त कठिन है। आरभ मे उनकी आवश्यकता होती है कि ईश्वर का भजन करें। फिर सोचते है कि सासारिक बन्धनो से छुटकारा हो जाय और जब इसकी भी सिद्धि हो जाती है तो इच्छा करते है कि ईश्वर के दर्शन प्राप्त हो जायँ और जब यह भी हो जाय तो भी शाति नही, परन्तु भावना होती है कि ईश्वर सदा हमारे सामने ही खडे रहें। अत उनकी आवश्यकताएँ भी अनन्त होती हैं, परन्तु उत्कृष्ट। कुछ लोगो का कथन है कि आवश्यकताओ की उत्तरोत्तर वृद्धि होने पर ही आर्थिक उन्नति निर्भर है और इसलिए मनुष्य को अपनी आवश्यकताएँ बढाते ही जाना चाहिए, जिससे वह उनकी तृप्ति करने के लिए अधिक उपाय करेगा और अपनी आर्थिक स्थिति सुधारेगा। पाश्चात्य देशो की भौतिक-वादी सभ्यता इसी ओर सकेत करती है। परन्तु ऐसे आदर्श में एक कमी है। अधिक उत्पादन होने से मनुष्य अपनी अधिक आवश्यकताएँ सन्तुष्ट कर सकता है। यह तो सत्य है, परन्तु साथ-साथ यह भी सत्य है कि उसकी आवश्यकताएँ बढती चली जाती हैं और उनमें से अनेको को वह सन्तुष्ट नही कर सकता जिससे उसको दुख होता है। आवश्यकता के अस्तित्व से दुख होता है और उसकी तृप्ति से इस दुख की शाति होती है और सुख मिलता है। मनुष्य अधिक से अधिक आवश्यकताएँ इसलिए सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करता है कि उसका सुख बढता जाय और जो दुख अतृप्त आवश्यकताओ से होता है वह कम होता ज.य। इस दुख को न्यून करने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य की अतृप्त आवश्यकताएँ बिल्कुल न रहे, तभी उसे पूर्ण सुख प्राप्त होगा। इसी विचार-धारा को सामने रखते हुए इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री श्री जे० के० मेहता ने पूर्ण सुखमय जीवन के लिए इस आदर्श की स्थापना की है कि मनुष्य को अपनी आवश्यकताओ को कम करते-करते उस स्थिति पर पहुँचना चाहिए जहाँ उसे कोई आवश्यकता ही न रहे*। हम इस स्थिति को 'मोक्ष' कह सकते है।

यह सत्य है कि मनुष्य की असीम आवश्यकताएँ होती है परन्तु इस बात का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य के लिए

---

* इस विषय का पूर्ण परिचय प्राप्त करने के लिए श्री जे० के० मेहता जी की पुस्तक "Advanced Economic Theory" पढिये।

प्रत्येक समय प्रत्येक आवश्यकता की तीव्रता विभिन्न होती है। जैसे कुछ विद्यार्थी सप्ताह मे एक या दो वार सिनेमा अवश्य देखते है परन्तु अन्य विद्यार्थियो की यह आवश्यकता इतनी तीव्र नही होती और इसी कारण वे महीने मे एक या इससे भी कम वार सिनेमा देखने जाते है या एक व्यक्ति को अच्छे कपडो की आवश्यकता इतनी तीव्र होती है कि वह सादा भोजन खाकर रह जाता है जब कि उसी स्थिति का दूसरा व्यक्ति भोजन पर अधिक व्यय करता है और साधारण ही कपड़े पहन कर जीवन व्यतीत करता है। इसी तरह ठडे पानी की उपयोगिता प्रत्येक मनुष्य को साधारणत गर्मियो मे शीतकाल की अपेक्षा अधिक होती है और नीद की उपयोगिता दिन की अपेक्षा रात में अधिक होती है।

मानुषिक आवश्यकताओ का दूसरा लक्षण यह है कि जिस वस्तु की आवश्यकता हो उसका उपभोग करने से उसकी पूर्ति क्रमश. होती जाती है, जैसे, यदि किसी व्यक्ति को भोजन की आवश्यकता हो जिसकी तृप्ति चार रोटी खाने से होती हो तो यदि वह एक रोटी खा ले तो उसकी भोजन की आवश्यकता की तीव्रता घट जायगी और दूसरी रोटी खाने के वाद यह तीव्रता और भी कम हो जायेगी और जब वह चारो रोटी खा चुकेगा तो भोजन की आवश्यकता की तीव्रता विल्कुल न्यून हो जायेगी। जैसे जैसे वस्तुओ का उपभोग मनुष्य करता है वैसे वैसे उन वस्तुओ की आवश्यकता की तीव्रता मे कमी होना स्वाभाविक है, क्योकि वस्तुओ के सेवन के साथ-साथ उस आवश्यकता के कुछ भाग की तृप्ति होती जाती है। इसी कारण यह कहा जाता है कि किसी भी एक आवश्यकता की पूर्णतया सन्तुष्टि की जा सकती है। इस सवन्ध में यह ध्यान मे रखना आवश्यक है कि किसी भी आवश्यकता की पूर्णतया या कुछ अंश तक पूर्ति तभी हो सकती है जब मनुष्य के पास उसकी तृप्ति करने के साधन हो। हमारे देश में तो निर्धनता इतनी अधिक है कि अनेक बार देखा गया है कि जन-साधारण अपनी भूख की आवश्यकता की भी पूरी-पूरी तृप्ति नही कर सकते, क्योकि उनके पास इतने भी साधन नही होते कि वह मोटे अनाज का भी सेवन पर्याप्त मात्रा में कर सकें। सन् १९४२ के वगाल के अकाल में तो लाखो व्यक्ति केवल भूख से ही मर गये। इसी तरह यदि एक अपाहिज मनुष्य को भूख सता रही हो और चाहे भोजन उससे थोड़ी दूर पर ही रखा हो तो भी वह अपनी भूख की आवश्यकता की पूर्ति नही कर सकता क्योकि वह इस योग्य नही है कि उस भोजन तक पहुँच सके। साराश यह है कि किसी भी एक आवश्यकता की तृप्ति के लिए पर्याप्त साधनो का होना आवश्यक है। कुछ लेखक कहते है कि आवश्यकताओ का उक्त लिखित लक्षण मनुष्य की रुपये-पैसे और शक्ति

की आवश्यकताओ पर लागू नही होता। धन और शक्ति की कितनी ही वृद्धि क्यो न हो जाय उनकी आवश्यकता की पूर्ण सन्तुष्टि नही होती। यह कोई विशेषता नही। यदि मनुष्य के पास पर्याप्त मात्रा में साधन हो तो वह अथाह धन और शक्ति की आवश्यकताओ की भी पूर्ति कर सकता है परन्तु सीमित साधनो से अथाह शक्ति या धन प्राप्त नही हो सकते। यह तो इन आवश्यकताओ के लिए भी सच है कि उनकी क्रमश तृप्ति होने से उनकी तीव्रता घटती जाती है और यही लक्षण प्रत्येक मानुषिक आवश्यकताओं मे पाया जाता है। इसके अतिरिक्त किसी भी एक आवश्यकता की एक वार पूर्णतया या कुछ अशो में तृप्ति होने से वह सदा के लिए सन्तुष्ट नही हो जाती परन्तु उसका वार-वार अनुभव होता है। एक वार पेट भर खाना खाने से सदा के लिए तो भूख नही मिट जाती। कुछ समय वाद ही भूख की आवश्यकता फिर से अनुभव होती है।

मनुष्य की प्रत्येक आवश्यकता के मूल मे परस्पर प्रतियोगिता (Competition) होती है। मनुष्य के सीमित साधन और असीमित आवश्यकताएँ होने के कारण वह अपनी कुछ ही आवश्यकताएँ तृप्त कर सकता है। इसी कारण उसकी विभिन्न आवश्यकताओ मे खीचतान होती रहती है और यदि वह कुछ आवश्यकताओ की तृप्ति करता है तो कुछ अन्य आवश्यकताओ की पूर्ति नही कर सकता। उदाहरणत यदि आपके पास एक रुपया है और आप सिनेमा भी जाना चाहते हैं, होटल मे चाय भी पीना चाहते है, अपने छोटे भाइयो को मेले में जाने के लिए पैसे भी देना चाहते है और जूते की मरम्मत भी करना चाहते है तो इन अन्य आवश्यकताओ की आपस मे खीचतान होती रहेगी और अन्त में आप इनमें से उसी आवश्यकता की पूर्ति करेंगे जिससे अत्यधिक उपयोगिता प्राप्त हो, क्योकि ऊपर की प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति के लिए एक रुपया चाहिए और आपके पास तो कुल एक ही रुपया है।

आवश्यकताओ का यह भी लक्षण होता है कि प्रत्येक आवश्यकता की तृप्ति करने के लिए अनेक साधन हो सकते हैं। उदाहरणत., यदि आपको भूख लग रही है तो उसकी तृप्ति रोटी, विस्किट, दूध, दही, फल, तरकारी इत्यादि किसी भी वस्तु से कर सकते हैं और यदि ठढ लग रही है तो ऊनी कोट पहन लीजिये या दुशाला, कम्वल या रूई की रजाई ओढ लीजिये या कोयला जला के ताप लीजिये या विजली का 'हीटर' जलाकर कमरा गरम कर लीजिये, इत्यादि।

कुछ आवश्यकताएँ आपस में एक दूसरे की पूरक होती हैं। यदि आपको टाई वाँधना है तो कालरदार कमीज भी चाहिए; यदि आपको ताँगे पर वैठना है तो ताँगा घोडा और साज भी चाहिए अन्यथा केवल

ताँगा या केवल साज व्यर्थ है। इसी तरह यदि आपके पास बिजली का बल्ब है तो घर में बिजली का होना भी आवश्यक है और यदि आपको दाढी बनाने को सेफ्टी रेजर चाहिए तो उसके साथ साबुन, ब्रुश और ब्लेड की भी आवश्यकता होगी।

आवश्यकताओ का एक लक्षण यह भी है कि वर्तमान आवश्यकता भविष्य की आवश्यकता से जो उतनी ही तीव्र है अधिक सताती है और इसी कारण वर्तमान आवश्यकता की तृप्ति से अधिक सुख होता है। इसका कारण यह है कि भविष्य अदृश्य और अनिश्चित होता है। यदि आपको प्यास लग रही है तो आपको वर्तमान की इस प्यास से भविष्य की प्यास की अपेक्षा अधिक कष्ट होगा।

आवश्यकताओ का वर्गीकरण

मनुष्य की विभिन्न आवश्यकताओ का वर्गीकरण किया जा सकता है। साधारणत आवश्यकताएँ निम्न भागो में बाँटी जाती है—(१) आवश्यक आवश्यकताएँ (२) सुखदायक आवश्यकताएँ (३) भोग-विलास की आवश्यकताएँ। आवश्यक आवश्यकताएँ (Necessaries) के भी तीन उपभेद किये जाते है—(१) जीवित रहने की आवश्यकताएँ (Necessaries for existence) (२) कार्यक्षमता प्राप्त करने की आवश्यकताएँ (Necessaries for efficiency) और (३) रीति-रिवाज सम्बन्धी आवश्यकताएँ (Conventional Necessaries)

जीवित रहने की आवश्यकताएँ (Necessaries for existence) —यह वे आवश्यकताएँ है जिनकी पूर्ति के बिना मनुष्य का जीवन ही असम्भव सा प्रतीत होता है, जैसे भूख और प्यास इत्यादि। खाने को भोजन (चाहे कितना ही सादा क्यो न हो), पीने को पानी और साँस लेने को हवा प्रत्येक मनुष्य को जीवित रहने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। कुछ देर वह अपनी साँस रोक सकता है, कुछ समय तक प्यासा भी रह सकता है और कुछ दिनो बिना भोजन किए भी जीवित रह सकता है परन्तु एक निश्चित समय के बाद वह ऐसा नही कर सकता। मनुष्य को जीवित रहने के लिए कुछ कपडा और आश्रय की भी आवश्यकता होती है। ऊपर लिखी आवश्यकताओ को प्रत्येक मनुष्य अपने साधनो के अनुसार पूर्ण करने का प्रयत्न करता है।

कार्यक्षमता प्राप्त करने की आवश्यकताएँ (Necessaries for efficiency)—उन आवश्यकताओ को कहते है जिनकी पूर्ति करने से मनुष्य की कार्यक्षमता में वृद्धि होती है। इस वृद्धि की उपयोगिता उन आवश्यकताओ की पूर्ति करने के परिश्रम से अधिक होती है। इन आवश्यकताओ की पूर्ति करना मनुष्य के हित में ही होता है। ऐसा करने से

उसकी आय में जो वृद्धि होती है वह इन आवश्यकता पूरक वस्तुओ के मूल्य से कही अधिक होती है। जीवित रहने के लिए आवश्यक भोजन के अतिरिक्त उसे स्वास्थ्यप्रद भोजन भी चाहिए जिससे उसकी कार्यशक्ति मे वृद्धि होती है। इसी वर्ग में एक पर्याप्त हवादार मकान, पढाई के साधन, स्वच्छता, सुगम चिकित्सा और कुछ वस्त्र आते है। शीतकाल में वह जीवित तो एक मोटी सद्दर की वडी या चादर ओढकर भी रह सकता है परन्तु यदि उसके पास एक ऊनी कोट या चादर हो तो उसकी कार्यक्षमता मे वृद्धि अवश्य होगी।

रीति-रिवाज सम्बन्धी आवश्यकताएँ (Coventional Necessaries):— उन्हें कहते हैं जिनकी पूर्ति समाज के रीति-रिवाजो के अनुसार करना आवश्यक है। अतिथि को गाँवो मे हुक्का पिलाना, शहरो मे पान या चाय पिलाना इसी वर्ग में आते हैं। इसी तरह विवाह के अवसर पर सम्बन्धियो या मित्रो को भोजन या जलपान कराना और वर-वधू को कुछ वस्त्र आभूषण इत्यादि देना आवश्यक है। इसी वर्ग में कुछ मनुष्यो को पान-बीडी या सिगरेट सेवन करने की आदत और अग्रेजी सभ्यता में रहनेवाले व्यक्तियो के टाई टोप व बनाव-शृंगार के साधन (Cosmetics) इत्यादि आते हैं।

सुखदायक आवश्यकताएँ (Comforts)—उन्हें कहते हैं जिनकी पूर्ति से मनुष्य को सुख प्राप्त हो और जिनकी पूर्ति न करने से उसको अत्यधिक कष्ट न हो। जो वस्तुएँ इन आवश्यकताओ की पूर्ति करती है उनका उपभोग मनुष्य के लिए अनिवार्य तो नही होता परन्तु उनका सेवन न करने से उसे कुछ कष्ट होता है, जैसे एक व्यस्त डाक्टर के लिए एक मोटर और एक विद्यार्थी के लिए टेबुल लैम्प सुखदायक वस्तुएँ हैं। इन वस्तुओ का सेवन न करने से भी उनका काम तो चलता है परन्तु कार्यक्षमता का ह्रास हो जाता है।

भोग-विलास की आवश्यकताएँ (Luxuries)—उन्हें कहते हैं जिनकी पूर्ति करने से साधारणत मनुष्य में कुछ आलस्य आ जाय और उसकी कार्यक्षमता में कोई वृद्धि न हो, परन्तु उसकी मानसिक और शारीरिक शक्तियो का ह्रास हो। विलासिता की वस्तुओ का सेवन करना मनुष्य के लिए अनिवार्य नही और इन वस्तुओ का उपभोग तो उसे तभी करना चाहिए जब वह अपनी अन्य आवश्यकताओ की पूर्ति कर चुका हो। ऐसी वस्तुओ का अधिक उपयोग होने से देश और समाज को भी हानि पहुँचने की सभावना रहती है।

उक्त वर्गीकरण वस्तुविशेष पर निर्धारित नही है और न उसके लिए कोई ठोस नियम ही है। परन्तु यह कहा जा सकता है कि आवश्यक आवश्यकताएँ उन्हें कहते है जिनकी पूर्ति करने से मनुष्यो की कार्यक्षमता

में वृद्धि होती है और जिनकी पूर्ति न करने से कार्यक्षमता का ह्रास होता हो। इसी तरह सुखदायक आवश्यकताएँ उनको कहते हैं जिनकी पूर्ति से कार्यक्षमता मे कोई वृद्धि नही होती और यदि होती भी है तो अत्यन्त न्यून, परन्तु जिनकी पूर्ति न करने से कार्यक्षमता में ह्रास होता है। इसी कारण इन आवश्यकताओ की भी पूर्ति करना उचित हैं। भोग-विलास की आवश्यकताएँ उन्हें कहते है कि जिनकी पूर्ति करने से सुख तो अवश्य प्राप्त होता हैं परन्तु कार्यक्षमता में वृद्धि होना आवश्यक नही और कभी-कभी कार्यक्षमता का ह्रास भी होता है; इन आवश्यकताओ की पूर्ति न करने से कार्यक्षमता में कोई वृद्धि नही होती।

इस बात पर जोर देना विशेष आवश्यक है कि एक ही वस्तु किसी व्यक्ति के लिए आवश्यक वस्तु हो सकती है और किसी दूसरे के लिए सुखदायक या भोग-विलास की वस्तु। जैसे एक मोटरकार एक विद्यार्थी के लिए भोग-विलास की वस्तु है जब कि वह एक डाक्टर या प्रोफेसर के लिए सुखदायक वस्तु है और पडित जवाहरलाल नेहरू के लिए तो वह अत्यन्त आवश्यक है। उनके लिए तो एक शहर से दूसरे शहर जाने के लिए हवाई जहाज भी आवश्यक वस्तु है। उनके पास इतना समय नही कि वे बैलगाडी में बैठकर एक स्थान से दूसरे स्थान को जायँ। यही बैलगाडी एक ग्रामीण मजदूर के लिए सुखदायक या विलासिता की वस्तु होगी क्योकि उसके काम करने का स्थान उसके घर से चार कदम की दूरी पर होता है। इसी तरह एक कलक्टर या शहर-कोतवाल के लिए टेलीफोन आवश्यक वस्तु है जब कि वह एक अमीर जमीदार के लिए विलासिता की या सुखदायक वस्तु है। यहाँ पर इस बात का ध्यान भी रखना चाहिए कि एक ही वस्तु एक ही व्यक्ति को विभिन्न विभिन्न समय पर आवश्यक वस्तु या सुखदायक वस्तु या विलासिता की वस्तु हो सकती है। एक विद्यार्थी के लिए साधारणत एक मोटर विलासिता की वस्तु है परन्तु जब उसका स्वास्थ्य बिगडा हुआ है और वह अत्यन्त दुर्बल है तो वही वस्तु उसके लिए सुखदायक हो सकती है और जब कई विद्यार्थियो को उनके कॉलेज या विश्वविद्यालय से कुछ मील दूर किसी शिक्षासम्बन्धी दौरे पर जाना है तो एक मोटर या लारी आवश्यक वस्तु हो जाती है। यह वर्गीकरण वस्तु के मूल्य पर भी निर्भर है। जब कि एक मोटर के दाम दस हजार रुपये हैं तो वह एक साधारण कॉलेज के अध्यापक के लिए विलासिता की वस्तु है। यदि उसका दाम दो या तीन हजार रुपये हो जाय तो वही मोटर उस अध्यापक के लिए सुखदायक वस्तु हो जाती है और उसी मोटर को आवश्यकता की वस्तु कहेंगे जब कि उसकी कीमत पाँच सौ रुपये हो जाती है। इसी प्रकार एक रोगी की सेवा के

लिए एक नर्स आवश्यक है परन्तु एक स्वस्थ मनुष्य के लिए नही। बीमारी मे ग्लूकोज़ का सेवन आवश्यक हो जाता है जब कि प्रतिदिन उसका सेवन एक स्वस्थ व्यक्ति के लिए आवश्यक नही। ऐसे ही एक ओवरकोट मसूरी जैसी ठढी जगह के लिए शीत ऋतु मे एक मध्यम श्रेणी के व्यक्ति के लिए आवश्यक है जब कि वही ओवरकोट इलाहाबाद जैसे शहर मे सुखदायक वस्तु है। यह वर्गीकरण किसी व्यक्ति के रोजगार और आर्थिक स्थिति पर भी निर्भर है। एक डिप्टी कलक्टर या अध्यापक के लिए टाई और सूट या कोट टोपी व अच्छा जूता आवश्यक वस्तुएँ है जब कि यही वस्तुएँ एक पन्सारी के लिए सुखदायक वस्तुएँ होगी क्योकि वह तो अपना काम साधारणत. धोती, कुरता पहन कर ही चलाता है। आवश्यकताओ का वर्गीकरण व्यक्तिगत आय पर भी निर्भर होता है। एक निर्धन किसान के लिए गेहूँ, चावल या चाय सुखदायक वस्तुएँ है परन्तु शहर के एक मध्यम श्रेणी के मनुष्य के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है। इसी तरह मजूरो को घी, दूध और फल प्राप्त ही नही होते क्योकि उनकी आय बहुत कम होती है जब कि यही वस्तुएँ मध्यम या ऊँची श्रेणी के कुटुम्ब के लिए आवश्यक होती है। यह वर्गीकरण व्यक्ति के रहन-सहन के दर्जे पर भी निर्भर होता है। गाँवो मे जमीन पर ही बैठने की प्रथा होती है इसलिए मेज-कुर्सी आवश्यक नही, परन्तु शहरो में यही वस्तुएँ आवश्यक हो जाती है। बगाल में चावल और पजाब में गेहूँ ग्रामीणो के लिए भी आवश्यक है परन्तु राजस्थान में जहाँ ग्रामीण अधिकतर बाजरा, चना या जौ खाते है यही नाज सुखदायक हो जाते है। पाश्चात्य देशो के रहनेवालो के लिए एक अच्छा मकान, पर्याप्त मात्रा में कपडे, बच्चो की पढाई और काम पर जाने के लिए यातायात के साधन आवश्यक वस्तुएँ है जब कि हमारे ग्रामीण भाइयो को रहने को झोपडियाँ, तन ढकने को एकाध कपडा ही आवश्यक है।

अत में इस ओर ध्यान आकर्षित कर देना चाहिए कि यह आवश्यक नही कि कोई व्यक्ति अपनी अनेक आवश्यकताओ की तृप्ति आवश्यकताओ के वर्गीकरण के क्रम के अनुसार ही करे। कुछ व्यक्ति अपनी सुखदायक या विलासिता की आवश्यकताओ की तृप्ति आवश्यक आवश्यकताओ से पहले करते है, जैसे, देखा गया है कि बहुत से मजूर और कारीगर अपनी आय मिलते ही उसका अत्यधिक भाग शराब व अन्य मादक वस्तुओ के सेवन में व्यय कर देते है जब कि उनकी अनेक आवश्यक आवश्यकताएँ असन्तुष्ट ही रह जाती है। इसी तरह हमारे देश मे रीति-रिवाज इतने प्रबल है कि अनेक व्यक्ति विवाह या मृत्यु के अवसर पर अत्यधिक व्यय कर देते है चाहे उनकी खाने और कपडो की आवश्यक आवश्यकताएँ

पर्याप्त रूप से पूर्ण न होती हो। कुछ व्यक्तियो को सिनेमा का इतना शौक होता है कि वह एक समय भोजन टाल देंगे पर सिनेमा अवश्य जायेंगे। यह कोई अचरज की बात नही क्योकि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की तृप्ति उनसे प्राप्त होनेवाली उपयोगिता के क्रम के अनुसार करता है। जिन आवश्यकताओ की तृप्ति से अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है उनकी तृप्ति पहले करता है और जिनसे कम, उनकी बाद में। वह सिनेमा देखना भोजन की अपेक्षा तभी पसन्द करेगा जब सिनेमा देखने की उपयोगिता भोजन की उपयोगिता से अधिक हो। इसी कारण वह विवाह और मृत्यु के अवसर पर अधिक व्यय कर देता है क्योकि रीति-रिवाज के दबाव से इन अवसरो पर व्यय न करने से जो कष्ट उसको होता है वह अन्य आवश्यक आवश्यकताओ की अतृप्ति से कही अधिक होता है। सुखदायक और विलासिता की आवश्यकताओ की तृप्ति की अपेक्षा आवश्यक आवश्यकताओ की सन्तुष्टि से कार्यक्षमता मे अधिक उन्नति होती है। इसी कारण यह सत्य है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओ की तृप्ति आवश्यकताओ के वर्गीकरण के क्रम के अनुसार ही करे तो उसका और समाज का दोनो का ही लाभ है क्योकि इसका प्रभाव उसकी कार्यक्षमता पर अधिक लाभदायक होगा।

रहन-सहन का दर्जा

जब हम किसी वर्ग के रहन-सहन के दर्जे पर विचार करते है तो हमारा ध्यान उस वर्ग के उपभोग की मात्रा की ओर आकर्षित होता है। अर्थात् किसी व्यक्ति या वर्ग के रहन-सहन के दर्जे से हमारा तात्पर्य उस व्यक्ति या वर्ग के उपभोग की मात्रा से होता है। यदि कोई व्यक्ति वस्तुओ का अधिक मात्रा में उपभोग करता है तो उसका रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होता है। जिन वस्तुओ का और जिस मात्रा में कोई व्यक्ति उनका उपभोग करता है उसकी उसको आदत पड जाती है और उपभोग में कमी होने से उसको अधिक कष्ट होता है। इस कारण वह अपने रहन-सहन के दर्जे को नीचे नही गिरने देता।

किसी व्यक्ति के रहन-सहन का दर्जा उसके उपभोग की मात्रा पर निर्भर है और उपभोग की मात्रा आय और वस्तुओ के मूल्य पर। जिस व्यक्ति की आय अधिक है उसका रहन-सहन का दर्जा भी ऊँचा होगा। आय में कमी होने से उसको अपने रहन-सहन का दर्जा नीचा करना होगा क्योकि ऐसी स्थिति में वह पहले की अपेक्षा कम वस्तुओ का उपभोग कर सकेगा। यदि उसकी आय बढ जाती है तो उसके रहन-सहन के दर्जे की भी ऊँचे होने की प्रवृत्ति होगी, क्योकि अब वह अपने उपभोग की मात्रा बढा सकेगा। रहन-सहन का दर्जा इस पर भी निर्भर है कि आय

किस प्रकार प्राप्त की जाती है। यदि उसके प्राप्त करने में अधिक कठिनाई व परिश्रम करना पडता है तो विश्राम का समय कम होगा और मनुष्य के लिए विश्राम भी आवश्यक है। यदि आय प्राप्त करने के लिए गन्दे और अस्वस्थ स्थानो मे काम करना पडे और मानसिक अशान्ति रहे तो भी मनुष्य के सुख मे बाधा पडती है। इस कारण शान्ति और उचित रीति से आय प्राप्त करने का अधिक महत्त्व है। रहन-सहन का दर्जा वस्तुओ के मूल्य पर भी निर्भर है। यदि वस्तुओ के मूल्य ऊँचे है तो एक निश्चित आय से कम वस्तुएँ खरीदी जायँगी जिससे उपभोग की मात्रा कम होगी। वस्तुओ के मूल्य बढने से द्रव्य की क्रयशक्ति घट जाती है क्योकि ऐसी स्थिति मे प्रत्येक वस्तु के लिए अधिक द्रव्य देना पड़ता है और द्रव्य की एक निश्चित मात्रा से कम वस्तुएँ खरीदी जा सकती है। वस्तुओ के मूल्य नीचे होने से द्रव्य की क्रयशक्ति बढ जाती है और द्रव्य की एक निश्चित मात्रा से अधिक वस्तुएँ खरीदी जा सकती है। साराश यह है कि यदि आय स्थिर भी रहे तो भी वस्तुओ के मूल्य में परिवर्त्तन होने से उपभोग की मात्रा में परिवर्त्तन हो जाता है क्योकि उपभोग की मात्रा आय और वस्तुओ के मूल्य पर निर्भर है। हमने ऊपर उपभोग की मात्रा आय पर निर्भर बताई है परन्तु यह कहना अधिक सत्य होगा कि उपभोग की मात्रा व्यय पर और व्यय आय पर निर्भर है। जिसकी आय अधिक होती है उसकी व्यय करने की शक्ति भी अधिक होगी। परन्तु यह आवश्यक नही कि वह व्यय भी अधिक ही करे। यदि आय कम होती है तो व्यय करने की शक्ति भी कम होती है। रहन-सहन का दर्जा उचित व्यय की रीति पर भी निर्भर है। यदि कोई व्यक्ति अधिक खर्चीला है तो यह मतलब नही कि उसके रहन-सहन का दर्जा भी ऊँचा है; क्योकि हो सकता है कि वह टिकाऊ और उपयोगी वस्तुओ की अपेक्षा विलासिता और व्यर्थ की वस्तुओ पर अधिक व्यय करता हो। उसको कुछ समय के लिए उपयोगिता तो अवश्य प्राप्त होगी परन्तु सम्भव है कि इस प्रकार का व्यय उसके स्वास्थ्य और कार्यक्षमता के लिए हानिकारक हो। यदि कोई व्यक्ति अपनी आय शराब या अन्य मादक वस्तुओ पर व्यय करता है तो इससे उसके रहन-सहन के दर्जे की घटने की ही प्रवृत्ति होगी। यदि व्यय उचित वस्तुओ पर ही किया जाय तो यह भी आवश्यक है कि कुल व्यय समसीमान्त उपयोगिता के नियम के अनुसार किया जाय। उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रहन-सहन का दर्जा निम्नलिखित कारणो पर निर्भर होता है —(१) आय का कौन-सा भाग व्यय किया जाता है, यदि आय अधिक होगी तो व्यय भी अधिक हो सकता है, (२) वस्तुओ के मूल्य; (३) किस प्रकार की

वस्तुओ और सेवाओ का उपभोग होता है और व्यय करने की रीति उचित है या अनुचित। किसी वर्ग के रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होने से उस वर्ग के लोगो को अधिक आय प्राप्त करने के प्रयत्न करने पड़ते हैं अन्यथा उनके रहन-सहन का दर्जा नीचे गिर जायगा। इस कारण ऊँचे रहन-सहन का दर्जा अधिक कार्य करने को उत्साहित करता है। ऊँचे रहन-सहन के दर्जे के वर्गों में देर में विवाह करने की भी प्रथा होती है क्योकि उस वर्ग के लोग स्त्री और बच्चो के खर्च का बोझा तब तक अपने सिर पर उठाना नही चाहते जब तक उनकी आय इतनी न बढ जाय कि वह उनको उस वर्ग के रहन-सहन के अनुसार ही रख सके।

भारतवर्ष में इने-गिने व्यक्तियो को छोडकर जन-साधारण के रहन-सहन का दर्जा अत्यन्त निम्न स्तर का है। अधिकतर मनुष्यो को न पेट भर भोजन मिलता है और न पर्याप्त मात्रा मे कपडा ही। अधिकाश एक ही झोपडी या कमरे मे पूरा कुटुम्ब जिसमें अनेक व्यक्ति होते हैं रहते हैं। इस आश्रय मे केवल स्थान की ही कमी नही होती बल्कि धूप और शुद्ध हवा के आने का भी उचित प्रबन्ध नही होता है। निर्धनता के कारण जन-साधारण के लिए अपने बच्चो को साधारण शिक्षा देना भी सम्भव नही और जब रोग-व्याधि घेर लेते हैं तो चिकित्सा का भी उचित प्रबन्ध नही होता है। रोग भी अधिक होते हैं क्योकि मकानो के चारों ओर गन्दगी का वास होता है। ऐसी सूरत मे अधिकाश व्यक्तियो के लिए आनन्ददायक विश्राम-स्थल व सुख के साधन स्वप्न ही होते हैं। इसी कारण भारतीय मजदूरो व कारीगरो की कार्यक्षमता पाश्चात्य देशो की अपेक्षा अत्यन्त न्यून है। उनकी निर्धनता और कार्यक्षमता की कमी एक दूसरे पर बुरा प्रभाव डालती है और इसी कारण वे साधारण रोगो के भी शिकार बन जाते है। उनकी जीवन-शक्ति क्षीण होती है जिससे उनकी सन्तानें भी दुर्बल पैदा होती हैं। ऐसे बहुत से दुर्बल बच्चे शिशु अवस्था में ही काल के ग्रास बन जाते हैं। जन-साधारण की आय इतनी कम है कि वह उनके आवश्यक व्यय के लिए भी पर्याप्त नही होती तो बचत का तो कोई प्रश्न ही नही उठता। इसका परिणाम यह होता है कि जब उनपर कोई सकट आता है तो वह उसका मुकाबला करने में बिल्कुल असमर्थ होते हैं। १९४२ का बगाल का अकाल तो सबको ही याद होगा। चारो ओर सभ्यता की उन्नति और आर्थिक वृद्धि की ध्वनि में यह एक अत्यन्त भयानक घटना हुई। कहा जाता है कि लगभग ३५ लाख व्यक्ति वास्तव में भूखो मर गये। यह कहना अनुचित होगा कि वे भूख के शिकार इस ही लिए बन गये कि बंगाल में अनाज की कमी थी। यदि अनाज की ही कमी होती तो कोई धनवान् या मध्यम श्रेणी

होता है जिससे [illegible] और
आवश्यक [illegible] भी [illegible] नहीं होने पाती।
[illegible] का [illegible] भी [illegible] है जिससे [illegible]
[illegible] के लिए इस मद पर अधिक व्यय करते हैं।
रीति-रिवाजों का भी इतना प्रभाव है कि ऐसे अवसरों पर अधिकतर व्यक्ति अपनी सामर्थ्य से अधिक व्यय करते हैं। इसके अतिरिक्त अधिकतर भारतवासी 'साधारण जीवन और उच्च विचार' के आदर्श को मानते हैं जिससे इनमें असंतोष का अभाव है और वे अपनी आर्थिक अवस्था को सुधारने के दृढ़ प्रयत्न नहीं करते।

यह अत्यन्त शोचनीय बात है कि हमारे देश में प्रत्येक व्यक्ति की औसत आय २८८ रु० प्रतिवर्ष है जब कि यही आय नार्वे में १७०४ रुपये, आस्ट्रेलिया में २२१४ रुपये, डेनमार्क में २३५० रुपये, न्यूजीलैण्ड में २१०३ रुपये, स्वीडन में २५०४ रुपये और स्विट्ज़रलैण्ड में ३६७० रुपये है। इन आंकड़ों से पता चलता है कि हम पाश्चात्य देशों से आर्थिक अवस्था में कितने पिछड़े हुए हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि हमारे देश-निवासियों को उचित शिक्षा दी जाय जिससे उनकी कार्यक्षमता में वृद्धि हो और उनकी आय बढ़े, तभी वह स्वास्थ्य-रक्षक भोजन व पर्याप्त कपड़ों का सेवन कर सकेंगे और हवादार बड़े मकानों में रह सकेंगे। इसके साथ-साथ ही कृषि का उत्पादन बढ़ाना चाहिए और नये उद्योग-धन्धों की स्थापना भी होनी चाहिये जिससे बेकारी समाप्त हो जाय और देश की आर्थिक उन्नति हो। आर्थिक उन्नति के साथ-साथ

इस बात की भी आवश्यकता है कि हमारे देश-निवासी अपनी आय वुद्धिमानी के साथ व्यय करे। शराव व अन्य मादक वस्तुएँ और रीति-रिवाज के दवाव से व्यर्थ व्यय तथा अन्य विलासिता की वस्तुओं का उपभोग न करके उन्हे ऐसी वस्तुओ का ही उपभोग वढाना चाहिये जिससे उनकी शक्ति और कार्यक्षमता में वृद्धि हो। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि वह स्वादिष्ट भोजन की अपेक्षा स्वास्थ्यप्रद भोजन का सेवन करें और केवल शौक और दिखावट की आवश्यकताओ की तृप्ति न करके ऐसी ही वस्तुओ का सेवन करे, जो उनके वास्तविक हित में हो। राज्य को भी उनकी चिकित्सा, स्वास्थ्य, सफाई व मनोरजन का उचित प्रवन्ध करना चाहिए जिससे वे अपना जीवन अधिक मनोहर वना सकें।

अभ्यास के प्रश्न

१ आवश्यकताओ के मुख्य लक्षण विस्तारपूर्वक लिखिये ।

२ आवश्यकताओ के वर्गीकरण से आप क्या समझते है ? आवश्यकताओ का वर्गीकरण समझाइये।

३ कारण सहित समझाइये कि निम्नलिखित वस्तुएँ आवश्यकताओ के वर्गीकरण के अनुसार कौन सी आवश्यकताओ की पूर्ति करती है —

(अ) एक विद्यार्थी के लिए मोटर।

(ब) एक शिक्षित किसान के लिए फाउन्टैनपेन।

(स) एक विद्यार्थी के लिए पाठ्य-क्रम मे निर्धारित पुस्तकें ।

(द) एक ग्रामीण मजदूर के लिए चीनी और गुड़।

(य) पडित जवाहरलाल नेहरू और आलसी करोड़पति के लिए हवाई जहाज।

४ 'रहन-सहन के दर्जे' से आप क्या समझते है ? भारतवर्ष में जन-साधारण के रहन-सहन के दर्जा के नीचे होने के क्या कारण है ? उसको ऊँचे करने के उपाय समझाइये।

अध्याय १०

सीमान्त उपयोगिता के ह्रास का नियम

(Law of Diminishing Marginal Utility)

यह तो प्रत्येक व्यक्ति, चाहे बड़ा हो या बच्चा, जानता है कि यदि मनुष्य भोजन करने बैठता है तो वह भोजन करता ही नहीं रहता, चाहे वह भोजन कितना ही स्वादिष्ट क्यों न हो, बल्कि थोड़ा भोजन करने के बाद उसकी भूख की आवश्यकता की तृप्ति हो जाती है और उसके उपरान्त भी भोजन करने से तो कष्ट ही होता है। इसका कारण यह है कि भूख होने पर भोजन या रोटी की उपयोगिता अधिक होती है और भूख की तृप्ति होने पर रोटी की उपयोगिता कुछ नहीं रहती। ऐसी दशा में और रोटी खाने से तो पेट में दर्द या कै हो जायेगी जिससे कष्ट ही होगा। अर्थात् पेट भरने के बाद रोटी खाने से उपयोगिता प्राप्त नहीं होती, परन्तु अनुपयोगिता (Disutility) ही प्राप्त होती है। जब मनुष्य को बड़े जोर की भूख लगी होती है तब रोटी की उपयोगिता बहुत अधिक होती है क्योंकि यह रोटी उसकी भूख की सबसे तीव्र आवश्यकता की पूर्ति करती है। एक रोटी खाने के पश्चात् उसकी भूख की तीव्रता कम हो जाती है और इसी कारण दूसरी रोटी का सेवन करने से जो उपयोगिता प्राप्त होती है वह पहली रोटी की उपयोगिता से कुछ कम होती है। जब वह दो रोटी खा चुकता है तब उस मनुष्य की भूख की तीव्रता और भी कम हो जाती है और क्योंकि तीसरी रोटी इस घटी हुई आवश्यकता की तीव्रता की सन्तुष्टि करती है उसकी उपयोगिता पहली और दूसरी रोटियो की उपयोगिता से कम होती है। इस तरह जैसे जैसे वह रोटियो का उपयोग करता जाता है रोटी से प्राप्त होने वाली उपयोगिता मे क्रमश ह्रास होता जाता है। इसी नियम को अर्थशास्त्र में 'सीमान्त उपयोगिता के ह्रास का नियम' कहते हैं। सक्षेप में इस नियम की व्याख्या हम निम्न प्रकार से कर सकते है —

यदि वस्तु की इकाई उचित परिमाण में हो और उपभोक्ता की रुचि, आदत और आर्थिक स्थिति इत्यादि में कोई परिवर्त्तन न हो तब उपभोग की अविच्छिन्न क्रिया में उस वस्तु की प्रत्येक इकाई से प्राप्त उपयोगिता क्रमानुसार कम होती जाती है।

जब किसी वस्तु की मात्रा किसी व्यक्ति के पास बढती जायेगी तब भी उससे प्राप्त होनेवाली उपयोगिता में उक्त लिखित नियम के अनुसार ह्रास होगा।

यह ध्यान मे रखना आवश्यक है कि वस्तु की भिन्न-भिन्न इकाइयाँ बिल्कुल एकसी होनी चाहिएँ, जैसे, यदि रोटी की पहली इकाई गेहूँ की सूखी रोटी है तो अन्य इकाइयाँ भी ऐसी ही होनी चाहिएँ न कि बाजरे की रोटी या अधिक घी दार गेहूँ की रोटी या पूड़ी, कचौडी इत्यादि। उपभोग की क्रिया भी अविच्छिन्न होनी चाहिए। यह नही कि एक रोटी अभी खाई जाय और दूसरी कुछ घण्टो के बाद। यदि ऐसा होगा तो उस स्थिति मे यह नियम कुछ नही कहता। ऐसा हो सकता है अभी आपको भूख बहुत कम हो और कुछ घण्टो बाद उसकी तीव्रता बढ जाय जिस स्थिति में दूसरी रोटी की उपयोगिता अधिक ही होगी। इस बात पर भी ध्यान रखना आवश्यक है कि वस्तु की इकाई का उचित परिमाण विभिन्न वस्तुओ के लिए विभिन्न होगा। यदि गेहूँ की इकाई का उचित परिमाण एक सेर है तो मिर्च और नमक की इकाई का उचित परिमाण भी एक सेर नही, बल्कि एक या आधी छटाँक ही होगा। इसी तरह पानी की इकाई का उचित परिमाण दूध या घी की इकाई के उचित परिमाण से अधिक होगा। किसी वस्तु की इकाई का उचित परिमाण उस वस्तु के उपयोग पर भी निर्भर है, जैसे यदि पानी का सेवन पीने के लिए करना है तो उसकी इकाई का उचित परिमाण एक गिलास पानी होगा, यदि भोजन बनाने के लिए उसका उपयोग करना है तो एक लोटा होगा और यदि स्नान के लिए उसका उपयोग करना है तो एक बाल्टी होगा और यदि बाग की सिचाई में उपयोग करना है तो एक चरस के बराबर हो सकता है। इकाई का उचित परिमाण भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के लिए भिन्न-भिन्न होता है जैसे रोटी की इकाई का उचित परिमाण एक स्वस्थ युवक के लिए एक रोटी है तो एक छोटे से बच्चे या रोगी व्यक्ति के लिए ½ या ⅓ रोटी ही होगा। यह इकाई का उचित परिमाण विभिन्न समय पर भी विभिन्न होता है जैसे लम्बे सिर के बालो के लिए इकाई का उचित परिमाण चालीस या पचास बूंद तेल के बराबर है परन्तु कुछ समय के उपरान्त किसी कारणवश यदि सिर के बाल काट डाले जायँ तो तेल की इकाई का उचित परिमाण उस समय बिल्कुल ही न्यून—लगभग सात आठ बूंद हो सकता है।

सीमान्त उपयोगिता के ह्रास के नियम के अनुसार यह भी आवश्यक है कि जिस व्यक्ति का हम अध्ययन कर रहे है उसकी रुचि, आदत

और आर्थिक स्थिति इत्यादि में कोई परिवर्त्तन न हो। मास की उपयोगिता एक ब्राह्मण के लिए बिल्कुल शून्य है परन्तु यदि उसके सेवन का रिवाज उस जाति में हो जाता है तो उसकी उपयोगिता उस जाति के लिए बढ जायेगी। इसी तरह यदि एक व्यक्ति जिसको इमरती स्वादिष्ट नही लगती थी उस वस्तु को अब पसन्द करने लग जाय तो इमरती की उपयोगिता उसके लिए बढ जायेगी। बीडी-सिगरेट का सेवन न करने वाले को इन वस्तुओ के उपयोग की आदत पडने पर इनकी उपयोगिता बढ़ जायेगी। आर्थिक स्थिति के परिवर्त्तन से भी ऐसा ही परिणाम हो सकता है। एक अध्यापक के लिए मोटर की उपयोगिता में अधिक आय होने पर वृद्धि हो सकती है। ऐसे ही मजदूरो के लिए दूध या घी की उपयोगिता उनकी आय में वृद्धि होने से बढ सकती है।

अब हम इस नियम को एक उदाहरण देकर समझायेंगे। मान लीजिये कि एक व्यक्ति रोटियो का, जो बराबर और एक सी है, उपभोग करता है और पहली रोटी के उपभोग से उसको छ आने के बराबर उपयोगिता प्राप्त होती है और दूसरी रोटी के उपभोग से चार आने के बराबर। दूसरी रोटी की उपयोगिता पहली की अपेक्षा कम है क्योकि पहली रोटी का सेवन करने से उसकी रोटियो की आवश्यकता की तीव्रता कम हो जाती है। इसी तरह तीसरी, चौथी इत्यादि रोटियो का उपभोग करने से क्रमशः घटती हुई उपयोगिता प्राप्त होगी। मान लीजिये कि उस व्यक्ति को तीसरी रोटी से दो आने, चौथी रोटी से एक आने और पाँचवी से शून्य के बराबर उपयोगिता प्राप्त होती है। पाँचवी रोटी से कुछ भी उपयोगिता प्राप्त नही होने का कारण यह है कि चार रोटियो का उपभोग करने के उपरान्त उस व्यक्ति की रोटियो की आवश्यकता की लगभग पूर्ण सन्तुष्टि हो जाती है और वह पाँचवी रोटी का उपभोग तभी करेगा जब वह उसे मुफ्त प्राप्त हो। यदि अब उसे छठी रोटी खाने के लिए कहा जाय तो वह उसे खाने के लिए तय्यार न होगा। इसके खाने से तो उसको कष्ट ही होगा क्योकि उसकी रोटियो की आवश्यकता की पूर्ति पहले ही हो चुकी है। मान लीजिये यह कष्ट एक आने के बराबर होता है तो हम कह सकते है कि छठी रोटी की उपयोगिता-१ आना है या इस प्रकार कहिये कि उसकी अनुपयोगिता एक आने के बराबर है। सातवी रोटी खाने से उसे और अधिक कष्ट होगा और उसकी अनुपयोगिता तीन आने के बराबर मानी जा सकती है। दूसरे शब्दो में यूँ कहा जा सकता है कि वह छठी और सातवी रोटी का उपभोग तभी करेगा जब उसको रोटी ही केवल मुफ्त न मिले बल्कि उसके साथ एक आना और तीन आना क्रमानुसार उसको दिया

जाय। नीचे के कोष्ठक से उसको विभिन्न रोटियो से प्राप्त हुई उपयोगिता स्पष्ट होती है.—

रोटियों की इकाई	प्राप्त उपयोगिता
१	६ आने
२	४ ,,
३	२ ,,
४	१ ,,
५	० ,,
६	−१ ,,
७	−३ ,,

इस कोष्ठक को उपयोगिता का कोष्ठक (Utility Schedule) कहते है। इसको नीचे दिये ग्राफ द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है.—
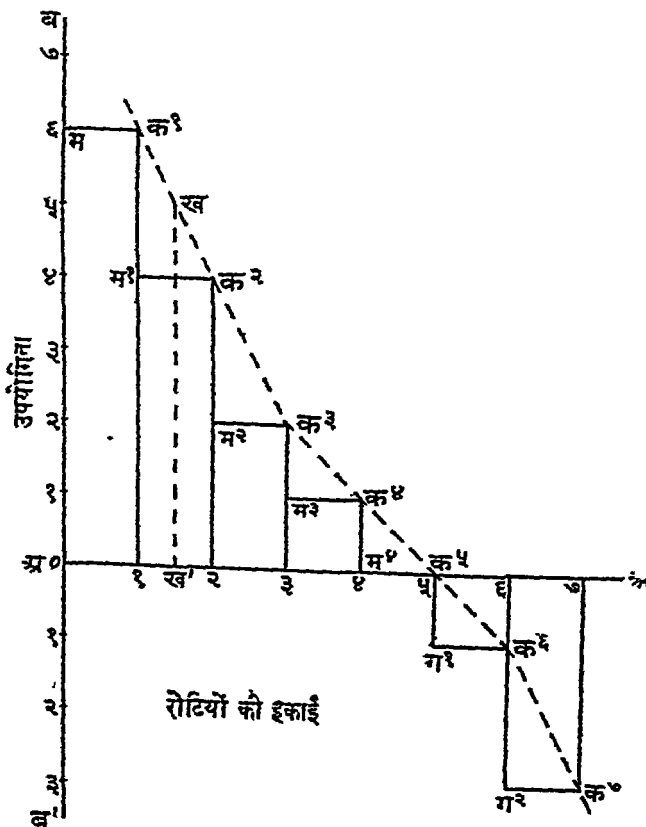
अ अ' पर रोटियो की इकाई नापी गई है और अ ब पर प्राप्त

होनेवाली धन उपयोगिता और अ ब' पर ऋण उपयोगिता नापी गई है। पहली रोटी से ६ आने के वरावर उपयोगिता प्राप्त होती है अतः ग्राफ मे यह बात क^1 विन्दु से दिखाई गई है। इसी तरह क^2, क^3, क^4, क^5, क^6, क^7 विन्दुओं से दूसरी, तीसरी, चौथी, पाँचवी, छठी और सातवी रोटियो से क्रमानुसार प्राप्त हुई उपयोगिता दिखाई गई है। इन विन्दुओ को मिला देने से रोटियो की उपयोगिता की वक्ररेखा क^{1}क^7 वनती है। रेखाचित्र द्वारा प्राप्त उपयोगिता का निरूपण करने में एक कमी रह जाती है। मान लीजिये कि हम एक विन्दु ख' पहली और दूसरी रोटी के बीच मे लेते है। यदि ख' से ख ख' अ ब के समानान्तर खीची जाय तो वह क^1 क^2 वक्ररेखा को स विन्दु पर काटती है। इससे यह प्रतीत होगा कि यदि एक रोटी के वाद आधी रोटी खाई जाय तो उसकी उपयोगिता स' स के वरावर है। परन्तु यह भूल है क्योंकि हमारे उदाहरण मे तो रोटियो की इकाई का उचित परिमाण एक है और वह व्यक्ति एक एक इकाई मे रोटियो का उपभोग करता है। इस भूल का परिणाम अधिक स्पष्ट हो जायेगा यदि हम रोटियो की अपेक्षा जूता, चश्मा या मोटर का उदाहरण ले। इन वस्तुओ का $\frac{1}{2}$ या $\frac{1}{4}$ या $\frac{1}{3}$ कोई अर्थ नही रखता; क्योकि $\frac{1}{2}$ जूता, चश्मा या मोटर विल्कुल वेकार है। इसी तरह $\frac{1}{2}$ रोटी का हम विचार ही नही कर सकते जव कि हमारे उदाहरण में रोटियो की इकाई का उचित परिमाण एक रोटी है। इसी कारण सीमान्त उपयोगिता के ह्रास के नियम के अधीन वने कोष्ठक का वक्ररेखा द्वारा निरूपण नही करना चाहिए और यदि करें तो इस वात का ध्यान रखे कि उस वक्ररेखा मे केवल पूरी इकाइयो के विन्दुओ के ही कुछ अर्थ होते है। अस्तु, ऐसे कोष्ठक का निरूपण आयत द्वारा करना ही अधिक उचित है। म क^1, म^1 क^2, म^2 क^3, म^3 क^4, ग^1 क^5, ग^2 क^6 आयत द्वारा ही उक्त लिखित कोष्ठक का निरूपण किया गया है। यहाँ यह वतला देना आवश्यक है कि वक्ररेखा द्वारा निरूपण करने की रीति में जो कमी है वह उस पर निर्भर नही कि वस्तु विभाज्य है या अविभाज्य; क्योकि सीमान्त उपयोगिता के ह्रास के नियम के अनुसार वस्तु की इकाई उचित परिमाण में होनी चाहिए जो सदा समान रहे। आयताकार क्षेत्र इस वात को दर्शाता है कि इकाई की मात्रा अपरिवर्त्तनशील और निश्चित है। वक्ररेखा के द्वारा इस वात का स्पष्टीकरण नही होता।

कुछ लेखक ऐसा कहते है कि सीमान्त उपयोगिता के ह्रास के नियम के अन्य अपवाद है। अव हम उन पर विचार करेगे। कहा जाता है कि टेलीफून एक ऐसा अपवाद है। यदि आपके घर में एक टेली-फून लगा हुआ है तो जैसे जैसे अधिक व्यक्तियो के घरो या दूकानो पर टेलीफून लगते है तो आपके टेलीफून की उपयोगिता वढती जाती है

क्योकि अब आप अधिक व्यक्तियो से टेलीफून पर वात कर सकते है। यह विल्कुल सत्य है पर यह नियम का अपवाद नही। नियम तो केवल इतना ही कहता है कि यदि आपके पास एक टेलीफून है तो उसकी उपयोगिता दूसरे टेलीफून से अधिक होगी। उक्त लिखित उदाहरण में इस बात का मिलान न करके कुछ दूसरी ओर ही ध्यान आर्कार्षित किया गया है। इस उदाहरण मे तो यह वताया गया है कि यदि १०० व्यक्तियो के पास टेलीफून हो तो आप उन १०० व्यक्तियो से ही बातचीत कर सकते है और जब ११० व्यक्तियो के पास टेलीफून है तो आप अधिक व्यक्तियो से अपने टेलीफून पर बातचीत कर सकते है। इसी कारण पहली स्थिति मे टेलीफून की उपयोगिता कम है। इस उदाहरण मे एक ओर तो विवेचित वस्तु एक ऐसा टेलीफून है जिससे १०० व्यक्तियो से बातचीत की जा सकती है और दूसरी ओर ऐसा टेलीफून है जिससे ११० व्यक्तियो से बातचीत की जा सकती है। यह दोनो विभिन्न वस्तुएँ है और नियम तो केवल समान वस्तुओ के उपभोग पर ही लागू होता है।

कभी कभी यह भी कहा जाता है कि वस्तु की इकाई की मात्रा अधिक न्यून हो तो प्रारभ मे प्राप्त उपयोगिता में वृद्धि होती है, जैसे, यदि पीने को एक एक बूंद पानी मिले और जलाने को एक एक कोयला तो प्रारभ मे प्राप्त उपयोगिता की वृद्धि होगी, क्योकि एक बूंद पानी और एक कोयला तो व्यर्थ सी ही वस्तु है परन्तु जव आपके पास एक एक बूंद एकत्रित कर कुछ पानी इकट्ठा हो जाता है तो उससे प्यास बुझ सकती है। यह भी नियम का अपवाद नही है क्योकि यहाँ वस्तु की इकाई का परिमाण उचित मात्रा से अत्यधिक न्यून है।

ऐसा भी कहा जाता है कि शराब व अन्य मादक वस्तुओ के सेवन में कुछ उपभोग करने के उपरात उन वस्तुओ की आवश्यकता की तीव्रता बढ जाती है और इस कारण प्राप्त उपयोगिता में कुछ समय तक क्रमश वृद्धि होती है। पहले तो इस वात पर ध्यान रखना आवश्यक है कि इन वस्तुओ की इकाई का उचित परिमाण विभिन्न व्यक्तियो के लिए विभिन्न होगा। एक साधारण मनुष्य के लिए यह एक या आधी छटाँक हो सकता है जव कि एक शराबी के लिए एक पाव या आधा सेर होगा। जिस व्यक्ति के लिए इन वस्तुओ का उचित परिमाण आधा सेर है उसको यदि एक एक छटाँक शराव दी जायेगी तो उसको उक्त लिखित पानी के उदाहरण की तरह वढती हुई उपयोगिता प्राप्त हो सकती है। दूसरे, ऐसे उदाहरणो मे इस बात पर भी ध्यान रखना आवश्यक है कि, हो सकता है इन वस्तुओ की एक इकाई के उपभोग के उपरात उपभोक्ता की स्थिति

मे परिवर्त्तन हो जाता हो तो यह नियम का अपवाद नही होता परन्तु परिवर्त्तित स्थिति के कारण नियम का लागू होना स्थगित कर दिया जाता है।

कुछ लोगो का यह मत है कि यह नियम अद्भुत, दुर्लभ या विचित्र वस्तुओ के लिए लागू नही होता, जैसे यदि एक व्यक्ति को सिक्के, टिकट, हस्ताक्षर एकत्रित करने की अभिरुचि (hobby) हो तो जैसे-जैसे उसका भडार वढता जाता है वैसे ही शेष नमूना की उपयोगिता वढती जाती है क्योकि उसका भडार पूर्ण होने में क्रमश घटते हुए नमूनो की आवश्यकता रह जाती है। यह लोग भूल जाते है कि प्रत्येक नमूना विभिन्न वस्तु है और नियम तो समान वस्तुओ के उपभोग पर ही लागू है। यदि उक्त लिखित व्यक्ति के पास अशोक सम्राट् का एक सिक्का हो तो विल्कुल वैसे ही दूसरे, तीसरे इत्यादि सिक्को की उपयोगिता उस व्यक्ति के लिए क्रमश घटती जायेगी। इसी तरह यदि उसके पास एक विशेप प्रकार का टिकट है तो वैसे ही दूसरे टिकट की उपयोगिता कम होगी और यदि उसके पास महात्मा गाधी का एक हस्ताक्षर है तो महात्मा जी के दूसरे हस्ताक्षरो की उपयोगिता पहले की अपेक्षा कम होगी।

कुछ लेखको के अनुसार धन और शक्ति की वृद्धि से उनकी उपयोगिता वढती जाती है। यह तो सच है कि शक्ति या धन से प्राप्त होने वाली कुल उपयोगिता इनकी वढती हुई मात्रा से वढती है परन्तु नियम के अनुसार तो सीमान्त उपयोगिता का ह्रास होता है। प्रत्येक मनुष्य के लिए पहला रुपया दूसरे से अधिक आवश्यक है, दूसरा रुपया तीसरे से और तीसरा रुपया चौथे से अधिक आवश्यक है, इत्यादि। क्योकि पहले रुपये से उसकी सवसे तीव्र आवश्यकता की पूर्ति होती है और दूसरे रुपये से उससे कम तीव्र आवश्यकता की। इसी तरह शक्ति के पहले अश की उपयोगिता दूसरे अश से अधिक होती है क्योकि पहला अश शक्ति की सवसे तीव्र आवश्यकता की पूर्ति करता है और दूसरा अश उससे कम तीव्र आवश्यकता को।

यह भी कहा जाता है कि कुछ कविताएँ, सगीत या सिनेमा के गीत को वार वार सुनने से वढती हुई उपयोगिता प्राप्त होती है। यह सच है कि प्रत्येक व्यक्ति अनेक वार यह अनुभव करता है कि किसी सगीत इत्यादि को एक वार सुनने से उसकी आवश्यकता की पूरी सन्तुष्टि नही होती। यह तो अनेक वस्तुओ के लिए सत्य है, एक ही रोटी खाने मे भूख तो नही मिट जाती और न एक कमीज वनवा लेने से कमीजो की आवश्यकता की पूर्ण सन्तुष्टि ही होती है। आप वार वार एक ही गीत इसलिए सुनते है कि एक वार सुनने के उपरान्त उस गीत की उपयोगिता शून्य नही हो जाती, परन्तु जव आप कई वार लगातार उसी गीत को सुन

चुकते है तो आप उसके सुनने से थक जाते है और फिर उसको उस समय सुनना नही चाहते। क्योकि जब उस सगीत के सुनने की आवश्यकता की पूर्ण सन्तुष्टि हो जाती है तो उस समय उस सगीत को फिर सुनने की उपयोगिता शून्य हो जाती है। चाहे कुछ समय के उपरात उस आवश्यकता का फिर उदय हो जाय। साराश यह है कि उसी सगीत को लगातार सुनने से आरभ में उपयोगिता अधिक प्राप्त होती है और अत में शून्य। अर्थात् जैसे जैसे आप उस गीत को बार बार लगातार सुनते हैं वैसे वैसे उस गीत से प्राप्त होने वाली उपयोगिता का ह्रास होता है। इसके अतिरिक्त ऐसा भी होता है कि आप उस गीत को आज सुनते हैं और दूसरी बार कुछ घण्टे या दिनो के उपरात। इस दशा मे यह हो सकता है कि पहली बार आपको कम उपयोगिता प्राप्त हो और दूसरी बार अधिक। यह नियम का अपवाद नही। नियम के लागू होने के लिए यह आवश्यक है कि उपभोग की क्रिया अविच्छिन्न हो ।

कुछ अर्थशास्त्री यह भी कहते है कि नियम तभी लागू होता है जब वस्तु के मूल्य में कोई परिवर्त्तन न हो । उनका कथन है कि यदि किसी वस्तु का मूल्य बढ जायेगा तो उसकी माँग घट जायेगी और उसकी उपयोगिता भी। और यदि उस वस्तु का मूल्य घट जायेगा तो लोग उसको अधिक मात्रा मे खरीदेगे और उसकी उपयोगिता भी उनके लिए बढ जायेगी। यह मत ठीक नही। यदि मूल्य बढ जाता है तो आप बढे हुए मूल्य पर अवश्य कम मात्रा मे वह वस्तु खरीदते हैं और जब मूल्य घट जाता है तो अधिक मात्रा में। अर्थात् मूल्य के परिवर्त्तन से तो वस्तु की खरीदी मात्रा में परिवर्त्तन होता है, उपयोगिता में नही। पृष्ठ ८८ के उदाहरण मे यदि रोटियो का मूल्य दो आने है तो वह व्यक्ति तीन रोटियाँ खरीदेगा। अब यदि मूल्य बढ कर चार आने हो जाता है तो वह दो रोटियाँ ही खरीदेगा और यदि मूल्य घटकर एक आना ही रह जाता है तो वह चार रोटियाँ खरीदेगा। परन्तु इस मूल्य परिवर्त्तन से उपयोगिता में तो कोई परिवर्त्तन नही होता।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सीमान्त उपयोगिता के ह्रास के नियम का कोई अपवाद नही। यह नियम प्रत्येक व्यक्ति पर प्रत्येक समय लागू होता है । गुरुत्वाकर्षण का नियम (Law of Gravitation) यह कहता है कि पृथ्वी प्रत्येक वस्तु को अपने केन्द्र की ओर आकर्षित करती है और सब वैज्ञानिक इस बात पर सहमत है कि इस नियम का कोई अपवाद नही। परन्तु क्या आपने एक हवाई जहाज या गुब्बारे को नीचे गिरने की अपेक्षा हवा मे ऊपर जाते नही देखा? इसी प्रकार जब मेज पर एक गिलास पानी रखा है तो वह नीचे जमीन पर क्यों नही

गिरता और जब आप उस गिलास को पानी पीने के लिए उठाते है तो वह नीचे गिरने की अपेक्षा आपके होंठो के पास क्यो जाता है? यह उदाहरण गुरुत्वाकर्षण के नियम के अपवाद नही परन्तु प्रत्येक उदाहरण मे कोई ऐसी शक्ति काम करती है जिसके कारण नियम के लागू होने पर भी वस्तुएँ पृथ्वी पर नही गिरती। इसी तरह अनेक वार कुछ उपभोग की क्रियाओ मे ऐसा प्रतीत होता है कि सीमान्त उपयोगिता के ह्रास का नियम लागू नही हो रहा है जब कि वास्तव में वह लागू है परन्तु कुछ प्रतिगामी शक्तियो के कारणो के प्रभाव से ही उपयोगिता बढती हुई प्रतीत होती है।

इस नियम का अर्थशास्त्र में अत्यधिक महत्व है। यह इस शास्त्र का वह प्रारम्भिक नियम है जिस पर अनेक अन्य नियम आधारित है। समसीमान्त उपयोगिता का नियम इसी पर निर्भर है, इसी तरह माँग के नियम का भी यही मूल है। 'राजस्व' के खण्ड मे हम यह वतायेंगे कि इसी नियम से हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि धन और साधनो की असमानता की घटती हुई मात्रा से समाज को अधिक लाभ है।

सीमान्त उपयोगिता (Marginal Utility)

अव यह समझाना आवश्यक है कि सीमान्त उपयोगिता का ठीक ठीक क्या अर्थ है। जब एक व्यक्ति किसी वस्तु की कुछ इकाइयो का उपयोग करने के वाद आगे उपभोग करना रोक देता है तो इन उपभोग की गई इकाइयो में से अन्तिम इकाई को ही उस वस्तु की सीमान्त इकाई कहते है और इस इकाई से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता ही उस वस्तु की सीमान्त उपयोगिता कहलाती है। यदि वह किसी वस्तु की चार इकाइयो का उपभोग करने के उपरान्त उस वस्तु का उस समय और उपभोग नही करता तो यह चौथी इकाई ही सीमान्त इकाई है और इससे प्राप्त हुई उपयोगिता सीमान्त उपयोगिता। यदि वह दो इकाइयो का उपभोग करने के उपरान्त ही उस वस्तु का उपभोग रोक देता है तो ऐसी स्थिति में उस वस्तु की दूसरी इकाई सीमान्त इकाई होगी और उससे प्राप्त होने वाली उपयोगिता सीमान्त उपयोगिता। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु की सीमान्त इकाई दूसरी या चौथी या सातवी इकाई ही नही होती वल्कि कोई सी भी इकाई सीमान्त इकाई हो सकती है। अर्थात् सीमान्त इकाई एक निश्चित इकाई नही परन्तु यह उपभोग की इकाइयो की मात्रा पर ही निर्भर है। जब आप किसी वस्तु को खरीदते या एकत्रित करते है, तो उस वस्तु की कुल खरीदी हुई या एकत्रित की गई हुई इकाइयो में अन्तिम इकाई ही सीमान्त इकाई कहलाती है और उससे प्राप्त हुई उपयोगिता सीमान्त उपयोगिता। यदि आप पाँच नारंगियाँ

खरीदते हैं तो पाँचवीं नारंगी की उपयोगिता सीमान्त उपयोगिता हुई और यदि दो ही खरीदते हैं तो दूसरे की। सीमान्त उपयोगिता शून्य और ऋण भी हो सकती है। पृष्ठ ८८ के उदाहरण में यदि आप पाँच रोटियों का उपभोग करें तो सीमान्त उपयोगिता पाँचवीं रोटी से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता होगी जो शून्य है। यदि आप छ: रोटियों का उपभोग करते हैं तो छठी रोटी सीमान्त इकाई हुई जिसकी अनुपयोगिता एक है। जब आप किसी वस्तु का अविच्छिन्न उपभोग करते हैं तो उस वस्तु की विभिन्न इकाइयों से प्राप्त हुई उपयोगिता में क्रमश: ह्रास होता जाता है और आप साधारणत: उस वस्तु का उपभोग शून्य उपयोगिता से पहले ही रोक देते हैं क्योंकि संसार में वस्तुएँ मुफ्त नहीं मिलतीं। पृष्ठ ८८ के उदाहरण में यदि आप पाँचवीं रोटी का उपभोग करते हैं तो उससे उपयोगिता तो कुछ भी प्राप्त नहीं होती परन्तु उसका मूल्य तो आपको देना ही होगा। इसलिए पाँचवीं रोटी के उपभोग करने से तो आपको हानि होती है और आप उसका उपभोग नहीं करेंगे। आप पाँचवीं रोटी का उपभोग तो तभी करेंगे जब वह आपको मुफ्त में मिले और छठी का तभी जब रोटी ही केवल मुफ्त में न मिले परन्तु उसके साथ आपको एक आना भेंट भी किया जाय। ऐसा हो सकता है कि जब रोटियों का मूल्य एक आना प्रति रोटी हो, आप भूल से पाँच रोटी खा जायँ और आपको पाँचवीं रोटी खाने से एक आने की हानि हो। परन्तु आप जान-बूझकर पाँचवीं रोटी का उपभोग कदापि न करेंगे। भूल इस कारण हो जाती है कि उपभोग से पहले कभी आप उस इकाई से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता का ठीक ठीक अनुमान नहीं लगा पाते। यह साधारण अनुभव की बात है कि जब आप किसी दावत में जाते हैं जहाँ बड़ा स्वादिष्ट भोजन बना हो तो खूब ठूँस-ठूँस कर खाते चले जाते हैं और अन्त में पछताते हैं. "अरे भाई, आज तो बहुत खा गये इस कारण पेट फटा जा रहा है।" इस कष्ट को दूर करने के लिए किसी चूर्ण इत्यादि का सेवन करते हैं। ऐसी स्थिति में जब आप भोजन कर रहे हों तब तो आप यही विचार करते हैं कि भोजन की इकाइयों की उपयोगिता अभी शून्य नहीं हुई है और खाना तभी रोकते हैं जब आप यह सोचते हैं कि भोजन की अन्तिम इकाई की उपयोगिता शून्य प्रतीत होती है। परन्तु कुछ ही देर बाद आपको यह अनुभव होता है कि अन्तिम इकाइयों की उपयोगिता का खाते समय आपने ठीक ठीक अनुमान नहीं लगाया था।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि कोई व्यक्ति किसी वस्तु की कितनी इकाइयाँ खरीदता या उपभोग करता है यह उस वस्तु के मूल्य और उससे प्राप्त हुई उपयोगिता पर निर्भर है। पृष्ठ ८८ के उदाहरण

में यदि रोटियों का मूल्य दो आना प्रति रोटी है तो वह तीन रोटियों का उपभोग करेगा और जब मूल्य एक आना है तब चार का, अर्थात् मूल्य कम होने पर उपभोग की मात्रा में वृद्धि होती है। इसी प्रकार जब मूल्य एक आना है परन्तु प्राप्त उपयोगिता चौथी रोटी से डेढ़ आना और पांचवीं से एक आना है तो वह पांच रोटियों का उपभोग करेगा। परन्तु जब पांचवीं रोटी की उपयोगिता शून्य है तो वह उसका उपभोग नहीं करता।

इस स्थान पर यह समझाना आवश्यक है कि जब आप चार रोटियो का उपभोग करते है या चार रोटियाँ खरीदते है तो चौथी रोटीसी मान्त रोटी हुई और उससे प्राप्त होनेवाली उपयोगिता सीमान्त उपयोगिता, परन्तु इन चारो मे से कौन-सी रोटी चौथी या सीमान्त रोटी है? यह तो माना ही हुआ है कि चारो रोटियाँ समान है और इस कारण से कोई सी भी रोटी चौथी या सीमान्त रोटी हो सकती है। यदि हम इन रोटियो को अ, ब, स, द, नाम दे दें तो आप यदि अ, ब, स पहले खरीदते या उपभोग करते है तो चौथी रोटी द हो जायेगी और यदि आप पहले ब, स, द खरीदें या उपभोग करें तो अ सीमान्त रोटी हो जायेगी। सच तो यह है कि क्योकि चारो रोटियाँ एक सी है आप कोई सी भी तीन पहले खरीद या उपभोग कर सकते है और अ, ब, स और द कोई सी भी सीमान्त रोटी हो सकती है। इस कारण हम इस परिणाम पर पहुँचे कि जब तक चारो रोटियाँ साथ है हम यह नही बता सकते कि इन चारो में से कौन सी चौथी या सीमान्त रोटी है क्योकि कोई भी रोटी सीमान्त रोटी हो सकती है। इसलिए कौन सी विशेष रोटी चौथी है इसका पता तभी लग सकता है जब हम तीन रोटियो का उपभोग कर चुकें तो बची हुई चौथी रोटी ही सीमान्त रोटी है और कोई भी नही। यदि हम अ, ब, द रोटियाँ खा चुकते है तो स ही सीमान्त रोटी है। इसी तरह यदि हम चार रोटियाँ एक साथ खरीदे तो कोई सी भी सीमान्त रोटी हो सकती है परन्तु यदि हम दूकानदार से तीन रोटियाँ मोल ले लें और उसके क्षण बाद ही चौथी रोटी लें तो यही रोटी चौथी रोटी कहलायेगी। परन्तु जैसे ही हम चार रोटियाँ खरीद चुकें तो उनमें से कोई सी भी चौथी हो सकती है। उक्त विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि यदि हम यह पता लगाना चाहते है कि किसी वस्तु की कौन सी विशेष इकाई सीमान्त इकाई है तो यह तभी बता सकते है जब उस वस्तु के एक ढेर में से जो हमारे पास है या जो हम खरीदते है या तो हम एक इकाई कम कर दें या एक इकाई और जोड दें तो यह कम की गई हुई या जोडी हुई इकाई ही सीमान्त इकाई है। जैसे ही

इस इकाई को ढेर मे मिला दिया जाता है तो इसकी विशेषता समाप्त हो जाती है और उसके ढेर में मिलने के बाद कोई सी भी इकाई सीमान्त इकाई हो सकती है क्योकि वस्तु की प्रत्येक इकाइयाँ समान है। इसी तरह जब आपके सामने पाँच रोटियो का ढेर रखा है और आपको उनका उपभोग करना है तो उनमे से कोई सी भी रोटी पहली, दूसरी से लेकर सीमान्त रोटी तक हो सकती है क्योकि सब रोटियाँ समान है परन्तु जब आप एक रोटी खा चुके तो वही रोटी पहली है और कोई सी नही। और जब आप दूसरी रोटी भी खा लेते है तो वही दूसरी हो जाती है और जब आप चार रोटियाँ खा चुकते है तो बची हुई रोटी ही पाँचवी या सीमान्त रोटी है और उससे प्राप्त होनेवाली उपयोगिता सीमान्त उपयोगिता। इस स्थिति मे और कोई सी भी रोटी सीमान्त रोटी नही हो सकती परन्तु जब आपके सामने पाँचो रोटियाँ रखी है तो कोई सी भी पाँचवी या सीमान्त रोटी हो सकती है। चार रोटी खाने के उपरात ही एक विशेष रोटी सीमान्त रोटी होती है।

सीमान्त उपयोगिता का अर्थशास्त्र में बडा महत्व है। आप एक वस्तु की कितनी इकाइयो का उपभोग या क्रय करते है यह सीमान्त उपयोगिता पर ही निर्भर है। यदि रोटियो का मूल्य दो आना है तो पृष्ठ ८८ में दिये उदाहरण के अनुसार आप तीन रोटियाँ ही खरीदेगे क्योकि चौथी रोटी का मूल्य प्राप्त होनेवाली उपयोगिता से अधिक है। ऐसी स्थिति में तीसरी रोटी से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता रोटियो की सीमान्त उपयोगिता हुई और आप न तीन से अधिक खरीदेंगे, न उपभोग करेगे। आप किसी भी वस्तु की विभिन्न इकाइयाँ खरीदते चले जायेंगे जब तक उससे प्राप्त हुई उपयोगिता मूल्य से अधिक है। अर्थात् आप सीमान्त उपयोगिता से अधिक मूल्य कदापि न देंगे। इस तरह कोई खरीददार या उपभोक्ता सीमान्त उपयोगिता से अधिक मूल्य नही देगा। 'अर्घ के सिद्धान्त' की व्याख्या करते समय हम बतलायेगे कि सीमान्त उपयोगिता का किसी वस्तु का अर्घ या मूल्य निश्चय करने में कितना महत्व है। साथ ही साथ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि सीमान्त इकाई किसी वस्तु के मूल्य पर ही निर्धारित है। पृष्ठ ८८ के उदाहरण में यदि रोटियो का मूल्य दो आना प्रति रोटी है तो आप तीन रोटियाँ खरीदेंगे और तीसरी रोटी सीमान्त रोटी हुई। यदि रोटियो का मूल्य एक आना प्रति रोटी है तो आप चार रोटियाँ खरीदेंगे और चौथी रोटी सीमान्त रोटी हुई और सीमान्त उपयोगिता एक आने के बराबर। इससे हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि सीमान्त उपयोगिता का मूल्य को निर्धारित करने में बड़ा महत्व है और सीमान्त उपयोगिता मूल्य पर ही निर्भर है।

कुल उपयोगिता* (Total Utility)

यदि आप किसी वस्तु की कुछ इकाइयाँ खरीदे या उपभोग करें तो उन विभिन्न इकाइयो की उपयोगिता का जोड ही उस वस्तु की कुल इकाइयो की कुल उपयोगिता हुई। जैसे पृष्ठ ८८ के उदाहरण मे यदि आप तीन रोटियाँ खरीदते या उपभोग करते है तो रोटियो की कुल उपयोगिता ६+४+२=१२ आने के बराबर हुई। और यदि आप चार रोटियाँ उपभोग करते है तो कुल उपयोगिता ६+४+२+१=१३ आने के बराबर हुई। और यदि आप पाँच रोटियाँ खरीदते है तो कुल उपयोगिता ६+४+२+१+०=१३ आने के बराबर हुई। जब आप छ रोटियाँ खरीदते है तो कुल उपयोगिता ६+४+२+१+० (−१) =६+४+२+१+०−१=१२ आने के बराबर हुई। उक्त विवरण से यह परिणाम निकलता है कि जैसे जैसे किसी वस्तु की इकाइयो के उपभोग या क्रम में वृद्धि होती है वैसे ही कुल उपयोगिता भी बढती जाती है परन्तु यह वृद्धि घटती हुई दर से होती है क्योकि क्रमानुसार उपभोग या प्राप्त होनेवाली इकाइयो की उपयोगिता घटती जाती है। परन्तु जब किसी इकाई की उपयोगिता शून्य हो जाती है तो कुल उपयोगिता मे वृद्धि नही होती। और जब उपभोग या प्राप्त होनेवाली इकाइयाँ इतनी बढ जाती है कि उनसे ऋण उपयोगिता (अर्थात् अनुपयोगिता) प्राप्त होती है तो कुल उपयोगिता भी घटने लगती है।

औसत उपयोगिता (Average Utility)

उपभोग या प्राप्त होनेवाली इकाइयो की कुल उपयोगिता को उन इकाइयो की सख्या से भाग देकर जो उपयोगिता प्राप्त हो, उसीको औसत उपयोगिता कहते है; अर्थात् औसत उपयोगिता = $\frac{\text{कुल उपयोगिता}}{\text{उपभोग या क्रय की गई इकाइयो की सख्या}}$।

पृष्ठ ८८ के उदाहरण में यदि आप तीन रोटियाँ खरीदते या उपभोग करते है तो कुल उपयोगिता ६+४+२=१२ आने के बराबर हुई और औसत उपयोगिता १२—३=४ आने के बराबर हुई। यदि आप चार रोटियाँ खरीदते है तो कुल उपयोगिता ६+४+२+१=१३ आने के बराबर हुई और औसत उपयोगिता १३—४=३¼ आने के बराबर। इसी तरह जब आप पाँच रोटियो का उपभोग करते है तो कुल उपयोगिता तेरह आने के बराबर हुई और औसत उपयोगिता १३—५=२⅗ आने के बराबर।

* पृष्ठ १०८ भी देखिये।

जब आप ८ रोटियाँ खरीदते हैं तो कुल उपयोगिता १९ आने के बराबर हुई और औसत उपयोगिता १९÷८=[illegible] आने के बराबर। अर्थात् जैसे जैसे उपभोग की मात्रा बढ़ती जाती है वैसे वैसे सीमान्त उपयोगिता के समान औसत उपयोगिता भी कम होती जाती है।

उपयोगिता का नाप*

कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि उपयोगिता नापी नहीं जा सकती। प्रारम्भ में पैरेटो (Pareto) ने ही इस विचार की स्थापना की। प्रोफेसर रॉबिन्स (Robbins), हिक्स (Hicks) और एलन (Allen) इत्यादि भी यही कहते हैं कि उपयोगिता नापी नहीं जा सकती। उनका कथन है कि आप यह तो कह सकते हैं कि एक फाउन्टेन पेन की उपयोगिता आपको एक पेन्सिल से अधिक है, परन्तु कितनी अधिक है यह ठीक ठीक नहीं नापा जा सकता; क्योंकि उपयोगिता के नाप का कोई मान नहीं। हम किसी वस्तु की लम्बाई या चौड़ाई गजों में ठीक ठीक नाप सकते हैं। इसी तरह किसी वस्तु का वजन मनों या सेरों में तौला जा सकता है और किसी व्यक्ति का तापक्रम थर्मामीटर से नापा जा सकता है और हम यह मिलान कर सकते हैं कि इस व्यक्ति का तापक्रम किसी दूसरे व्यक्ति से कितना कम या अधिक है; परन्तु उपयोगिता को इस प्रकार नहीं नापा जा सकता।(*)

हम इस मत से सहमत नहीं और हमारे विचार में तो जिस प्रकार किसी वस्तु की लम्बाई या वजन नापा जा सकता है उसी प्रकार उसकी उपयोगिता भी। उपयोगिता के नाप से या तो हमारा उद्देश्य यह हो सकता है कि हम यह तय कर सकें कि कुछ भिन्न वस्तुओं में कौन-सी वस्तु की उपयोगिता अधिक है और किसकी कम; जैसे हम कह सकते हैं कि एक ताजी रोटी की उपयोगिता एक बासी और सूखी रोटी से हमारे लिए अधिक है। इस प्रकार उपयोगिता के नाप की सम्भावना तो उक्त लिखित मत वाले अर्थशास्त्री भी मानते हैं। परन्तु इस नाप से यह तो पता नहीं चलता कि एक अच्छी रोटी की उपयोगिता बुरी रोटी से कितनी अधिक है। इस बात का पता लगाने को हम उपयोगिता को

---

* इस विषय का विस्तार के साथ अध्ययन करने के लिए श्री जे० के० मेहता की Advanced Economic Theory पढ़िये।

(*) यहाँ यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि यदि उपयोगिता नापने के यन्त्र का आविष्कार नहीं हुआ है तो यह अर्थशास्त्र की त्रुटि नहीं, बल्कि भौतिक विज्ञानों की कमी है।

द्रव्य में नाप सकते है। जिस प्रकार प्रत्येक लम्बाई गजो में नापी जाती है और प्रत्येक वजन मनो मे नापा जाता है, उसी प्रकार उपयोगिता भी द्रव्य मे नापी जा सकती है। जब हम किसी कमरे की लम्बाई नापते है तो हम वास्तव में यही नापते है कि वह कमरा लम्बाई में एक गज की लम्बाई से कितना गुना लम्बा है। जब हम एक गेहूँ के बोरे को तोल कर पता लगाते है कि उसका वजन ढाई मन है तो हमारा यही तात्पर्य होता है कि इसमे इतना वजन है कि जितना एक एक मन के ढाई बाटो मे या एक एक सेर के १०० बाटो में। इसी तरह जब उपयोगिता का नाप द्रव्य मे किया जाता है और हम कहते है कि किसी एक व्यक्ति को एक विशेष वस्तु की उपयोगिता पाँच रुपया है तो हमारा तात्पर्य यही होता है कि उस वस्तु की उपयोगिता उसे इतनी ही है कि जितनी उपयोगिता उसे एक एक रुपये के पाँच सिक्को से प्राप्त होगी। अर्थात् हम किसी वस्तु की किसी व्यक्ति के लिए उपयोगिता द्रव्य की मात्रा से मिलाते है जैसे हम किसी वस्तु की लम्बाई गज की लम्बाई से या किसी वस्तु का वजन एक मन के वजन से मिलान करते है। उपयोगिता का नाप हम द्रव्य की अपेक्षा किसी वस्तु में भी कर सकते है जैसे हम कह सकते है कि एक फाउन्टेन पेन की उपयोगिता हमारे लिए एक मन गेहूँ (की उपयोगिता) के बराबर है और एक मोटर की उपयोगिता हमारे लिए तीन सौ मन गेहूँ (की उपयोगिता) के बराबर है। परन्तु उपयोगिता के नाप के लिए सबसे अच्छी वस्तु द्रव्य है। जैसे आप प्रत्येक वस्तु की लम्बाई एक आदमी या बच्चे या पशु की लम्बाई से भी नाप सकते है अर्थात् आप कह सकते है कि अमुक मेज की लम्बाई एक गाय की लम्बाई के बराबर है और अमुक कमरे की लम्बाई साढे चार गायो की लम्बाई के बराबर। परन्तु माप का यह मान इतना सरल और सुगम नही जितना कि एक गज है। इसी तरह गेहूँ, गाय, बकरी या अन्य वस्तु उपयोगिता के नाप के इतने सरल व सुगम साधन नही। यदि हम इस प्रकार कहें कि आपके लिए अमुक वस्तु की उपयोगिता दस मन गेहूँ के बराबर है और दूसरे व्यक्ति के लिए उसी वस्तु की उपयोगिता पाँच मन गेहूँ के बराबर है तो यह आवश्यक नही कि उस वस्तु की उपयोगिता आपके लिए दूसरे व्यक्ति से दुगुनी हो। सम्भव है कि उस वस्तु की उपयोगिता आपके लिए दस मन घुने और सुले गेहुँओ के बराबर हो जब कि दूसरे व्यक्ति के लिए पाँच मन श्रेष्ठ शर्बती गेहुँओ के बराबर। इसी तरह यह भी सम्भव है कि आप गेहुँओ की अपेक्षा चावल अधिक पसन्द करते हो और इसी कारण आप उस वस्तु के लिए दस मन गेहूँ देने को तय्यार हो। दूसरा व्यक्ति चावलो की अपेक्षा गेहूँ अकिध

पसन्द करता हो और इसी कारण उस वस्तु के लिए वह केवल पाँच मन गेहूँ ही देने को तय्यार हो परन्तु चावलो की मात्रा (जो उसे कम पसन्द हैं) वह आपके वरावर देने को तय्यार हो। ऐसी दशा में यदि उस वस्तु की उपयोगिता गेहूँ मे नापी जाती है तो ऐसा प्रतीत होता है कि आपकी उपयोगिता दूसरे व्यक्ति से दूनी है और जव उपयोगिता का नाप चावलो में करते है तो ऐसा प्रतीत होता है कि आप दोनो को उस वस्तु की उपयोगिता वरावर है। ऐसी ही कठिनाइयो को पार करने के लिए उपयोगिता के नाप का मान द्रव्य माना जाता है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि जव हम यह कहते हैं कि अमुक वस्तु की अमुक व्यक्ति के लिए आठ आने के वरावर उपयोगिता है तो हमारा तात्पर्य यह होता है कि वह उस वस्तु को प्राप्त करने के लिए आठ आने देने को तय्यार है। इसका यह भी अर्थ है कि जव उसके सामने यह निर्वाचन समस्या है कि या तो आठ आने ले ले या वह वस्तु ले ले तो वह उस वस्तु को ही प्राप्त करना चाहेगा। इस स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जव उस वस्तु की उपयोगिता आठ आने के वरावर है तो वह आठ आने की अपेक्षा उस वस्तु को ही लेना क्यो पसन्द करता है? वह उस वस्तु को ले या आठ आने को ले उसकी स्थिति में कोई अन्तर नही आता। यह विल्कुल सत्य है। परन्तु यहाँ यह वतला देना आवश्यक है कि साधारणत जव अर्थशास्त्र में हम यह कहते हैं कि अमुक वस्तु की उपयोगिता अमुक व्यक्ति के लिए आठ आने के वरावर है तो हमारा तात्पर्य वास्तव में यह होता है कि उस वस्तु की उपयोगिता उस व्यक्ति के लिए आठ आने की उपयोगिता से कम नहीं वरन् कुछ अशो में अधिक ही है और इसी कारण वह आठ आने की अपेक्षा उस वस्तु को प्राप्त करना उचित समझता है।*

अभ्यास के प्रश्न

१ सीमान्त उपयोगिता के ह्रास के नियम को समझा ये। क्या इस नियम में कुछ अपवाद है?

२. सीमान्त उपयोगिता, कुल उपयोगिता और औसत उपयोगिता में अन्तर समझाइये।

---

*-यदि हमें किसी वस्तु की एक व्यक्ति के लिए उपयोगिता द्रव्य में नापनी है तो हम उस वस्तु को उस व्यक्ति के सामने उपस्थित कर सकते है और यह अनुमान लगा सकते हैं कि वह उस वस्तु को प्राप्त करने के लिए अधिक से अधिक कितना द्रव्य देने को तय्यार है। यदि एक व्यक्ति पहली रोटी के लिए ८ आने देने को तय्यार है परन्तु ९ आने देने को तय्यार नहीं है तो पहली रोटी की उपयोगिता उसके लिए ८ आने के वरावर हुई। इसी प्रकार अन्य रोटियो की उपयोगिता भी नापी जा सकती है।

अध्याय ११

समसीमान्त उपयोगिता का नियम

(Law of Equi-marginal Utility)

मनुष्य के लिए स्वाभाविक है कि वह अपने सीमित साधनो से अधिक से अधिक सुख प्राप्त करना चाहता है और इसी कारण वह उन साधनो को उन वस्तुओ पर व्यय करता है जिनसे उसको अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है। मान लीजिये कि एक व्यक्ति को सबसे अधिक उपयोगिता गेहूँ मे प्राप्त होती हो परन्तु गेहूँ की विभिन्न मात्राओ की उपयोगिता के क्रमश ह्रास के कारण वह अपने सारे साधन केवल गेहूँ की प्राप्ति मे ही नही लगा देता बल्कि कुछ मात्रा में गेहूँ प्राप्त करने के उपरात वह कुछ अन्य वस्तुएँ लेना चाहता है जिनकी पहली इकाई से गेहूँ की पहली इकाई की अपेक्षा कम उपयोगिता प्राप्त होती है, अर्थात् वह सीमान्त उपयोगिता के ह्रास के नियम के कारण एक वस्तु की कुछ मात्रा प्राप्त करने के बाद उस वस्तु की अपेक्षा दूसरी अन्य वस्तुएँ प्रतिस्थापित करता है। प्रतिस्थापन के नियम (Law of Substitution) के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति एक वस्तु की अपेक्षा दूसरी और दूसरी वस्तु की अपेक्षा तीसरी इत्यादि वस्तुएँ प्राप्त करना पसन्द करता है जिससे उसकी कुल उपयोगिता अधिक से अधिक हो। मान लीजिये कि एक व्यक्ति टमाटर, आलू और अमरूद इन तीन वस्तुओ को खरीदना चाहता है और उसके पास बारह आने है और प्रत्येक आना इन विभिन्न वस्तुओ पर व्यय करने से उसको निम्नलिखित उपयोगिता प्राप्त होती है।

वस्तुओ की क्रमानुसार इकाई	वस्तुओ के नाम व उनसे प्राप्त होनेवाली उपयोगिता आनो में।		
	टमाटर	आलू	अमरूद
पहली	१०	८	४
दूसरी	६	६	२
तीसरी	३	४	
चौथी	१	३	
पाँचवी	०	२	
छठी	−१	०	
सातवी	−३	−२	

इस उदाहरण में इस व्यक्ति को टमाटर सबसे अधिक पसन्द है परन्तु वह सारी इकन्नियाँ टमाटरो पर ही व्यय नही करता। वह पहली इकन्नी टमाटर पर व्यय करता है और दूसरी टमाटर पर न करके आलू खरीदता है; क्योकि इस तरह उसके दो आने व्यय करने से कुल उपयोगिता अट्ठारह आने होती है जब कि यही उपयोगिता सोलह आने होती यदि वह दोनो आने टमाटर पर ही व्यय करता। कुल प्राप्त उपयोगिता को बढाने ही के कारण वह टमाटर की दूसरी इकाई को आलू की पहली इकाई से प्रतिस्थापित करता है। इसी तरह वह अपनी बारह इकन्नियाँ क्रमानुसार निम्नलिखित रीति से करेगा —

इकन्नियो की इकाई	वस्तु*	प्राप्त उपयोगिता आनो में
पहली	टमाटर	१०
दूसरी	आलू	८
तीसरी	आलू और टमाटर	६
चौथी		६
पाँचवी	अमरूद और आलू	४
छठी		४
सातवी	टमाटर और आलू	३
आठवी		३
नवी	अमरूद	२
दसवी	टमाटर, आलू और अमरूद	१
ग्यारहवी		१
बारहवी		१
		४९

इस प्रकार उसकी कुल उपयोगिता अधिक से अधिक तभी होती है कि जब वह बारह आने इस तरह व्यय करे कि चार आने के टमाटर ले, पाँच आने के आलू और तीन आने के अमरूद। यह पृष्ठ १०१ पर दिये कोष्ठक से स्पष्ट है। यही परिणाम निम्न आयतो से और भी स्पष्ट हो जाता है —

* प्रत्येक वस्तु की इकाई की मात्रा इतनी है जितनी वह वस्तु एक आने मे आती है।
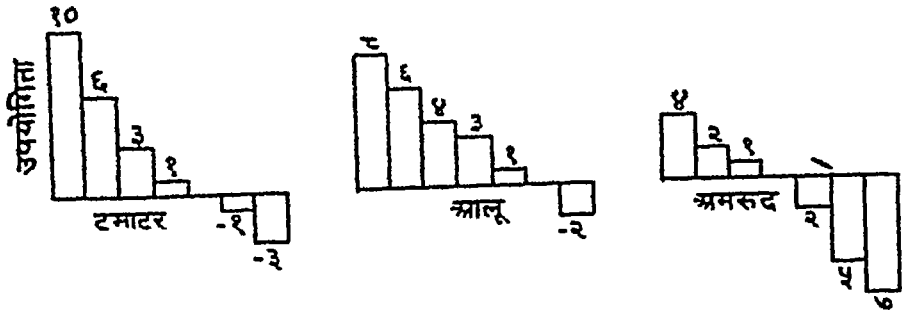
इसी प्रकार जब एक ही वस्तु के अनेक उपयोग होते हैं तो उस वस्तु का प्रयोग उन अन्य उपयोगो में इस तरह किया जाता है कि प्रत्येक उपयोग से प्राप्त हुई सीमान्त उपयोगिता बराबर हो, क्योकि तभी उस वस्तु की विभिन्न उपयोगो की कुल उपयोगिता अधिक से अधिक होगी। मान लीजिये कि एक किसान कुछ धान की उपज करता है। यह धान उसे अपने और अपने कुटुम्ब, गाय, बैलो को खिलाने के लिए और बीज व दान करने के लिए चाहिए। मान लीजिये कि इस धान की अन्य इकाइयाँ उक्त लिखित कार्यो में क्रमानुसार उपयोग करने से निम्नलिखित उपयोगिता प्राप्त होती है.—

धान का उपयोग	प्राप्त उपयोगिता
परिवार के खाने के लिए	१५, १२, १०, ८, ६, ४, ०
पशुओ को खिलाने के लिए	८, ६, ४, २, ०
बीज के लिए	१०, ८, ३, ०
दान करने के लिए	६, ४, ०

यदि उसके पास धान की एक इकाई है तो वह अपने परिवार के खाने के उपयोग में लायेगा और इसी तरह धान की दूसरी इकाई को भी। परन्तु धान की तीसरी इकाई को या तो परिवार के खाने के काम में लायेगा या बीज के लिए। चौथी इकाई को परिवार के खाने के लिए, यदि तीसरी इकाई बीज के काम मे लाया हो तो अन्यथा बीज के लिए जब कि तीसरी इकाई भी परिवार के खाने के उपयोग में लाया हो। इसी तरह यदि उसके पास कुल सात इकाइयाँ हैं तो वह चार इकाई परिवार के खाने के काम में लायेगा, दो इकाई बीज के लिए और

एक इकाई पशुओ के लिए। और यदि उसके पास दस इकाइयाँ है तो वह पाँच इकाई परिवार के खाने के लिए उपयोग करेगा, दो इकाइयो का पशुओ के लिए, दो का बीज के लिए और एक इकाई दान के लिए। साराश यह है कि वह अन्य इकाइयो को विभिन्न उपयोगो में इस तरह बाँटेगा कि प्रत्येक उपयोग की जहाँ तक सम्भव हो सीमान्त उपयोगिता बराबर हो और यदि यह सम्भव न हो तो प्रत्येक उपयोग की अन्तिम इकाई की उपयोगिता लगभग बराबर करने का प्रयत्न करेगा और तभी उसकी कुल उपयोगिता अधिक से अधिक होगी। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति किसी वस्तु के वर्तमान और भविष्य के प्रयोग मे बँटवारा इस प्रकार करता है कि दोनो कालो में उसकी सीमान्त इकाई की उपयोगिता समान हो। इसी प्रकार हम पानी का उपयोग अपनी विभिन्न आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए इस रीति से करते है कि पानी की अन्तिम इकाई से प्रत्येक उपभोग मे बराबर या लगभग बराबर उपयोगिता प्राप्त हो। इसी तरह जब हम अपनी पूरी आय का कुछ भाग व्यय करते है और कुछ भाग बचाते है तो हम उस आय को इन दो भागो मे इस रीति से बाँटते है कि बचत और व्यय की अन्तिम इकाइयो से बराबर या लगभग बराबर उपयोगिता प्राप्त हो। अर्थात् समसीमान्त उपयोगिता का नियम यह कहता है कि हमे अपने उपभोग या व्यय में प्रत्येक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता बराबर या लगभग बराबर करनी चाहिए क्योकि तभी अधिक से अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है।

इस नियम में एक अडचन है। यदि प्रत्येक वस्तुओ का एक मूल्य हो तो नियम उक्त लिखित रीति से सत्य है परन्तु संसार में तो विभिन्न वस्तुओ का विभिन्न मूल्य है। एक मोटर दस हजार रुपये में आती है, एक कुर्सी पन्द्रह रुपये में, एक रोटी एक आने मे और एक पेन्सिल तीन आने मे। क्या हमें अपनी आय इस तरह व्यय करनी चाहिए कि इन प्रत्येक वस्तुओ की अन्तिम इकाइयो से बराबर उपयोगिता प्राप्त हो। ऐसा करना न सम्भव ही है और न हमारे हित में। रोटी की चौथी या पाँचवी इकाई से एक आना उपयोगिता प्राप्त हो सकती है परन्तु यदि आपके पास सौ मोटर हो तो भी अन्तिम मोटर की उपयोगिता एक आने से तो ज्यादा ही होगी। दूसरी ओर यह भी विचार कीजिये कि पहली रोटी से एक रुपये बराबर उपयोगिता प्राप्त होती हो तो क्या आप अपना अत्यधिक धन मोटरें खरीदने मे ही व्यय कर देंगे? एक रुपये से अधिक बहुत-सी मोटरो की उपयोगिता होगी इस कारण आप कई मोटरें लेंगे जब तक मोटर की अन्तिम इकाई से एक रुपये के बराबर उपयोगिता प्राप्त हो और तभी एक रोटी खरीदेंगे। ऐसा करने में आपकी अधिक हानि

होगी; क्योंकि मोटर का दाम दस हजार रुपया है और मोटर की प्रत्येक इकाई खरीदने से जिसकी उपयोगिता दस हजार रुपये से कम है आपको हानि होगी जब कि रोटी की पहली इकाई खरीदने से (जिसको आप स्थगित कर देते हैं क्योंकि मोटरो की इकाई से एक रुपये से अधिक उपयोगिता है) आपका पन्द्रह आने के बराबर उपयोगिता का लाभ है; क्योंकि रोटी की उपयोगिता एक रुपया है और मूल्य एक आना। उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि नियम की उक्त लिखित व्याख्या ठीक नही। यदि किसी एक वस्तु का मूल्य दूसरी वस्तु से दुगुना है तो इसकी सीमान्त उपयोगिता दूसरी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता से दुगुनी होनी चाहिए वरना इस वस्तु के खरीदने की अपेक्षा दूसरी वस्तु की ही और इकाइयाँ खरीदना अधिक लाभदायक है। इस कारण हम नियम की व्याख्या निम्नलिखित रीति से कर सकते है —

यदि कोई व्यक्ति विभिन्न वस्तुओ का उपभोग करे या अपनी आय या धन विभिन्न वस्तु या कार्यो पर विभाजित करे तो उस उपभोग, आय या धन से उस व्यक्ति को अधिक से अधिक उपयोगिता तभी प्राप्त होगी जब वह उपभोग या व्यय इस रीति से करे कि $\frac{\text{अ वस्तु की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{अ वस्तु का मूल्य}}$ $= \frac{\text{ब वस्तु की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{ब वस्तु का मूल्य}} = \frac{\text{ख वस्तु की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{ख वस्तु का मूल्य}}$ इत्यादि।

इस व्याख्या में उक्त लिखित मात्राएँ जहाँ तक हो बराबर होनी चाहिए और जहाँ यह सम्भव न हो तो इन मात्राओ मे कम से कम अन्तर होना चाहिए। व्यवहार में इन मात्राओ का बराबर करना सम्भव नही होता, इसलिए जहाँ तक सम्भव हो इन मात्राओ का अन्तर कम-से-कम होना चाहिए।

उक्त लिखित कठिनाई के कारण कुछ लेखक यह कहते है कि मनुष्य को अपनी आय इस तरह व्यय करनी चाहिए कि प्रत्येक वस्तु पर व्यय होने वाले रुपयो की सीमान्त उपयोगिता बराबर या लगभग बराबर हो। परन्तु यह व्याख्या ठीक नही क्योकि जब आप एक मोटर दस हजार रुपये में खरीदते है और एक कुर्सी पन्द्रह रुपये मे खरीदते है तो इस मोटर या कुर्सी पर व्यय होने वाले रुपयो की अलग-अलग कुछ भी उपयोगिता नही। वह मोटर जिसका मूल्य दस हजार है उस पर ९९९९ रुपये व्यय करने से कुछ भी उपयोगिता प्राप्त नही हो सकती क्योंकि इतने रुपयो से मोटर खरीदी नही जा सकती। इसी तरह साढे सात रुपये में आप आधी कुर्सी नही खरीद सकते। मोटर और कुर्सी विभाज्य वस्तुएँ नही। इसलिए इन वस्तुओ पर व्यय किये अन्य रुपयो की अलग अलग

उपयोगिता शून्य है; परन्तु इन वस्तुओं पर व्यय किये रुपयों को हम एक समूह के रूप में देखें तब ही उसकी कुछ उपयोगिता है अन्यथा कुछ भी उपयोगिता नहीं।

इस नियम का भी कोई अपवाद नहीं। परन्तु हो सकता है कि कुछ प्रतिगामी शक्तियो के कारण इस नियम के लागू होने में अड़चन आ जाय। प्रत्येक मनुष्य व्यय या उपभोग इसी नियम के अनुसार स्वभावतया करता है; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का आदर्श अधिक से अधिक उपयोगिता और सुख प्राप्त करना है। हो सकता है कि कभी कभी अज्ञानवश या लापरवाही या भूल से इस नियम के अनुसार कोई व्यक्ति व्यय या उपभोग न करे।

समसीमान्त उपयोगिता और प्रतिस्थापन-नियम अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्रतिस्थापन नियम उत्पादन में भी लागू होता हैऔर 'राजस्व' में हम देखेंगे कि राज्य अपना व्यय एक ऐसे ही नियम के अनुसार करता है कि जो समसीमान्त उपयोगिता के नियम पर ही आधारित है।

अभ्यास के प्रश्न

१ समसीमान्त उपयोगिता का नियम समझाइये? जब वस्तुओ का मूल्य विभिन्न होता है तो यह नियम किस प्रकार लागू होता है?

२. प्रतिस्थापन के नियम का उपयोग में क्या महत्व है?

अध्याय १२

उपभोक्ता की बचत (Consumer's Surplus)

यह तो हम समझा चुके हैं कि जब एक व्यक्ति किसी वस्तु की अनेक इकाइयों को खरीदता या उनका उपभोग करता है तो उन विभिन्न इकाइयो से क्रमश. घटती हुई उपयोगिता प्राप्त होती है। परन्तु प्रत्येक इकाई का मूल्य तो वह बराबर ही चुकाता है क्योकि प्रत्येक इकाइयाँ समान हैं। एक ओर तो वस्तु की अन्य इकाइयो की उपयोगिता क्रमश घटती जाती है और दूसरी ओर उन विभिन्न इकाइयो का मूल्य एक ही होता है। ऐसी दशा में अन्तिम या सीमान्त इकाई की उपयोगिता उस इकाई के मूल्य से कम नही होती वरन् कुछ अधिक हो सकती है अन्यथा उस इकाई का उपयोग करने से हानि होगी। विभिन्न खरीदी हुई या उपयोग की गई इकाइयो मे सीमान्त इकाई से प्रत्येक पहली इकाई की उपयोगिता सीमान्त इकाई की उपयोगिता से अधिक होती है और इसी कारण उन प्रत्येक इकाइयो की उपयोगिता अपने मूल्य से अधिक होती है। किसी वस्तु के मूल्य और उससे प्राप्त हुई उपयोगिता में जो अन्तर होता है उसी को प्रसिद्ध अर्थशास्त्री मार्शल (Marshall) ने उपभोक्ता की बचत (Consumer's Surplus) का नाम दिया। जो मूल्य उपभोक्ता देता है उसकी उपयोगिता उस वस्तु की उपयोगिता की अपेक्षा उसके लिए कम होती है। यदि वस्तु का क्रय-विक्रय द्रव्य की अपेक्षा वस्तुओं की सहायता से ही हो, जैसे आप गेहूँ द्रव्य देकर नही बल्कि कपडा देकर मोल लें, तो जो उपयोगिता प्राप्त की गई वस्तु से आपको मिलती है वह जो वस्तु आप उसके बदले में देते हैं उसकी उपयोगिता से आपके लिए अधिक है अन्यथा आप यह अदल-बदल करने को तय्यार ही न होगे। ऐसी दशा में हम कह सकते है कि उपभोक्ता की बचत से हमारा तात्पर्य उस उपयोगिता से होता है जो प्राप्त उपयोगिता और बदले में दी गई वस्तु की उपयोगिता का अन्तर है। जैसे यदि आप कुछ कपडा देकर कुछ गेहूँ ले और यदि आपके लिए गेहूँ की उपयोगिता एक रुपये के बराबर है और कपडे की उपयोगिता बारह आने के बराबर, तो उपभोक्ता की बचत = १ रुपया—१२ आने = ४ आने। या हम इस प्रकार भी कह सकते है कि उपभोक्ता की बचत लागत और

प्राप्त उपयोगिता का अन्तर है। जब आप एक वस्तु को प्राप्त करने के लिए दूसरी वस्तु या द्रव्य देते है तो यह द्रव्य या दी गई वस्तु प्राप्त की गई वस्तु की लागत ही तो है।

उपभोक्ता की बचत का अनुभव वास्तव में तृप्ति या सन्तुष्टि मे होता है। जिस प्रकार उपयोगिता का नाप हम द्रव्य में करते है, उसी प्रकार उपभोक्ता की बचत जब द्रव्य में परिणत की जाती है तो वह उपभोक्ता की बचत की आर्थिक नाप होती है। उपभोक्ता की बचत की मात्रा प्राप्त की गई वस्तु की उपयोगिता और उसका मूल्य या उसके बदले में दी गई वस्तु की उपयोगिता पर ही निर्भर है क्योंकि—

उपभोक्ता की बचत = प्राप्त उपयोगिता — मूल्य

प्राप्त उपयोगिता की मात्रा मूल्य से जितनी अधिक होगी उतनी ही उपभोक्ता की बचत की मात्रा भी अधिक होगी। जब हम एक ही वस्तु की कई इकाइयाँ खरीदते या उपभोग करते है तो उक्त लिखित सूत्र निम्नलिखित रीति से लिखा जा सकता है :—

उपभोक्ता की बचत = कुल उपयोगिता–(मूल्य × वस्तु की प्राप्त इकाइयाँ)।

इसको स्पष्ट करने के लिए हम पृष्ठ ८८ में दिये उदाहरण को ही ले सकते है। आपको रोटियो की विभिन्न इकाइयो से क्रमानुसार ६, ४, २, १, ०, –१, –३. आने के बराबर उपयोगिता प्राप्त होती है। यदि रोटियो का मूल्य एक आना है तो आप चार ही रोटियाँ खरीदेंगे क्योंकि पाँचवी रोटी खरीदने से आपको हानि होती है। प्रत्येक रोटी का मूल्य एक आना ही है क्योंकि वे समान है। परन्तु पहली रोटी से आपको छ. आने के बराबर उपयोगिता प्राप्त होती है इस कारण पहली रोटी से प्राप्त हुई उपभोक्ता की बचत ६–१ = ५ आने के बराबर है, इसी प्रकार दूसरी से तीन आने के बराबर और तीसरी से एक आने के बराबर और चौथी से शून्य उपभोक्ता की बचत प्राप्त होती है। तो कुल उपभोक्ता की बचत ५ + ३ + १ + ० = ९ आने के बराबर या

उपभोक्ता की बचत = कुल उपयोगिता- (मूल्य × वस्तु की प्राप्त इकाइयाँ)

= ६ + ४ + २ + १ – (१ × ४)

= १३ – ४

= ९ आने।

यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि किसी वस्तु की कुल उपयोगिता इस प्रकार तभी जोडी जा सकती है जब उस वस्तु की विभिन्न इकाइयो का उपभोग अविच्छिन्न हो। यदि उस वस्तु की कुछ इकाइयो का उपभोग अभी किया जाय और कुछ इकाइयो का किसी और समय तो यह आवश्यक नही कि इन दो समयो पर उपभोग की गई इकाइयो की उपयोगिता मे

क्रमानुसार ह्रास हो। ऐसी स्थिति में तो केवल इतना होना ही आवश्यक है कि पहले समय में उपभोग की गई इकाइयों की उपयोगिता में क्रमानुसार ह्रास हो और इसी तरह दूसरे समय उपभोग की गई विभिन्न इकाइयों की उपयोगिता में भी क्रमानुसार ह्रास हो। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि इन दो विभिन्न उपयोगिताओं के क्रम में कुछ पारस्परिक सम्बन्ध हो। उक्त लिखित उदाहरण का हम निम्न आयतों द्वारा स्पष्टीकरण करते हैं —
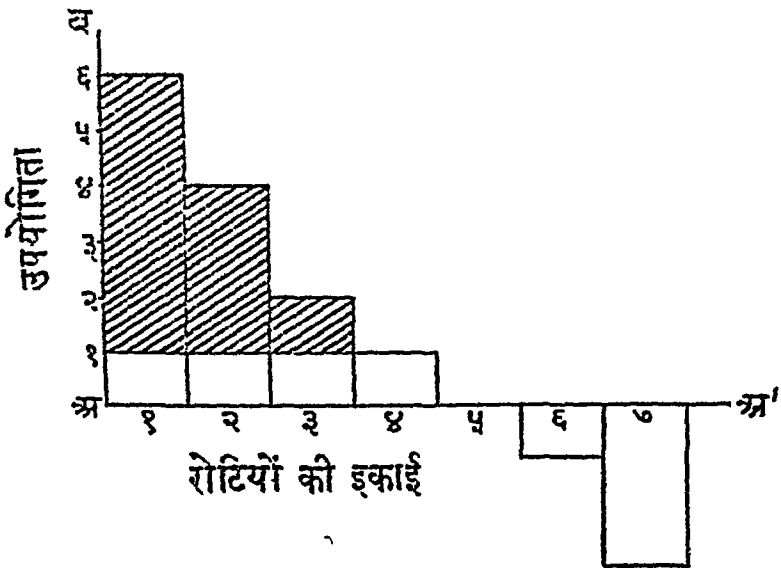
अ अ' पर रोटियों की इकाइयाँ नापी गई हैं और अ ब पर उनसे प्राप्त हुई उपयोगिता।

यदि आप रोटियों का उपभोग या क्रय न कर सकें तो यह द्रव्य आप किसी अन्य वस्तु पर व्यय करेंगे। इस अन्य वस्तु से आपको रोटियों की अपेक्षा कम उपयोगिता प्राप्त होगी। यदि रोटियों की अपेक्षा उन वस्तुओं से अधिक उपयोगिता प्राप्त होती तो आप उन्हीं को खरीदते, उनको न खरीद कर आप रोटियाँ मोल लेते हैं इससे यह स्पष्ट है कि रोटियों की उपयोगिता इन अन्य वस्तुओं की उपयोगिता से अधिक है। अर्थात् यदि आपको रोटियाँ खरीदने का अवसर न मिले या आप ऐसे वातावरण में हों जहाँ रोटियाँ न मिलती हों तो आपको जो उपभोक्ता की बचत रोटियाँ मोल लेने से प्राप्त होती है उसकी हानि होगी। इसी कारण मार्शल ने कहा है कि उपभोक्ता की बचत को हम अवसरों या वातावरण से प्राप्त हुआ लाभ कह सकते हैं।

यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि जब आपको किसी वस्तु की पहली

इकाई से उसकी अन्य इकाइयों की अपेक्षा अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है तो उस वस्तु का विक्रेता आपसे पहली वस्तु का अधिक मूल्य क्यों नहीं माँगता? उक्त उदाहरण में वह पहली रोटी का छ: आना, दूसरी का चार आना, तीसरी का दो आना और चौथी का एक आना न माँग कर प्रत्येक रोटी का एक एक आना ही क्यों लेता है? इसका कारण यह है कि उसको यह ठीक ठीक मालूम नहीं कि उसके अन्य ग्राहकों को उस वस्तु की विभिन्न इकाइयों में कितनी कितनी उपयोगिता प्राप्त होती है, और यदि मालूम भी हो तो वह एक आने से अधिक मूल्य इसलिए नहीं माँगता कि दूसरे विक्रेता वैसी ही रोटियाँ एक एक आने में बेच रहे हैं। ऐसी स्थिति में यदि वह एक आने से अधिक मूल्य माँगेगा तो उसकी रोटियाँ नहीं बिकेंगी। यहाँ यह भी बता देना आवश्यक है कि विक्रेता को भी उपभोक्ता की बचत के समान एक लाभ होता है। विक्रेता रोटियाँ बेचता है और उसके बदले में द्रव्य लेता है। इसीको हम दूसरी दृष्टि से देख सकते हैं और कह सकते हैं कि वह भी एक खरीददार है। वह रोटियाँ नहीं बल्कि द्रव्य खरीदता है जिसका मूल्य वह रोटियों में चुकाता है। उसे भी इस द्रव्य के खरीदने में उपभोक्ता की बचत प्राप्त होती है। इस द्रव्य की विभिन्न इकाइयों की उपयोगिता में भी क्रमानुसार ह्रास होता है अर्थात् प्रारंभ की इकाइयों की उपयोगिता बाद की इकाइयों की उपयोगिता की अपेक्षा अधिक होती है और अन्तिम इकाई की उपयोगिता सबसे कम। परन्तु द्रव्य की अन्तिम इकाई की उपयोगिता इस विक्रेता के लिए जो रोटी उस इकाई के बदले में वह देता है उसकी उपयोगिता से कम नहीं होती। इसलिए द्रव्य की अन्तिम से पहली इकाइयों की उपयोगिता रोटियों की इकाइयों की उपयोगिता की अपेक्षा अधिक है। इसी बात को हम दूसरी रीति से भी समझा सकते हैं। इस विक्रेता के पास रोटियों का ढेर है जिसकी विभिन्न इकाइयों की उपयोगिता उसके लिए क्रमानुसार घटती हुई उपयोगिता है। अर्थात् अन्तिम रोटी की उपयोगिता उसके लिए सबसे कम है और पहली रोटी की उपयोगिता अन्य रोटियों की अपेक्षा अधिक है। जब वह पहली रोटी भी एक आने में बेचने को तय्यार है तो यह स्पष्ट है कि पहली रोटी की उपयोगिता एक आने से अधिक नहीं है। दूसरी, तीसरी, चौथी व अन्तिम रोटी की उपयोगिता क्रमानुसार घटती जाती है और एक आने से कम है। परन्तु उन रोटियों को भी वह एक आने की दर से बेचता है। सारांश यह है कि दूसरी, तीसरी, चौथी व अन्तिम रोटी के बेचने से उसको उपयोगिता का लाभ होता है और यह लाभ अन्तिम रोटी (जिसको वह सबसे पहले बेचेगा) पर सबसे अधिक।

कुछ अर्थशास्त्रियो ने उपभोक्ता की बचत की आलोचना की है। जीवित रहने की आवश्यकताओ की पूर्ति करने वाली वस्तुओ की उपयोगिता तो असीमित होती है। इस कारण इन वस्तुओ से प्राप्त हुई उपभोक्ता की बचत तो असीमित होगी। परन्तु यह ध्यान रखना आवश्यक है कि जब हम यह कहते है कि गेहूँ की रोटी से हमारी जीवित रहने की आवश्यकता की पूर्ति होती है तो इसका यह अर्थ नही कि हम गेहूँ की पहली इकाइयो के खरीदने के लिए बहुत-सा द्रव्य देने को तय्यार होगे। यदि गेहूँ का मूल्य बहुत बढ जाता है तो हम गेहूँ की अपेक्षा चने की रोटी या चावल का उपभोग करेंगे। यह तो सच है कि जीवित रहने के लिए हम कुछ भी त्याग या श्रम करने को प्रस्तुत रहते है। हम खाना या पानी प्राप्त करने के लिए परिश्रम करते है परन्तु यदि इन वस्तुओ को परिश्रम से प्राप्त न कर सके तो भिक्षा माँगेगे, चोरी करेंगे, डाका डालेंगे और किसी न किसी रीति से जीवित रहने का प्रयत्न करेंगे। कोई बहुत पहुँचे हुए महात्मा या बहुत नीचे गिरे हुए व्यक्ति ही अनुचित कार्य या सघर्ष करने की अपेक्षा भूखे मर जायेगे। सन् १९४२ के बगाल के अकाल मे जो लोग भूखो मरे, वह इतने नीचे गिर गये थे कि उनमें इतनी भी शक्ति नही थी कि वह जीवित रहने को अनाज के लिए सघर्ष करते।

उपभोक्ता की बचत के विचार से यह स्पष्ट है कि किसी वस्तु की उपयोगिता उसके मूल्य के बराबर ही नही होती वरन् साधारणतया उससे कुछ अधिक होती है। इस विचार का राजस्व में बड़ा महत्व है। जब किसी वस्तु पर कर लगाया जाता है तो उसकी माँग या उपभोग में कमी होती है जिससे कि अनेक व्यक्तियो को उपभोक्ता की बचत की हानि होती है। इस कारण अर्थमन्त्री के लिए यह आवश्यक है कि जहाँ तक हो ऐसे ही कर लगाये जाँय कि जिससे जनता को उपभोक्ता की बचत मे कम से कम हानि हो। इस विचार से ही हम यह पता लगा सकते है कि किसी व्यक्ति को विभिन्न अवसरो पर या विभिन्न स्थानो पर कितनी उपभोक्ता की बचत होती है और इसका भी अनुमान लगा सकते है कि दो व्यक्तियो को अलग अलग स्थानो पर रहने मे कितनी उपभोक्ता की बचत होती है। यदि अन्य बाते समान हो तो हम कह सकते है कि जिस व्यक्ति या जिस स्थिति मे उपभोक्ता की बचत अधिक है उस स्थिति मे सुख भी अधिक होगा। उपभोक्ता की बचत के विचार से ही हम यह भी अनुमान लगा सकते है कि कोई वस्तु या सेवा जन-साधारण की उन्नति या भलाई मे कितना महत्व रखती है।

जिस वस्तु से उपभोक्ता की बचत अधिक प्राप्त होती है उसका प्रभाव उपभोक्ता के सुख या उन्नति पर उतना ही अधिक होता है* ।

अभ्यास के प्रश्न

१. उपभोक्ता की बचत' का अर्थ समझाइये और उसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट कीजिये ।
२. उपभोक्ता की बचत पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये और इसका महत्व बताइये ।

---

* यदि चाय पीने वालो को चाय और काफी दोनों ही न मिलें तो उनको अधिक कष्ट होगा और ऐसी स्थिति की अपेक्षा जब इनमें से एक ही वस्तु नहीं मिलती है उपभोक्ता की बचत की अधिक हानि होगी । इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए मार्शल ने यह सुझाव रखा कि स्थानापन्न या प्रतिद्वन्द्वी वस्तुओं को समूहबद्ध करके एक वस्तु मानना चाहिए ।

अध्याय १३

माँग

इच्छा (Desire), आवश्यकता (Want) और माँग (Demand) का साधारण बोलचाल में और अर्थशास्त्र में भिन्न भिन्न अर्थ है। यहाँ हम इन शब्दों का जो अर्थशास्त्र में अर्थ होता है वह समझायेंगे। कुछ लेखकों का कथन है कि यदि किसी वस्तु के प्राप्त या उपभोग करने से किसी व्यक्ति को सुख का अनुभव होता हो तो उस व्यक्ति को उस वस्तु की इच्छा होती है, जैसे यदि एक व्यक्ति को एक मोटर प्राप्त होने से सुख होता है चाहे उसके पास मोटर खरीदने के साधन हो या न हों तो कहा जा सकता है कि उस व्यक्ति को एक मोटर प्राप्त करने की इच्छा है। इन्ही लेखकों के अनुसार माँग उस इच्छा को कहते है कि जिसकी पूर्ति करने के लिए उस व्यक्ति के पास उस वस्तु को प्राप्त करने के पर्याप्त साधन हो और साथ ही साथ उन साधनो को देकर उस वस्तु को प्राप्त करने की तत्परता भी हो। एक मोटर प्राप्त होने से निर्धन मनुष्य को भी सुख होगा परन्तु उसके पास उस मोटर खरीदने के पर्याप्त साधन नही। इसी कारण उस व्यक्ति को मोटर की इच्छा है, माँग नही। ऐसा भी हो सकता है कि एक व्यक्ति को मोटर प्राप्त करने से सुख हो और उसके पास उस मोटर को खरीदने के पर्याप्त साधन भी हो; परन्तु यदि वह उन साधनो का प्रयोग करने को तत्पर न हो तो उसको भी मोटर की इच्छा है, माँग नही; क्योकि उसकी इच्छा की पूर्ति नही हो सकती। इसी कारण वह माँग नही कही जा सकती। माँग तो केवल उन्ही इच्छाओ को कहा जाता है कि जिनकी पूर्ति हो सकती हो। कुछ लेखक आवश्यकता और माँग में कुछ अन्तर नही करते और कुछ इच्छा और आवश्यकता में।

इच्छा, आवश्यकता और माँग के अन्तर की उपरोक्त व्याख्या से हम सहमत नहीं। इसका कारण यह है कि उक्त लिखित माँग का अर्थ मानने से तो माँग और प्रभावपूर्ण माँग मे कोई अन्तर नही रहता। जिन इच्छाओ की पूर्ति के लिए एक व्यक्ति के पास पर्याप्त साधन हो और वह उन साधनो का प्रयोग करने के लिए तत्पर भी हो तो वह उसकी प्रभावपूर्ण माँग (Effective Demand) कहलायेगी। यदि माँग का

उक्त लिखित अर्थ मान लिया जाय तो अनेक वस्तुओ की माँग शून्य होगी जब कि उनका मूल्य बहुत अधिक होगा। यदि एक पेन्सिल का मूल्य दस रुपये हो तो प्राय कोई भी व्यक्ति जिसकी स्थिति दस रुपये दे सकने के योग्य हो तो भी उसे खरीदने को तय्यार न होगा, तब हमे यह कहना पडेगा कि पेन्सिलों की माँग शून्य है। परन्तु सच यह है कि पेन्सिलो की माँग शून्य है जब मूल्य दस रुपये है और जैसे जैसे मूल्य घटता जाता है उसकी माँग बढती जाती है। जितनी भी पेन्सिलें किसी भी विशेष मूल्य पर बिकती है वह पेन्सिलो की माँग नही बल्कि प्रभावपूर्ण माँग है। उस विशेष मूल्य में वृद्धि या कमी होने से पेन्सिलों की बिक्री कम या अधिक होती है अर्थात् हम कह सकते है कि यदि विशेष मूल्य से मूल्य अधिक हो जाता है तो पेन्सिलो की माँग बढ जायेगी और उस स्थिति में जितनी पेन्सिलें वास्तव में बिकेंगी वही पेन्सिलों की प्रभावपूर्ण माँग की मात्रा होगी।

यदि किसी वस्तु के उपभोग या प्राप्त करने से किसी व्यक्ति को सुख मिलता हो तो हम कह सकते है कि उस व्यक्ति को उस वस्तु की इच्छा है। यदि उस इच्छा की पूर्ति न हो तो उसको दुःख होता है, परन्तु अनेक बार ऐसा भी होता है कि एक विशेष वस्तु के प्राप्त होने से तो सुख हो और यदि प्राप्त न हो तो कोई दुख न हो। जैसे आप अपने मित्र से मिलने जाँय, और आपको न कोई इच्छा हो और न कोई आशा हो कि वह आपको जलपान करायेगा, परन्तु जब आप उसके घर पहुँचते है तो वह चाय पीता मिलता है और आपको भी एक प्याला चाय पिला देता है। यदि वह चाय पीता न होता तो आपको भी चाय न पिलाता और उस स्थिति में चाय न पीने से आपको कुछ भी दुःख न होता। परन्तु जब वह आपको चाय पिला देता है तो आपको उससे सुख होता है अन्यथा आप चाय का सेवन कदापि न करते। इससे यह स्पष्ट है कि आपको चाय की इच्छा या आवश्यकता तो थी, (अन्यथा उसके सेवन से सुख कैसे होता) परन्तु यह इच्छा चेतन न थी और इसी कारण चाय न पीने से कोई दुःख नहीं होता। अर्थात् हम मानसिक इच्छाओं को दो भागो में बाँट सकते है—(१) चेतन इच्छाएँ और (२) अचेतन इच्छाएँ। चेतन इच्छाएँ वे होती है जिनकी पूर्ति से सुख प्राप्त होता है और यदि उनकी पूर्ति न हो सके तो दुःख होता है। और अचेतन इच्छाएँ वे होती है जिनकी पूर्ति से सुख प्राप्त होता है और जिनकी पूर्ति न होने से दुःख नही होता; क्योकि ऐसी इच्छाओ का तो अनुभव ही नहीं होता और दुःख तो केवल अनुभव की हुई इच्छाओ (चेतन इच्छाओं) की पूर्ति न होने से ही होता है। मनुष्य प्रत्येक चेतन इच्छा की पूर्ति करना चाहता है, क्योकि तभी उसका दुःख

शून्य हो सकता है। इस कारण वह प्रयत्न करता है कि अपनी समस्त चेतन इच्छाओ की पूर्ति करे; परन्तु सीमित साधनो से असीमित चेतन इच्छाओ की पूर्ति सम्भव नही। जब उसकी आय में वृद्धि होती है या वस्तुओ के मूल्य गिर जाते है तो वह अधिक इच्छाओ की पूर्ति कर सकता है। चेतन इच्छाओ को ही हम माँग कहेंगे और चेतन इच्छाओ की पूर्ति प्रभावपूर्ण माँग। ऐसा करने से माँग और प्रभावपूर्ण माँग मे अन्तर रहता है। हम इसको माँग के कोष्ठक में वर्णन करके भी समझाएँगे। इच्छा और माँग का अन्तर नीचे दिये चार्ट से स्पष्ट है:—
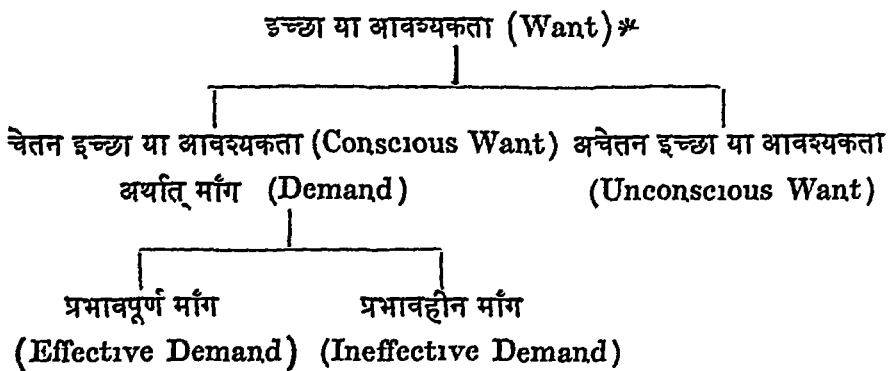
प्रत्येक व्यक्ति के लिए विभिन्न मूल्य पर विभिन्न माँग होगी, अर्थात् माँग यह बतलाती है कि विभिन्न मूल्यो पर कोई व्यक्ति उस वस्तु को किस मात्रा में खरीदने को तय्यार है। इसके विरुद्ध प्रभावपूर्ण माँग का तात्पर्य एक विशेष समय पर, बाजार मूल्य पर, एक निश्चित माँग की मात्रा मे ही होता है। यह वस्तु की माँग की वह मात्रा है जो सन्तुलन की स्थिति में, जब माँग और पूर्ति बराबर होती है, माँगी जाती है।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि माँग शब्द दो विभिन्न अर्थो मे प्रयोग किया जाता है—(१) किसी व्यक्ति की चेतन आवश्यकता के अर्थ में, जैसे, अमुक व्यक्ति को अमुक वस्तु की चेतन आवश्यकता या माँग है। (२) किसी वस्तु की वह मात्रा जो एक निश्चित मूल्य पर खरीदी जाय, जैसे, यदि नारगियो का मूल्य दो आना है तो एक व्यक्ति की माँग तीन नारगियाँ है और यदि मूल्य एक आना है तो माँग चार नारगियाँ है।

---

* हम इच्छा या आवश्यकता में कोई अन्तर नही करते क्योकि इसमे कोई लाभ नही है।

माँग का नियम (Law of Demand)

सीमान्त उपयोगिता के ह्रास का नियम हमको यह बतलाता है कि जैसे जैसे किसी वस्तु के उपभोग या प्राप्त मात्रा में वृद्धि होती है वैसे वैसे उस वस्तु की अनेक इकाइयो की उपयोगिता घटती जाती है। यह पृष्ठ ८८ के उदाहरण से हमने समझाया था। उस उदाहरण से स्पष्ट है कि यदि रोटियो का मूल्य छ आने प्रति इकाई हो तो वह व्यक्ति एक ही रोटी खरीदेगा। यदि मूल्य घट कर चार आने रह जाता है तो वह दूसरी रोटी भी खरीद लेगा क्योकि उसकी उपयोगिता चार आने के बराबर है। यदि मूल्य दो आने ही रह जाता है तो वह तीन रोटियाँ ख़रीदेगा और जब मूल्य एक ही आना हो जाता है तो वह चार रोटियाँ खरीदेगा। जैसे जैसे मूल्य घटता है वह अधिक रोटियाँ खरीदता है अर्थात् हम कह सकते है कि अधिक मूल्य होने पर उसकी माँग कम है और मूल्य घटने पर उसकी माँग अधिक है। यदि मूल्य छ. आने से अधिक है तो वह एक भी रोटी नही खरीदेगा। इस कारण नही कि उसको रोटियो की इच्छा नही है, परन्तु वह रोटियाँ इस कारण नही खरीदता क्योकि जो उपयोगिता उसको रोटी से प्राप्त होती है वह मूल्य से कम है। ऐसी स्थिति मे वह अपनी रोटियो की चेतन आवश्यकता या माँग को प्रभावपूर्ण माँग का रूप नही दे सकता।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मूल्य बढने से उस व्यक्ति की माँग कम हो जाती है। इसका कारण अनेक इकाइयो से प्राप्त हुई उपयोगिता में क्रमश ह्रास होना है। यही बात प्रत्येक व्यक्ति के लिए सत्य है और हम कह सकते है कि जैसे जैसे मूल्य बढता है अनेक व्यक्ति उस वस्तु को कम मात्रा मे खरीदते है और जैसे जैसे मूल्य घटता है अनेक व्यक्ति उस वस्तु को अधिक मात्रा मे खरीदते है, क्योकि अनेक इकाइयो से प्राप्त हुई उपयोगिता में क्रमश ह्रास होता है। इसी कारण यह कहा जाता है कि माँग का नियम सीमान्त उपयोगिता के ह्रास के नियम से निकला है। माँग का नियम यह कहता है कि मूल्य बढने पर माँग कम होती है और मूल्य घटने पर अधिक। इससे स्पष्ट है कि माँग और मूल्य मे परस्पर विपरीत सम्बन्ध होता है। यदि एक की वृद्धि होती है तो दूसरे का ह्रास। परन्तु यह आवश्यक नही कि वृद्धि और ह्रास समान अनुपात में ही हो। अर्थात् यदि मूल्य दुगुना हो जाय तो माँग अवश्य घट जायेगी, यह आवश्यक नही कि उसकी मात्रा आधी हो जाय।

माँग का कोष्ठक (Demand Schedule)

जिस उदाहरण* का ऊपर वर्णन किया गया है उसको निम्न कोष्ठक द्वारा दर्शाया गया है :—

मूल्य	रोटियो की माँग
६ आना	१
४ ,,	२
२ ,,	३
१ ,,	४

इसी कोष्ठक को एक व्यक्ति की माँग का कोष्ठक कहते है। इस कोष्ठक मे एक ओर मूल्य दिया होता है और दूसरी ओर प्रत्येक मूल्य के सामने वस्तुओ की वह मात्रा जो उस मूल्य पर वह व्यक्ति खरीदने को तय्यार है। यह कोष्ठक† बतलाता है कि एक निश्चित समय और स्थान पर एक विशेष व्यक्ति रोटियो की कितनी इकाइयाँ विभिन्न मूल्यो पर खरीदने को तय्यार है। किसी और समय या स्थान पर यह आवश्यक नही कि वही व्यक्ति उक्त लिखित मूल्यो पर उक्त लिखित मात्राएँ ही खरीदे क्योकि उस समय यह सम्भव है कि उसकी उपयोगिता का कोष्ठक भिन्न हो।

उक्त कोष्ठक एक व्यक्ति की माँग बतलाता है। यदि एक बाजार मे जितने भी व्यक्ति उस वस्तु के खरीददार है उन सबकी माँगो का योग निकाल ले तो हम बाजार की माँग मालूम कर सकते है। यदि इस योग को एक कोष्ठक का रूप दे दें तो वह कोष्ठक बाजार की एक विशेष समय की माँग का कोष्ठक कहलायेगा। इसका उदाहरण नीचे दिया गया है —

बाजार की माँग का कोष्ठक

मूल्य आनो में	रोटियो की माँग
८	१००
६	३००
५	४००
४	६००
३	७००
२	१,०००
१	२,०००

---

* इस उदाहरण का पृष्ठ ८८ पर भी वर्णन है।

† माँग के कोष्ठक मे बहुत ऊँचे या बहुत नीचे मूल्य न दिखाकर (जैसे मोटर के लिए ५ लाख रुपये या १० रुपये) परिचित मूल्यो के आसपास के मूल्य ही दिखाये जाते है।

एक व्यक्ति की माँग का कोष्ठक या बाजार की माँग के कोष्ठक को हम वक्ररेखा द्वारा भी दर्शा सकते है। निम्न ग्राफ उक्त लिखित बाजार की माँग के कोष्ठक को स्पष्ट करता है :—
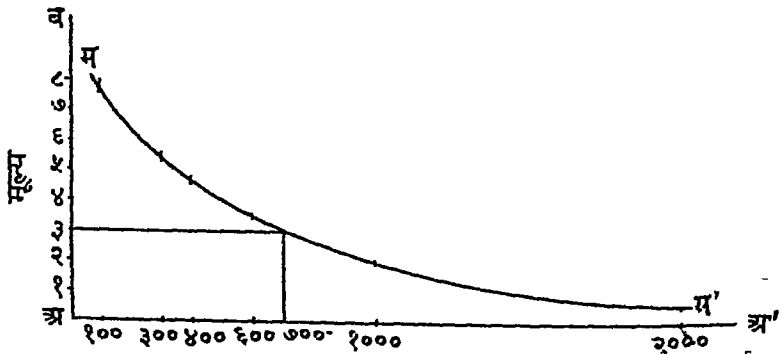
अ अ' पर रोटियो की इकाई नापी गई है और अ ब पर मूल्य। म म' माँग की वक्ररेखा (Demand Curve) कहलाती है। यदि बाजार में रोटियो का मल्य तीन आना हो तो प्रभावपूर्ण माँग ७०० रोटियाँ है। यदि हम माँग का अर्थ जो इस अध्याय के प्रारभ में दिया गया है मान लें तो केवल उक्त कोष्ठक में ७०० रोटियो की मात्रा तो माँग कहलायेगी, क्योकि जब मूल्य तीन आना है तो केवल ७०० रोटियो के ही लिए अनेक व्यक्ति मूल्य देने को तत्पर है, चाहे इससे अधिक रोटियाँ खरीदने के साधन उनके पास हो, परन्तु इस मूल्य पर तो वह केवल ७०० रोटियाँ प्राप्त करने के साधनो को ही प्रयोग मे लाने को तत्पर है। इस कारण उक्त लिखित कोष्ठक माँग का कोष्ठक नही परन्तु पूर्व लेखको के मत के अनुसार तो इच्छा का कोष्ठक होना चाहिए। परन्तु यही लेखक इस कोष्ठक को इच्छा का कोष्ठक न कह कर माँग का कोष्ठक ही कहते है। इससे स्पष्ट है कि जो अर्थ हमने इच्छा या आवश्यकता, माँग और प्रभावपूर्ण माँग को दिया है वह अधिक उचित है। उसके अनुसार यह माँग का कोष्ठक है जिसमें जब मूल्य तीन आना है तो प्रभावपूर्ण माँग की मात्रा ७०० है।

उक्त कोष्ठक के अनुसार जब मूल्य आठ आना है तो माँग १०० रोटियाँ है और जब मूल्य छ: आना है तो माँग बढकर ३०० रोटियाँ हो जाती है। अर्थात् आठ आना, छ. आना, पाँच आना, चार आना इत्यादि विभिन्न माँग के मूल्य (Demand Prices) है और १००, ३००, ४००, ६०० इत्यादि माँग की मात्राएँ।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि माँग की वृद्धि (Increase of Demand) और माँग की तीव्रता (Intensification of Demand) में

अन्तर है। माँग का नियम तो माँग की वृद्धि से ही सम्बन्ध रखता है। उसके अनुसार यदि मूल्य घटता है तो माँग की वृद्धि होती है और यदि मूल्य बढता है तो माँग कम हो जाती है। माँग के नियम का माँग की तीव्रता मे कोई सबध नही। माँग की वृद्धि से हम यह समझते है कि मूल्य के घटने से वस्तु की माँग की मात्रा बढ जाती है। जब मूल्य बढने से माँग की मात्रा घट जाती है तो उसको माँग का कम होना (Decrease of Demand) कहते है। परन्तु जब उसी मूल्य पर माँग अधिक हो जाती है या मूल्य बढने पर भी माँग कम नही होती तो यह माँग की तीव्रता कहलाती है*। किसी व्यक्ति की आय में वृद्धि होने से या उस वस्तु का अधिक प्रचलन हो जाने से हो सकता है कि उसी मूल्य पर उस वस्तु की माँग की मात्रा में वृद्धि हो जाय या मूल्य बढने पर भी माँग की मात्रा स्थिर रहे। इसी तरह जब मूल्य के स्थिर रहने पर या मूल्य के घटने पर भी माँग घट जाती है तो वह माँग की कमी नही परन्तु माँग की शिथिलता (Demand becomes less intense) कहलाती है।

अभ्यास के प्रश्न

१. आवश्यकता, माँग और प्रभावपूर्ण माँग में अन्तर समझाइये।

२ माँग का नियम उदाहरण सहित समझाइये और बतलाइये कि इस नियम का सीमान्त उपयोगिता के ह्रास के नियम से क्या सम्बन्ध है?

---

* किसी वस्तु की माँग अधिक तीव्र होने के निम्न मुख्य कारण है —

(१) नये स्थानो में उसका विक्रय होना। (२) क्रेताओ के धन या आय मे वृद्धि (३) उस वस्तु के नये प्रयोगो की खोज। (४) व्यापक आन्दोलन जैसे डाक्टरो या नेताओ द्वारा किसी वस्तु के प्रयोग की सराहना करना। ब्रिटेन में द्वितीय महायुद्ध के समय राज्य ने "गाजर अधिक खाओ" का आन्दोलन करके गाजर का प्रयोग बढा दिया। (५) वस्तु के गुणो में उन्नति।

अध्याय १४

माँग की लचक (Elasticity of Demand)

पिछले अध्याय में यह समझाया गया है कि मूल्य में परिवर्त्तन होने से माँग की मात्रा में भी परिवर्त्तन होता है। मूल्य के परिवर्त्तन के साथ साथ जो माँग में परिवर्त्तन होने की प्रवृत्ति होती है उसीको माँग की लचक कहते हैं। यदि किसी वस्तु के मूल्य के थोडे से घट या बढ़ जाने से माँग की मात्रा में अधिक परिवर्त्तन होता है तो उस वस्तु की माँग अधिक लचकदार होती है और यदि मूल्य के परिवर्त्तन से माँग की मात्रा में बहुत कम परिवर्त्तन होता है तो उस वस्तु की माँग कम लचकदार कहलायेगी। जब किसी वस्तु के मूल्य में थोडी सी भी वृद्धि होने से माँग शून्य हो जाती है तो उस वस्तु की माँग पूर्णतया लचकदार (Perfectly Elastic) कहलाती है। निम्न वक्ररेखा जो अ अ' के समानान्तर है पूर्णतया लचकदार माँग की वक्ररेखा है:—
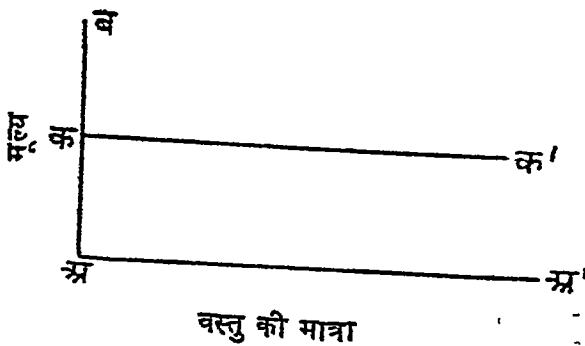
वस्तु की मात्रा

इससे स्पष्ट है कि यदि मूल्य अ क या इससे कम है तो बाजार में उस वस्तु की जितनी भी मात्रा होगी सब बिक जायेगी और यदि अ क से अधिक है तो उस वस्तु की एक इकाई भी नही बिकेगी। व्यावहारिक जीवन में ऐसी कोई भी वस्तु नही होती कि जिसकी माँग पूर्णतया लचकदार हो।

जब किसी वस्तु के मूल्य में परिवर्त्तन होने से माँग की मात्रा स्थिर रहती है तो उस वस्तु की माँग पूर्णतया बे-लचकदार कहलाती है। निम्न वक्ररेखा जो अ अ' पर लम्ब है और अ ब के समानान्तर है पूर्णतया बे-लचकदार (Perfectly inelastic) माँग की वक्ररेखा है:—
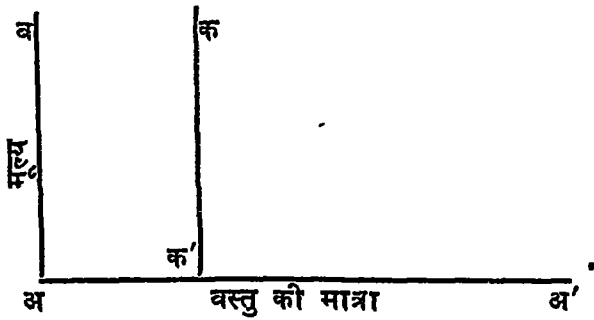
उक्त रेखाचित्र से स्पष्ट है कि मूल्य कितना ही हो माँग की मात्रा अ क' ही रहती है। व्यावहारिक जीवन में ऐसी कोई भी वस्तु नही होती कि जिसकी माँग पूर्णतया बे-लचकदार हो। वे वस्तुएँ जो जीवित रहने की आवश्यकताओ की पूर्ति करती है उनकी माँग की लचक बहुत कुछ बे-लचकदार होती है। जैसे नमक और गेहूँ का मूल्य बढने पर भी इनका उपभोग बन्द नही किया जा सकता। यह हो सकता है कि यदि मूल्य मे थोडी सी वृद्धि हो तो माँग स्थिर रहे परन्तु जब इन वस्तुओ का भी मूल्य बहुत अधिक बढ जायगा तो माँग की मात्रा मे अवश्य कमी होगी क्योकि लोग नमक का उपयोग कम कर देगें और गेहूँ की अपेक्षा अन्य नाजो का सेवन करने लगेंगे। परन्तु जब हम केवल गेहूँ ही नही बल्कि जितनी भी वस्तुएँ भूख की तृप्ति के काम में आ सकती है उनका एक गिरोह मान लें और उसका विचार करें तो कह सकते है कि मूल्य कितना ही अधिक क्यो न हो प्रत्येक व्यक्ति जीवित रहने के लिए इस गिरोह की वस्तुएँ खरीदेगा। ऐसी स्थिति मे भी माँग पूर्णतया बे-लचकदार न होगी क्योकि मूल्य में अधिक वृद्धि होने से निर्धन व्यक्तियो के पास इतने साधन ही न होगे कि वह अपनी भूख की माँग की पूरी तृप्ति कर सकें। धनी लोग भी इस गिरोह की वस्तुओ के उपयोग में कजूसी करेंगे, उसकी कुछ भी मात्रा नष्ट न होने देंगे और आवश्यकता से अधिक नही खायेंगे चाहे भोजन कितना ही स्वादिष्ट हो। साथ ही साथ जैसे जैसे मूल्य बढता जायगा ऐसे व्यक्तियो की मात्रा बढ जायेगी जो भरपेट इस गिरोह की वस्तुओ को न खा सकें। साराश इस गिरोह की वस्तुओ की माँग मे मूल्य के बढने से कुछ न कुछ कमी अवश्य होगी और इसी कारण माँग पूर्णतया बे-लचकदार नही होगी। जब किसी वस्तु का मूल्य बहुत अधिक या बहुत कम हो तो उस मूल्य में थोडा सा परिवर्त्तन होने से माँग की मात्रा में अधिक परिवर्त्तन नही होता। जब टमाटर या मटर इत्यादि चार या पाँच रुपये सेर हो तो इन्हे वही व्यक्ति खरीदेंगे जो बहुत धनवान् हो।

जब इनका मूल्य बढ कर पाँच रुपये आठ आने या छ. रुपये सेर हो जाय तो ऐसे गिने-चुने व्यक्तियो की माँग लगभग स्थिर होगी। और जब मूल्य घटकर चार रुपये आठ आने या चार रुपये सेर हो जाय तब ऐसे व्यक्ति तो कुछ अधिक मात्रा में खरीदेगे ही नही क्योकि उनके लिए पाँच या चार रुपये सेर में कुछ विशेप अन्तर नही और अन्य व्यक्तियो के लिए चार रुपये सेर पर ये वस्तुएँ उतनी ही महँगी है जितनी पाँच रुपये सेर की दर से। इस कारण उस वस्तु की माँग में इतने अधिक मूल्य पर बहुत कम लचक होगी। इसी तरह जब किसी वस्तु का मूल्य बहुत कम होता है तब भी मूल्य में कुछ कमी या वृद्धि होने से माँग मे अधिक परिवर्त्तन नही होता। जब मटर एक पैसे सेर हो तो यदि मूल्य घटकर पौन पैसे सेर भी हो जाय (२५% गिर जाय) तो भी लोग बहुत अधिक मात्रा मे नही खरीदेगें क्योकि एक पैसे प्रति सेर की दर से ही वे पर्याप्त मात्रा मे खरीद रहे थे और जब मूल्य बढकर डेढ पैसे सेर (५०% बढ जाय) हो जाय तो भी उसकी माँग बहुत कम न होगी क्योकि अब भी वह वस्तु काफी सस्ती है। इसी कारण बहुत कम मूल्यो पर भी माँग की लचक बहुत कम होती है।

उक्त रेखाचित्रो से स्पष्ट है कि जब माँग की रेखा बिल्कुल लेटी हुई या चपटी हो (Horizontal) तो माँग पूर्णतया लचकदार होती है और जब बिल्कुल खडी हो (Vertical) तो पूर्णतया बे-लचकदार होती है। अर्थात् हम कह सकते है कि जिस वस्तु की माँग की वक्ररेखा जितनी अधिक लेटी होगी उस वस्तु की माँग की लचक उतनी ही अधिक होगी और जिस वस्तु की माँग की वक्ररेखा जितनी खडी होगी उस वस्तु की माँग उतनी ही बे-लचकदार होगी। जैसा कि ऊपर समझाया गया है व्यावहारिक ससार मे ऐसी कोई भी वस्तु नही होती जिसकी माँग पूर्णतया लचकदार या पूर्णतया बे-लचकदार हो। प्रत्येक वस्तु या सेवाओ की माँग की लचक इन दो सीमाओ के अन्तर्गत ही होती है। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि प्रत्येक वस्तु की माँग की लचक प्रत्येक व्यक्ति के लिए विभिन्न होगी। यह उस व्यक्ति की आय, आदत रुचि इत्यादि पर निर्भर है। यदि किसी व्यक्ति को चाय की आदत है तो वह मूल्य बढने पर भी उसका सेवन करेगा। इसी तरह यदि उसकी आय अधिक है तो वह गेहूँ का मूल्य बढ़ने पर भी गेहूँ की ही रोटी खायेगा। परन्तु एक मजदूर गेहूँ का मूल्य बढने पर मोटे नाज का सेवन अधिक कर देगा। एक ही वस्तु की माँग की लचक विभिन्न मूल्यो पर विभिन्न होती है जैसा कि आगे के उदाहरण से स्पष्ट होगा।

माँग की लचक का नाप

जब किसी वस्तु के मूल्य मे परिवर्त्तन होने से उस वस्तु पर किये गये कुल व्यय मे कोई परिवर्त्तन नही होता तो माँग की लचक एक के बराबर (Unity) होती है और जब मूल्य के घटने से उस वस्तु पर किये गये कुल व्यय में कमी आ जाय तो माँग की लचक एक से कम होती है और जब मूल्य के घटने से उस वस्तु पर किये गये कुल व्यय की वृद्धि हो तो माँग की लचक एक से अधिक होती है। यह एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा। निम्न कोष्ठक एक बाजार की एक विशेष समय पर माँग बतलाता है —

टमाटरो की (बाजार की) माँग का कोष्ठक

मूल्य प्रति सेर	माँग की मात्रा सेरो में	कुल व्यय	माँग की लचक का नाप
४)	१०	४०) या ६४० आने	एक से कम
२)	११	२२) या ३५२ „	
१)	१४	१४) या २२४ „	
८ आना	२५	२०० „	
६ „	१००	६०० „	एक से अधिक
४ „	३००	१२०० „	
३ „	६००	१८०० „	एक
२ „	९००	१८०० „	एक से कम
१ „	१६००	१६०० „	
२ पैसा	२०००	१००० „	
१ „	२५००	६२५ „	

माँग की लचक को एक दूसरी रीति से भी नाप सकते है। पहले उस वस्तु की माँग की वक्ररेखा क क' खीच लीजिये जैसा कि निम्न ग्राफ में दर्शाया गया है —
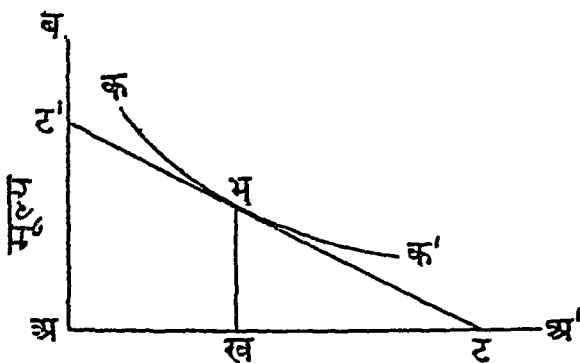
अब क क′ पर कोई विन्दु भ ले लीजिये। उस विन्दु से क क′ वक्ररेखा पर एक स्पर्शरेखा (Tangent) खीचिये जो अ अ′ को ट पर और अ ब को ट′ पर काटती है तो,

$$\text{माँग की लचक} = \frac{\text{ट भ}}{\text{भ ट}'}$$

इसी तरह इस वक्ररेखा मे अन्य विन्दुओं पर माँग की लचक नापी जा सकती है। यह लचक विभिन्न बिन्दुओ पर विभिन्न होगी। विभिन्न विन्दु विभिन्न मूल्यो पर खरीदी हुई वस्तु की मात्रा वतलाते है। भ विन्दु पर मूल्य भ ख है, माँग अ ख और माँग की लचक $= \frac{\text{ट भ}}{\text{भ ट}'}$ है। अर्थात् हम कह सकते है कि विभिन्न मूल्यो पर एक ही वस्तु की माँग की लचक विभिन्न होती है।

अव हम उन कारणो का वर्णन करेगे जिन पर माँग की लचक निर्भर है।

१ किसी वस्तु की माँग की लचक इस पर निर्भर होती है कि वह वस्तु कौन-सी आवश्यकता की पूर्ति करती है। यदि वह आवश्यक आवश्यकता की पूर्ति करती है तो उस वस्तु की माँग की लचक कम होगी। जन-साधारण के लिए नमक या बगाल मे रहनेवालो के लिए चावल या पजाब में रहनेवालो के लिए गेहूँ आवश्यक आवश्यकताओ की पूर्ति करते है। इसी कारण उनकी माँग की लचक कम होती है। साधारणत आवश्यक आवश्यकताओ की पूर्ति करनेवाली वस्तुओ की माँग की लचक कम होती है, क्योकि मूल्य बढने पर भी उनकी उपभोग की मात्रा में अधिक कमी नही हो सकती और मूल्य घटने पर उनका उपभोग बहुत अधिक नही किया जा सकता। जो वस्तुएँ सुखदायक आवश्यकताओ की पूर्ति करती है उनकी माँग में लचक होती है; क्योकि मूल्य कम होने पर जो लोग उनका सेवन नही करते थे वे भी उनको खरीदने लगते है और जो लोग खरीदते थे वे अब अधिक मात्रा मे खरीदते है। जब इन वस्तुओ का मूल्य बढता है तो फल इसके विपरीत होता है। जो वस्तुएँ विलासिता की आवश्यकताओ की पूर्ति करती है उनकी माँग की लचक अधिक होती है क्योकि मूल्य घटने पर बहुत से लोग उनको खरीद सकते है।

२, जिन वस्तुओ के स्थान में दूसरी वस्तुओ का उपभोग किया जा सकता है उनकी माँग की लचक अधिक होती है। यदि चने का मूल्य बढ जाय तो लोग चने का सेवन कम करके जौ का सेवन बढ़ा देंगे और यदि गुड महँगा हो जाय तो चीनी का सेवन अधिक हो जायेगा। लड़ाई के

समय और उसके उपरात भी चीनी राशन से नियन्त्रित मूल्य पर मिलती है और गुड़ चोर-बाजार में। इसी कारण अत्यधिक व्यक्ति गुड की अपेक्षा चीनी का सेवन करने लगे। इसी तरह जब ताँगो का भाडा अधिक हो जाय तो लोग रिक्शा अधिक काम मे लायेंगे और इसके विपरीत होगा यदि ताँगो का भाडा कम हो जाय। यदि एक वस्तु के अनेक उपयोग है तो उसकी माँग की लचक अधिक होगी ; क्योकि मूल्य बढने पर कम आवश्यक उपयोगो में उस वस्तु का उपयोग नही किया जायेगा और मूल्य घटने पर उस वस्तु का सेवन अनेक उपयोगो में किया जायेगा ; जैसे नमक का मूल्य बढने पर पशुओ को नमक देना कम कर दिया जायेगा। इसी तरह मिट्टी के तेल का मूल्य कम होने पर वह रोशनी के काम में भी लाया जायगा और नाले, नालियो मे भी छिडका जायेगा जिससे मच्छर न पैदा हो और आग जलाने के काम मे भी लाया जायगा। परन्तु जब मूल्य बढ जायेगा तो केवल रोशनी के लिए ही उसका प्रयोग किया जायेगा।

माँग की लचक इस पर भी निर्भर है कि कुल व्यय का कौन-सा भाग उस वस्तु पर व्यय किया जाता है। यदि व्यय का अधिक भाग उस वस्तु पर ही खर्च होता है तो मूल्य बढने पर उस वस्तु की माँग काफी कम हो जायेगी। और यदि कुल व्यय का एक बहुत थोडा-सा भाग उस वस्तु पर खर्च होता है तो उस वस्तु का मूल्य बढने पर भी उसकी माँग मे कोई विशेष परिवर्त्तन नही होगा। जैसे यदि माचिस का मूल्य बढ जाय तो भी उसकी माँग लगभग उतनी ही रहती है क्योकि यह एक आवश्यक वस्तु है और इस पर कुल व्यय बहुत कम होता है। जो व्यक्ति माचिस बीड़ी या सिगरेट जलाने के काम में भी लाते है वह मूल्य बढने पर उसका उपयोग कुछ कम कर देंगे और अनेक बार बीडी या सिगरेट चूल्हे में से अगारा निकाल कर जला लेगे।

वस्तु के मूल्य पर भी माँग की लचक निर्भर है। बहुत कम और बहुत अधिक मूल्यो पर माँग की लचक कम होती है। टमाटरो की माँग के कोष्ठक से स्पष्ट है कि जब मूल्य चार रुपये सेर से घटकर दो रुपये सेर हो जाता है, (अर्थात् ५०% घट जाता है) तो माँग की वृद्धि दस से ग्यारह सेर ही होती है (अर्थात् १०% बढती है) और इसी प्रकार जब मूल्य दो पैसे सेर से एक आने सेर तक बढ जाता है (१००% बढता है) तो माँग २,००० सेर से घटकर १,६०० सेर ही होती है (२०% घटती है)।

यदि कोई वस्तु फैशन, आदत या रुचि की वस्तु होती है तो वह आवश्यक वस्तु का रूप ले लेती है और उसकी माँग की लचक कम होती है।

यदि किसी व्यक्ति को रेशमी कपडे ही पहनने की आदत हो या मेज पर फूल सजाने की आदत पड जाय तो वह मूल्य बढने पर भी इन वस्तुओ को खरीदेगा। कुछ लोगो को एक विशेष प्रकार की सिगरेट पीने की आदत हो जाती है और उसका मूल्य बढने पर भी वह उसी का सेवन करते है। युद्ध के समय मे क्रैवन ए (Craven A) सिगरेट कठिनाई से मिलती थी और उसका मूल्य आठ, दस रुपया होने पर भी कुछ व्यक्ति वही सिगरेट पीते रहे। इसी तरह मूल्य अधिक होने पर भी कुछ व्यक्ति एटकिन्सन का (Atkinson's) वालो का तेल और पौंडस् (Pond's) क्रीम का ही सेवन करते रहे।

माँग की लचक लोगो की आय पर भी निर्भर है। धनी व्यक्तियों के लिए आवश्यक वस्तुओ की माँग लगभग बे-लचक होती है जब तक उनका मूल्य बहुत ही अधिक न बढ जाय। इन्ही वस्तुओ की माँग निर्धनो के लिए काफी लचकदार होती है। ऐसे व्यक्तियो की आय इतनी कम होती है कि आवश्यक वस्तुओ का मूल्य बढने पर उनको उन वस्तुओं का उपभोग कम कर देना पडता है। यदि लोगो की आय लगभग स्थिर रहती हो तो उनकी माँग भी स्थिर ही होगी; परन्तु जब आय में अधिक परिवर्त्तन होता हो तो माँग भी घटती बढती रहेगी, चाहे मूल्य स्थिर ही रहे। माँग के इस घटने-बढने को माँग की शिथिलता या माँग की तीव्रता कहेंगे, माँग की कमी या वृद्धि नही।

यदि किसी वस्तु की माँग कुछ समय के लिए स्थगित की जा सकती है तो माँग की लचक अधिक होती है। जैसे युद्ध के समय रेडियो, मोटर, सीने की मशीन, साइकिल इत्यादि के दाम अधिक बढ गये थे, इस कारण अनेक व्यक्तियो ने इन वस्तुओ को यह सोचकर नही खरीदा कि दाम कम होने पर ही मोल लेंगे।

किसी समाज में आय और सम्पत्ति का वितरण जितना समान होगा उतनी ही माँग की लचक ऐसे समाज की अपेक्षा अधिक होगी जहाँ धन, सम्पत्ति का वितरण असमान हो। इसका कारण यह है कि अधिकतर व्यक्तियो की समान आय होने के कारण मूल्य के घटने से लगभग सभी व्यक्तियों की माँग बढ जाती है और मूल्य के बढने से लगभग सभी व्यक्तियो की माँग कम हो जाती है। परन्तु जब वितरण असमान है तो मूल्य घटने से कुछ ही व्यक्ति उस वस्तु को अधिक मात्रा में खरीदेंगे और मूल्य बढने पर कुछ ही लोग उस वस्तु को कम मात्रा में खरीदेंगे, क्योकि कुछ लोगों की आय इतनी अधिक है कि वह वस्तु के महँगे होने की परवाह ही नही करते और कुछ लोगो की आय इतनी कम है कि मूल्य कम होने पर भी उस वस्तु को खरीदने के साधन उनके पास नही होते।

कभी कभी ऐसा भी होता है कि एक वस्तु की माँग एक उपयोग के लिए लचकदार होती है और उसी वस्तु के दूसरे उपयोग के लिए माँग की लचक कम होती है। जैसे, कोयले की माँग भोजन बनाने के लिए शीत ऋतु मे कमरा गरम रखने की अपेक्षा कम लचकदार है।

अभ्यास के प्रश्न

१. माँग की लचक से आप क्या समझते है? उसको नापने की रीति समझाइये।
२ किसी वस्तु की माँग की लचक किन कारणो पर निर्भर होती है? उदाहरण देकर समझाइये।

अध्याय १५

पारिवारिक बजट (Family Budget)

मनुष्य की अनेक आवश्यकताएँ होती है जिनकी पूर्ति के लिए वह अन्य वस्तुओ या सेवाओ का उपभोग करता है। इन वस्तुओ या सेवाओ का या तो वह स्वय उत्पादन करता है या दूसरे व्यक्तियो से खरीदता है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ वस्तु या सेवाएँ अपने उपभोग के लिए स्वय ही उत्पन्न करता है। वह अपना भोजन स्वय बनाता है या उसकी स्त्री, बहन इत्यादि सारे परिवार का भोजन बनाती है। कुछ व्यक्ति भोजन बनाने के लिए नौकर रख लेते है और कुछ बना बनाया भोजन होटल में खाते है। अनेक स्त्रियाँ अपने परिवार के लिए ऊनी मोजे, स्वेटर, ब्लाउज इत्यादि स्वय ही बुन लेती है और अनेक व्यक्ति यही वस्तुएँ बनी-बनाई बाजार से खरीदते है। बडे-बडे नगरो मे साधारणतः लोग साग-सब्जी बाजार से खरीदते है; परन्तु कुछ व्यक्ति जिनके घरो के चारो ओर कुछ खाली जमीन होती है वहाँ अपने उपभोग के लिए साग-सब्जी पैदा कर लेते है। इसी तरह कुछ परिवारो में कुछ वस्त्र घर पर ही सी लिये जाते है जब कि कुछ अन्य वस्त्र बाजार मे दर्जी से सिलवाये जाते है। साराश यह है कि प्रत्येक मनुष्य अनेक आवश्यकताओ की पूर्ति या तो वस्तुएँ स्वय उत्पादन करके करता है या अपनी आय का कुछ भाग व्यय करके उन वस्तुओ को खरीदता है। तब भी उसकी सब आवश्यकताओ की पूर्ति नही हो सकती, क्योंकि आवश्यकताएँ असीमित है। वह अपनी कितनी आवश्यकताओ की पूर्ति करता है यह इस पर निर्भर है कि उनमें से कितनी आवश्यकताएँ तो वह स्वय अपने परिश्रम से सन्तुष्ट कर लेता है और कितनी धन का व्यय करके। धन के व्यय से कितनी आवश्यकताओ की पूर्ति होती है यह व्यय की मात्रा और वस्तुओ के मूल्य पर निर्भर है। अधिक व्यय करने से अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकती है और वस्तुओ के मूल्य जितने ही कम होगे उतनी ही अधिक आवश्यकताएँ एक निश्चित व्यय की मात्रा से सन्तुष्ट की जा सकती है। यदि वह कुछ दान देता हो या अपने अन्य सम्बन्धियो की आर्थिक सहायता करता हो तो वह भी उसके व्यय मे ही सम्मिलित होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी सारी आय को व्यय नही करता, परन्तु उसका कुछ भाग राज्य

को कर के रूप में देता है और कुछ भाग यदि सम्भव हो तो बचाता भी है। बचत वास्तव में भविष्य में किया जानेवाला व्यय है अर्थात् कर देने के उपरांत जितनी आय बचती है प्रत्येक व्यक्ति या तो वर्तमान में व्यय कर देता है या भविष्य मे व्यय करने के लिए बचाता है। वह अपनी आय का कितना भाग वर्तमान में व्यय करता है और कितना बचाता है यह समसीमान्त उपयोगिता के नियम के अनुसार निश्चित होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय की विभिन्न इकाइयाँ व्यय और बचत में इस प्रकार बाँटता है कि व्यय की अन्तिम इकाई और बचत की अन्तिम इकाई—जब कि दोनो इकाइयो की मात्रा बराबर है—की उपयोगिता समान हो।

प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आय-व्यय का बजट बना लेना चाहिए कि जिससे वह अपनी आय व्यय और बचत पर समसीमान्त उपयोगिता के नियम के अनुसार विभाजित कर सके और अपना व्यय अनेक वस्तुओ पर उसी नियम के अनुसार कर सके। इसके अतिरिक्त ऐसा बजट बना लेने से उसको यह भी लाभ होगा कि वह ऐसी वस्तुओ पर अधिक व्यय करे कि जिनके प्रयोग से उसकी शक्ति, स्वास्थ्य और कार्यक्षमता में वृद्धि हो और जिससे वह अपनी आय बढा सके। ऐसे बजट से प्रत्येक व्यक्ति अपनी आर्थिक स्थिति का ठीक ठीक अनुमान लगा सकता है जिससे वह केवल फिजूल खर्ची से ही नही, बल्कि ऐसी वस्तुओ पर व्यय करने से भी बच सकता है कि जो कुछ समय सुख तो अवश्य देती हो पर वास्तव में हानिकारक हो। अनेक व्यक्ति व्यावहारिक जीवन में आय-व्यय का बजट नही बनाते जिसके कारण वह व्यय करते चले जाते है और बाद में पछताते है कि इस माह में तो बहुत खर्च हो गया या व्यय का काफी भाग व्यर्थ की वस्तुओ पर ही हुआ और कभी कभी पछताते है कि वह इतना व्यय करते चले आये कि बुढापे या सकटकाल के लिए कुछ बचा कर नही रखा।

पारिवारिक बजटो का अध्ययन अधिक लाभदायक है। इनकी जाँच से हम यह पता लगा सकते है कि उस वर्ग के व्यक्तियो की आर्थिक स्थिति कैसी है और उनका रहन-सहन का दर्जा कितना ऊँचा या नीचा है। यदि उनके रहन-सहन का दर्जा नीचा है तो राज्य या समाज उसको ऊँचा करने का प्रयत्न कर सकते है। यदि उस वर्ग के लोग उचित रीति से व्यय न करते हो तो उनको ठीक मार्ग पर लाने का प्रयत्न किया जा सकता है। यदि उस वर्ग मे मादक या अन्य हानिकारक वस्तुओ का उपयोग है तो उसको रोकने के लिए प्रचार किया जा सकता है या राज्य कानून बना सकता है। ऐसी हानिकारक वस्तुओ का उपयोग उन वस्तुओ पर कर लगाने से भी रोका या कम किया जा सकता है। कर लगाने से वस्तुओ का मूल्य बढ जाता है और जैसा कि हम 'माँग' के अध्याय में बता

चुके है मूल्य वढ़ने से उस वस्तु का क्रय या उपयोग कम हो जाता है। इन वजटों के अध्ययन से हम यह भी पता लगा सकते है कि उस वर्ग के लोगो पर कर का कितना भार है और यदि वह भार उनकी सामर्थ्य के अनुपात से अधिक या कम है तो उसमे उचित परिवर्त्तन किया जा सकता है। इनकी जाँच से यह भी पता चल सकता है कि कौन-सी वस्तुओ पर परोक्ष कर लगाये जाँय कि जिससे थोड़ी-सी ही वस्तुओ पर कर लगाने से राज्य की काफी आय हो जाय। इनकी परीक्षा करने से हम उस वर्ग के लोगो का Cost of Living Index वना सकते है। इन अको के घटने-वढने से हमको यह पता चल जायेगा कि उस वर्ग के लोगों पर विभिन्न वस्तुओ के मूल्यो में परिवर्त्तन होने का क्या प्रभाव पड़ता है और वढ़ते हुए मूल्यों के समय उस वर्ग के लोगों को कितनी महँगाई दी जाय जिससे उनके रहन-सहन के दर्जे मे कोई कमी न हो।

पारिवारिक वजटो के अध्ययन से हमको यह भी पता चलता है कि भिन्न भिन्न आय के वर्ग के लोग अपनी आय का कौन-सा भाग वस्तुओ के अनेक समूहों पर व्यय करते है। सन् १८५७ में जर्मनी के अर्थशास्त्री डा० ऐंजिल ने जर्मनी के सैक्सनी प्रान्त में अन्य व्यक्तियों के पारिवारिक वजट एकत्रित किये। इन व्यक्तियो को उन्होने तीन वर्गों में बाँटा—(१) मजदूरो के परिवार, (२) मध्यम श्रेणी के परिवार और (३) धनी परिवार। विभिन्न वस्तुओ को भी उन्होंने पाँच समूहो में वाँटा—(१) भोजन, (२) वस्त्र, (३) मकान का किराया, (४) प्रकाश, कोयला, लकडी इत्यादि, (५) शिक्षा, स्वास्थ्य और नौकर इत्यादि। उसके उपरांत उन्होंने ऐसे आँकड़े वनाये कि जिससे यह पता चले कि प्रति वर्ग के व्यक्ति विभिन्न समूहो पर अपनी आय का कौन-सा भाग व्यय करते है। ऐसे अध्ययन से जो आँकड़े उन्होने वनाये वे निम्न तालिका में दिये हुए हैं:—

वस्तुओ के समूह	व्यय की प्रतिशत मात्रा		
	मजदूरो के परिवार	मध्यम श्रेणी के परिवार	धनी परिवार
(१) भोजन	६०	५५	५०
(२) वस्त्र	१८	१८	१८
(३) मकान का किराया	१२	१२	१२
(४) प्रकाश, कोयला, लकड़ी इत्यादि	५	५	५
(५) शिक्षा, स्वास्थ्य और नौकर इत्यादि	५	१०	१५

उक्त आँकड़ों के अध्ययन से डा० ऐंजिल निम्नलिखित परिणामो पर पहुँचे —

(१) जिन वर्गों की आय कम होती है उनका अधिकतर भाग भोजन पर व्यय होता है।

(२) वस्त्र, मकान का किराया, प्रकाश, लकडी या कोयले पर व्यय का भाग प्रत्येक वर्ग के लिए लगभग बराबर होता है।

(३) जिन वर्गो की आय कम होती है उनका शिक्षा, स्वास्थ्य और नौकर इत्यादि पर व्यय का भाग कम होता है।

इन्ही परिणामो को ध्यान में रखते हुए उन्होने एक नियम बनाया कि जैसे जैसे आय में वृद्धि होती है तो भोजन पर किये गये व्यय का प्रतिशत कम होता जाता है। वस्त्र, मकान किराया, प्रकाश, लकडी व कोयले इत्यादि पर व्यय का प्रतिशत लगभग स्थिर रहता है और शिक्षा, स्वास्थ्य और नौकर इत्यादि पर व्यय के प्रतिशत मे वृद्धि होती जाती है। इस नियम को 'डा० ऐंजिल का उपभोग का नियम' (Engel's law of Consumption) कहते है। इस नियम से पता लगता है कि आय मे वृद्धि होने से ही मनुष्य अपनी सुखदायक और भोग-विलास की आवश्यकताओ की अधिक मात्रा मे पूर्ति कर सकता है।

पारिवारिक वजट एकत्रित करना कोई आसान काम नही। साधारणत कोई व्यक्ति अपनी आर्थिक स्थिति दूसरो को वताना नही चाहता। यदि वह लोगो की सभावना से अधिक धनी है तो उसके विरुद्ध उन्हे ईर्ष्या होगी और यदि उनकी सभावना से कम धनी या निर्धन है तो घृणा होगी। जव किसी व्यक्ति से उसकी आय-व्यय के प्रश्न पूछे जाते है तो उसको यह शका होती है कि कही आप उसपर कर लगाने के लिए या उसके अहित के लिए उसका उपयोग तो नही करेगे। इस कारण जो सूचना वह आपको देगा या तो वह उसे वहुत वढा कर देगा या वहुत घटा कर। साथ ही साथ यह भी सत्य है कि हमारे अधिकाश किसान और मजदूर भाई अनपढ है, वह आय-व्यय का कोई हिसाव नही रखते और न इस वात का प्रयत्न करते है कि विभिन्न वस्तुओ पर किये गये व्यय को ठीक ठीक स्मरण रखें। इसी कारण उन्हें स्वय यह ठीक ठीक ज्ञात नही होता है कि कुछ समय पहले उन्होने किस वस्तु पर कितना व्यय किया था और यदि पता भी होता है तो ठीक ठीक वताने मे वे हिचकिचाते है। उक्त कारणो से यह स्पष्ट है कि किसी वर्ग के लिए पारिवारिक वजट वनाने मे वडी सावधानी से काम करना चाहिए। जिस वर्ग के वजट एकत्रित करने हो पहले उस वर्ग के लोगो से परिचय वढाना चाहिए। उनको अपना वडप्पन न दिखाकर उनकी भाषा, उनकी रीति-रिवाज, उनकी रुचि, कुरुचि, उनकी कमियाँ समझनी चाहिए जिससे

कि आप यह पता लगा सकें कि उनसे कोई भी बात किस रीति से पूछी जाय कि जिससे उस विषय में ठीक ठीक सूचना प्राप्त हो। साधारणत यह प्रयत्न करना चाहिए कि साधारण बातचीत मे ही आपके काम की बातो का पता लग जाय। सूचक के सामने ही प्रश्न और उत्तरो को लिखना न चाहिये, क्योकि इससे उसके हृदय मे शका उत्पन्न हो जायेगी और वह आपको ठीक ठीक बाते बताने मे हिचकिचायेगा। इस कारण उचित यह होगा कि आप उसके सामने कुछ लिखे नही और केवल मित्र-भाव से ही बातचीत करते रहे और फिर घर जाकर उस वार्तालाप में से उपयोगी बातें छाँट लें और उनको लिख ले। यदि सम्भव हो तो आप उसे आय-व्यय का हिसाब रखने के लाभ समझाइये और यदि वह सहमत हो तो आप ही उसका हिसाब प्रतिदिन या दूसरे तीसरे दिन जाकर लिख दीजिये। अपना कार्य आरभ करने से पहले यह आवश्यक है कि आप यह निश्चित कर लें कि इन सूचनाओ को एकत्रित करने मे आपका उद्देश्य क्या है। ऐसा निश्चित करने से आप अनावश्यक बातो के एकत्रित करने मे अपना समय व्यर्थ व्यतीत न करेगे। यह भी आवश्यक है कि आप ठीक निश्चित कर लें कि आप किस वर्ग के लोगो के पारिवारिक बजट एकत्रित करना चाहते हैं। यदि आप मजदूरो के बजट एकत्रित करना चाहते हैं तो आपको यह निश्चित कर लेना चाहिए कि मजदूर से आपका ठीक ठीक क्या मतलब है। क्या आप उन व्यक्तियो के ही बजट एकत्रित करेंगे कि जिनकी आय निश्चित सीमाओ के अन्दर हो या उन व्यक्तियो के जो बडे-बडे कारखानो मे काम करते हो या उनके जो केवल कपडे या पटसन या चमडे के कारखानो में से किसी एक मे ही काम करते हो? अर्थात् यदि आप कपडे के कारखाने के मजदूरो के बजट एकत्रित करना चाहते हो तो आपको दूसरे मजदूरो के बजट इकट्ठे नही करने चाहिए और इसी तरह यदि आप इलाहाबाद के विद्यार्थी-वर्ग के बजट एकत्रित करना चाहते हो तो आपके लिए अध्यापको के बजट व्यर्थ होगे। जब आप अपने वर्ग को ठीक ठीक निश्चित कर लें तो यह असम्भव है कि उस वर्ग के प्रत्येक व्यक्ति का बजट आप इकट्ठा कर सकें। इस कारण उस वर्ग के कुछ ही व्यक्तियो के बजट एकत्रित करने होगें। इस वर्ग के जो व्यक्ति आप छाँटें वह उस वर्ग के सच्चे और ठीक ठीक प्रतिनिधि होने चाहिए। जो प्रश्न आप उनसे पूछना चाहते हो उनको पहले से ही निश्चय कर लिख लीजिये जिससे आप जब उनसे बातचीत करें तो आप गडबडाँ नही और कोई प्रश्न भी न भूले। आपके प्रश्न सरल, सीधे और कम होने चाहिए जिससे आपको ठीक ठीक उत्तर मिल सके और अधिक प्रश्न होने के कारण सूचक घबडा न जाय। इन प्रश्नो को सिलसिलेवार जमा लेना चाहिए और

यदि कोई प्रश्न ऐसे हो कि जिससे उस व्यक्ति के हृदय मे शंका उत्पन्न हो तो उन्हें घुमा-फिराकर इस रीति से पूछना चाहिए कि शंका उत्पन्न होने का अवसर ही न आये। कभी कभी ऐसा भी होता है कि अनेक प्रश्नों के उत्तर मिलने पर कुछ उत्तर एक दूसरे के विपरीत होते है। ऐसी अवस्था मे आपको उस सम्बन्ध के ऐसे अन्य प्रश्न पूछने चाहिएँ कि जिससे सही उत्तर मिल सके। जिस वर्ग की आप जाँच करना चाहते हो, यदि वह शिक्षित हो तो आप एक प्रश्नावली बनाकर उस वर्ग के अनेक व्यक्तियो के पास भेज दीजिये और उनसे प्रार्थना कीजिये कि उनके उत्तर वे आपको भेज दें। ऐसी प्रश्नावली मे ऐसे प्रश्न नही होने चाहिए कि जिनको ठीक ठीक समझा न जा सके और उत्तर देने मे कठिनाई हो। आप ऐसा भी कर सकते है कि एक फार्म ऐसा बना लीजिये जिसमें सब बाते स्पष्ट हो और सूचक को केवल आँकडे ही भरने हो। इससे यह लाभ होता है कि सूचक का समय कम लगता है और वह आँकडे भर कर तुरन्त फार्म लौटा देता है।

जब आप यह सूचियाँ एकत्रित कर लें तो उन्हे क्रमानुसार रख लीजिये जिससे आपकी छानबीन का उद्देश्य पूरा हो सके। पारिवारिक बजट के अध्ययन में यह आवश्यक है कि आय-व्यय के समय की एक इकाई निश्चित कर ले। साधारणत यह इकाई एक महिना होती है। यदि आप माहवारी व्यय निकालना चाहते हो तो प्रत्येक वस्तु का माहवारी व्यय निकाल लें, जैसे यदि सूचक ने एक जूता खरीदा जो एक साल चलेगा तो उस जूते के मूल्य का उस माह के व्यय में $\frac{1}{12}$ भाग ही जोडिये और उन वस्तुओ पर किया गया व्यय न जोडिये जिनका उपयोग 'उस माह में नही, बल्कि भविष्य में होगा। उन वस्तुओ का मूल्य जोड देना चाहिए कि जो पहले ही खरीद ली गई थी परन्तु उनका उपयोग उस माह में हुआ। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि केवल उपभोग पर ही किया गया व्यय जोडा जाय। यदि आप किसी व्यक्ति को दस रुपये उधार दे दें तो यह व्यय नही बचत कहलायेगी। इसी कारण इन दस रुपयो को व्यय के बजट में सम्मिलित नही करना चाहिए। अब हम दो व्यक्तियो के पारिवारिक बजट देते है। पहिला बजट श्री सीताराम के परिवार का है। श्री सीताराम कानपुर मे कपडे के कारखाने में मजदूर है। दूसरा बजट श्री राधेश्याम का है जो इलाहाबाद में एक कालिज मे अध्यापक हैं।

एक मजदूर का पारिवारिक बजट

(१) मजदूर का नाम — श्री सीताराम
(२) जाति व धर्म — अहीर, हिन्दू
(३) आयु — ३८ साल

(४) परिवार के सदस्यो की सख्या — स्वय, स्त्री, अविवाहित बहिन (१४ साल), २ पुत्र (७ और ५ साल), पुत्री (२ साल), =कुल ६ व्यक्ति। माता, पिता जीवित है; परन्तु गाँव मे रहते है और खेती की देखभाल करते है। बडे भाई व उसका परिवार भी गाँव मे ही रहता है। गाँव लगभग कानपुर से १४ मील की दूरी पर है।

(५) धन्धा — कपडे के कारखाने मे मजदूर।

(६) मासिक आय — ९०) रुपये महँगाई सहित।

(१) भोजन पर व्यय

भोजन के पदार्थ	वजन	दर	कुल व्यय		
			रु०	आ०	पा०
(१) चावल	८ सेर ७ छ	१) रु० का २ सेर	४	३	६
(२) गेहूँ	३३ ,, १२ छ	१) ,, २½ सेर	१३	८	—
(३) मोटा अनाज	८ ,, ७ छ		२	४	—
(४) चीनी	२ ,,	॥|=) सेर	१	१२	—
(न० १ से ४ राशन से नियत्रित मूल्य पर मिलते है)।					
(५) चोर बाजार से मोटा नाज (राशन का पूरा नही पडता)	१८ सेर		७	—	—
(६) दाल अरहर	१० ,,	॥) सेर	५	—	—
(७) गुड	२ ,,	॥) ,,	१	—	—
(८) नमक	२ ,,	=) ,,	—	४	—
(९) मसाले			१	—	—
(१०) साग			४	—	—
(११) घी			२	—	—
(१२) तेल			४	—	—
(१३) दूध			४	८	—
(१४) विविध			४	—	—
		कुल रु०	५४	७	६

(२) ईंधन और रोशनी पर व्यय

वस्तु का नाम	वजन	दर	कुल व्यय		
			रु०	आ०	पा०
(१) लकड़ी व उपले ..			४	—	—
(२) मिट्टी का तेल .	२ बोतल	।)	—	८	०
		कुल रु०	४	८	—

(३) मकान का किराया ५) प्रति मास

(४) वस्त्र पर व्यय

वस्त्रो के नाम	मात्रा	मूल्य			उपभोग का समय	कुल व्यय प्रति माह		
		रु	आ	पा		रु	आ	पा
श्री सीताराम के लिए :—								
(१) धोती	२	९	—	—	एक साल	—	१२	—
(२) कुरता व कमीज	३	९	—	—	"	—	१२	—
(३) वन्डी	१	२	—	—	"	—	२	८
(४) टोपी	१	—	६	—	"	—	—	६
(५) ऊनी कोट .	१	२०	—	—	४ साल	—	६	८
(६) ऊनी वन्डी रूई की ...	१	६	—	—	४ "	—	२	—
(७) अँगोछा	१	—	१२	—	६ महीने	—	२	—
(८) जूता	१ जोडी	६	—	—	१ साल	—	८	—
स्त्री और वहिन के लिए —								
(१) धोती .	६	२४	—	—	१ साल	२	—	—
(२) कुरती	४	४	—	—	"	—	५	४
(३) चद्दर	१	२	८	—	"	—	३	४
(४) ऊनी कुरती रूई की	२	८	—	—	४ "	—	२	८
वच्चो के लिये —								
(१) कुरता	६	४	८	—	१ "	—	६	—
(२) ऊनी वन्डी रूई की	३	९	—	—	३ "	—	४	—
(३) अँगोछा	२	१	८	—	६ महीने	—	४	—
विस्तर चारपाई इत्यादि						१	१२	—
					कुल रु०	८	३	२

(५) अन्य व्यय

सूची	कुल व्यय		
	रु०	आ०	पा०
(१) नाई ..	—	४	—
(२) धोबी	१	—	—
(३) भगी ..	—	४	—
(४) सावुन	१	—	—
(५) पान, बीडी इत्यादि	१	८	—
(६) शिक्षा ..	१	८	—
(७) औषधि ...	१	—	—
(८) लौरी किराया (गाँव जाने को) .	२	—	—
(९) चूडियाँ .	—	४	—
(१०) मनोरंजन	२	—	—
(११) विविध .	३	१२	—
कुल रु०	१८	८	—

मासिक आय का संक्षिप्त विवरण

सूची	रु०	आ०	पा०	कुल आय का प्रतिशत
(१) भोजन पर व्यय	५४	७	६	६० ५
(२) ईंधन और रोशनी पर व्यय .. .	४	८	—	५.०
(३) मकान का किराया .	५	—	—	५ ६
(४) वस्त्र पर व्यय . .	८	३	२	९ १
(५) अन्य व्यय . . .	१४	८	—	१६ १
(६) बचत	३	५	४	३ ७
कुल आय रु० .	९०	—	—	१०० ०

एक अध्यापक का पारिवारिक बजट

(१) नाम . श्री राधेश्याम

(२) जाति व धर्म अग्रवाल, हिन्दू

(३) आयु .. ४५ साल

(४) परिवार के सदस्यो की सख्या . स्वयं, स्त्री, माता, २ पुत्र (१४ और ७ साल) २ पुत्री (११ और ३ लास) और एक नौकर = कुल ८ व्यक्ति। पिता का देहान्त हो चुका है।

(५) धन्धा — इलाहाबाद के एक कालिज में अध्यापक
(६) मासिक आय .. वेतन महँगाई सहित ३७५) रुपये
परीक्षक-फीस इत्यादि २५) रुपये
कुल आय ४००) रुपये

(१) भोजन पर व्यय

भोजन के पदार्थ	वजन	दर	कुल व्यय		
			रु०	आ०	पा०
(१) चावल	५ सेर	१) सेर	५	—	—
	८ सेर २ छ	॥) "	४	१	—
(२) गेहूँ	१ मन १२ सेर ८ छ	१) के २½ सेर	२१	—	—
(३) मोटा नाज	१३ सेर २ छ		४	—	—
(४) चीनी	८ सेर	॥।≈) सेर	७	—	—
(न० १ से ४ राशन से नियन्त्रित मूल्य पर मिलते हैं।)					
(५) दाल अरहर	६ सेर	॥)॥ सेर	३	३	—
मूँग	३ "	॥≡) "	२	१	—
उड़द	३ "	॥।) "	२	४	—
(६) गुड़	१ "		—	१२	—
(७) नमक और मसाले			३	—	—
(८) साग और फल		१।) प्रति दिन	३७	८	—
(९) घी	८ सेर	६) सेर	४८	—	—
(१०) तेल	१ "	३। "	३	—	—
(११) दूध	२ , प्रति दिन	॥≈) सेर	३७	८	—
(१२) मिठाई			६	—	—
(१३) चाय			२	—	—
(१४) विविध			१५	—	—
		कुल रु०	२०१	५	—

(२) ईंधन और रोशनी पर व्यय

वस्तु का नाम	वजन	दर	कुल व्यय		
			रु०	आ०	पा०
(१) पत्थर का कोयला	३ मन	२≡) मन	६	९	—
(२) लकड़ी "	१५ सेर	६) "	२	४	—
(३) लकड़ी			१	३	—
(४) मिट्टी का तेल	१ बोतल		—	४	—
(५) बिजली का बिल			६	८	—
		कुल रु०	१६	१२	—

(३) मकान का किराया ३०) प्रति मास

(४) वस्त्र पर व्यय

वस्त्रो के नाम	मात्रा	मूल्य			उपभोग का समय	कुल व्यय प्रति माह		
		रु०	आ०	पा०		रु०	आ०	पा०
श्री राधेश्याम के लिए :—								
(१) धोती .	४	२४	—	—	१ साल	२	—	—
(२) पजामा ..	४	१६	—	—	,,	—	५	४
(३) मोजा जोडी .	३	३	—	—	,,	—	४	—
(४) कोट ..	२	२४	—	—	,,	२	—	—
(५) पतलून .	३	१८	—	—	,,	१	८	—
(६) कमीज .	६	३३	—	—	,,	२	१२	—
(७) बनियाइन ..	४	६	—	—	,,	—	८	—
(८) रूमाल .	४	१	८	—	,,	—	२	—
(९) टोपी ...	१	२	४	—	,,	—	३	—
(१०) जूता जोडी	१	१५	—	—	,,	१	४	—
(११) पेशावरी जूता जोड़ी .	१	१२	—	—	,,	१	—	—
(१२) खडाऊँ जोडी .	१	—	१०	—	,,	—	—	१०
(१३) ऊनी कोट .	१	३२	—	—	४ साल	—	१०	८
(१४) ,, पतलून	१	२४	—	—	,,	—	८	—
(१५) ,, स्वेटर	१	८	—	—	,,	—	२	८
(१६) जवाहर बन्डी .	१	९	—	—	,,	—	३	—
माता और स्त्री के लिए :—								
(१) धोती .	८	४०	—	—	१ ,,	३	५	४
(२) ब्लाउज़ ..	८	२०	—	—	,,	१	१०	८
(३) पेटीकोट ..	४	६	—	—	,,	—	८	—
(४) साडी ..	१	३५	—	—	प्रति वर्ष	२	१४	८
(५) चप्पल जोडी .	२	९	—	—	१ साल	—	१२	—
(६) ऊनी ब्लाउज़ .	२	२१	—	—	४ ,,	—	७	—
बच्चो के लिए :—								
(१) धोती .	२	८	—	—	१ ,,	—	१०	८
(२) पजामा, शलवार व जाँघिया	१२	१८	—	—	१ ,,	१	८	—
(३) कमीज़ व फ्राक .	१६	४२	—	—	,,	३	८	—
(४) जूते जोडी ..	४	२४	—	—	,,	२	—	—
(५) तौलिया .	६	९	—	—	प्रति वर्ष	—	१२	—
(६) चादर, दरी, गद्दा, लिहाफ इत्यादि		३६	—	—	प्रति वर्ष	३	—	—
(७) विविध .		६०	—	—	,,	५	—	—
					कुल रु०	३९	७	१०

(५) अन्य व्यय

सूची	कुल व्यय		
	रु०	आ०	पा०
(१) नाई	१	—	—
(२) धोबी	६	—	—
(३) भंगी	१	—	—
(४) साबुन और तेल	४	—	—
(५) पान सुपारी व सिगरेट इत्यादि	५	—	—
(६) शिक्षा	२४	—	—
(७) औषधि	५	—	—
(८) यात्रा	५	—	—
(९) चूड़ियाँ	—	१०	—
(१०) सिनेमा इत्यादि	८	—	—
(११) नौकर	१५	—	—
(१२) ताँगा व रिक्शा	७	—	—
(१३) चारपाई, बरतन इत्यादि	३	—	—
(१४) विविध	१०	—	—
कुल रु०	९४	१०	—

मासिक आय का संक्षिप्त विवरण

सूची	रु०	आ०	पा०	कुल आय का प्रतिशत
(१) भोजन पर व्यय	२०१	५	—	५० ४
(२) ईंधन और रोशनी पर व्यय	१६	१२	—	४ २
(३) मकान का किराया	३०	—	—	७ ५
(४) वस्त्र पर व्यय	३९	७	१०	१० ०
(५) अन्य व्यय	९४	१०	—	२३ ७
(६) बचत	७	१०	११	१ ९
(७) आय-कर	९	२	३	२ ३
कुल आय रु०	४००	—	—	१०० ०

उक्त पारिवारिक वजटो को नीचे आयत द्वारा दर्शाया गया है :—

मजदूर की आय का प्रतिशत व्यय :—
वचत ३.७%
अन्य व्यय १९.१%
वस्त्र ९.१%
मकान किराया ५.६%
ईंधन और रोशनी ५%
भोजन ६०.५%

कालिज के अध्यापक की आय का प्रतिशत व्यय :—
आय-कर २.३%
वचत १.९%
अन्य व्यय २३.७%
वस्त्र १०%
मकान किराया ७.५%
ईंधन और रोशनी ४.२%
भोजन ५०.४%

टिप्पणी :—कालिज के अध्यापक की आय ४००) प्रति माह है; परन्तु वचत की मात्रा केवल ७ रु० १० आ० ११ पा० प्रति माह है। इसका कारण यह है कि वस्तुओ के मूल्य अधिक वढने से वचत अत्यन्त दुष्कर कार्य है।

अभ्यास के प्रश्न

१. पारिवारिक वजटो के अध्ययन के लाभ समझाइये।
२. एँजिल के उपभोग का नियम विस्तारपूर्वक समझाइये।
३. पारिवारिक वजट एकत्रित करने में किन वातो का ध्यान रखना चाहिए और उन्हें कैसे इकट्ठा करना चाहिए ?
४. किसी व्यक्ति को अपना वजट वनाने से क्या लाभ है ? एक मजदूर का पारिवारिक वजट वनाइये।

अध्याय १८

विनिमय (Exchange)

जब विनिमय दोनों पक्षों की स्वतन्त्र इच्छा से होता है तो उससे दोनों पक्षों को लाभ होता है। दोनों पक्षों को लाभ न हो तो विनिमय सम्भव ही न होगा। यदि एक पक्ष को लाभ हो और दूसरे को हानि तो दूसरा पक्ष विनिमय करने को तय्यार न होगा। एक उदाहरण से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जायेगा। मान लीजिये राम और कृष्ण दो व्यक्ति हैं। राम के पास गेहूँ है और कृष्ण के पास कपड़ा और वे एक सेर गेहूँ का विनिमय एक गज कपड़े की दर से करते हैं। राम और कृष्ण को गेहूँ और कपड़े की विभिन्न इकाइयों से प्राप्त उपयोगिता नीचे के कोष्ठक में दी गई है जिसमें गेहूँ और कपड़े की इकाइयाँ क्रमश १ सेर और १ गज है —

राम के लिए विभिन्न इकाइयो से प्राप्त उपयोगिता			कृष्ण के लिए विभिन्न इकाइयो से प्राप्त उपयोगिता		
विभिन्न इकाइयाँ	गेहूँ	कपडा	विभिन्न इकाइयाँ	गेहूँ	कपडा
(१)	१२	९	(१)	१३	९
(२)	१०	७	(२)	१०	६
(३)	८	६	(३)	८	५
(४)	६	४	(४)	५	४
(५)	५	३	(५)	४	३
(६)	३	२	(७)	३	२
(७)	२	१	(७)	१	१

सीमान्त उपयोगिता के ह्रास के नियम के अनुसार गेहूँ और कपडे की विभिन्न इकाइयो की उपयोगिता दोनो के लिए क्रमानुसार घटती जाती है। सातवें सेर गेहूँ से राम को २ इकाई उपयोगिता प्राप्त होती है और पहले गज कपडे से ९ इकाई । कृष्ण को अन्तिम गज कपडे से १ इकाई उपयोगिता प्राप्त होती हैं और पहले सेर गेहूँ से १३ इकाई। इस कारण जब वह आपस में एक सेर गेहूँ व एक गज कपडे का विनिमय करते हं तो राम को ७ इकाई और कृष्ण को १२ इकाई उपयोगिता का लाभ होता है। इस प्रकार यदि एक गज कपड़े का विनिमय एक सेर गेहूँ मे होता है तो राम तीन सेर गेहूँ देकर कृष्ण से तीन गज कपडा ले लेगा। इसके उपरान्त राम एक सेर गेहूँ का विनिमय एक गज कपडे मे करने को तय्यार न होगा; क्योकि चौथे सेर गेहूँ की उपयोगिता ६ है और चौथे गज कपडे की ४। इससे उसको २ इकाई उपयोगिता की हानि होती है। यह सत्य है कि कृष्ण एक सेर गेहूँ एक गज कपडा देकर लेने को अब भी तय्यार है; क्योकि इस प्रकार उसको १ इकाई उपयोगिता का लाभ होता है। परन्तु यह विनिमय नही होगा क्योकि राम को इससे हानि है और इस कारण वह विनिमय करने से इन्कार करेगा। अर्थात् विनिमय उस सीमा तक होता है जहाँ तक दोनो पक्षो को लाभ होता है। उक्त उदाहरण में राम का लाभ=३ गज कपड़े की उपयोगिता—तीन सेर गेहूँ की उपयोगिता =९+७+६—(२+३+५)=१२ इकाई और कृष्ण का लाभ =३ सेर गेहूँ की उपयोगिता—३ गज कपडे की उपयोगिता =१३+१०+८—(१+२+३) = २५ इकाई। जब विनिमय द्रव्य के प्रयोग से होता है अर्थात् एक पक्ष द्रव्य देता है और दूसरा पक्ष वस्तु या सेवा तो भी

दोनों पक्षों को उपयोगिता का लाभ होता है। जो पक्ष द्रव्य देता है और वस्तु मोल लेता है वह ऐसा इसलिए करता है क्योंकि उसको द्रव्य की अपेक्षा वस्तु की उपयोगिता अधिक है। दूसरे पक्ष को वस्तु की अपेक्षा द्रव्य की उपयोगिता अधिक है वरना वह वस्तु को देकर द्रव्य प्राप्त करना पसन्द न करता। अर्थात् विनिमय में दोनों पक्षों की उपयोगिता में वृद्धि होती है। इस कारण विनिमय भी उत्पादन है और इससे प्रत्येक व्यक्ति और देश का लाभ होता है।

विनिमय के लाभ

आधुनिक जीवन में विनिमय का बहुत महत्व है। आजकल जिन वस्तुओं का उपभोग एक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए करता है उनका उत्पादन विभिन्न व्यक्तियों द्वारा होता है। बहुत-सी ऐसी वस्तुओं का उत्पादन दूसरे देशों में होता है। इन वस्तुओं को हम विनिमय द्वारा प्राप्त करते हैं। इस कारण विनिमय का महत्व उत्पादन से कम नहीं है। विनिमय द्वारा यह सम्भव है कि प्रत्येक व्यक्ति उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करे जिनका वह विशेषज्ञ है। वह उन वस्तुओं का स्वयं उत्पादन नहीं करता जिनकी उसको आवश्यकता है वरन् उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करता है जिसके उत्पादन में वह चतुर है। अर्थात् वह अपने समय व साधनों का अपने अधिकतम लाभ के लिए प्रयोग कर सकता है। एक लोहार या माली अपने काम में चतुर होता है। वह नाज भी उत्पन्न कर सकता है परन्तु जो समय व साधन वह नाज के उत्पादन में लगायेगा उनका प्रयोग अपने धन्धे में करने से वह अधिक उत्पादन कर सकता है। इस प्रकार वह अपनी आय बढ़ा सकता है। विभिन्न व्यक्तियों का एक ही कार्य में विशेषता प्राप्त करना विनिमय द्वारा ही सम्भव है। प्रत्येक व्यक्ति उन्ही वस्तुओं का उत्पादन करता है जिसमें वह विशेषज्ञ होता है, चाहे उन वस्तुओं की आवश्यकता उसको स्वयं न हो वरन् उनको बेचकर वह उन वस्तुओ को मोल लेता है जिनकी उसको आवश्यकता होती है। विनिमय द्वारा ही श्रम-विभाजन और ऐसे कार्य सम्भव है जो एक व्यक्ति अकेला नही कर सकता है। एक व्यक्ति मोटर, जहाज इत्यादि अकेला नही बना सकता; परन्तु ऐसी वस्तुओ का उत्पादन कई व्यक्ति मिलकर करते है और उन्हें बेचकर अपना अपना भाग बाँट लेते है। अपने भाग से वे उन वस्तुओ को मोल ले लेते है जिनकी उनको आवश्यकता होती है। उपभोग के विभिन्न प्रकार विनिमय द्वारा ही सम्भव होते है। विनिमय द्वारा ही हम उन वस्तुओ का उपभोग कर सकते है जिनका हम स्वय उत्पादन नही कर सकते। जैसे एक प्रसिद्ध सगीतज्ञ

का अर्घ नही वढ सकता। जव एक सेर गेहूँ के वदले एक गज की अपेक्षा दो गज कपडा मिलता है तो ऐसी स्थिति मे गेहूँ का अर्घ जितना वढा है उतना ही कपड़े का अर्घ घट गया है।

अदल-वदल (Barter)

जव मनुष्य का आर्थिक जीवन वर्तमान काल की तरह जटिल न था तव उसकी आवश्यकताएँ भी कम होती थी और वह अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ वहुत कुछ स्वय उत्पन्न करता था। श्रम-विभाजन और विशेषज्ञता के आरभ होते ही मनुष्य स्वावलम्वी न रहा और कुछ वस्तुएँ उसको अपनी उत्पादित वस्तुओ के वदले मे दूसरो से मोल लेनी पडी। जव एक वस्तु का विनिमय दूसरी वस्तु से ही होता है तो उसको अदल-वदल कहते हैं। अदल-वदल में अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडता है जिनमें से प्रथम यह है कि जव हम एक वस्तु देकर दूसरी वस्तु प्राप्त करना चाहते हो तो हमको ऐसा व्यक्ति ढूँढना पड़ेगा जिसके पास हमारी इच्छित वस्तु हो और उसके वदले मे वह हमारी वस्तु लेने को तय्यार हो। एक व्यक्ति के पास गेहूँ है और वह उसको कपडे से अदल-वदल करना चाहता हो तो उसको एक ऐसा व्यक्ति ढूंढना पडेगा जिसके पास कपडा हो और वह कपडे के वदले में गेहूँ लेना चाहता हो। अर्थात् अदल-वदल तभी सम्भव है जव इस प्रकार का दुहरा सयोग हो। यदि आपको ऐसा कोई व्यक्ति नही मिलता जो कपडा देकर गेहूँ लेना चाहता हो, वल्कि जिस व्यक्ति के पास कपडा है वह दूध लेना चाहता है तो अव आपको ऐसे व्यक्ति की खोज करनी होगी जिसके पास दूध हो। यदि दूध वाला गेहूँ की अपेक्षा चावल चाहता हो तो ऐसे व्यक्ति की खोज करनी होगी जिसके पास चावल हो। यदि आपको ऐसा व्यक्ति मिल जाता है जो चावल देकर गेहूँ लेना चाहता हो तो आप पहले गेहूँ देकर चावल लीजिये फिर उनकी अदल-वदल दूध से कीजिये और तव दूध के वदले में आप कपडा प्राप्त कर सकेंगे। इस प्रकार अदल-वदल मे वहुत समय और परिश्रम व्यय होता है। यदि आपको ऐसा व्यक्ति मिल भी जाय जो कपडा देकर गेहूँ लेना चाहता हो तो यह सम्भव है कि जिस मात्रा में आप कपडे और गेहूँ की अदल-वदल करना चाहते हैं उस पर वह सहमत न हो। यदि आप एक सेर गेहूँ के वदले में कम से कम एक गज कपडा लेना चाहते हो और दूसरा व्यक्ति एक गज कपडे के वदले डढ सेर गेहूँ चाहता हो तो भी अदल-वदल सम्भव न होगी। अर्थात् अदल-वदल की दूसरी कठिनाई यह है कि दोनो पक्षो में दुहरा सयोग ही न हो वरन् अदल-वदल की जानेवाली वस्तुओ की दर में भी समझौता हो।

जब किसी वस्तु का उप-विभाजन करने से उसका अर्घ कम हो जाता है जैसे गाय, मेज, कुर्सी, घडी इत्यादि, तव अदल-बदल में एक और कठिनाई का सामना करना पडता है। यदि आपके पास एक घडी है और आप उसके बदले मे गेहूँ, कपडा और आलू लेना चाहते है तो आपको ऐसा व्यक्ति ढूंढना होगा जिसके पास ये तीनो वस्तुएँ हो और जिस मात्रा में आप घडी की अदल-बदल इन वस्तुओ से करना चाहते हो वह कम से कम उसी मात्रा में उन वस्तुओ को देकर घडी लेने को तय्यार हो। अन्यथा आप घडी के बदले में गेहूँ, कपडा और आलू नही ले सकते। यदि ये वस्तुएँ तीन विभिन्न आदमियों के पास हैं तो यह सम्भव नही कि आप घडी का कुछ भाग आलूवाले को दे दे, कुछ कपड़े वाले को, और कुछ गेहूँवाले को। अर्थात् कुछ वस्तुओ का उप-विभाजन न होने के कारण अदल-बदल में बडी कठिनाई पडती है। द्रव्य का प्रचलन हो तो आप घडी बेचकर द्रव्य प्राप्त कर लें और फिर जिस मात्रा में चाहे गेहूँ, कपडा इत्यादि खरीद सकते हैं।

अदल-बदल की एक यह कठिनाई भी है कि हर बार विनिमय की दर तय करनी पडती है। यदि द्रव्य का प्रचलन हो तो प्रत्येक वस्तु का मूल्य द्रव्य में प्रकट किया जाता है जिसे आसानी से स्मरण रखा जा सकता है। यदि द्रव्य का प्रचलन न हो तो एक ही वस्तु का विनिमय अनेक वस्तुओ से होता है और जो विभिन्न वस्तुएँ उसके बदले में आप प्राप्त करते है उनकी मात्रा समान नही होती। जैसे एक घडी के बदले मे आप गेहूँ एक मन चाहते हो तो चावल, चना, कपडे इत्यादि की मात्रा विभिन्न होगी।

उक्त कठिनाइयो के कारण ही अदल-बदल की प्रथा ऐसी स्थिति मे ही पाई जाती है जहाँ मनुष्य की आवश्यकताएँ कम हो और श्रम-विभाजन तथा विशेषज्ञता का अधिक प्रसार न हुआ हो। यह भी आवश्यक है कि अदल-बदल करनेवाले व्यक्ति आसपास ही रहते हो और आपस में उनका परिचय हो जिससे वह एक दूसरे की आवश्यकता को जानते हो। तभी यह सम्भव है कि दो व्यक्तियो में दुहरा-संयोग स्थापित होने में अधिक समय न लगे। ऐसा समाज वर्तमान सभ्यता की दृष्टि से काफी पिछडा हुआ होगा।

उक्त कठिनाइयो को दूर करने के लिए द्रव्य का निर्माण हुआ। द्रव्य विनिमय का सामान्य माध्यम है और सर्वमान्य साधन भी है। द्रव्य के प्रचलन में प्रत्येक वस्तु का मूल्य द्रव्य में ही होता है और प्रत्येक विनिमय के कार्य द्रव्य द्वारा ही होते हैं। यदि किसी व्यक्ति के पास एक वस्तु है जिसकी उसको आवश्यकता नही है, बल्कि कुछ अन्य वस्तुओ की आवश्यकता है, तो वह अपनी वस्तु का द्रव्य द्वारा विक्रय कर सकता है और इस द्रव्य से अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ क्रय कर सकता है।

इस प्रकार एक विनिमय की क्रिया दो भागों में बँट जाती है —(१) वस्तु का विनिमय द्रव्य से। इसको विक्रय (Sale) कहते हैं। (२) द्रव्य का विनिमय वस्तु से। इसको क्रय (Purchase) कहते हैं।

साधारणतः वर्तमान काल में विनिमय की क्रियाएँ द्रव्य द्वारा ही होती हैं। परन्तु कहीं कहीं एक वस्तु का विनिमय दूसरी वस्तु से भी होता है। जैसे गाँवों में अब भी दर्जी या नाई या अन्य दस्तकारों को कुछ लोग उनके श्रम के बदले नाज देते हैं। भारत सरकार ने भी रूस, चीन इत्यादि देशों से व्यापार-सन्धियाँ की हैं जिनके अनुसार वह पटसन देकर उन देशों से नाज लेगी। उक्त क्रियाएँ पूर्ण रूप से अदल-बदल नहीं हैं, क्योंकि आजकल जब अदल-बदल की भी जाती है तो वास्तव में विभिन्न वस्तुओं के सापेक्षिक मूल्य का अनुमान द्रव्य में लगा लिया जाता है और द्रव्य का लेन-देन सहूलियत के कारण नहीं किया जाता।

अभ्यास के प्रश्न

१. विनिमय का अर्थ और उसके लाभ समझाइये।
२. "अर्घ और मूल्य" में और "अदल-बदल और क्रय-विक्रय" में अन्तर समझाइये।
३. 'अदल-बदल' की कठिनाइयाँ उदाहरण देकर समझाइये।

अध्याय १७

बाजार (Market)

साधारण बोलचाल मे बाजार से हमारा तात्पर्य एक ऐसे स्थान से होता है जहाँ वस्तुओ का क्रय-विक्रय होता है। प्रत्येक नगर व बडे-बडे गाँवो में बाजार होते है। बडे-बडे नगरो में अनेक बाजार होते है। इनमें से कुछ बाजार ऐसे होते है जिनमे केवल एक प्रकार की वस्तु का क्रय-विक्रय होता है, जैसे कपडे का बाजार या नाज का बाजार। कुछ बाजार ऐसे भी होते है जहाँ अनेक प्रकार की वस्तुएँ मिलती है और लोग वहाँ जाकर अपनी आवश्यकताओं की अनेक वस्तुएँ खरीदते है। अर्थशास्त्र में बाजार का अर्थ एक ऐसे सगठित स्थान से नही होता जहाँ एक या अनेक प्रकार की वस्तुएँ बेची या खरीदी जाती हों। इस दृष्टि से तो अर्थशास्त्र में बाजार बहुत फैला हुआ होता है। चाँदी या सोने का बाजार आर्थिक दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय होता है तो भी इन वस्तुओ के क्रेता-विक्रेता किसी एक विशेष स्थान पर एकत्रित नही होते वरन् सारे संसार में फैले होते है। अर्थशास्त्र में बाजार से हमारा तात्पर्य किसी एक वस्तु के बाजार से होता है और हमारा ध्यान उस वस्तु की ओर, जिसका क्रय-विक्रय होता है, तथा उसके क्रेता-विक्रेताओ की ओर आकर्षित होता है। हमारा अर्थ किसी एक विशेष दूकान, गोदाम इत्यादि से नही होता जहाँ बेचनेवाली वस्तुएँ रखी या दिखाई जाती है। आर्थिक दृष्टि से प्रत्येक वस्तु का अलग बाजार होता है अर्थात् जब हम बाजार कहते है तो हमारा तात्पर्य एक ही वस्तु के बाजार से होता है। यदि हमारा ध्यान एक से अधिक वस्तुओ की ओर है तो हम एक से अधिक बाजारो का विचार करते हैं। जितनी वस्तुओ का हम ध्यान करेंगे उतने ही बाजारो का विचार करना होगा; क्योकि जैसा हम बता चुके है अर्थशास्त्र मे एक बाजार एक ही वस्तु का होता है। ऐसे बाजार में क्रेता और विक्रेताओं मे प्रतिस्पर्धा होती है। यदि उनमे पूर्ण प्रतिस्पर्धा है तो उस वस्तु के सारे बाजार में किसी एक निश्चित समय पर उस वस्तु का एक ही मूल्य होगा। परन्तु ऐसा बाजार केवल काल्पनिक होता है और व्यावहारिक जीवन में कही नही पाया जाता। किसी भी बाजार मे पूर्ण प्रतिस्पर्धा न होने के कई कारण है, जैसे वस्तु को बाजार के एक भाग से दूसरे भाग में ले जाने से कुछ

व्यय (यातायात इत्यादि पर) करना होता है। विभिन्न भागो में उस वस्तु पर कर भी एक समान नही होता और क्रेता-विक्रेताओ को उसके प्रत्येक भाग की पूर्ण जानकारी भी नही होती है। इस कारण उसका मूल्य सारे वाजार में समान नही होता। परन्तु उस वस्तु के जो मूल्य उस वाजार के विभिन्न भागो में होते है उनमे किसी न किसी प्रकार का पारस्परिक सम्वन्ध होता है। किसी एक भाग में मूल्य वढने या घटने से अन्य भागो में भी उस वस्तु के मूल्य घटने या वढने की प्रवृत्ति होती है। यदि कोई भाग ऐसे है जिनमे उस वस्तु के मूल्य का दूसरे भागो से किसी प्रकार का भी सम्वन्ध नही है तो वह भाग अर्थशास्त्र की दृष्टि से उस वस्तु का एक अलग वाजार कहलायेगा। इस विवेचन से हम दो परिणामो पर पहुँचते है —(१) पूर्ण प्रतिस्पर्धा तो किसी वस्तु के किसी भी वाजार मे सम्भव नही और (२) यदि किसी वस्तु के वाजार के किसी भाग में प्रतिस्पर्धा का लेशमात्र भी नही है तो वह भाग उस वस्तु का दूसरा वाजार कहलायेगा। इससे स्पष्ट है कि किसी वस्तु के वाजार में क्रेता-विक्रेताओ मे न तो पूर्ण प्रतिस्पर्धा ही होती है और न ऐसा ही होता है कि उनमें प्रतिस्पर्धा का लेशमात्र भी न हो; वरन् उनमे कुछ प्रतिस्पर्धा होती है जिसके कारण उस वस्तु के वाजार के सारे क्षेत्र में उस वस्तु के मूल्य यदि वह समान नही है तो भी उनमे पारस्परिक सम्वन्व होता है। यदि पालक या मूली के मूल्य में दो स्थानो में कोई सम्वन्ध न हो अर्थात् इस वस्तु के दो स्थानो के क्रेता-विक्रेताओ मे प्रतिस्पर्धा लेशमात्र भी न हो, तो यह दो स्थान मूली या पालक के एक वाजार नही हो सकते।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जिस अर्थ में वाजार का प्रयोग हम अर्थशास्त्र में करते है उसके अनुसार हम कोई स्थान, सामग्री या पदार्थ को दिखाकर यह नही कह सकते है कि यह वाजार है। हमारा 'वाजार' तो केवल एक ऐसी अवस्था है जिसमें एक वस्तु की माँग व पूर्ति होती है और जव हम यह कहते है कि एक विशेप वस्तु का वाजार है तो हमारा यही अर्थ होता है कि उस वस्तु की माँग है और कुछ लोग उसको वेचने को भी तय्यार है। फलस्वरूप एक वस्तु के वाजार की परिभापा इस प्रकार दी जा सकती है कि वह एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ उस वस्तु के क्रेता और विक्रेताओ में पारस्परिक सम्वन्ध है, जिसके कारण उनको उन शक्तियो की जानकारी है जिनका उस वस्तु के मूल्य पर प्रभाव है, और जिस क्षेत्र में उस वस्तु के मूल्य असमान होने पर भी उनमें ऐसा पारस्परिक सम्वन्ध है जिमसे उस क्षेत्र के किसी भाग में वस्तु के मूल्य के परिवर्त्तन का अन्य भागो पर प्रभाव पडता है।

वर्तमान काल में ऐसे कुछ कारण हैं जिनसे वस्तुओ के बाजार के क्षेत्रो के विस्तार में सहायता मिली है। यातायात और सन्देश-वाहन के साधनो की उन्नति से यह सम्भव हो गया है कि वस्तुएँ दूर-दूर भेजी जा सके और उनके भेजने में यातायात पर व्यय अधिक नही होता है। साथ ही साथ वस्तुओ के मूल्य दूसरे स्थानो व देशो में क्या है इनका परिचय भी शीघ्र और सरलता से प्राप्त किया जा सकता है। इस कारण क्रेता-विक्रेताओ मे प्रतिस्पर्धा का क्षेत्र वढ जाता है। द्रव्य और साख के प्रचलन से भी दूर-दूर के स्थानो में विनिमय सम्भव है और सुगमता से हो सकता है। अच्छी वैंकिग प्रणाली भी इसमें सहायक है। इसके लिए द्रव्य का मूल्य स्थिर रहना आवश्यक है। प्रत्येक राज्य व अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाएँ यह प्रयत्न करती है कि प्रत्येक राज्य के द्रव्य का मूल्य अर्थात् उसकी विनिमय-शक्ति स्थिर रहे और उनकी वैंकिग प्रणाली कुशल और विश्वसनीय हो। यदि वस्तुओ के यातायात में चोरी या डकैती का डर हो तो उनके बाजार का क्षेत्र सकुचित हो जायेगा। इसी प्रकार यदि किसी देश मे राजनैतिक या आर्थिक उथल-पुथल हो तो उस देश से व्यापार करने मे लोग हिचकिचायेगे। इससे स्पष्ट है कि शाति, व्यवस्था और विश्वास की स्थापना ने भी वस्तुओ के बाजार का क्षेत्र बढाने में सहायता दी है।

जब हम किसी वस्तु के वाजार की चर्चा करते है तो हम उस बाजार को दो दृष्टिकोणो से देख सकते है। या तो हम उस वस्तु के बाजार का अध्ययन उसके क्षेत्र के विस्तार की दृष्टि से करे अर्थात् यह पता लगाये कि उनका क्षेत्र कितना बडा या कहाँ तक फैला हुआ है। ऐसे वाजार को उस वस्तु का स्थान-बाजार (Place Market) कहते है। एक वस्तु के वाजार का हम समय की दृष्टि से भी अध्ययन कर सकते है और उसको विभिन्न समयो के अनुसार समय सम्बन्धी बाजारो (Time Markets) में बाँट सकते है*। और इस वात का अध्ययन कर सकते है कि उस समय के अन्दर माँग और पूर्ति में सन्तुलन किस प्रकार स्थापित होता है।

किसी वस्तु का बाजार कितना विस्तृत है यह विभिन्न कारणो पर निर्भर होता है। एक वस्तु के विस्तृत बाजार के लिए उस वस्तु में निम्नलिखित गुणो का होना आवश्यक है —

उस वस्तु का प्रयोग सावारणतया अधिक और विस्तृत होना चाहिए। उसका उपभोग विश्वव्यापक होना चाहिए, जैसे रुई, गेहूँ, पटसन इत्यादि

---

* पृष्ठ १८३ देखिये।

गा, अन्यथा उसकी माँग दूर-दूर न होगी। यदि उसका उपयोग भिन्न-भिन्न प्रयोजनों के लिए किया जाता है तब भी उसका बाजार विस्तृत होगा। उस वस्तु की आवश्यकता लोगों को सदा और स्थिर रूप से होनी चाहिए और ऐसा नहीं कि कभी तो उनको आवश्यकता उसकी हो और अकस्मात् ही उनको उसकी आवश्यकता न रहे। ऐसा होने से उस वस्तु के उत्पादक दूर के स्थानों के लिए उसका उत्पादन करने में घबड़ायेंगे; क्योंकि वस्तु के उत्पादन और यातायात में कुछ समय लगता है और इस बीच में यदि उसकी माँग बहुत घट गई तो उनको अधिक हानि होगी।

वह वस्तु ऐसी होनी चाहिए जिसका वर्गीकरण हो सके। अर्थात् उसके ग्रेड (Grade) बनाये जा सकें और ग्रेड के बताने से ही उस वस्तु का पूर्ण परिचय हो जाय जिससे दूर-दूर के खरीददारों को उस वस्तु के सम्पूर्ण ढेर को देखने की आवश्यकता न हो। यह गुण गेहूँ, शक्कर कपास इत्यादि में पाये जाते हैं और उनकी ग्रेड या श्रेणी बतलाने से ही दूर-दूर के लोग उनकी विशेषताएँ समझ सकते हैं। या वह वस्तु ऐसी होनी चाहिए जिसका नमूना लिया जा सके और नमूने को देखकर ही लोग उसका क्रय-विक्रय करने को तय्यार हो जायें। या वस्तु ऐसी होनी चाहिए जिसकी जानकारी उसका वर्णन पढकर किया जा सके। या जिसकी पूर्ण जानकारी दृष्टान्त-चित्र या सचित्र सूचीपत्र द्वारा की जा सके जैसे अन्य मशीनें, रेल के इञ्जन, हवाई जहाज, मोटर इत्यादि। दूर-दूर के देशों के लोग उनके सचित्र सूचीपत्र पढकर ही क्रय-विक्रय कर लेते हैं।

वस्तु ऐसी भी होनी चाहिए जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर सुगमता से ले जाई जा सके और इसमें उसको कुछ हानि न पहुँचे। दूध, दही, पालक, मूली इत्यादि अधिक समय तक अच्छी दशा में नही रह सकते और दूर के स्थानों में ले जाने से खराब हो जाते हैं। इस कारण उनका बाजार विस्तृत नही हो सकता। बर्फ की पेटियो मे ले जाने की सुविधा से ऐसी वस्तुएँ अधिक समय तक टिक सकती हैं, परन्तु उनका मूल्य बढ जाता है। यह भी आवश्यक है कि उस वस्तु के यातायात पर व्यय उसके मूल्य का एक छोटा-सा भाग होना चाहिए अन्यथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने से उसका मूल्य बहुत बढ जायेगा। कुछ वस्तुएँ बहुत फैली हुई होती हैं और यातायात में बहुत स्थान घेरती हैं, जिस कारण यातायात का व्यय बहुत अधिक हो जाता है। ऐसी वस्तुएँ घास, भूसा, कडवी, कन्डे इत्यादि हैं। यह भी आवश्यक है कि वह वस्तु हल्की हो। यदि वह बहुत भारी हुई और उसका मूल्य कम है तो यातायात में व्यय अधिक होगा जिससे मूल्य दुगुना-तिगुना हो

जायेगा। ईंट और पत्थर का मूल्य तो इतना कम होता है और वजन इतना अधिक होता है कि वह दूर दूर नही ले जाये जाते।

यह भी आवश्यक है कि वस्तु की पूर्ति अधिक मात्रा मे होनी चाहिए अन्यथा दूर-दूर के स्थानो में उसकी माँग पूरी न की जा सकेगी।

किसी वस्तु का विस्तृत वाजार होने से यह लाभ होता है कि उसकी माँग अधिक स्थिर होती है; क्योकि यदि किसी एक भाग में माँग कम भी हो जाती है तो हो सकता है कि दूसरे भाग में वढ जाय और यदि किसी भाग में माँग वढ जाती है तो दूसरे भागो में घट जाती है। इस प्रकार एक भाग के माँग की वढती दूसरे भाग की घटती माँग को कुछ सीमा तक पूरी कर देती है। माँग की कुल वृद्धि या ह्रास अधिक नही होती और यदि माँग में वृद्धि या ह्रास अधिक हो तव भी वह सारी माँग का छोटा भाग होता है जिस कारण उसका प्रभाव कम पडता है। इससे उत्पादको को माँग की अधिक निश्चितता रहती है और वह वस्तु का उत्पादन अधिक स्थिरता से कर सकते है।

यहाँ यह वतला देना आवश्यक है कि जिन गुणों का हमने ऊपर वर्णन किया है उनके होने से किसी वस्तु का वाजार फैला हुआ और अधिक होता है, अर्थात् उसकी माँग व पूर्ति की मात्रा अधिक होती है और दूर-दूर फैली होती है। परन्तु कुछ वस्तुएँ ऐसी होती है कि उनमें उक्त लिखित सव गुण नही होते जिससे उनका वाजार फैला हुआ तो होता है परन्तु माँग और पूर्ति की मात्रा कम होती है। जैसे हीरे और जवाहरात के खरीददार ससार भर मे फैले होते है, परन्तु इन वस्तुओं की न तो पूर्ति अधिक होती है और न माँग ही। इस कारण इनके क्रय-विक्रय की मात्रा कम होती है।

अभ्यास के प्रश्न

१ "वाजार" की परिभाषा दीजिये और वतलाइये कि यह साधारण बोलचाल के अर्थ से किस प्रकार भिन्न है ?

२. सोना, चाँदी, रूई और गेहूँ का विस्तृत वाजार क्यो होता है? पूर्ण रूप से समझाइये।

अध्याय १८

माँग और पूर्ति (Demand & Supply)

मांग, मांग का नियम, मांग का कोष्ठक, मांग की वक्ररेखा और मांग की लचक का वर्णन हम अध्याय १३ और १४ में कर चुके हैं। यहाँ हम पूर्ति, पूर्ति के नियम इत्यादि का अध्ययन करेंगे।

पूर्ति (Supply) —पूर्ति से हमारा तात्पर्य किसी वस्तु की उस मात्रा से है जो एक निश्चित समय व निश्चित मूल्य पर बेचने के लिए प्रस्तुत की जाय। इस स्थिति में एक विक्रेता द्वारा उस वस्तु की जो मात्रा बेचने के लिए लाई जाती है वह एक व्यक्ति की पूर्ति कहलाती है और कुल विक्रेता उस वस्तु की जितनी मात्रा बेचने को तय्यार होते हैं वह बाजार की पूर्ति कहलाती है। किसी वस्तु की पूर्ति उन व्यक्तियो के द्वारा होती है जो उस वस्तु का उत्पादन करें या जिनके पास उसका स्टॉक (Stock) या भंडार हो। विक्रेता उस वस्तु को किसी दूसरी वस्तु या द्रव्य से विनिमय करने को तय्यार होता है अर्थात् उस वस्तु की पूर्ति करनेवाला उस वस्तु का तो विक्रेता होता है और कोई दूसरी वस्तु या द्रव्य का क्रेता। किसी वस्तु की पूर्ति करनेवाले के पास उस वस्तु की अनेक इकाइयाँ होती हैं। इन विभिन्न इकाइयो की उपयोगिता उस व्यक्ति के लिए क्रमानुसार घटती जाती है। मान लीजिये कि किसी व्यक्ति के पास पाँच पेन्सिल हैं जिनको वह बेचना चाहता है। सीमान्त उपयोगिता के ह्रास के नियम के अनुसार इन विभिन्न पेन्सिलो की उपयोगिता उसके लिए क्रमानुसार घटती जायेगी।

मान लीजिये कि उसको विभिन्न पेन्सिलो से निम्न उपयोगिता प्राप्त होती है —

पहली	पेन्सिल	से	प्राप्त	उपयोगिता	४	आने
दूसरी	,,	,,	,,	,,	३	,,
तीसरी	,,	,,	,,	,,	२	,,
चौथी	,,	,,	,,	,,	१॥	,,
पाँचवी	,,	,,	,,	,,	१	,,

इससे स्पष्ट है कि यदि पेन्सिलो का मूल्य एक आना है तो वह केवल पाँचवी पेन्सिल वेचने को तैयार होगा*। यदि मूल्य बढ़कर डेढ़ आना हो जाता है तो वह दो पेन्सिलें वेचने को तय्यार हो जायेगा। इस प्रकार जव मूल्य चार आने या उससे अधिक हो जाता है तो वह पाँचो पेन्सिलें वेचने को तय्यार हो जायेगा। सारांश यह है कि जैसे-जैसे मूल्य वढता है वह अधिक पेन्सिले वेचने को तय्यार होता है। इससे स्पष्ट है कि किसी वस्तु की पूर्ति उसके मूल्य पर निर्भर होती है। मूल्य मे परिवर्त्तन होने से उस वस्तु की पूर्ति में भी परिवर्त्तन होता है। अर्थात् किसी वस्तु की पूर्ति के वर्णन का विना उसके मूल्य के कुछ अर्थ नही होता। जव हम कहते है कि पेन्सिलो की पूर्ति १० है तो इसका यही अर्थ है कि एक निश्चित मूल्य पर ही पूर्ति १० है। मूल्य घटने से पूर्ति भी घट जायेगी और मूल्य वढने से पूर्ति को वढने की प्रवृत्ति होगी।

पूर्ति का नियम

पेन्सिलो के उक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि मूल्य वढने से वह विक्रेता अधिक पेन्सिलें वेचने को तय्यार है। मूल्य घटने पर वह पैन्सिलो की पूर्ति कम कर देता है। प्रत्येक विक्रेता की यही प्रवृत्ति होती है जिस कारण मूल्य वढने से वाजार में पूर्ति की मात्रा वढ जाती है और मूल्य घटने से पूर्ति की मात्रा भी घट जाती है। मूल्य वढने से जो स्टॉक उस समय है उसमें से अधिक मात्रा वेचने के लिए आती है। इसके अतिरिक्त विभिन्न उत्पादक उत्पादन में वृद्धि भी करते है, क्योकि वढे मूल्य मे उनको अधिक लाभ होता है। परन्तु जव मूल्य घट जाता है तो उनको हानि होती है

---

* पृष्ठ १०० देखिये। यहाँ यह वतला देना आवश्यक है कि जव हम वेची जानेवाली वस्तु की उपयोगिता का नाप द्रव्य मे करते है और कहते है कि अमुक विक्रेता के लिए एक पेन्सिल की उपयोगिता दो आने के वरावर है तो हमारा तात्पर्य यह होता है कि वह विक्रेता उस पेन्सिल को दो आने में वेचने को तय्यार है। अर्थात् जव उस विक्रेता के सामने यह निर्वाचन समस्या है कि या तो दो आने ले ले या पेन्सिल, तो वह दो आने ही प्राप्त करना चाहेगा।

पृष्ठ १०० मे उपयोगिता की द्रव्य में नाप के सम्वन्ध मे जो वर्णन किया है वह उपभोग या खरीदी जानेवाली वस्तुओ पर ही लागू होता है। यह सम्वन्ध वेची जानेवाली वस्तुओ के लिए, जैसा कि ऊपर वतलाया गया है, विपरीत होता है। प्रत्येक अर्थशास्त्र की पुस्तक में यह मान्यता मानी जाती है।

और वे उत्पादन घटा देते हैं। इससे स्पष्ट है कि मूल्य बढने पर पूर्ति की मात्रा में वृद्धि होती है और मूल्य घटने पर पूर्ति की मात्रा भी घट जाती है। इसी को पूर्ति का नियम कहते हैं। पूर्ति और मूल्य में सीधा सम्बन्ध है जब कि माँग और मूल्य मे विपरीत सम्बन्ध होता है।

पूर्ति, स्टॉक और प्रभावपूर्ण पूर्ति—किसी वस्तु के स्टॉक से हमारा तात्पर्य वस्तु की उस मात्रा से होता है जो एक निश्चित समय पर विक्रेताओं के पास या बाजार मे विद्यमान हो। किसी वस्तु की बनी बनाई और तय्यार मात्रा जो एक निश्चित समय मे विद्यमान हो वही उस वस्तु का स्टॉक कहलाता है। उक्त उदाहरण में उस विक्रेता के पास पेन्सिलो का स्टॉक पाँच है। पूर्ति स्टॉक पर निर्भर होती है और एक निश्चित समय स्टॉक से अधिक नही हो सकती। पूर्ति वह मात्रा है जो विक्रेता विभिन्न मूल्यो पर एक निश्चित समय में बेचने को तय्यार है। उक्त उदाहरण में यदि मूल्य एक आना है तो पूर्ति एक पेन्सिल होगी और मूल्य १।। आना है तो पूर्ति २ पेन्सिल होगी। जब मूल्य बढकर तीन आना हो जाता है तो पूर्ति चार पेन्सिल है। एक निश्चित समय मे पूर्ति की मात्रा बढने के लिए यह आवश्यक नही कि उत्पादन में भी वृद्धि हो; क्योकि मूल्य बढने से जिन व्यक्तियो के पास उस वस्तु का स्टॉक होता है वह स्टॉक का अधिक भाग बेचने को तय्यार हो जाते है। परन्तु दीर्घकाल मे स्टॉक स्वय पूर्ति पर निर्भर होता है। पूर्ति बेचने की इच्छा पर निर्भर होती है और बेचने की इच्छा उत्पादन पर। यदि आपको एक वस्तु की अधिक मात्रा बेचने की इच्छा है तो आपको उत्पादन भी अधिक करना ोगा। जब उत्पादन अधिक होगा तो स्टॉक में वृद्धि होगी और तभी पूर्ति की मात्रा बढ सकेगी। इस प्रकार स्टॉक भी पूर्ति पर निर्भर है।

प्रभावपूर्ण पूर्ति से हमारा तात्पर्य किसी वस्तु की उस मात्रा से होता है जो बाजार के प्रचलित मूल्य पर बेची जाय। उक्त उदाहरण मे जब बाजार मे मूल्य तीन आना है तब प्रभावपूर्ण पूर्ति चार पेन्सिल है। इस स्थिति मे स्टॉक पाँच पेन्सिल है। विभिन्न मूल्यो पर पूर्ति विभिन्न है और प्रभावपूर्ण पूर्ति चार है। जो मूल्य बाजार में एक निश्चित समय प्रचलित होता है वह सन्तुलन मूल्य (Equilibrium price) कहलाता है, क्योकि उस मूल्य पर उस समय प्रभावपूर्ण माँग और प्रभावपूर्ण पूर्ति बराबर होती है। जिस प्रकार सन्तुलन मूल्य पर प्रभावपूर्ण माँग निर्भर है, उसी प्रकार प्रभावपूर्ण पूर्ति भी उसी पर निर्भर है। जिस व्यक्ति मे बेचने की इच्छा होती है वह उस वस्तु की पूर्ति कर सकता है; परन्तु वह पूर्ति प्रभावपूर्ण होती है या नही, या किस मात्रा मे प्रभावपूर्ण होती है और किस मात्रा मे नहीं, यह उस वस्तु के मूल्य पर निर्भर है।

पूर्ति का कोष्ठक

जिस उदाहरण का ऊपर वर्णन किया गया है उसको निम्न कोष्ठक द्वारा दर्शाया गया है :—

मूल्य	पेन्सिलो की पूर्ति
१ आना	१
१½ ,,	२
२ ,,	३
३ ,,	४
४ ,,	५

इसी कोष्ठक को एक व्यक्ति की पूर्ति का कोष्ठक कहते है। इस कोष्ठक मे एक ओर मूल्य दिया होता है और दूसरी ओर प्रत्येक मूल्य के सामने वस्तुओ की वह मात्रा जो उस मूल्य पर वह व्यक्ति वेचने को तय्यार है। यह कोष्ठक यह वतलाता है कि एक निश्चित समय और स्थान पर एक विशेष व्यक्ति पेन्सिलो की कितनी इकाइयाँ विभिन्न मूल्यो पर वेचने को तय्यार है। किसी और समय या स्थान पर यह आवश्यक नही कि वही व्यक्ति उक्त लिखित मूल्यो पर उक्त लिखित मात्राएँ ही वेचे; क्योकि उस समय यह सम्भव है कि अनेक परिवर्त्तनो के कारण वह पूर्त्ति की मात्रा भी वदल दे।

उक्त कोष्ठक एक व्यक्ति की पूर्ति वतलाता है। यदि एक वाजार में जितने भी व्यक्ति उस वस्तु के विक्रेता है, उन सवकी पूर्ति का योग निकाल लें तो हम वाजार की पूर्ति मालूम कर सकते है। यदि इस योग को एक कोष्ठक का रूप दे दें तो वह कोष्ठक वाजार की एक विशेष समय की पूर्ति का कोष्ठक कहलायेगा। इसका उदाहरण नीचे दिया गया है—

वाजार की पूर्ति का कोष्ठक

मूल्य आनो मे	पेन्सिलो की पूर्ति
६	९०
५	८०
४	७०
३	५०
२	३०
१½	२०
१	१०

एक व्यक्ति की पूर्ति का कोष्ठक या बाजार की पूर्ति के कोष्ठक को हम वक्ररेखा द्वारा भी दर्शा सकते है। निम्न ग्राफ उक्त लिखित बाजार की पूर्ति के कोष्ठक को स्पष्ट करता है।
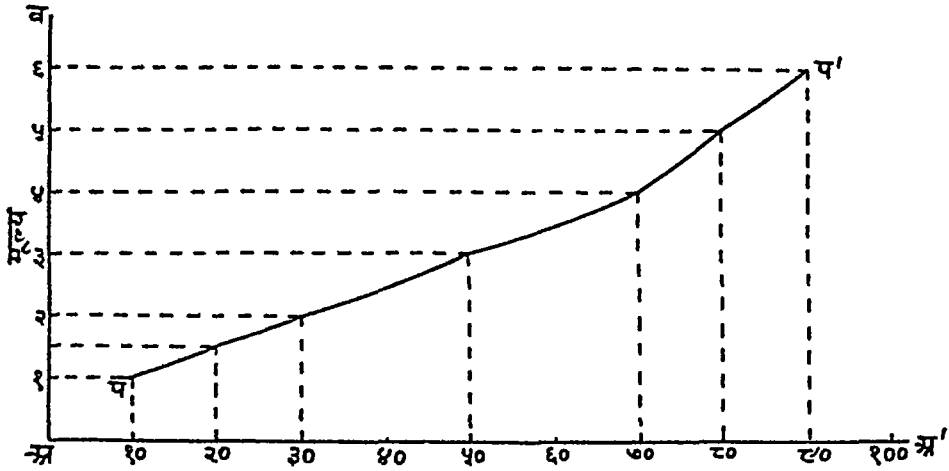
पेन्सिलो की इकाई

अ अ' पर पेन्सिलो की इकाई नापी गई है। और अ ब पर मूल्य। प प' पूर्ति की वक्ररेखा (Supply Curve) कहलाती है। यदि बाजार में पेन्सिलो का मूल्य ३ आना है तो प्रभावपूर्ण पूर्ति ५० पेन्सिलें है। उक्त कोष्ठक के अनुसार जब मूल्य ६ आना है, तो पूर्ति ९० पेन्सिलें है और जब मूल्य ४ आना है तो पूर्ति घट कर ७० पेन्सिलें हो जाती है। अर्थात् ६ आना, ५ आना ४ आना, ३ आना इत्यादि विभिन्न पूर्ति के मूल्य (Supply prices) है, और ९०, ८०, ७०, ५० इत्यादि पूर्ति की मात्राएँ है।

साधारणत पूर्ति की वक्ररेखा औसत लागत की वक्ररेखा होती है। उक्त उदाहरण मे यह वक्ररेखा बाईं ओर से दाहिनी ओर को चढती जाती है। इसका आकार माँग की वक्ररेखा (जो बाईं ओर से दाहिनी ओर झुकती जाती है) से भिन्न है। उक्त वक्ररेखा ऐसी वस्तु की पूर्ति की वक्ररेखा है जिसका उत्पादन औसत लागत की वृद्धि के नियम के अधीन होता है। यदि उत्पादन औसत लागत के ह्रास के नियम के अनुसार हो तो पूर्ति की वक्ररेखा माँग की वक्ररेखा के समान बाईं ओर से दाहिनी ओर झुकती जायेगी जैसा नीचे दर्शाया गया है।
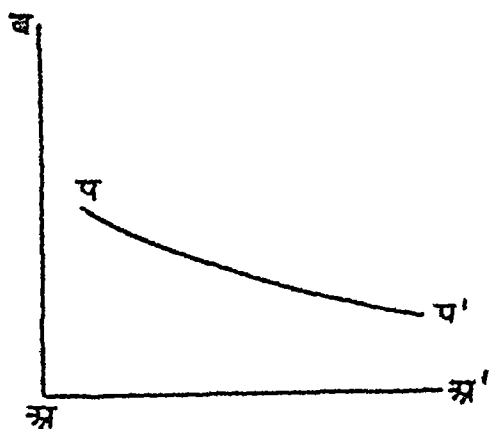
यदि उत्पादन औसत लागत की स्थिरता के नियम के अनुसार हो तो पूर्ति की वक्ररेखा लेटी हुई होगी और मात्रा की अक्षरेखा के समानान्तर और मूल्य की वक्ररेखा पर लम्ब होगी जैसा नीचे दर्शाया गया है—
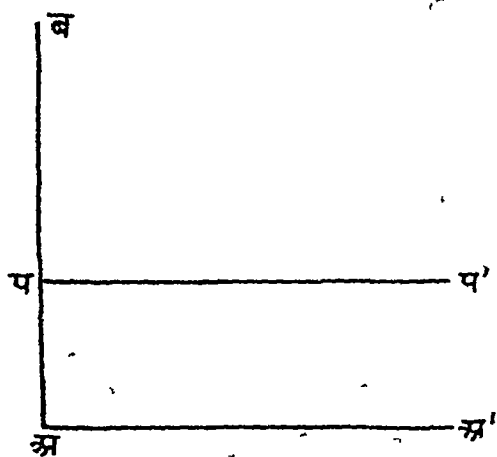
पूर्ति की लचक (Elasticity of Supply)

माँग की लचक के समान हम पूर्ति की लचक का भी वर्णन कर सकते है। अर्थात् इस बात का अध्ययन कर सकते है कि मूल्य मे परिवर्त्तन होने से पूर्ति की मात्रा मे कितनी वृद्धि या कमी होती है। पूर्ति की लचक का अनुमान हम इस बात से लगा सकते है कि मूल्य में परिवर्त्तन होने से पूर्ति की मात्रा में कितना परिवर्त्तन होता है। यह ध्यान मे रखना

आवश्यक है कि प्रत्येक वस्तु की पूर्ति की लचक समान नही होती और न ऐसा ही है कि एक वस्तु की पूर्ति की लचक विभिन्न समयो पर और उत्पादन की विभिन्न स्थितियो में समान ही रहे। यदि मूल्य घटने पर पूर्ति शून्य रह जाती है तो ऐसी वस्तु की पूर्ति पूर्णतया लचकदार (Perfectly elastic) होती है। और यदि मूल्य मे परिवर्त्तन होने से पूर्ति की मात्रा मे कोई परिवर्त्तन नही होता अर्थात् विभिन्न मूल्यो पर पूर्ति की मात्रा स्थिर रहती है तो उस वस्तु की पूर्ति पूर्णतया वे-लचकदार (Perfectly inelastic) कहलाती है। व्यावहारिक जीवन मे ऐसी वस्तुएँ वहुत कम होती है जिनकी पूर्ति की लचक पूर्णतया लचकदार या पूर्णतया वे-लचकदार हो। अधिकतर वस्तुओ की पूर्ति की लचक इन दो सीमाओ के वीच में ही होती है।

यदि कोई वस्तु अधिक समय तक नही रखी जा सकती तो उसकी पूर्ति की लचक कम होगी, क्योकि मूल्य कम होने पर भी उसको वेचना ही पडेगा अन्यथा वह खराव हो जायेगी। दूध व हरे साग इत्यादि की पूर्ति की लचक एक निश्चित समय में कम होती है, क्योकि उत्पादन के वाद उनके स्टॉक और पूर्ति में अधिक अन्तर नही हो सकता।

यदि कोई वस्तु एक स्थान से दूसरे स्थान पर आसानी से ले जायी जा सकती है और उसकी पूर्ति के अनेक स्रोत हैं तो उसकी माँग अधिक लचकदार होगी। एक स्थान पर मूल्य वढने से उसकी पूर्ति की मात्रा दूसरे स्थानो से उस वस्तु को मँगाकर आसानी से वढा दी जायेगी और एक स्थान पर मूल्य घटने से उस वस्तु की पूर्ति की मात्रा उस स्थान पर कम कर दी जायेगी, क्योकि ऐसी स्थिति में दूसरे स्थानो मे उसकी पूर्ति वढा दी जायेगी।

यदि किसी वस्तु का उत्पादन सरलता से घटाया-वढाया नही जा सकता तो उसकी पूर्ति की लचक कम होगी, क्योकि ऐसी स्थिति मे मूल्य में परिवर्त्तन होने से उत्पादन में परिवर्त्तन करने में कठिनाई पडती है। किसी वस्तु की पूर्ति की लचक इस पर भी निर्भर है कि उस वस्तु के उत्पादनो के साधनो को वढाने या घटाने मे कुछ कठिनाइयाँ पडती है या नही। यदि उनकी मात्रा आसानी से वढाई-घटाई जा सकती है तो पूर्ति की लचक अधिक होगी, अन्यथा नही। लडाई के उपरात वडे-वडे शहरो में मकानो की माँग वहुत वढ गई, परन्तु पूर्ति में इतनी वृद्धि न हुई जिसका कारण यह है कि मकानो को वनाने के साधन लोहा, ईंट, चूना, सीमेंट इत्यादि आसानी से नही वढाये जा सकते।

पूर्ति की लचक इस पर भी निर्भर है कि पूर्ति में परिवर्त्तन होने के लिए कितना समय मिलता है। यदि अधिक समय है तो पूर्ति मे वृद्धि

या कमी आसानी से हो सकेगी, क्योकि उत्पादन के साधनो में वृद्धि या कमी करने का अवकाश मिल जाता है। यदि समय थोडा है तो पूर्ति की लचक भी कम होगी, क्योकि उतने समय में उस वस्तु के उत्पादन मे अधिक परिवर्त्तन सम्भव न होगा और पूर्ति की मात्रा उस वस्तु के स्टॉक पर ही निर्भर होगी। यदि भविष्य में मूल्य में वृद्धि होने की सभावना है और उत्पादको में उसका स्टॉक जमा रखने की शक्ति है तो वर्तमान में पूर्ति की मात्रा में कमी हो जायेगी। जब भविष्य में मूल्य में ह्रास होने की सभावना है तो वर्तमान में पूर्ति की मात्रा अधिक हो जायेगी। इन कारणो से किसी वस्तु की पूर्ति में अधिक लचक आ जाती है।

अभ्यास के प्रश्न

१ पूर्ति, स्टॉक और प्रभावपूर्ण पूर्ति मे अन्तर समझाइये।

२ पूर्ति का नियम समझाइये और बतलाइये कि किसी वस्तु की पूर्ति की लचक किन कारणो पर निर्भर होती है।

अध्याय १६

अर्घ का सिद्धान्त (Theory of Value)

अर्घ का सिद्धान्त समझाने से पहले कुछ प्रारम्भिक विचारो पर ध्यान देना आवश्यक है। सबसे प्रथम प्रश्न यह उठता है कि किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक क्रेता मूल्य देने को क्यो तय्यार होता है और उसको वह मूल्य क्यो देना पडता है? व्यावहारिक ससार में वस्तुएँ मुफ्त नही मिलती। परन्तु उनमे मानवी आवश्यकताओ की पूर्ति करने की शक्ति होती है। वस्तुओ मे जो उपयोगिता होती है उसी के कारण मनुष्य या तो परिश्रम करके उनका उत्पादन स्वय करता है या दूसरे उत्पादको से उनको मोल लेता है। हम किसी वस्तु का जो मूल्य देते है वह उसकी उपयोगिता से अधिक नही हो सकता। अनेक वस्तुओ मे उपयोगिता तो अधिक होती है परन्तु वह इतनी दुर्लभ नही होती, जैसे हवा। हम साँस लेने के लिए साधारणत हवा किसी से मोल नही लेते। उसके उपभोग के लिए हमको स्वय परिश्रम करना पडता है, क्योकि हमारी ओर से दूसरा व्यक्ति साँस नही ले सकता है। परन्तु निमोनिया होने से जब फेफडे कमजोर हो जाते है तो साधारण हवा से साँस कठिनाई से लिया जाता है और ऐसे व्यक्ति को औक्सीजन दिया जाता है। औक्सीजन साधारण हवा से अधिक दुर्लभ होता है और उसका उत्पादन प्रत्येक व्यक्ति कर भी नही सकता। एक निमोनिया के रोगी के लिए उसमे अधिक उपयोगिता होती है और ऐसे रोगी को उसे मोल लेना पडता है। वस्तुओ की उपयोगिता और दुर्लभता के ही कारण उनके उत्पादक या स्वामी उन वस्तुओ को बिना मूल्य लिए दूसरे व्यक्ति को नही देते। यदि वस्तुएं असीमित मात्रा मे हो तो हमे उनको मोल लेने की आवश्यकता नही होती, जैसे हवा या नदी के किनारे पानी*। इन वस्तुओ को प्राप्त करने के

---

* ये वस्तुएँ केवल इसी अर्थ मे असीमित है कि प्रकृति इनका मूल्य मनुष्य से नही माँगती और प्रत्येक मनुष्य इन वस्तुओ का चाहे जिस मात्रा मे उपभोग कर सकता है। परन्तु इनके 'अपनाने और उपभोग मे भी परिश्रम करना पडता है और इसी कारण यह भी सीमित है। ये वस्तुएँ भी इस अर्थ में असीमित नही कि इनके उपभोग या अपनाने में कुछ परिश्रम नही करना पडता।

लिए हमें स्वयं परिश्रम करना पड़ता है परन्तु हमें प्रकृति को इनका मूल्य नही देना पड़ता है। एक गहरी खान के अन्दर हवा या रेगिस्तान में पानी यदि प्रकृति न दे तो किसी दूसरे व्यक्ति से मोल लेना होगा। जो व्यक्ति वस्तुएँ उत्पादन करता है या उनका स्वामी होता है उसको उन वस्तुओ के प्राप्त करने में कुछ परिश्रम या धन का व्यय करना होता है और इस कारण वह उन्हे मुफ्त नही देता है। जो वस्तुएँ एक उत्पादक उत्पन्न करता है उसकी उसके लिए भी कुछ उपयोगिता होती है। यदि उत्पादन के बाद उसका मूल्य लागत से कम हो जाता है तो भी वह इस उपयोगिता से कम पर उस वस्तु का विक्रय न करेगा। यदि उस वस्तु का मूल्य इस उपयोगिता से अधिक है और लागत से कम, तो वह उस उत्पादित वस्तु को तो बेच देगा परन्तु उस वस्तु की और इकाइयो का उत्पादन न करेगा, क्योंकि मूल्य उसकी लागत से कम है और इस कारण उसको इस वस्तु के उत्पादन से हानि होती है।

लागत (Cost)

किसी वस्तु के उत्पादन में उत्पादन के अनेक साधनो को कुछ कष्ट सहना पड़ता है या कुछ त्याग करना पड़ता है। किसी वस्तु के उत्पादन मे शारीरिक या मानसिक परिश्रम करना पड़ता है अर्थात् शारीरिक या मानसिक विश्राम का त्याग करना पड़ता है, पूँजीपति को अपने धन का उपभोग त्यागना पड़ता है, इत्यादि। किसी वस्तु के उत्पादन में जो वास्तविक श्रम और त्याग लगाना पड़ता है वही उस वस्तु की वास्तविक लागत (Real Cost) कहलाती है। जब इस वास्तविक लागत को द्रव्य में नापा जाता है तो वह उसकी द्राव्यिक लागत (Money Cost) कहलाती है। उत्पादन की लागत (Cost of Production) मे उस वस्तु के उत्पादन में जितना भी व्यय किया जाता है सब सम्मिलित होता है। अर्थात् जो वेतन या पुरस्कार उत्पादन के विभिन्न साधनो को दिया जाता है उसका योग ही उस वस्तु के उत्पादन की लागत कहा जाता है। कच्चे माल का मूल्य, मानसिक और शारीरिक परिश्रम का प्रतिफल, पूँजी पर ब्याज, साहस करने का पुरस्कार, मकान, मशीन व फर्निचर इत्यादि की टूट-फूट और प्रयोग से हटने (Obsolescence) का घाटा, कच्चे माल, मशीन, उत्पादित माल के बीमे पर व्यय व कर इत्यादि उत्पादन की लागत में सम्मिलित होते हैं। इसमे जो परिश्रम या त्याग उत्पादक स्वयं करता है उसका पुरस्कार भी सम्मिलित होता है।

कुल लागत (Total Cost)—कुल इकाइयो के उत्पादन में जितना व्यय होता है उसको कुल इकाइयों की कुल लागत कहते है। इसमे जो

इत्यादि। अल्पकाल में इस भाग में वस्तु की उत्पादित मात्रा में कुछ वृद्धि या कमी होने से कुछ परिवर्तन नहीं होता है। परन्तु जब उत्पादन इतना बढ़ा दिया जाय जिससे अधिक कारखाने की जगह, उच्च अधिकारियों की संख्या और पूंजी इत्यादि से काम न चले तो कुल लागत के इस भाग में भी वृद्धि होती है। सारांश यह है कि स्थिर लागत अल्पकाल में स्थिर होती है परन्तु दीर्घकाल में उसमें भी परिवर्तन हो सकता है।

परिवर्तित लागत उत्पादित वस्तु की मात्रा पर निर्भर होती है। यदि उत्पादन की मात्रा में वृद्धि हो तो लागत के इस भाग में भी वृद्धि होती है और जब उत्पादन की मात्रा में कमी हो तो परिवर्तित लागत भी कम हो जाती है। जब उत्पादन शून्य होता है तो परिवर्तित लागत भी शून्य होती है। इस लागत में कच्चे माल का मूल्य, साधारण कर्मचारी और मजूरों का वेतन और वस्तु के बेचने का व्यय इत्यादि सम्मिलित होते हैं। अल्पकाल में वस्तु का मूल्य कम से कम इस लागत के बराबर होना चाहिए अन्यथा उत्पादन कम या बिल्कुल बन्द कर दिया जायेगा। अर्थात् अल्पकाल में मूल्य परिवर्तित लागत से कम नहीं हो सकता। दीर्घकाल में मूल्य परिवर्तित लागत और स्थिर लागत के योग अर्थात् कुल लागत से कम नहीं होना चाहिए अन्यथा उत्पादन बन्द कर दिया जायेगा।

औसत लागत (Average Cost)—यदि कुल लागत में उत्पादित वस्तु की इकाई का भाग दे दिया जाय तो उस वस्तु की एक इकाई की

औसत लागत निकल आयेगी। अर्थात्

$$\text{औसत लागत} = \frac{\text{कुल लागत}}{\text{उत्पादित वस्तु की कुल इकाइयाँ}}$$

सीमान्त लागत (Marginal Cost) :—किसी वस्तु की सीमान्त या अन्तिम इकाई के उत्पादन करने की लागत को सीमान्त लागत कहते हैं। पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में एक वस्तु के अनेक उत्पादक और विक्रेता होते हैं इनमें से कुछ अधिक कार्यक्षम होते हैं और कुछ कम परन्तु इन सबके उत्पादन की मात्रा की आवश्यकता बाजार की कुल पूर्ति को माँग के बराबर करने के लिए होती है। पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में प्रत्येक फर्म औसत लागत की वृद्धि के नियम के अनुसार उत्पादन करती है*। इस कारण प्रत्येक फर्म की सीमान्त लागत जैसे-जैसे उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होती है बढ़ती जाती है। प्रत्येक फर्म जिनकी कार्यक्षमता विभिन्न है उस वस्तु का उत्पादन उस इकाई तक करती चली जाती हैं जब तक सीमान्त लागत मूल्य से कम होती है और उत्पादन उसी इकाई पर रोकती है जब सीमान्त लागत मूल्य के बराबर हो जाती है। इसके बाद उत्पादन करने से फर्म को हानि होगी क्योंकि सीमान्त लागत में वृद्धि होगी और मूल्य इससे कम होगा। अर्थात् सीमान्त लागत सबसे कम कार्यक्षमता वाली फर्म की अन्तिम इकाई की लागत के बराबर होती है और मूल्य इस लागत के बराबर। अन्यथा वह फर्म उत्पादन कम कर देगी जिससे उस मूल्य पर पूर्ति की मात्रा माँग से कम होगी। यह सीमान्त लागत प्रत्येक फर्म की सीमान्त लागत के भी बराबर होती है, क्योंकि अधिक कार्यक्षमता वाली फर्में कम कार्यक्षमता वाली फर्म से सस्ती लागत पर उत्पादन तो अवश्य करती हैं, परन्तु ये फर्में भी अपने उत्पादन में वृद्धि करती जाती हैं, जब तक एक इकाई अधिक उत्पादन करने की लागत मूल्य से कम होती है। अर्थात् यह फर्में भी उत्पादन तभी रोकती हैं जब इनकी सीमान्त लागत सबसे कम कार्यक्षमता वाली फर्म की सीमान्त लागत के बराबर आ जाती है। इस कारण सन्तुलन की स्थिति में (Position of equilibrium) प्रत्येक फर्म की सीमान्त लागत बराबर होती है और वह मूल्य के बराबर भी होती है। यदि किसी फर्म की सीमान्त लागत इससे अधिक है तो वह उन इकाइयों का उत्पादन बन्द कर देगी जिनकी सीमान्त लागत मूल्य से अधिक है और यदि किसी फर्म की सीमान्त लागत इससे कम है तो वह उत्पादन बढ़ा देगी जिससे उस फर्म की सीमान्त लागत में वृद्धि होगी और वह फर्म उत्पादन उस समय रोक देगी जब उसकी सीमान्त लागत मूल्य के बराबर हो जायेगी।

---

* पृष्ठ १७० देखिये।

पूर्ति का मूल्य (Supply Price) —पूर्ति का मूल्य वह मूल्य होता है जिस पर विक्रेता अपने उत्पादित माल को बेचने को तय्यार हो। पूर्ति का मूल्य माँग पर निर्भर होता है। अधिक माँग होने से इस मूल्य में वृद्धि होती है और माँग घटने से पूर्ति का मूल्य भी घट जाता है। दीर्घ-काल में यह मूल्य उत्पादन की लागत के बराबर होता है। यदि उत्पा-दन की लागत से यह मूल्य अधिक होता है तो उत्पादकों को अधिक मुनाफा होता है जिससे वह उत्पादन बढ़ा देते हैं और नई फर्मे भी उस वस्तु का उत्पादन आरम्भ कर देती हैं। इससे पूर्ति में वृद्धि होती है और मूल्य घट जाता है। यदि मूल्य उत्पादन की लागत से कम होता है तो उत्पादकों को हानि होती है जिससे वे उत्पादन कम कर देते हैं और पूर्ति की मात्रा कम होने से मूल्य मे वृद्धि होती है। अर्थात् दीर्घकाल मे पूर्ति का मूल्य उत्पादन की लागत के बराबर होता है। ऐसा पूर्ण प्रति-स्पर्धा की स्थिति मे ही होता है। पूर्ति का मूल्य वही मूल्य होता है जिस पर विक्रेता अपना माल अपनी इच्छा और प्रसन्नता से बेचने को तय्यार होते हैं। यह कम से कम वह मूल्य होता है जिससे कम पर उत्पादक अपना माल बेचने को तय्यार नही होते।

कुल आय (Total Revenue) —जब एक विक्रेता एक वस्तु की अनेक इकाइयों को बेचता है तो उन वस्तुओं का कुल मूल्य जो वह प्राप्त करता है वही कुल आय कहलाती है। यदि एक किसान दस मन गेहूँ १५ रु० प्रति मन की दर से बेचे तो कुल आय १५० रु० हुई। अर्थात् कुल आय = मूल्य × वस्तु की कुल बेची गई इकाइयाँ।

औसत आय (Average Revenue) —यदि कुल आय को बेची हुई वस्तु की कुल इकाइयों मे भाग दे दिया जाय तो औसत आय प्राप्त होती है। अर्थात्,

$$\text{औसत आय} = \frac{\text{कुल आय}}{\text{वस्तु की बेची गई कुल इकाइयाँ}}$$

इससे स्पष्ट है कि औसत आय मूल्य के बराबर होती है जब प्रत्येक इकाई का मूल्य समान हो। साधारणत माँग की वक्ररेखा औसत आय की वक्ररेखा होती है, क्योंकि उस वक्ररेखा मे हमको यह पता चलता है कि वस्तु की विभिन्न मात्राएँ किस मूल्य या औसत आय पर बेची जा सकती है। पृष्ठ ११८ के उदाहरण मे जब माँग ६०० रोटियाँ है तो मूल्य या औसत आय ४ आना है और कुल आय ६००×४=२४०० आने। जब माँग ७०० रोटियाँ है और यदि विक्रेता ७०० रोटियाँ बेचना चाहे तो मूल्य या औसत आय ३ आना होगी और कुल आय ७००×३=२१०० आने होगी। अर्थात् जैसे जैसे वस्तु की बिक्री की मात्रा मे वृद्धि होती है

वैसे-वैसे मूल्य या औसत आय कम होती जाती है। यह पृष्ठ १२४ के कोष्ठक से भी स्पष्ट है। यदि विक्रेता ६०० सेर टमाटर वेचना चाहते है तो वह ३ आने सेर की दर से बिक सकते है। यदि वह ९०० सेर टमाटर वेचना चाहते है तो उन्हे मूल्य घटाकर २ आना प्रति सेर करना होगा और उस स्थिति मे औसत आय भी २ आना होगी। उसी कोष्ठक मे क्रेताओ द्वारा किया गया कुल व्यय विक्रेताओ की कुल आय है। कुल आय उस उदाहरण मे पहले घटती है और फिर वढने लगती है और मूल्य वहुत कम होने पर फिर घटने लगती है। अर्थात् कुल आय के लिए औसत आय की तरह एक समान नियम नही। अधिक मात्रा मे वस्तु तभी बिक सकती है जव मूल्य या औसत आय मे कमी हो। परन्तु वस्तु की अधिक मात्रा वेचने से यह आवश्यक नही कि कुल आय मे वृद्धि ही हो। जव वस्तु की माँग की लचक एक से कम होती है तव वस्तु की अधिक मात्रा वेचने से कुल आय मे कमी होती है और जव वस्तु की माँग की लचक एक से अधिक होती है तो वस्तु की अधिक मात्रा वेचने से कुल आय में वृद्धि होती है। जव माँग की लचक एक के वरावर होती है तो वस्तु की वेची गई मात्रा मे परिवर्त्तन होने से कुल आय मे परिवर्त्तन नही होता। यह पृष्ठ १२४ के उदाहरण से स्पष्ट है।

सीमान्त आय (Marginal Revenue) —कुल आय मे अन्तिम या सीमान्त इकाई वेचने से जो वृद्धि होती है उसको सीमान्त आय कहते है। निम्न उदाहरण मे यह स्पष्ट हो जायेगा—

कुल बिक्री की इकाइयाँ	मूल्य (या औसत आय)	कुल आय	सीमान्त आय
१	१५ रु०	१५ रु०	१५ रु०
२	१४ रु०	२८ रु०	२८—१५ = १३ रु०
३	१३ रु०	३९ रु०	३९—२८ = ११ रु०
४	१२ रु०	४८ रु०	४८—३९ = ९ रु०
५	११ रु०	५५ रु०	५५—४८ = ७ रु०
६	१० रु०	६० रु०	६०—५५ = ५ रु०

जव विक्री २ इकाई है तो कुल आय २८ रु० है। यदि एक इकाई अधिक वेचनी है तो मूल्य घटाना होगा और इस कारण ३ इकाइयाँ १३ रु० प्रति इकाई की दर से ही बिकेगी। तो कुल आय ३९ रु० हुई जो २८ रु० थी जव वेची गई इकाइयाँ २ थी। अर्थात् एक इकाई अधिक वेचने मे कुल आय में ११ रु० की वृद्धि होती है। सारांश यह है कि जव कुल

बिक्री ३ इकाइयाँ है तो सीमान्त आय ११ रु० ही है। इसी प्रकार जब कुल बिक्री ५ इकाइयाँ है तो सीमान्त आय ७ रु० है।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा (Perfect Competition), एकाधिकार (Monopoly) और अपूर्ण प्रतिस्पर्धा (Imperfect Competition)

प्रत्येक विक्रेता अपनी वस्तुएँ बेचकर अधिकतम नफा उठाना चाहता है। इस कारण वह दूसरे विक्रेताओ के ग्राहको को तोडकर अपना ग्राहक बनाना चाहता है। दूसरे के ग्राहको को अपनी ओर खीचने का जो प्रयत्न विक्रेता करते है उसीको प्रतिस्पर्धा कहते है। एक विक्रेता दूसरे के ग्राहकों को तभी तोड सकता है जब वह वस्तु का मूल्य सस्ता कर दे या उन ग्राहको को ऐसी सुविधाएँ दे जो दूसरे विक्रेता नही देते है। जैसे वह उनको वस्तुएँ उधार देने लगे या वस्तुएँ उनके घर पर ही स्वय पहुँचा दे। ऐसी सुविधाएँ एक प्रकार से वस्तु का मूल्य घटाने के समान ही है, क्योकि समान मूल्य होने पर ग्राहक ऐसे विक्रेता से ही वस्तुएँ लेना पसन्द करेगे जो अधिक सुविधाएँ देता हो। पूर्ण प्रतिस्पर्धा ऐसी स्थिति को कहते है जब एक विक्रेता मूल्य मे थोडी सी ही कमी करने से दूसरे विक्रेताओ के कुल ग्राहको को तोड सकता है अर्थात् पूर्ण प्रतिस्पर्धा मे जो विक्रेता अधिक मूल्य माँगते है उनकी बिक्री शून्य होती है, क्योकि प्रत्येक ग्राहक सबसे सस्ते विक्रेता से ही वस्तु मोल लेता है। पूर्ण प्रतिस्पर्धा में निम्न बातें आवश्यक होती है —

(१) क्रेता और विक्रेताओ की सख्या बहुत अधिक होती है जिस कारण माँग और पूर्ति की मात्रा शीघ्र ही बराबर हो जाती है। यदि मूल्य मे वृद्धि होती है तो इन विभिन्न विक्रेताओ के प्रयत्न द्वारा पूर्ति शीघ्र ही अधिक हो जाती है और जब मूल्य मे कमी होती है तो उन्ही के प्रयत्नो द्वारा पूर्ति भी शीघ्र ही कम हो जाती है। इसी तरह मूल्य कम होने से क्रेताओ की माँग बढ जाती है। साराश यह है कि मूल्य में परिवर्त्तन होने से पूर्ति और माँग की मात्रा मे शीघ्र परिवर्त्तन हो जाता है और परिवर्त्तन की प्रवृत्ति तभी रुकती है जब किसी मूल्य पर माँग और पूर्ति की मात्रा बराबर हो जाय।

(२) क्रेता या विक्रेताओ मे परस्पर वस्तु के मूल्य या उसकी मात्रा के सम्बन्ध मे कोई समझौता नही होता, जिस कारण एक या अधिक विक्रेताओ का मूल्य पर कुछ नियन्त्रण नही होता। इसीसे प्रत्येक क्रेता-विक्रेता वस्तु एक ही मूल्य पर खरीदते-बेचते है। यदि किसी विक्रेता का

मूल्य इससे थोडा भी अधिक है तो उसकी बिक्री शून्य होगी ; क्योंकि कोई भी क्रेता अधिक मूल्य देने को तय्यार न होगा।

(३) प्रत्येक क्रेता और विक्रेता को माँग और पूर्ति का पूर्ण ज्ञान होता है अर्थात् उनको मालूम होता है कि माँग और पूर्ति में किन कारणों से कब और कितनी वृद्धि या कमी हो सकती है। इस ज्ञान द्वारा वह अपने क्रय-विक्रय मे परिवर्तन कर सकते है।

(४) एक विक्रेता से दूसरे विक्रेता के पास ग्राहक स्वतन्त्रता और आसानी से चले जाते है, अर्थात् कोई ग्राहक किसी विक्रेता से किसी प्रकार बंधा हुआ नही होता और न उस पर किसी प्रकार का दबाव ही होता है। एक विक्रेता से दूसरे विक्रेता के पास जाने मे प्रत्येक क्रेता को किसी रुकावट का सामना नही करना पडता है।

(५) जब पूर्ण प्रतिस्पर्धा मे वस्तु का मूल्य समान होता है तो प्रत्येक विक्रेता के लिए माँग की वक्ररेखा लेटी हुई होती है जैसा कि नीचे दर्शाया गया है —
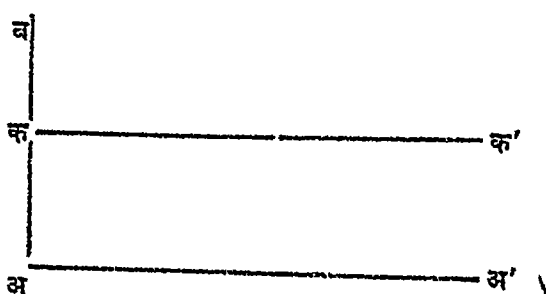
जब बाजार मे मूल्य अ क है तो प्रत्येक विक्रेता के लिए माँग की वक्ररेखा क क' है, अर्थात् जब किसी विक्रेता का मूल्य अ क से अधिक है तो उसकी बिक्री शून्य होगी। जब उस विक्रेता का मूल्य अ क के बराबर है तो वह वस्तु की जितनी चाहे उतनी मात्रा बेच सकता है, क्योकि उसका उत्पादन बाजार की कुल पूर्ति का एक छोटा भाग है। इसी प्रकार यदि वह मूल्य अ क से घटा दे तो सब ग्राहक उसी से वस्तु खरीदेंगे और दूसरे सारे विक्रताओ की बिक्री शून्य होगी। परन्तु वह ऐसा नही करता है क्योकि इस विक्रेता का उत्पादन उसकी लागत पर निर्भर है। पूर्ण प्रतिस्पर्धा मे प्रत्येक फर्म की सीमान्त और औसत लागत कुछ उत्पादन के पश्चात् बढती जाती है। जब सीमान्त लागत अ क के बराबर होगी तो वह अधिक उत्पादन बन्द कर देगा, क्योकि ऐसा करने से उसकी लागत तो अ क से अधिक होगी परन्तु उसका मूल्य अ क से अधिक नही मिल सकता।

(६) पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति मे उदासीनता का नियम (Law of Indifference) क्रेता और विक्रेताओ पर लागू होता है, अर्थात् वह चाहे जिसको और चाहे जिससे वस्तु वेचते और खरीदते है, कोई क्रेता या विक्रेता किसी दूसरे का पक्ष नही लेता।

(७) प्रत्येक विक्रेता की वस्तु एक समान होनी चाहिए जिससे उदासीनता के नियम का प्रचलन हो और विभिन्न क्रेता किसी भी विक्रेता से वह वस्तु लेने को तय्यार हो।

(८) प्रत्येक फर्म के उत्पादन पर औसत लागत की वृद्धि का नियम (Law of increasing cost or diminishing returns) लागू होता है। जव उस वस्तु का उत्पादन अनेक फर्म करती है तो उनकी कार्यक्षमता विभिन्न होगी। यदि किसी फर्म के उत्पादन पर औसत लागत के ह्रास का नियम लागू होता है तो जैसे जैसे वह उत्पादन की मात्रा मे वद्धि करती है उस फर्म की औसत और सीमान्त लागत में कमी होती जाती है। इस कारण जो सवसे कार्यक्षम फर्म होगी वह उत्पादन की मात्रा इतनी वढा देगी कि सारे वाजार की माँग स्वय पूरी कर सके। इस स्थिति मे उसकी औसत लागत अन्य फर्मो से कम होगी और वह उनसे सस्ते मूल्य पर भी वेच सकेगी जिससे सारे क्रेता इसी फर्म से वस्तु मोल लेगे और दूसरी फर्मो की विक्री शून्य होगी अर्थात् कुल वाजार मे एक ही विक्रेता रह जायेगा। परन्तु यह पूर्ण प्रतिस्पर्धा नही वरन् एकाधिकार (Monopoly) होगा। इसी तरह यदि उत्पादन औसत लागत की स्थिरता के नियम के अनुसार होता हो तो जो फर्म सवसे अधिक कार्यक्षम होगी उसकी औसत लागत सवसे कम होगी और वह उस औसत लागत पर सारे वाजार की माँग की मात्रा के वरावर उत्पादन कर सकती है, जिस कारण प्रत्येक क्रेता उसीसे वस्तु खरीदेंगे और दूसरे विक्रेताओ की विक्री शून्य होगी। प्रत्येक फर्म का उत्पादन औसत लागत की स्थिरता के नियम के अनुसार तभी हो सकता है जब सव फर्मो की कार्यक्षमता समान हो। साराश यह है कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति मे विक्रेताओ की मात्रा अधिक तभी हो सकती है जब प्रत्येक फर्म के उत्पादन पर औसत लागत की वृद्धि का नियम लागू हो। ऐसी स्थिति में कोई भी विक्रेता वाजार की कुल माँग पूरी नही कर सकता। जव सीमान्त लागत मूल्य के वरावर हो जाती है तो उससे अधिक उत्पादन वह नही करता है। एक भी इकाई अधिक उत्पादन करने मे उसे हानि होती है क्योकि इस इकाई की लागत मूल्य से अधिक होगी। प्रत्येक फर्म की कुछ स्थिर लागत होती है जिससे प्रत्येक फर्म का उत्पादन प्रारम्भ मे औसत लागत के ह्रास के नियम के अनुसार होता है परन्तु कुछ मात्रा का उत्पादन करने के उपरात औसत लागत में वृद्धि

होने लगती है। वह फर्म उत्पादन उस सीमा तक करती जाती है जब तक उसकी सीमान्त लागत मूल्य से अधिक नही होती।

व्यावहारिक जीवन मे हम देखते है कि दो दूकानें बराबर होने पर भी उन दूकानदारो की प्रत्येक वस्तु का मूल्य समान नही होता। अर्थात् एक ही वस्तु दो बराबर के दूकानदार एक ही मूल्य पर नही वेचते। कभी कभी उनके मूल्य समान होते है और कभी कभी उनमें कुछ अन्तर होता है। यदि एक दूकानदार अपना मूल्य दूसरो की अपेक्षा कुछ कम कर दे तो वह दूसरे दूकानदारो के कुल ग्राहको को नही तोड सकता; परन्तु कुछ ग्राहकों को अवश्य तोड लेता है। साराश यह है कि व्यावहारिक जीवन मे प्रतिस्पर्धा तो अवश्य होती है परन्तु पूर्ण नही होती। अपूर्ण प्रतिस्पर्धा के वही कारण हैं कि जिन कारणो के वशीभूत होकर ग्राहक एक ही दूकानदार से वस्तुएँ खरीदते रहते है चाहे वह उनसे दूसरो की अपेक्षा अधिक मूल्य लेता हो। पूर्ण प्रतिस्पर्धा के अभाव के निम्न कारण है —

(१) क्रेता-विक्रेताओ मे पूर्ण ज्ञान का अभाव। उनको यह पता नही होता कि सबसे सस्ता विक्रेता कौन है और सबसे अधिक मूल्य देनेवाला क्रेता कौन है अर्थात् बाजार की स्थिति से उनका पूर्ण परिचय नही होता।

(२) क्रेता विभिन्न विक्रेताओ से बँधे हुए होते है। इस कारण मूल्य अधिक होने पर भी वे वस्तु उन्ही विक्रेताओ से मोल लेना पसन्द करते हैं। इसके अतिरिक्त एक विक्रेता से दूसरे विक्रेता के पास जाने में कुछ व्यय या कष्ट सहन करना पडता है। यदि एक विक्रेता उनके घर से अधिक दूरी पर है तो वे उसके पास जाना पसन्द नही करेंगे चाहे वह मूल्य कम ही लेता हो। कुछ व्यक्तियो को अपने दूकानदार वदलने मे मानसिक कष्ट भी होता है, क्योकि वे एक नये अनजान दूकानदार से वस्तुए खरीदना पसन्द नही करते।

(३) एक दूकानदार से वस्तुएँ खरीदते खरीदते उसी से खरीदने की आदत पड जाती है। यह आदत दूसरे दूकानदार से वस्तुएँ खरीदने मे वाधा डालती है। कभी कभी आलस्य के कारण भी लोग एक दूकान से दूसरे दूकान पर जाना पसन्द नही करते।

(४) विक्रेता भी कुछ क्रेताओ से बँधे होते है और वह वस्तुएँ उन्हीको वेचना पसन्द करते हैं चाहे दूसरे क्रेता उन्हें अधिक मूल्य देने को तय्यार हो। इसका कारण यह होता है कि वह क्रेता उनके मित्र, सम्बन्धी या पुराने ग्राहक होते हैं या उन क्रेताओ का उन पर कुछ दवाव होना है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि व्यावहारिक जीवन मे प्रत्येक विक्रेता कुछ सीमा तक एकाधिकारी होता है। परन्तु विभिन्न विक्रेता समान मूल्य

रखने के लिए जितने अधिक विवश होते है उनमे उतनी ही अधिक प्रतिस्पर्धा होती है।

पूर्ण एकाधिकार —पूर्ण एकाधिकार में विक्रेताओ का मूल्य पर पूर्ण नियन्त्रण होता है अर्थात् वे चाहे जिस मूल्य पर वस्तु वेचे क्रेताओ को उनसे वस्तु मोल लेनी ही होगी। यदि प्रतिस्पर्धा का पूर्ण अभाव हो तो एकाधिकार की स्थिति होती है। इस स्थिति के लिए यह आवश्यक नही कि विक्रताओ की सख्या एक ही हो, परन्तु यह आवश्यक है कि विक्रेताओ का मूल्य पर नियन्त्रण हो और वह जो चाहे वह मूल्य क्रेताओ से वसूल करे। अर्थात् क्रेताओ या माँग का मूल्य पर कुछ प्रभाव नही होता है। व्यावहारिक जीवन में पूर्ण एकाधिकार कही भी नही पाया जाता जिसके निम्न कारण है —

(१) कोई भी वस्तु इतनी आवश्यक नही होती कि क्रेता उसको लेने के लिए अधिक मूल्य होने पर भी विवश हो अर्थात् यदि मूल्य बहुत बढ जाता है तो क्रेता उस वस्तु को मोल लेना बन्द कर देते है जिस कारण एकाधिकारी मूल्य कुछ सीमा तक ही बढ सकता है, क्योकि मूल्य बढने से माँग की मात्रा में ह्रास होता है और यदि मूल्य बहुत बढ जाय तो माँग शून्य भी हो सकती है। यदि फाउन्टेन पेन का मूल्य ५० हजार रुपये हो जाय तो कदाचित् कोई भी व्यक्ति उसको मोल लेने को तय्यार न होगा। प्रत्येक व्यक्ति के साधन सीमित है, इस कारण वह किसी वस्तु का भी असीमित मूल्य नही दे सकता।

(२) प्रत्येक वस्तु के बदले मे कुछ न कुछ दूसरी वस्तु काम मे लाई जा सकती है। इस कारण जब एकाधिकारी किसी वस्तु का मूल्य बढाते है तो लोग उस वस्तु की अपेक्षा दूसरी वस्तु खरीदने लगते है, जैसे यदि रेल का किराया बहुत बढ जाय तो लोग मोटर या बैलगाडी से यात्रा करने लग जायेगे। जब पटसन के बोरो का मूल्य बहुत बढ जाता है तो सीमेंट जैसी भारी वस्तु भी मोटे कागज के बोरो मे भरी जाती है।

व्यावहारिक जीवन मे पूर्ण एकाधिकार कही नही पाया जाता, क्योकि किसी भी विक्रेता का मूल्य पर पूर्ण अधिकार नही होता। अर्थात् व्यावहारिक जीवन मे आशिक एकाधिकार (Partial Monopoly) ही सम्भव है। किसी विक्रेता की एकाधिकार की शक्ति का नाप हम इस बात से लगा सकते है कि माँग मे बिना कमी आये वह वस्तु का मूल्य किस सीमा तक बढा सकता है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि व्यावहारिक जीवन मे प्रत्येक वस्तु का विनिमय ऐसी स्थिति में होता है जिसमे कुछ प्रतिस्पर्धा और कुछ एकाधिकार का अश होता है। प्रत्येक विक्रेता अपना मूल्य चाहे तो उसको

की अपेक्षा कुछ सीमा तक अधिक रख सकता है। परन्तु वह मूल्य जिस सीमा तक चाहे नही बढा सकता; क्योकि उस स्थिति मे लोग दूसरे विक्रेताओ से वह वस्तु मोल लेंगे या उस वस्तु के वदले में कोई दूसरी वस्तु मोल लेगे। अर्थात् विक्रेताओ में कुछ प्रतिस्पर्धा होती है और कुछ एकाधिकार की शक्ति। साराश यह है कि प्रत्येक विक्रेता मूल्य को कुछ सीमा तक अपने अधिकतम नफे के लिए बढा सकता है। इस स्थिति को एकाधिकारी प्रतिस्पर्धा (Monopolistic Competition) या अपूर्ण प्रतिस्पर्धा (Imperfect Competition) कहते हैं। इस स्थिति मे विक्रेता अपना मूल्य कुछ बढाने पर भी अपने सारे क्रेताओ को दूसरे विक्रेताओ के हाथ नही खोता। दो विक्रेताओ के मूल्य मे जितना अन्तर होता है उतना ही उनमें एकाधिकार का अश होता है।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा में अर्घ का सिद्धान्त

प्रत्येक विनिमय कार्य के दो पक्ष होते हैं—क्रेता और विक्रेता। विक्रेता का उद्देश्य यह होता है कि वह अधिक से अधिक नफा कमावे। इस कारण वह मूल्य वढने पर वस्तु अधिक मात्रा मे वेचने को तय्यार होता है और मूल्य घटने पर कम मात्रा में*। वस्तु के उत्पादन मे उसको कुछ व्यय करना होता है और वह अपनी लागत से कम पर वस्तु वेचने को तय्यार न होगा, क्योकि वस्तु को लागत से कम मूल्य पर वेचने से उसको हानि होती है। वह वस्तु की एक अधिक इकाई का उत्पादन तभी करेगा जब उस वस्तु का मूल्य उस इकाई की लागत से कम न हो। अर्थात् वह सीमान्त लागत से कम मे वस्तु वेचने को तय्यार न होगा। निम्न उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायेगा:—

उत्पादित इकाइयाँ	कुल लागत	औसत लागत	सीमान्त लागत
	रु०	रु०	रु०
१	२०	२०	२०
२	३५	१७½	३५—२० = १५
३	४२	१४	४२—३५ = ७
४	५२	१३	५२—४२ = १०
५	६४	१२⅘	६४—५२ = १२
६	७७	१२⅚	७७—६४ = १३
७	९१	१३	९१—७७ = १४
८	१०६	१३¼	१०६—९१ = १५

* पृष्ठ १५५ भी देखिये।

यदि मूल्य १३ रु० है तो वह ६ इकाइयों का उत्पादन करेगा, क्योंकि छठी इकाई के बाद एक और अधिक इकाई का उत्पादन करने से उसकी लागत में १४ रु० की वृद्धि होती है; परन्तु उसको मूल्य १३ रु० ही मिलेगा। सातवी इकाई का उत्पादन करने व बेचने मे उसको १ रु० की हानि होती है। वह सातवी इकाई का तभी उत्पादन करेगा जब मूल्य कम से कम १४ रु० हो। सात इकाइयो की औसत लागत तो अवश्य १३ रु० ही है परन्तु एक उत्पादक कितनी इकाइयाँ उत्पादित करता है यह उस वस्तु की सीमान्त लागत पर निर्भर होता है, औसत लागत पर नही। यदि वह ६ इकाइयों का उत्पादन करे तो उसकी कुल लागत ७७ रु० होती है और कुल आय १३ × ६ = ७८ रु०। अर्थात् उसको १ रु० का नफा होता है। सातवी इकाई का उत्पादन करने से उसकी कुल लागत ९१ रु० होती है और कुल आय भी १३ × ७ = ९१ रु० होती है जिससे उसको नफा शून्य होता है। अर्थात् सातवी इकाई का उत्पादन करने से उसको एक रुपये की हानि होती है और वह सातवी इकाई का उत्पादन तभी करेगा जब मूल्य कम से कम १४ रु० हो। या हम यह कह सकते है कि यदि यह विक्रेता सात इकाइयो का उत्पादन करता है तो वह सातवी इकाई को १४ रु० से कम मे नही बेचेगा। यदि मूल्य इससे कम होने की सम्भावना है तो सातवी इकाई का उत्पादन ही नही करेगा। साराश में हम यह कह सकते हैं कि विक्रेता की दृष्टि से मूल्य कम से कम सीमान्त लागत के बराबर होना चाहिए अन्यथा सीमान्त इकाई का उत्पादन न होगा। अर्थात् सीमान्त लागत ही वस्तु के मूल्य की न्यूनतम सीमा होती है।

क्रेताओं की दृष्टि से मूल्य वस्तु की सीमान्त उपयोगिता से अधिक नही हो सकता*। जो उपयोगिता किसी वस्तु मे होती है उससे अधिक मूल्य देने मे क्रेताओ को हानि होती है अर्थात् सीमान्त उपयोगिता ही वस्तु के मूल्य की अधिकतम सीमा होती है; क्योंकि कोई भी क्रेता वस्तु की उपयोगिता का जो द्रव्य मे नाप होता है उससे अधिक मूल्य नही देगा।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कोई विक्रेता सीमान्त लागत से कम मूल्य पर वस्तु का उत्पादन नही करेगा। अर्थात् वह उत्पादन उसी सीमा तक करेगा जहाँ तक सीमान्त लागत मूल्य से कम है। प्रत्येक विक्रेता का प्रयत्न यही होगा कि मूल्य सीमान्त लागत से अधिक हो जिससे उसको अधिकतम नफा हो। दूसरी ओर कोई क्रेता वस्तु की सीमान्त उपयोगिता से अधिक मूल्य देने को तय्यार न होगा और यही प्रयत्न करेगा कि जहाँ

---

* पृष्ठ ९३ भी देखिये।

नक हो मूल्य सीमान्त उपयोगिता से कम हो जिससे वह अधिकतम उपभोक्ता की वचत प्राप्त कर सके। साराश यह है कि वस्तु का मूल्य इन दो सीमाओ के वीच में ही होता है। इन दोनो सीमाओ के वीच मूल्य किस स्थान पर तय होता है यह क्रेता और विक्रेताओ की पारस्परिक आवश्यकता और उनके भाव तय करने की चतुरता पर निर्भर है।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा मे अनेक क्रेता और विक्रेता होते है जिस कारण सीमान्त लागत और सीमान्त उपयोगिता मे कोई अन्तर नही रहता और मूल्य इन दोनो के वरावर होता है। यदि मूल्य सीमान्त लागत से अधिक है तो पूर्ति के बढने की प्रवृत्ति होगी, जिससे मूल्य मे कमी होगी, क्योकि वस्तु की अधिक मात्रा कम मूल्य पर ही विक सकेगी। यह निम्न ग्राफ मे भी स्पष्ट है —
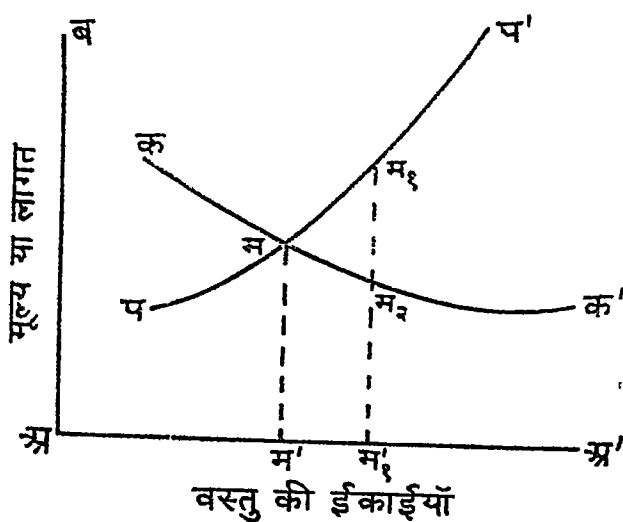
क क' माँग की वक्ररेखा है और प प' पूर्ति की या सीमान्त लागत की। जव मूल्य म म' है तो पूर्ति अ म' है और सीमान्त लागत म म'। यदि मूल्य सीमान्त लागत से अधिक म'१ म१ है तो पूर्ति वढकर अ म'१ हो जायेगी। वस्तु की यह मात्रा म२ म'१ मूल्य पर ही विक सकती है अर्थात् जव पूर्ति अ म'१ है तो मूल्य म२ म'१ होगा। इससे उत्पादको को हानि होगी और उनको पूर्ति की मात्रा घटा कर अ म' करनी होगी। इसी तरह मूल्य सीमान्त लागत मे कम भी नही हो सकता अन्यथा सीमान्त इकाइयो का उत्पादन वन्द कर दिया जायेगा।

मूल्य सीमान्त उपयोगिता के बराबर भी होता है। यदि मूल्य सीमान्त उपयोगिता से अधिक है तो माँग घट जायेगी और माँग के घटने से मूल्य कम हो जायेगा। यदि मूल्य सीमान्त उपयोगिता से कम है तो वस्तु की माँग अधिक होगी। माँग के बढने से मूल्य मे वृद्धि होगी और जब वह सीमान्त उपयोगिता के बराबर हो जायेगा तो उसमें घटने व बढने की प्रवृत्ति नही रहेगी। साराश यह है कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा मे सन्तुलन की स्थिति में—

मूल्य = सीमान्त उपयोगिता = सीमान्त लागत।

इस स्थिति को सन्तुलन की स्थिति कहते हैं, क्योकि इस स्थिति मे माँग या पूर्ति मे परिवर्त्तन की प्रवृत्ति नहीं होती। यदि पूर्ति बढती है तो क्रेता इस अधिक मात्रा को कम मूल्य पर ही लेने को तय्यार है जिसपर विक्रेता वेचने को तय्यार नही। यदि पूर्ति कम होती है तो मूल्य बढ़ जाता है जिससे विक्रेता उत्पादन बढा देते हैं। अर्थात् जब मूल्य म म' है तो पूर्ति और माँग की मात्रा बराबर है और इस कारण पूर्ति और माँग मे बढने या घटने की प्रवृत्ति नही होती। म म' को इस कारण सन्तुलन मूल्य (Equilibrium price) कहते हैं।

इस स्थिति मे सीमान्त लागत किसी एक विशेष फर्म की ही सीमान्त लागत नही होती, वरन् प्रत्येक फर्म उत्पादन सीमान्त लागत की सीमा तक ही करती है जिससे प्रत्येक फर्म की सीमान्त लागत बराबर होती है। परन्तु उनके उत्पादन की मात्रा विभिन्न होगी और उनकी कार्यक्षमता पर निर्भर होगी। इसी तरह सीमान्त उपयोगिता भी किसी एक विशेष क्रेता की ही सीमान्त उपयोगिता नही होती, वरन् प्रत्येक क्रेता वस्तु की मात्रा उस सीमा तक खरीदता है जहाँ वस्तु का मूल्य उसकी सीमान्त उपयोगिता के बराबर हो जाता है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मूल्य निश्चित करने मे माँग और पूर्ति दोनो का प्रभाव होता है। उक्त ग्राफ से यह भी स्पष्ट है कि माँग, पूर्ति और मूल्य मे पारस्परिक सम्बन्ध बडा घनिष्ठ है और वे एक दूसरे पर निर्भर होते है। जब माँग और पूर्ति अ म' है तो मूल्य म म' ही होगा। विभिन्न माँग और पूर्ति की मात्रा मे मूल्य भी विभिन्न होगा। जिस तरह ताली दोनो ही हाथो से बजाई जाती है उसी प्रकार मूल्य भी पूर्ति और माँग दोनो पर निर्भर होता है। यदि आप अपना एक हाथ स्थिर रखे और दूसरे हाथ को ही हिलाकर ताली बजायें तो यह कहना गलत होगा कि ताली केवल हिलनेवाले हाथ से ही बजती है। इसी तरह जब पूर्ति की मात्रा स्थिर हो तो यह कहना गलत होगा कि मूल्य माँग पर ही निर्भर है। इसी विचार को मार्शल ने सुहावने शब्दो मे कहा है कि पूर्ति और माँग

एक कैंची के दो फलों के समान है। यदि एक फल स्थिर भी रहे और दूसरे फल को चला कर ही कोई कागज काटा जाय तो भी हम यह नहीं कह सकते कि केवल चलनेवाले फल से ही कागज कटता है।

प्रतिनिधि फर्म

पूर्ण प्रतिस्पर्धा मे यदि प्रत्येक फर्म की कार्यक्षमता समान हो तो उन सब का आकार बराबर होगा। प्रत्येक फर्म की सीमान्त लागत की वक्र-रेखा भी समान होगी और जब प्रत्येक फर्म उस सीमा तक उत्पादन करेगी कि उसकी सीमान्त लागत और मूल्य बराबर हों तो उनकी उत्पादन की मात्रा भी बराबर होगी। इस स्थिति में प्रत्येक फर्म की सन्तुलन मूल्य पर सीमान्त और औसत लागत बराबर होगी जिससे किसी फर्म को न नफा होगा, न हानि। यदि औसत लागत और सीमान्त लागत में कुछ अन्तर होगा तो कुछ फर्में बन्द होने की या कुछ फर्में खुलने की प्रवृत्ति होगी और इस परिवर्त्तन से फर्मों के आकार-प्रकार मे परिवर्त्तन होगा और उन फर्मों का सन्तुलन की स्थिति में आकार इस प्रकार का हो जायेगा कि जिससे सन्तुलन मूल्य पर उनकी सीमान्त और औसत लागत बराबर होगी और तभी उनमें बढने घटने की प्रवृत्ति नहीं होगी।

जब प्रत्येक फर्म की कार्यक्षमता विभिन्न होती है तो सन्तुलन मूल्य पर कुछ फर्मों की सीमान्त लागत औसत लागत से कम होगी और कुछ फर्मों की सीमान्त लागत औसत लागत से अधिक होगी। पृष्ठ······के उदाहरण में जब सन्तुलन मूल्य १३ रु० है तो इस फर्म की सीमान्त लागत औसत लागत से अधिक है। जिससे जब वह फर्म छ इकाइयों का उत्पादन करती है तो १ रु० का नफा होता है। यदि सन्तुलन मूल्य १२ रु० है तो इसी फर्म की सीमान्त लागत औसत लागत से कम है जिस कारण ५ इकाइयो के उत्पादन से इस फर्म को ४ रु० की हानि होती है, क्योंकि कुल लागत ६४ रु० है और कुल आय ६० रु० *। साराश यह है कि जिन फर्मों की औसत लागत सीमान्त लागत से अधिक होगी उनको कुछ हानि होगी और जिन फर्मों की औसत लागत सीमान्त लागत से कम होगी उनको कुछ नफा होगा। जिन फर्मों को हानि होगी वह या तो उत्पादन बन्द कर देगी या उत्पादन को इस आशा मे चालू रखेगी कि अच्छा समय आने पर उनको हानि होना बन्द हो जायेगा। कुछ फर्म ऐसी भी होगी जिनकी औसत लागत और सीमान्त लागत बराबर हो और जिससे

* जैसा कि हम ऊपर समझा चुके हैं प्रत्येक फर्म उत्पादन उस सीमा तक करती है जहां उसकी सीमान्त लागत मूल्य के बराबर होती है।

उन्हे हानि या नफा नही होता है। विभिन्न फर्मों की विभिन्न कार्यक्षमता होने की स्थिति के ही लिए मार्शल ने प्रतिनिधि फर्म के विचार का निर्माण किया। इस फर्म की सीमान्त लागत और औसत लागत सन्तुलन की स्थिति मे सन्तुलन-मूल्य के बराबर होती है। इस कारण इस फर्म की लागत का अधिक महत्व है और हम कह सकते है कि इस फर्म की औसत लागत ही सन्तुलन-मूल्य को निर्धारित करती है। अर्थात् मूल्य बढता और घटता है परन्तु सन्तुलन की स्थिति मे वह प्रतिनिधि फर्म की औसत लागत के बराबर होती है। इस स्थिति मे मूल्य प्रतिनिधि-फर्म वह अन्य फर्मो की सीमान्त लागत के बराबर भी होता है। साराश यह है कि —

सन्तुलन मूल्य = सीमान्त उपयोगिता = सीमान्त लागत (प्रत्येक फर्म की) = औसत लागत (केवल प्रतिनिधि-फर्म की)।

जब प्रतिनिधि फर्म की औसत लागत के बराबर मूल्य होता है तो इस फर्म में बढने या घटने की प्रवृत्ति नही होती।

मार्शल के विचार मे प्रत्येक धन्धे मे एक या अधिक प्रतिनिधि-फर्म वास्तव में होती है*। यह फर्म ऐसी है जिसको उस धन्धे की आन्तरिक और बाह्य सुविधाएं औसत मात्रा में प्राप्त है। अन्य फर्मों की अपेक्षा

---

* पूर्ण प्रतिस्पर्धा एक काल्पनिक स्थिति है और व्यावहारिक जीवन मे कही नही पायी जाती। इस कारण पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति मे प्रतिनिधि फर्म भी काल्पनिक ही होती है। व्यावहारिक जीवन मे प्रत्येक उद्योग मे अपूर्ण प्रतिस्पर्धा होती है और प्रत्येक फर्म की कार्यक्षमता भी विभिन्न होती है। यदि हम किसी एक उद्योग के विभिन्न फर्मो की, जो वास्तव में उत्पादन कर रही है, जाँच करे तो हम देखेगे कि कुछ फर्मो को नफा हो रहा है, क्योकि उनकी कुल आय (जो = मूल्य × विक्रय की गई इकाइयाँ) कुल लागत (जो = औसत लागत × विक्रय की गई इकाइयाँ) से अधिक होती है। कुछ फर्मे ऐसी होगी जिनको हानि हो रही है; क्योकि उनकी कुल लागत कुल आय से अधिक है और कुछ फर्मे ऐसी होगी जिन्हे न नफा होता है और न हानि, क्योकि उनका मूल्य उनकी औसत लागत के बराबर होता है। ऐसी फर्म ही उस उद्योग की प्रतिनिधि फर्म होती है। यह सम्भव है कि ऐसी फर्म एक या अधिक उद्योगो मे वास्तव मे न हो क्योकि उस उद्योग में प्रत्येक फर्म को या तो नफा होता हो या हानि। ऐसी प्रतिनिधि फर्म का पूर्ण प्रतिस्पर्धा में अधिक महत्व है क्योकि पूर्ण प्रतिस्पर्धा में ऐसी फर्म की औसत लागत प्रत्येक फर्म के मूल्य के बराबर होती है। अपूर्ण प्रतिस्पर्धा मे प्रत्येक फर्म अपनी वस्तु विभिन्न मूल्य पर वेचती है, क्योकि प्रत्येक फर्म के लिए माँग का कोष्ठक भिन्न होता है और प्रत्येक फर्म मूल्य उस स्तर पर रखती है जहाँ उसकी सीमान्त लागत और सीमान्त आय बराबर हो।

इस फर्म को कोई विशेष सुविधाएँ नही है। यह फर्म बिल्कुल नई भी नही है जिससे वह अब भी विशेष उन्नति कर रही हो और न बहुत ही पुरानी है जिस कारण उसका पतन आरभ हो गया हो। इस फर्म का प्रबन्ध भी औसत योग्यता के साथ होता है। परन्तु हमारे विचार मे प्रतिनिधि-फर्म केवल काल्पनिक भी हो सकती है; क्योकि पूर्ण-प्रतिस्पर्धा की उस स्थिति मे जिसमे विभिन्न फर्मो की कार्यक्षमता विभिन्न है इस फर्म की लागत का अधिक महत्व है। इसी फर्म की औसत लागत सन्तुलन मूल्य के बराबर होती है और इस फर्म को न नफा और न हानि होती है। इसकी कुल आय कुल लागत (जिसमे उत्पादन के प्रत्येक साधन का पुरस्कार सम्मिलित है) के बराबर होती है।

समय का मूल्य पर प्रभाव

यह तो ऊपर समझाया जा चुका है कि मूल्य निर्धारित करने में माँग और पूर्ति दोनो का प्रभाव पडता है। कभी माँग का अधिक प्रभाव होता है और कभी पूर्ति का। मूल्य में परिवर्तन होने से माँग तुरन्त घट बढ जाती है परन्तु पूर्ति के बढने घटने मे कुछ समय लगता है, क्योकि पूर्ति स्टॉक और उत्पादन पर निर्भर होती है। उत्पादन के घटाने और बढाने मे समय लगता है। इस कारण अल्पकाल में मूल्य-निर्धारण में माँग का अधिक महत्व होता है और दीर्घ काल में पूर्ति का।

उक्त अर्घ के सिद्धान्त में यह समझाया गया है कि माँग और पूर्ति की मात्रा समान होने के लिए जब पर्याप्त समय मिल जाता है तो मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है। अब हम यह समझायेंगे कि बाजार में प्रतिदिन मूल्य किस प्रकार निर्धारित किया जाता है।

बाजार मूल्य (Maiket Price).—बाजार मूल्य उस वास्तविक मूल्य को कहते है जिस मूल्य पर बाजार में किसी समय या दिन वस्तु बेची या खरीदी जाती है। यदि आज बाजार में टमाटर दो आने सेर बेचे व खरीदे जाते है तो दो आने बाजार मूल्य कहलायेगा। जब टमाटर चार आने सेर बेंचे व खरीदे जाते है तो बाजार मूल्य चार आने होगा। अर्थात् बाजार मूल्य वह मूल्य है जिस पर वस्तुएँ वास्तव मे खरीदी व बेची जाती है। बाजार मूल्य के निर्धारण मे माँग का अधिक महत्व होता है क्योकि मूल्य के परिवर्तन से माँग तुरन्त घट बढ जाती है। पूर्ति के घटने बढने में समय लगता है और अल्पकाल में एक निश्चित समय पूर्ति की मात्रा बहुत घट बढ नही सकती। इतने समय मे पूर्ति की अधिकतम मात्रा उसके स्टॉक के बराबर हो सकती है। पूर्ति की

मात्रा उससे अधिक बढ़ाने मे समय लगेगा और चाहे मूल्य कितना ही बढ जाय पूर्ति की मात्रा लगभग स्थिर रहेगी, क्योंकि उत्पादन की मात्रा एक चुटकी बजाने मे नही बढ जाती। उत्पादन मे समय लगता है। एक निश्चित समय मे पूर्ति की मात्रा लगभग स्थिर होती है और यदि वस्तु खराब होनेवाली है, जैसे हरे साग, दूध इत्यादि तो स्टॉक, पूर्ति और प्रभावपूर्ण पूर्ति लगभग बराबर होगे। यदि वस्तु टिकाऊ है जैसे कपडा, घडी, साइकिल इत्यादि तो मूल्य घटने पर उनकी पूर्ति कम हो जायेगी, क्योंकि विक्रेता अपना स्टॉक बेचना पसन्द न करेगे, यदि उनको यह आशा हो कि भविष्य मे मूल्य बढ जायेगा। यदि उनको यह आशा है कि भविष्य में मूल्य और कम हो जायेगा तो वह लगभग अपना सारा स्टॉक बेचने को तय्यार होगे। प्रत्येक दिन के बाजार मूल्य मे माँग का ही अधिक महत्व होता है और यदि वस्तु खराब होनेवाली है तो केवल वर्तमान माँग का। टिकाऊ वस्तुओ के लिए विक्रेता भविष्य की माँग का भी अनुमान लगाते है और उसी अनुमान के अनुसार वर्तमान मे पूर्ति की मात्रा बदलते रहते है। बाजार मूल्य लागत से काफी अधिक भी हो सकता है क्योंकि इतने थोडे समय में पूर्ति की वृद्धि सम्भव नही होती। यह मूल्य लागत से कम भी हो सकता है क्योंकि पूर्ति अचानक नही घटाई जा सकती और विक्रेता हानि पर भी अपनी वस्तु बेचने को तय्यार होगा यदि वस्तु टिकाऊ नही है या भविष्य मे मूल्य और गिरने की सम्भावना है। बाजार मूल्य पर प्रभावपूर्ण पूर्ति और प्रभावपूर्ण माँग बराबर तो होते है परन्तु यह अस्थाई-सन्तुलन की स्थिति होती है और पूर्ति मे घटने की प्रवृत्ति होती है यदि बाजार मूल्य सीमान्त लागत से कम है और पूर्ति मे बढने की प्रवृत्ति होती है जब बाजार मूल्य सीमान्त लागत से अधिक होता है। ऐसी प्रवृत्ति इस कारण होती है क्योंकि प्रभावपूर्ण पूर्ति को इतना अवसर नही मिलता है कि वह, ऐसे मूल्य पर जो सीमान्त लागत के बराबर हो, प्रभावपूर्ण माँग के बराबर हो सके।—

सामान्य मूल्य (Normal Price) —सामान्य मूल्य वह मूल्य है जो दीर्घ काल मे निर्धारित होता है। यही मूल्य सन्तुलन मूल्य (Equilibrium price) कहलाता है और सीमान्त लागत के बराबर होता है। जब तक मूल्य सीमान्त लागत से अधिक होता है तो उत्पादको को नफा होता है और वे पूर्ति बढाने का प्रयत्न करते है। जब मूल्य सीमान्त लागत से कम होता है तो वह इकाइयाँ जिनकी लागत मूल्य से अधिक है उत्पादित नही की जायेंगी, अर्थात् सीमान्त इकाइयो का उत्पादन न होगा जिससे पूर्ति की मात्रा माँग से कम होगी और विक्रेताओ मे पारस्परिक प्रतिस्पर्धा के कारण मूल्य के बढने की प्रवृत्ति

होगी। वह मूल्य जिस पर पूर्ति सन्तुलन-स्थिति पर आ जाती है सीमान्त लागत के बराबर होता है; क्योंकि उसी स्थिति में पूर्ति के घटाने और बढाने की प्रवृत्ति नही होती। यह आवश्यक नही कि सामान्य मूल्य वह वास्तविक मूल्य हो जिस पर बाजार मे वस्तुएँ खरीदी व बेची जाती हो। इस दृष्टि से तो बाजार मूल्य ही ऐसा वास्तविक मूल्य है जो बाजार में वास्तव मे प्रचलित होता है। सामान्य मूल्य केवल ऐसा सैद्धान्तिक मूल्य है जिसके पास बाजार मूल्य के जाने की प्रवृत्ति होती है और ऐसा हो सकता है कि व्यावहारिक जीवन मे सामान्य मूल्य बाजार मूल्य के समान किसी दिन भी न हो। सामान्य मूल्य केवल काल्पनिक मूल्य है जिसके चारो ओर बाजार मूल्य घूमता रहता है। बाजार मूल्य प्रतिदिन या एक ही दिन मे कई बार बदल सकता है; परन्तु प्रत्येक बार इसकी प्रवृत्ति सामान्य मूल्य के पास जाने की होती है। सामान्य मूल्य सीमान्त लागत के बराबर होता है, परन्तु बाजार मूल्य में केवल सीमान्त लागत के बराबर होने की प्रवृत्ति होती है। व्यावहारिक जीवन में हो सकता है कि कभी कभी या अनेक बार बाजार मूल्य भी सीमान्त लागत के बराबर हो जाय, परन्तु यह आवश्यक नही। अनेक बार बाजार मूल्य सामान्य मूल्य से बहुत कम और बहुत अधिक हो जाता है। परन्तु वह बहुत समय तक इस स्तर पर नही रहता। यदि वह बहुत समय तक उस स्तर पर रहने की प्रवृत्ति दिखलाता है तो पूर्ति बढ और घट जाती है और बाजार मूल्य भी घट या बढ कर सामान्य मूल्य के आसपास आ जाता है। अर्थात् पूर्ति का प्रभाव धीरे-धीरे बाजार मूल्य को सामान्य मूल्य के बराबर लाने का प्रयत्न करता रहता है। इसी को नीचे के ग्राफ में दर्शाया गया है—

बाजार मूल्य

सामान्य मूल्य = सीमान्त लागत

मूल्य

दिन
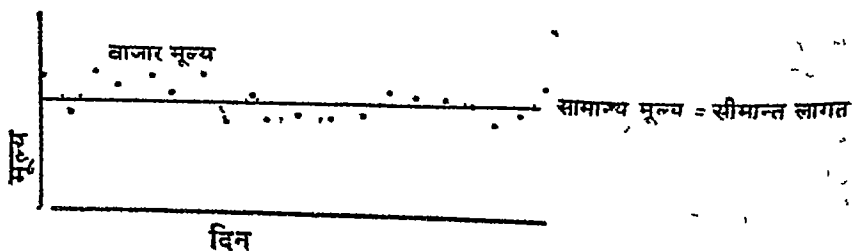
बार-बार बाजार-मूल्य बढता और घटता है, परन्तु हर बार बढने के बाद घट कर सामान्य मूल्य के पास आता है और घटने के बाद फिर बढकर सामान्य मूल्य के पास जाता है।

यदि माँग या मूल्य में परिवर्तन होने पर पूर्ति की मात्रा भी तुरन्त ही बढा या घटा दी जा सकती तो बाजार मूल्य में चाहे प्रतिदिन परिवर्तन

हो, परन्तु हर समय वह सीमान्त लागत और सामान्य मूल्य के बराबर होता। क्योंकि पूर्ति में शीघ्र परिवर्त्तन नही हो सकता, उसमे समय लगता है, इसी कारण बाजार मूल्य सामान्य मूल्य या सीमान्त लागत से विभिन्न हो सकता है।

अल्प काल और दीर्घ काल का सामान्य मूल्य (Short Period and Long Period Normal Price) —अल्पकाल सामान्य मूल्य वह सामान्य मूल्य होता है जिसको निर्धारित करने मे अल्पकाल मे बदलती हुई प्रवृत्तियों का प्रभाव होता है। जब भी माँग बढती या घटती है तो पूर्ति मे भी बढने या घटने की प्रवृत्ति होती है; परन्तु अल्प-काल में उत्पादन के प्रत्येक साधन घटाये व बढाये नही जा सकते। मशीनो की मात्रा, व्यवस्थापक व अन्य प्रबन्ध करनेवाले कर्मचारी, फर्म की बिल्डिग इत्यादि के बढाने घटाने में काफी समय लगता है परन्तु कच्चे माल की मात्रा और मामूली मजदूरो की सख्या शीघ्र बढाई घटाई जा सकती है। इस कारण अल्पकाल मे पूर्ति की मात्रा में परिवर्त्तन तो हो सकता है परन्तु माँग के बहुत अधिक बढने व घटने से पूर्ति मे उतना ही परिवर्त्तन नही हो सकता है। इस कारण यदि अल्प काल मे माँग की मात्रा मे अधिक वृद्धि होने से मूल्य सीमान्त लागत से अधिक है तो पूर्ति बढ तो अवश्य जायेगी, परन्तु तब भी मूल्य सीमान्त लागत से अधिक हो सकता है और उत्पादको को नफा होगा। जब माँग की मात्रा मे अधिक कमी होने से मूल्य सीमान्त लागत से कम है तो पूर्ति घट तो जायेगी, परन्तु उत्पादक उत्पादन उस सीमा तक करेगा जब तक मूल्य परिवर्तित लागत से अधिक है, क्योकि इस प्रकार वह अपनी स्थिर लागत को पूरा करने के लिए कुछ कमा सकेगा। दीर्घ काल मे मूल्य इतना होना चाहिए कि वह अपनी कुल लागत वसूल कर सके अर्थात् मूल्य स्थिर लागत और परिवर्त्तित लागत दोनो के योग के बराबर होना चाहिए, अन्यथा विक्रेता की हानि होगी और वह उत्पादन बन्द कर देगा।

पूर्ति या माँग मे से किसका मूल्य पर अधिक प्रभाव होता है यह इस पर निर्भर है कि दोनो मे से किसकी मात्रा कितनी सुगमता और शीघ्रता से घटाई बढाई जा सकती है। अल्पकाल मे माँग तुरन्त और सुगमता से घटाई और बढाई जा सकती है। इस कारण अल्पकाल मे मूल्य निर्धारण करने मे माँग का ही अधिक महत्व होता है। परन्तु दीर्घ काल मे पूर्ति का अधिक प्रभाव होता है, क्योकि मूल्य सीमान्त लागत के बराबर होता है। अर्थात् अल्पकाल मे सीमान्त उपयोगिता का अधिक प्रभाव होता है और दीर्घ काल मे सीमान्त लागत का निश्चित प्रभाव होता है।

समय सम्बन्धी बाजार (Time Market)

बाजार का हम समय की दृष्टि से भी अध्ययन कर सकते हैं और उसको विभिन्न समयो के अनुसार निम्नलिखित समय सम्बन्धी बाजारो मे बाँट सकते है। यह वर्गीकरण इस आधार पर किया गया है कि माँग और पूर्ति मे पारस्परिक सन्तुलन स्थापित करने में कितना समय लगता है —

(१) **दैनिक बाजार (Daily Market)** —हम यह अध्ययन कर सकते है कि प्रत्येक वस्तु का प्रतिदिन मूल्य किस प्रकार तय होता है। दैनिक बाजार मे पूर्ति लगभग स्थिर होती है। खराब होनेवाली वस्तुओ की पूर्ति स्टॉक के बराबर होती है। टिकाऊ वस्तुओ की पूर्ति स्टॉक से अधिक नही हो सकती और विभिन्न विक्रेताओ की पूर्ति उनके स्टॉक का कौन-सा भाग होगी यह इस पर निर्भर होता है कि भविष्य में उनको मूल्य के बढने या घटने की आशा है। यदि मूल्य घटने की आशा है तो वह स्टॉक का अधिकतम भाग बेचना चाहेंगे और यदि मूल्य बढने की आशा है तो वह स्टॉक का अधिकाश भाग भविष्य मे बेचने के लिए रोक लेगे। इसी तरह यदि भविष्य मे मूल्य घटने की सम्भावना है तो क्रेता अपनी माँग स्थगित कर देंगे।

(२) **सामान्य अल्पकालीन बाजार (Normal short period Market)** —इस समय मे माँग बढने या घटने से उत्पादन की मात्रा बढ या घट तो सकती है, परन्तु समय इतना कम होता है कि उत्पादन के कुछ साधन बढाये घटाये नही जा सकते। विद्यमान कारखानो पर ही पूर्ति निर्भर होती है, क्योकि नये कारखाने स्थापित करने का समय नही होता। परन्तु माँग बढने से विद्यमान कारखानो में अधिक उत्पादन किया जायेगा, जैसे आठ घण्टे की अपेक्षा तीन शिफ्ट लगाकर कारखाने चौबीसो घण्टे चलाने की प्रवृत्ति होगी। कम कार्यक्षमता वाले मजदूरो को भी रख लिया जायेगा। इन्ही प्रयत्नो से उत्पादन बढाया जायेगा। माँग कम होने से मजदूर घटा दिये जायेगे और कारखानो के चलाने का समय कम कर दिया जायेगा।

(३) **सामान्य दीर्घकालीन बाजार (Normal long period Market)** —इसमे समय इतना दीर्घ होता है कि माँग के परिवर्त्तन के अनुसार उत्पादन के साधनो मे भी परिवर्त्तन किया जा सकता है। अर्थात् नये कारखाने स्थापित किये जा सकते हैं और विद्यमान कारखानो में नई मशीने, नई बिल्डिगे इत्यादि लगाई जा सकती है। माँग कम होने से कुछ कारखाने जिनकी कार्यक्षमता कम है बन्द

कम दिये जायेंगे और दूसरे कारखानों में भी मजदूरों की संख्या घटा दी जायेगी।

(४) सामान्य अत्यन्त दीर्घकालीन बाजार (The Secular or very-long period Market).—ऐसे बाजार में इतना ही समय नहीं होता कि केवल उत्पादन के साधनों में परिवर्त्तन किया जा सके, वरन् बड़े-बड़े परिवर्त्तन हो सकते हैं, जैसे जनसंख्या की घटनी-बढ़ती, वैज्ञानिक आविष्कार, यातायात के साधनों में उन्नति इत्यादि। इतने समय में पूर्ति में पूर्ण रूप से परिवर्त्तन हो सकता है और इस कारण मूल्य-निर्धारण में पूर्ति का अधिक प्रभाव होता है।

एकाधिकार में अर्घ का सिद्धान्त

पूर्ण एकाधिकार में मूल्य असीमित होगा क्योंकि क्रेतागण एकाधिकारी से ही उस वस्तु को मोल लेने के लिए विवश हैं*। मूल्य कम करने में एकाधिकारी की हानि है, क्योंकि अधिक मूल्य पर भी क्रेतागण वस्तु उसी से मोल लेते हैं और कम होने पर भी वह वस्तु उस एकाधिकारी से ही मोल लेते हैं। क्रेताओं का माँग पर कुछ भी प्रभाव नहीं होता। इसी कारण एकाधिकारी वस्तु का असीमित मूल्य माँगेगा। जैसा कि हम पहले समझा चुके हैं व्यावहारिक जीवन में पूर्ण एकाधिकार असम्भव है।

व्यावहारिक जीवन में आंशिक एकाधिकार सम्भव होता है। ऐसी स्थिति में एकाधिकारी का पूर्ति पर अधिकार होता है और वह उत्पादन की मात्रा में परिवर्त्तन करने से मूल्य पर प्रभाव डाल सकता है। जब उत्पादन कम होगा तब पूर्ति भी कम होगी और पूर्ति कम होने पर मूल्य बढ़ जायेगा। उत्पादन में वृद्धि करने से पूर्ति की मात्रा भी बढ़ जायेगी जिससे मूल्य घट जायेगा। उत्पादन में परिवर्त्तन करने से लागत में भी परिवर्त्तन होता है। यदि उत्पादन औसत लागत की वृद्धि के नियम के अनुसार होता है तो उत्पादन की मात्रा बढ़ाने से सीमान्त लागत में वृद्धि होगी और उत्पादन घटाने से सीमान्त लागत कम हो जायेगी। यदि उत्पादन पर औसत लागत के ह्रास का नियम लागू होता है तो उत्पादन की मात्रा बढ़ाने से सीमान्त लागत कम हो जायेगी और उत्पादन की मात्रा घटाने से सीमान्त लागत बढ़ जायेगी। इस प्रकार उत्पादन की मात्रा घटाने व बढ़ाने से एकाधिकारी अपनी सीमान्त लागत को बढ़ा व घटा

*पृष्ठ १७२ देखिये।

सकता है। साथ ही साथ उत्पादन की मात्रा मे परिवर्त्तन करने से वस्तु का मूल्य भी बढता घटता है। सारांश यह है कि आशिक एकाधिकारी का (१) लागत और (२) मूल्य पर अधिकार होता है। परन्तु वह माँग की मात्रा निश्चित नही कर सकता । जब वह मूल्य बढाता है तो माँग कम हो जाती है और जब वह मूल्य घटाता है तो माँग बढ जाती है । ऐसी स्थिति मे वह उत्पादन उस मात्रा मे करेगा जब उसका नफा अधिकतम (Maximum net monopoly revenue) हो । अधिकतम नफे के लिए यह आवश्यक नही कि वह अधिकतम मूल्य पर ही वस्तु वेचे या अधिकतम मात्रा मे वस्तु वेचने का प्रयत्न करे। मूल्य घटाने-बढाने के परीक्षण के द्वारा वह यह पता लगा सकता है कि वह मूल्य और उत्पादन किस स्तर पर रखे कि उसको अधिकतम नफा हो। यह एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा। मान लीजिये कि एक एकाधिकारी को अपनी वस्तु का उत्पादन बढाने घटाने के लिए निम्नलिखित लागत लगानी पडती है और उत्पादित वस्तु की विभिन्न मात्राएँ निम्नलिखित मूल्यो पर बिक सकती हैं—

बिक्री या उत्पादन की सख्या	कुल लागत (रुपयो मे)	मूल्य (रुपयो मे)
१	१४	२०
२	२४	१९
३	३३	१८
४	४०	१७
५	४५	१६
६	५१	१५
७	५९	१४
८	७२	१३½
९	९०	१३

उक्त कोष्ठक मे हम कुल आय, सीमान्त आय, सीमान्त लागत और कुल नफे का पता लगा सकते है। यह निम्न कोष्ठक मे दी गई है —

१	२	३	४	५	६	७
विक्री या उत्पादन की सख्या	मूल्य (रुपयो में)	कुल आय (रुपयो मे) =१×२	सीमान्त आय (रुपयो मे)	कुल लागत (रुपयो मे)	सीमान्त लागत (रुपयो मे)	कुल नफा (रुपयो मे) =३—५
१	२०	२०	२०	१४	१४	६
२	१६	३८	१८	२४	१०	१४
३	१८	५४	१६	३३	६	२१
४	१७	६८	१४	४०	७	२८
५	१६	८०	१२	४५	५	३५
६	१५	६०	१०	५१	६	३६
७	१४	६८	८	५६	८	३६
८	१३½	१०८	१०	७२	१३	३६
६	१३	११७	६	६०	१८	२७

उक्त कोष्ठक से स्पष्ट है कि इस एकाधिकारी को अधिकतम नफा ३६ रु० हो सकता है। इस कारण वह सात वस्तुओ का उत्पादन करेगा और उनको १४ रु० प्रति वस्तु की दर से बेचेगा जिसमे उसकी कुल आय ६८ रु० होगी, कुल लागत ५६ रु० और नफा ३६ रु०।

उक्त कोष्ठक से स्पष्ट है कि एकाधिकारी का कुल नफा अधिकतम उस स्थिति मे होता है जब सीमान्त आय=सीमान्त लागत। जब वह पाँचवी इकाई का उत्पादन करता है तो उसकी कुल लागत ५ रु० से बढ जाती है और मूल्य १७ रु० से घटकर १६ रु० ही रह जाता है, जिससे कुल आय १२ रु० बढती है, जिस कारण पाँचवी इकाई का उत्पादन करने मे उसका नफा ७ रु० से बढ जाता है। इसी प्रकार छटी इकाई का उत्पादन करने से मूल्य घटने पर भी कुल आय १० रु० से बढती है और कुल लागत ६ रु० से जिससे उसका कुल नफा ४ रु० से और बढ जाता है। सातवी इकाई का उत्पादन करने से कुल आय ८ रु० बढती है और कुल लागत भी ८ रु० बढ जाती है। इसके उपरान्त यदि वह उत्पादन की मात्रा बढाता है तो कुल लागत मे कुल आय की अपेक्षा अधिक वृद्धि होती है, जिससे उसके कुल नफे की मात्रा भी कम हो जाती है। इस कारण वह उत्पादन की मात्रा उस सीमा तक ही बढाता जाता है जहाँ कुल आय मे वृद्धि कुल लागत की वृद्धि से अधिक होती है अर्थात् जहाँ तक सीमान्त आय सीमान्त लागत से अधिक होती है। जब सीमान्त आय

और सीमान्त लागत बराबर हो जाती है तो वह उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि बन्द कर देता है क्योकि उसके उपरान्त सीमान्त लागत सीमान्त आय से अधिक होती है जिससे कुल नफे की मात्रा घट जाती है।

साराश यह है कि आशिक एकाधिकार की स्थिति मे मूल्य उस स्तर पर होता है जहाँ एकाधिकारी को अधिकतम नफा हो। मूल्य का यह स्तर तब होता है जब सीमान्त आय = सीमान्त लागत। अर्थात् आशिक एकाधिकार मे मूल्य उस स्तर पर निर्धारित होता है जहाँ सीमान्त आय और सीमान्त लागत बराबर होती है।

प्रतिस्पर्धा की स्थिति में प्रत्येक उत्पादक उत्पादन के नये-नये ढंगो का आविष्कार करने का प्रयत्न करता है जिससे वह अपनी लागत कम करे और मूल्य घटाकर दूसरे उत्पादको के ग्राहको को तोड़ ले। एकाधिकार मे उत्पादक का उद्देश्य अधिकतम नफा होता है और साधारणत मूल्य पूर्ण प्रतिस्पर्धा की अपेक्षा अधिक होता है। इस कारण एकाधिकार की स्थिति समाज के लिए तभी हानिकारक नही होती जब एकाधिकार के कारण लागत कम हो जाती है जिससे मूल्य कम होता है या जब एकाधिकार का नफा किसी एक व्यक्ति को प्राप्त न होकर सम्पूर्ण समाज के हित के लिये काम मे आता है।

अपूर्ण प्रतिस्पर्धा में अर्घ का सिद्धान्त

अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति मे प्रत्येक विक्रेता विभिन्न मूल्य ले सकता है और तब भी उसके सब क्रेता सस्ते विक्रेताओ के पास नही जाते। अर्थात् वह मूल्य कुछ सीमा तक बढा सकता है, परन्तु अधिक बढाने से उसके ग्राहक टूटकर दूसरे विक्रेताओ के पास जाने लगते है। इस कारण प्रत्येक विक्रेताओ की माँग की वक्ररेखा पूर्ण प्रतिस्पर्धा के समान लेटी हुई नही होती, वरन् प्रत्येक विक्रेता के लिए माँग का कोष्ठक और माँग की वक्ररेखा विभिन्न होती है

पूर्ण प्रतिस्पर्धा के समान प्रत्येक विक्रेता के लिए मूल्य स्थिर नही होता है। परन्तु पूर्ति के परिवर्तन के अनुसार मूल्य में परिवर्तन होता है। यदि एक विक्रेता अपनी वस्तु अधिक मात्रा मे बेचना चाहता है तो उसको मूल्य घटाना होगा। यदि वह मूल्य बढा देता है तो उसके कुछ ग्राहक टूट जाते है परन्तु पूर्ण प्रतिस्पर्धा के समान सब ग्राहक नही टूटते। इस कारण वह वस्तु का उत्पादन और बिक्री उस मात्रा मे करता है या मूल्य उस स्तर पर रखता है जहाँ उसको अधिकतम नफा होता है। उसको

अधिकतम नफा तभी होता है जब अन्तिम इकाई को वेचने से जो कुल आय मे वृद्धि होती है वह सीमान्त लागत से अधिक हो। अर्थात् वह मूल्य उस स्तर पर रखेगा जहाँ सीमान्त आय=सीमान्त लागत। यह पृष्ठ १८६ के उदाहरण से स्पष्ट है। यदि अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में किसी उत्पादक की लागत व आय का ढाँचा इस कोष्ठक के समान हो तो वह ७ इकाइयो का उत्पादन करेगा और मूल्य १४ रु० रखेगा, क्योकि इस स्थिति मे ही उसकी सीमान्त आय=सीमान्त लागत। यदि वह इससे कम मात्रा मे वस्तु वेचता है तो उसको प्रति वस्तु का मूल्य अवश्य अधिक मिलेगा परन्तु उसकी सीमान्त आय सीमान्त लागत से अधिक है। इस कारण विक्री की मात्रा बढाने से कुल नफे मे वृद्धि की सम्भावना है। यदि वह ७ इकाइयो से अधिक उत्पादन करता है तो उसकी सीमान्त आय उन इकाइयो पर सीमान्त लागत से कम है जिससे उन इकाइयो का उत्पादन करने से उसको हानि होती है और उसका कुल नफा कम हो जाता है। उक्त कोष्ठक मे जब वह ६ इकाइयो का उत्पादन करता है तो उसकी सीमान्त आय १० रु० है और सीमान्त लागत ६ रु० जिससे उस इकाई के उत्पादन से उसके नफे में ४ रु० की वृद्धि होती है। इस कारण वह एक और इकाई का उत्पादन करता है। परन्तु जब वह ७ वी इकाई का उत्पादन करता है तो उसकी सीमान्त आय सीमान्त लागत के वरावर होती है और इसके उपरान्त वह उत्पादन की मात्रा नही वढाता क्योकि सीमान्त आय सीमान्त लागत से कम होती जाती है जिससे उन इकाइयो का उत्पादन करने से उसको हानि होती है और उसके कुल नफे की मात्रा घट जाती है।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा, आंशिक एकाधिकार और अपूर्ण प्रतिस्पर्धा

ऊपर हमने वताया है कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा, आंशिक एकाधिकार और अपूर्ण प्रतिस्पर्धा मे मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है। उस विवेचन मे स्पष्ट है कि प्रत्येक स्थिति में मूल्य पर माँग और पूर्ति की शक्तियों का प्रभाव होता है और मूल्य को निर्धारित करने मे माँग और पूर्ति दोनो का भाग होना है और प्रत्येक स्थिति में मूल्य उस स्तर पर ही होता है जहाँ सीमान्त आय=सीमान्त लागत। पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति मे मूल्य (अर्थात् औसत आय) और सीमान्त आय प्रत्येक उत्पादक के लिए वरावर होते है क्योकि माँग की वक्ररेखा लेटी होती है जिसमे प्रत्येक इकाई वेचने मे कुल आय में वृद्धि मूल्य के वरावर ही होती है। यदि मूल्य ५ रु० है तो इस मूल्य पर प्रत्येक उत्पादक चाहे जितनी इकाइयाँ

बेच सकता है और प्रत्येक इकाई बेचने से उसकी आय ५ रु० से बढती है। यदि कोई विक्रेता मूल्य ५ रु० की अपेक्षा ५ रु० १ आ० रखता है तो उसकी बिक्री शून्य होती है। यदि वह मूल्य ५ रु० से कम करता है तो उसको कुछ नफा नही होता क्योकि जितना वह उत्पादन करता है वह सारा ५ रु०. पर ही बिक जाता है। प्रत्येक फर्म के उत्पादन पर औसत लागत की वृद्धि का नियम लागू होता है और प्रत्येक फर्म उत्पादन उसी सीमा तक करती है जहाँ उसकी सीमान्त लागत मूल्य के बराबर हो जाती है। इस कारण पूर्ण प्रतिस्पर्धा मे—

मूल्य (या औसत आय) = सीमान्त लागत (प्रत्येक फर्म की) = सीमान्त आय (प्रत्येक फर्म की) = औसत लागत (केवल प्रतिनिधि फर्म की जो सन्तुलन की स्थिति पर है।)

आशिक एकाधिकार और अपूर्ण प्रतिस्पर्धा* की स्थिति में मूल्य उस स्तर पर निर्धारित होता है जहाँ सीमान्त लागत = सीमान्त आय, क्योकि उसी स्थिति मे उत्पादक को अधिकतम नफा होता है। इन स्थितियो में प्रत्येक फर्म का मूल्य समान नही होता और उनकी सीमान्त आय और सीमान्त लागत भी विभिन्न होती है। प्रतिनिधि फर्म की सीमान्त लागत उसकी औसत लागत के भी बराबर होती है क्योकि उस फर्म को न कुछ लाभ होता है, न हानि; परन्तु यह आवश्यक नही कि इस फर्म की सीमान्त या औसत लागत अन्य फर्मो की सीमान्त या औसत लागत के बराबर हो। साधारणत वे भिन्न होती है। इन स्थितियो मे लागत, मूल्य और उत्पादन की मात्रा प्रत्येक फर्म के लिए परिवर्त्तनशील है, जब कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति मे प्रत्येक फर्म के लिए मूल्य स्थिर होता है और बाजार की स्थिति से निर्धारित होता है और प्रत्येक फर्म के लिए उसकी लागत और उत्पादन की मात्रा ही परिवर्त्तनशील होती है।

---

* आशिक एकाधिकार और अपूर्ण प्रतिस्पर्धा समान स्थितियाँ है क्योकि दोनो में ही कुछ प्रतिस्पर्धा होती है और कुछ एकाधिकार का अश होता है।

जब एक समान वस्तु के बाजार मे विभिन्न मूल्य होते हुए भी प्रत्येक क्रेता कुछ मात्रा मे उस वस्तु को बेच सकता है तो उस स्थिति को औलीगोपोली (Oligopoly) कहते है। जैसे, कीवी पौलिश कुछ दूकानदार दस आने में बेचते है और कुछ ग्यारह आने मे तो भी कुछ क्रेता ग्यारह आने में ही खरीदते है।

व्यावहारिक जीवन में या तो औलीगोपोली की स्थिति होती है या अपूर्ण प्रतिस्पर्धा (जो आशिक एकाधिकार है)* की।

जिन वस्तुओ की पूर्ति स्थिर (जिनका और उत्पादन नही किया जा सकता) या सीमित होती है उनके विक्रेता आंशिक एकाधिकारी होते है। उनका मूल्य उसी स्तर पर निर्धारित होगा जहाँ उनके विक्रेता को अधिकतम नफा हो। ऐसी वस्तुओ के मूल्य निर्धारण में माँग का अधिक प्रभाव होता है; क्योकि पूर्ति की मात्रा में अधिक परिवर्तन नही हो सकता। इस कारण मॉग बढने से मूल्य बढ जाता है और माँग घटने से मूल्य घट जाता है।

मूल्य और उत्पत्ति के नियम

यदि किसी फर्म के उत्पादन पर औसत लागत की स्थिरता का नियम लागू होता है तो उस फर्म की औसत और सीमान्त लागत बराबर होगी। पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में औसत लागत की स्थिरता का नियम किसी फर्म पर तभी लागू हो सकता है जब प्रत्येक फर्म की कार्यक्षमता समान हो और उनका आकार भी समान हो। उस स्थिति मे—

मूल्य = सीमान्त आय = सीमान्त लागत = औसत लागत (प्रत्येक फर्म की) होगा। अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में मूल्य उस स्तर पर होता है जहाँ उस फर्म की सीमान्त आय = सीमान्त लागत। औसत लागत स्थिर होने से सीमान्त लागत भी स्थिर होती है। इसलिए प्रत्येक फर्म का मूल्य उस स्तर पर होगा, जहाँ उसकी सीमान्त लागत = उसकी सीमान्त आय = उसकी औसत लागत।

माँग बढने से पूर्ति बढ जायेगी परन्तु औसत या सीमान्त लागत मे कोई परिवर्तन न होगा। पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति मे मूल्य स्थिर रहेगा और अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति मे मूल्य उस स्तर पर होगा जहाँ नई माँग का अनुमान लगाने के बाद सीमान्त आय = सीमान्त या औसत लागत।

औसत लागत की वृद्धि का नियम—यदि किसी फर्म के उत्पादन पर औसत लागत की वृद्धि का नियम लागू होता है तो उत्पादन मे वृद्धि करने से सीमान्त लागत बढ जायेगी और उत्पादन कम मात्रा में करने से सीमान्त लागत घट जायेगी। इस कारण पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में माँग बढने से मूल्य बढ जायेगा और माँग घटने से मूल्य घट जायेगा। अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में मूल्य उस स्तर पर होगा जहाँ नई माँग का अनुमान लगाने के बाद सीमान्त आय = सीमान्त लागत।

औसत लागत के ह्रास का नियम—यदि किसी फर्म के उत्पादन पर औसत लागत के ह्रास का नियम लागू होता है तो उत्पादन मे वृद्धि करने से सीमान्त लागत घट जायेगी और उत्पादन कम करने से सीमान्त लागत बढ जायेगी।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति मे यह नियम किसी फर्म के उत्पादन पर लागू नही हो सकता है। अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति मे माँग बढने पर मूल्य उस स्तर पर होता है जहाँ बढी माँग का अनुमान लगाने के बाद सीमान्त आय = सीमान्त लागत।
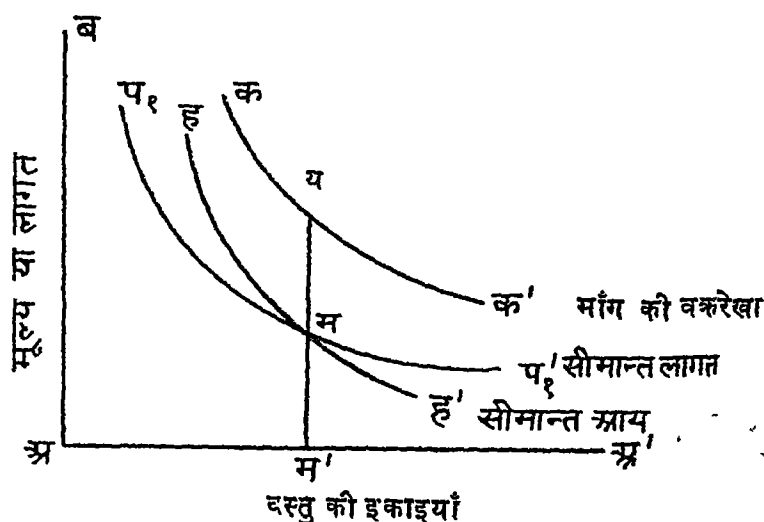
उक्त ग्राफ* मे सीमान्त आय और सीमान्त लागत की वक्ररेखा दर्शायी गयी है जो 'म' विन्दु पर एक दूसरे को काटती है। इस कारण 'म' बिन्दु पर सीमान्त आय = सीमान्त लागत = म म', और मूल्य य म' के बराबर होगा, क्योकि जब मूल्य य म' है तभी सीमान्त आय और सीमान्त लागत बराबर होती हैं। यदि यह फर्म अ म' से एक इकाई अधिक उत्पादन करती है तो उसकी सीमान्त लागत घट जाती है परन्तु सीमान्त आय में इसकी अपेक्षा अधिक कमी होती है जिससे इस इकाई और उत्पादन करने से उस फर्म को हानि होती हैं। इससे स्पष्ट है कि यदि उत्पादन पर औसत लागत के ह्रास का नियम लागू हो तो उत्पादन उसी सीमा तक किया जायेगा जहाँ सीमान्त आय और सीमान्त लागत बराबर होती है।

---

* उक्त ग्राफ मे सीमान्त लागत की वक्ररेखा बाई ओर से दाहिनी ओर को झुकती है क्योकि जैसे जैसे उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि होती है औसत और सीमान्त लागत घटती जाती हैं।

नियन्त्रित मूल्य और राशनिंग †

(Price Control And Rationing)

अब तक हमने मूल्य के निर्धारण की समस्या का अध्ययन उन स्थितियो मे किया है जहां मांग और पूर्ति की शक्तियों की स्वतन्त्र गति से ही मूल्य निर्धारित होता है। अब हम उस स्थिति का अध्ययन करेंगे जहा मूल्य को निर्धारित करने मे राज्य को हस्तक्षेप करना अनिवार्य हो जाता है। यह प्रत्येक देश का अनुभव है कि लडाई के समय मे अनेक वस्तुओ के मूल्य मे वृद्धि होने की प्रवृत्ति होती है। इसका कारण यह है कि उन वस्तुओ की माँग बढ जाती है परन्तु पूर्ति में उतनी वृद्धि नही होती और कभी कभी पूर्ति कम भी हो जाती है । माँग मे वृद्धि होने के मुख्य कारण निम्नलिखित है —

(१) राज्य अनेक वस्तुएँ स्वय खरीदने लगता है। यह वस्तुएँ उसे अपनी सेना के लिए या अपने मित्रराष्ट्रों को देने के लिए चाहिए । लडाई के कारण अनेक वस्तुओं का विनाश होता है और सैनिक व अन्य सरकारी कर्मचारी वस्तुएं लापरवाही से काम मे लाते है जिससे वे व्यर्थ नष्ट हो जाती है। इन कारणो से राज्य को वस्तुएँ अधिक मात्रा में खरीदनी पडती है। राज्य का व्यय भी बढ जाता है जिससे मुद्रा की सख्या बढ जाती है और लोगों के पास अधिक मुद्रा होने से वे अधिक व्यय करते है जिससे माँग अधिक बढ जाती है।

(२) लडाई के कारण रोजगार मे वृद्धि होती है क्योकि बहुत से व्यक्ति सेना में भर्ती कर लिये जाते है और बहुत से लडाई के उद्योगो में। ये लोग जब अपनी आय को व्यय करते है तो वस्तुओ की माँग बढ जाती है।

(३) लोग यह विचार करते है कि भविष्य मे माँग और बढ जायेगी जिससे मूल्य और बढ जायेगा और भविष्य में पूर्ति पर्याप्त मात्रा में न होने की आशका रहती है। इन कारणो से लोग वस्तुएँ इकट्ठी करने लगते है जिससे माँग बढ जाती है।

(४) विदेशी राज्य जो स्वय लडाई में फँसे है वह भी अधिक मात्रा मे दूसरे देशो से वस्तुएँ खरीदना चाहते है जिससे माँग बढ जाती है।

---

† इस विषय पर पूर्ण परिचय प्राप्त करने के लिये श्री आर एन भार्गव की पुस्तक "Price Control & Rationing" (Published by Kitabistan, Allahabad) पढिये ।

(५) नाज की समस्या शोचनीय हो जाती है क्योंकि हमारे जैसे देश मे लडाई के पूर्व बहुत-से लोगो को पेट भर भोजन भी प्राप्त नही होता था। ये लोग जब सेना मे भर्ती हो जाते है तो इन्हें पूरा भोजन मिलता है और कुछ भोजन नष्ट भी होता है जिससे नाज की माँग बढ जाती है। हमारे देश मे पूर्व के दस, बारह वर्षो में जनसख्या भी कई करोड़ बढ गई है जिसके कारण नाज की अधिक मात्रा में आवश्यकता है।

एक ओर माँग तो बढ जाती है परन्तु दूसरी ओर पूर्ति मे कमी होने की प्रवृत्ति होती है जिसके मुख्य कारण निम्नलिखित है—

(१) शत्रु-राष्ट्र और वह राष्ट्र जो शत्रु द्वारा जीत लिए गये है उनसे व्यापार बन्द हो जाता है। इस कारण इन राष्ट्रों से वस्तुओ का आयात नही होता। लडाई के पूर्व हम बर्मा से लगभग दस लाख टन चावल प्रतिवर्ष मँगाते थे परन्तु लड़ाई मे बर्मा पर जापानियो का अधिकार हो गया जिससे यह आयात बन्द हो गया। लड़ाई के कारण उस देश के खेत भी नष्ट हो गये जिससे उत्पादन को हानि पहुँची और बर्मा से चावल का निर्यात अब भी युद्ध-पूर्व के स्तर के बराबर नही पहुँच सका है।

(२) शत्रु के विनाशी प्रयत्नो द्वारा कारखाने और खेत नष्ट हो जाते है जिससे उत्पादन मे कमी हो जाती है। जो माल समुद्री मार्ग से आता है उसको शत्रु-राष्ट्र नष्ट करने का पूरा प्रयत्न करते है। कभी कभी यह प्रयत्न सफल भी हो जाते है जिससे आयात कम हो जाता है।

(३) युद्ध मे यातायात के साधनो की भी कमी हो जाती है क्योंकि बहुत-सी रेलगाडी व जहाज इत्यादि सेना व लड़ाई का सामान लाने और ले जाने मे लग जाते है। इटली के लड़ाई में आने के उपरान्त भूमध्यसागर का मार्ग बन्द हो गया और यूरोप से माल केप ऑफ गुड होप के मार्ग से ही आता था। इस कारण एक जहाज, जो भूमध्यसागर के मार्ग द्वारा साल मे सात-आठ फेरे करता था, केवल दो ही फेरे कर सकता था। इससे यह हुआ कि जितना माल शान्ति के समय एक जहाज एक वर्ष में ला सकता था लडाई के समय में वह केवल उसका $\frac{1}{4}$ ही ला सका।

(४) लडाई मे फँसे होने के कारण विदेशी राष्ट्रो के पास निर्यात के लिए वस्तुओ की कमी हो जाती है। दूसरी ओर हमारे पास विदेशी सिक्को (Foreign Exchange) की भी कमी होती है क्योंकि लडाई में हमारी स्वय माँग बढ जाने से हमारा निर्यात कम हो जाता है। इन कारणो से विदेशी देशो से कम माल आता है।

(५) आवश्यक कच्चा माल, मशीनें व मजदूर इत्यादि शान्तिकालीन उद्योगो से हटाकर लड़ाई के सामानो के उत्पादन में लगा दिये जाते है जिससे जनता की आवश्यकताओ की वस्तुओ का उत्पादन घट जाता

है। इन कारणो से नये कारखानो की स्थापना भी कठिन हो जाती है। वर्तमान कारखानो मे उत्पादन कुछ सीमा तक बढाया जा सकता है और उन कारखानो को दिन-रात चलाया जा सकता है। परन्तु या तो कच्चे माल की कमी के कारण ऐसा नही हो सकता या कुछ समय के उपरान्त मशीनें घिस व टूट-फूट जाती है और नई नई मशीनो का आयात नही होता।

(६) जिन विक्रेताओं के पास माल होता है वह उस माल को इस आशा मे रोक लेते है कि भविष्य मे मूल्य बढेगा। इसमे विक्रेताओ मे माल इकट्ठा करने की प्रवृत्ति बढ जाती है जिसमे पूर्ति की मात्रा घट जाती है।

(७) हमारे देश मे नाज की पूर्ति की भी कमी अनुभव हुई है। लडाई के पूर्व ही कुछ प्रान्तों में नाज की अपेक्षा गन्ना, रुई व पटसन बोया जाने लगा। नाज का मूल्य अधिक बढ जाने से किसानो की आर्थिक उन्नति हुई जिससे उन्होने अपने उपभोग की मात्रा बढा दी। लडाई के पूर्व नाज का भाव उतना सस्ता था कि उनको अधिक मात्रा में नाज बेचना पडता था और तभी वह लगान इत्यादि चुका सकते थे और अन्य वस्तुएँ खरीद सकते थे। अब थोडा-सा नाज बेचने से ही उनकी द्रव्य की आवश्यकता पूरी हो जाती है और वह अपने उपभोग के लिए अधिक नाज काम मे ला सकते हैं। लडाई के पूर्व अनेक गरीब किसान भरपेट भोजन प्राप्त नही करता था। अब वे भरपेट भोजन करते है जिससे बाजार में पूर्ति की मात्रा घट गई।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि एक ओर मांग बढ जाती है और दूसरी ओर पूर्ति घट जाती है और उसके बढाने मे अनेक कठिनाइयाँ पडती है, जिससे पूर्ति की लचक बहुत घट जाती है। इन कारणो से अनेक वस्तुओ के मूल्य बढ जाते है और अनेक फर्मो को अत्यधिक नफा होने लगता है। यह स्थिति बहुत समय तक रहती है क्योकि इन वस्तुओ के उत्पादन की वृद्धि मे अनेक बाधाएँ पडती है। यदि उस स्थिति में राज्य का हस्तक्षेप न हो तो आवश्यक वस्तुओ के मूल्य इतने बढ जायेंगे कि कुछ लोगो के पास जीवित रहने की वस्तुओ को मोल लेने के भी साधन न होंगे और वे भूखो मर जायेंगे। बगाल मे १९४२ मे ऐसा ही हुआ और लाखो लोग भूखो मर गये। यह भी ध्यान मे रखना आवश्यक है कि जब देश की रक्षा के लिए कुछ लोग लडाई के मैदान पर अपने जीवन का त्याग करने के लिए तय्यार है ता कुछ अन्य लोगो को जनता के कष्टो की वृद्धि कराके अधिक नफा कमाने की छूट नही दी जा सकती है। राज्य के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि जनता को आवश्यक वस्तुएँ उचित मूल्य पर प्राप्त कराये, अन्यथा देश में अशान्ति और क्रान्ति का डर होगा जिससे युद्ध सचालन और विजय में बाधा पडेगी। इस कारण कम-से-कम आवश्यक वस्तुओ के मूल्य को

निर्धारित करने के लिए माँग और पूर्ति की शक्तियो की स्वतन्त्र गति पर ही निर्भर नही रहा जा सकता, वरन् राज्य को कानून द्वारा मूल्य नियन्त्रित करना होता है, जिससे मूल्य लागत से बहुत अधिक न हो। नियन्त्रित मूल्य से अधिक मूल्य लेना अपराध समझा जाता है और अपराधी को कानून द्वारा दण्ड दिया जाता है। परन्तु जब मूल्य इस प्रकार नियन्त्रित कर दिया जाता है तो इस मूल्य पर माँग की मात्रा पूर्ति से कही अधिक होती है जिससे कुछ लोग अपना स्टॉक छिपाकर रखते हैं और नियन्त्रित मूल्य से ऊँचे मूल्य पर बेचने का प्रयत्न करते हैं। बहुत से लोग जिनकी आवश्यकता या आय अधिक है अधिक मूल्य देने को तय्यार भी होते हैं, क्योकि नियन्त्रित मूल्य पर उनको वह वस्तु आवश्यकतानुसार पर्याप्त मात्रा में नही मिल सकती। माँग को घटाने और जनता को नियन्त्रित मूल्य पर वस्तु प्राप्त कराने की सुविधा देने के लिए ही कुछ वस्तुओं को राशन द्वारा बाँटा जाता है। राशनिग माँग को कम करने की एक रीति है क्योकि वह प्रत्येक क्रेता के क्रय की मात्रा निश्चित कर देता है। प्रत्येक व्यक्ति का भाग उसकी व्यय करने की शक्ति पर निर्भर नही होता है वरन् पूर्ति की मात्रा पर निर्भर होता है और प्रत्येक व्यक्ति को उसका न्यायोचित भाग मिल जाता है। इस प्रकार राशन द्वारा अनेक लोगो को उनकी आवश्यकता से कम मात्रा मे कुछ वस्तुएँ प्राप्त होती है, परन्तु यह राशनिग की त्रुटि नही है बल्कि सीमित पूर्ति के कारण ही ऐसा होता है। यदि पूर्ति की मात्रा सीमित होने से जनता को कष्ट होता है तो यह उचित है कि राशनिग द्वारा इस कष्ट को सब लोग बराबर सहें। जिन लोगो को राशनिग द्वारा निश्चित की हुई मात्रा पूरी नही पडती और उनके पास अधिक मात्रा मे खरीदने के साधन है तो वह उस वस्तु को राशन के बाहर अधिक मूल्य पर खरीदने का प्रयत्न करते है। कुछ विक्रेता भी चोरी से उन्हें अधिक मूल्य पर वस्तु बेचने का प्रयत्न करते हैं, क्योकि इससे उनको अधिक नफा होता है। इससे चोर बाजार (Black Market) पनपता है।

मूल्य नियन्त्रित करने और राशनिग से चोर बाजार पनपते है जिससे शासन मे भी भ्रष्टाचार बढता है। जो विक्रेता अधिक मूल्य पर राशनिग के बाहर वस्तुएँ बेचते है वे राज्य के कानूनो को तोडते है। इस कारण कानून के दण्ड से बचने के लिए वह अफसरो को घूस देते है। राशनिग और मूल्य नियन्त्रण के विभाग के कर्मचारी अपनी अस्थाई नियुक्ति के कारण इस स्थिति से लाभ उठाते है। घूस और बेईमानी का बाजार गर्म रहता है जिससे राष्ट्र का नैतिक पतन होता है। यदि राशनिग और मूल्य नियन्त्रण की योजनाएँ हटा ली जाती है तो जनता को भुखमरी

का सामना करना पड़ता है, क्योंकि नाज का मूल्य विशेष रूप से बहुत बढ़ जाता है। नाज की माँग स्थगित नही की जा सकती क्योंकि मनुष्य को भूख प्रतिदिन सताती है। परन्तु नाज के विक्रेता अपने स्टॉक को मूल्य बढ़ने की आशा में रोक सकते है। विक्रेताओ की वस्तुएँ इकट्ठा करने व उन्हें रोकने की शक्ति क्रेताओ से कही अधिक होती है। यह प्रत्येक आवश्यक वस्तु जैसे कपड़ा, चीनी, गुड़, नमक इत्यादि के लिए सत्य है। १९४७ के अत मे भारत सरकार ने नियन्त्रण और राशनिग हटाने की नीति अपनाई और चीनी, नाज, कपड़े इत्यादि पर से कन्ट्रोल हटा लिया। परन्तु यह नीति असफल रही और इन वस्तुओ के मूल्य अधिक बढ गये जिससे देश में हाहाकार मचा और सरकार के लिए विवश होकर कन्ट्रोल लगाने के अतिरिक्त और कोई चारा न रहा।

सट्टा (Speculation)

उस व्यापारिक लेन-देन या क्रय-विक्रय को जो इस आशा से किया जाता है कि मूल्य मे परिवर्त्तन होने से कुछ नफा उठाया जाय सट्टा कहते है। जब एक व्यक्ति कोई वस्तु अभी इस आशा मे बेचता है कि भविष्य में उसका मूल्य घट जायेगा जिससे उसको नफा होगा या अभी इस आशा मे खरीदता है कि भविष्य मे मूल्य बढ जायेगा और तब उसके बेचने से उसको नफा होगा तो दोनो परिस्थितियो मे हम यही कहेंगे कि वह व्यक्ति वस्तुओ का क्रय-विक्रय सट्टे के लिए कर रहा है। इससे स्पष्ट है कि जो व्यक्ति आज इस आशा में खरीदता है कि भविष्य मे मूल्य बढ जायेगा और तब वह बेचेगा, वह वास्तव में भविष्य का विक्रेता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति आज इस आशा में बेचता है कि भविष्य मे मूल्य घट जायेगा वह वास्तव मे भविष्य का क्रेता है। दोनो स्थितियो मे वस्तुओ का लेन-देन नही होता है वरन् मूल्य के अन्तर का लेन-देन ही होता है । साराश यह है कि सट्टेबाजी को भविष्य का क्रय-विक्रय कहा जा सकता है । सट्टा इसलिए सम्भव है क्योंकि वस्तुओ के मूल्य विभिन्न समयो पर विभिन्न होते है और इन विभिन्न मूल्यो का ठीक अनुमान नही लग सकता । सट्टेबाज भविष्य के मूल्य का ठीक ठीक अनुमान अपने ज्ञान और विचार से लगाता है और यह पता लगाने का प्रयत्न करता है कि भविष्य मे माँग और पूर्ति कितनी होगी और उस स्थिति में मूल्य कितना होगा। सट्टा जुए से भिन्न है। जुए मे लोग आँख मीच कर खरीदते और बेचते है परन्तु सट्टेबाज भविष्य की माँग और पूर्ति का ठीक ठीक अनुमान लगाकर खरीदते और बेचते है। इससे

समाज और उत्पादन को लाभ होता है क्योकि इनके कार्यो से मूल्य के स्थिर होने मे सहायता मिलती है और उसमे परिवर्त्तन की मात्रा कम हो जाती है। यदि अभी मूल्य कम है तो सट्टेबाज खरीदता है जिससे वर्तमान मे पूर्ति कम हो जाती है और माँग बढ जाती है। इससे वर्तमान मे मूल्य बढने की प्रवृत्ति होती है। वह वर्तमान मे तभी खरीदता है जब उसको भविष्य मे मूल्य बढने की आशा हो। जब वह वर्तमान में खरीदी मात्रा को भविष्य में बेचता है तो भविष्य की पूर्ति बढ जाती है जिससे मूल्य अधिक नही बढ पाता। इस प्रकार सट्टेबाज के कार्य से वर्तमान मे मूल्य कम गिरता है और भविष्य मे कम बढता है। इसी तरह जब वह यह अनुमान लगाता है कि भविष्य में मूल्य घट जायेगा तो वह वर्तमान मे बेचता है और भविष्य मे खरीदता है जिससे वर्तमान मे पूर्ति बढ जाती है और मूल्य घटता है और भविष्य में माँग बढ जाती है जिससे घटनेवाला मूल्य अधिक नही घटता है। सट्टेबाजो के कार्यो से उत्पादको को भविष्य मे किसी वस्तु की कमी या अधिकता की पहले से ही सूचना मिल जाती है जिससे वह अपने नफे के लिए उत्पादन मे परिवर्त्तन कर सकते है और उत्पादन की अनिश्चयता को घटा सकते हैं। सट्टेबाज वस्तु को सस्ते स्थानों से खरीद कर ऐसे स्थानो मे बेचते है जहाँ उनका मूल्य अधिक होता है, जिससे उन स्थानो पर जहाँ उस वस्तु की कमी होती है उसकी पूर्ति बढा देते है। इस प्रकार सट्टेबाज वस्तुओ का विभिन्न समय और स्थानो पर वितरण समान करने मे सहायक होते है। परन्तु कभी कभी वह झूठे समाचार फैलाकर लोगो को डरा देते है और उनकी अज्ञानता का लाभ उठाते है जिससे जनता और समाज को हानि पहुँचती है। कभी कभी उनमे से कुछ व्यक्ति वस्तु का अधिकतम स्टॉक खरीद लेते है और फिर मनमाने भाव बेचते है। यदि वह इन कार्यो मे असफल होते है तो उन्हे इन कार्यों में अधिक हानि भी उठानी पडती है। ऐसी सट्टेबाजी जो वास्तव मे जुआ है समाज के लिए और कभी कभी स्वय उन्ही के लिए हानिकारक होती है और ऐसे बहुत से धनिक सट्टेबाज रात भर मे ही भिखारी हो जाते है। इन लोगो के हानिकारक कार्यो को रोकने के लिए राज्य को सट्टेबाजी पर नियन्त्रण रखना पडता है और ऐसे नियम बनाने पड़ते है जिससे उनके कार्यों द्वारा समाज को हानि की सम्भावना कम रहे।

अभ्यास के प्रश्न

१ कुल आय, औसत आय और सीमान्त आय मे उदाहरण देकर अन्तर समझाइये।

२. पूर्ण प्रतिस्पर्धा, एकाधिकार और अपूर्ण प्रतिस्पर्धा में क्या अन्तर होता है?
३ पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति मे किसी वस्तु का मूल्य किस प्रकार निर्धारित किया जाता है?
४ प्रतिनिधि फर्म से आप क्या समझते हैं? इसके महत्व पर प्रकाश डालिये।
५ बाजार मूल्य और सामान्य मूल्य का अर्थ समझाइये। उनमें अन्तर क्यों होता है, कारण देकर समझाइये।
६. "बाजार मूल्य परिवर्तित लागत से कम नहीं हो सकता, परन्तु सामान्य मूल्य परिवर्तित और स्थिर लागत के बराबर होना चाहिए।" इस कथन को समझाइये।
७ अपूर्ण प्रतिस्पर्धा में मूल्य किस प्रकार निश्चित होता है?
८ मूल्य नियन्त्रण और राशनिंग की आवश्यकता तथा इनके लाभ समझाइये।
९ सट्टे से आप क्या समझते है? इस पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये।

अध्याय २०

द्रव्य (Money)

अदल-बदल की असुविधाओं को दूर करने के लिए एक ऐसी मध्य-वस्तु का निर्माण करना आवश्यक हो गया जिससे प्रत्येक अन्य वस्तु का क्रय-विक्रय सुगमता से हो सके। इसी से द्रव्य का चलन हुआ। आर्थिक इतिहास से पता चलता है कि समय समय पर अनेक वस्तुओं ने द्रव्य का रूप धारण किया। प्रारम्भ में जानवरो की खाल, कौड़ी, पशु, नाज इत्यादि द्रव्य के काम मे लाये गये परन्तु उनकी असुविधाओ के कारण द्रव्य के लिए धातु का प्रयोग किया गया। आधुनिक काल में कागज भी द्रव्य के काम में लाया गया है और हम देखते हैं कि प्रत्येक सभ्य देश में कागजी-द्रव्य अधिक मात्रा मे प्रचलित है। द्रव्य हम उसी को कहते हैं जिसको विनिमय में किसी वस्तु के बदले मे दिया जाता है और उस वस्तु को देनेवाला उसको स्वीकार करता है ।

द्रव्य के कार्य—द्रव्य का पहला कार्य यह है कि वह विनिमय का माध्यम (Medium of Exchange) होता है। प्रत्येक विनिमय के कार्य के एक ओर द्रव्य होता है और दूसरी ओर वस्तु। जब एक व्यक्ति कोई वस्तु बेचता है तब वह वस्तु देकर द्रव्य प्राप्त करता है और जब वह कोई वस्तु खरीदता है तो वह वस्तु लेकर द्रव्य देता है। इस प्रकार जब द्रव्य विनिमय का माध्यम होता है तो वह प्रत्येक वस्तु की विनिमय शक्ति का माप (Measure of Value) भी होता है। विभिन्न वस्तुओ के पारस्परिक अर्घ का अनुमान हम द्रव्य द्वारा ही लगाते हैं। यदि एक मेज २० रुपये मे आती है और एक पुस्तक १० रुपये मे, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि एक मेज दो पुस्तको के अर्घ के बराबर है। अर्थात् हम कह सकते हैं कि द्रव्य दो वस्तुओ के अर्घो का तुलनात्मक अध्ययन करने में सहायता देता है। द्रव्य का तीसरा कार्य यह है कि वह विनिमय शक्ति के सचय (Store of Value) का साधन है। यदि किसी व्यक्ति को धन जमा करना है तो वह उसे वस्तुओ के रूप मे जमा न करके द्रव्य के रूप में ही करता है। यदि वह वस्तुओ के रूप में धन जमा करे तो उसे हानि की सम्भावना है; क्योकि कुछ वस्तुएँ जैसे फल, नाज इत्यादि कुछ समय के उपरान्त खराब हो जाते हैं; उनका मूल्य भी बहुत

घट-बढ़ जाता है और उनके रखने के लिए अधिक स्थान की भी आवश्यकता होती है। कुछ वस्तुएँ ऐसी भी होती हैं जिनको रखने से उनका वजन छीजन के कारण कम हो जाता है। द्रव्य का अन्तिम मुख्य कार्य यह है कि वह भविष्य के लेन-देन व भुगतान का मान है (Standard of Deferred Payments)। जब एक व्यक्ति किसी से ऋण लेता है तो इस लेन-देन के लिए यह आवश्यक है कि ऋण ऐसी वस्तु में चुकाया जाय जिनका अर्घ स्थिर रहे। यदि उसे ऋण ऐसी वस्तुओं में चुकाना हो जैसे टमाटर या पशु तो उसको अधिक अनिश्चयता रहेगी; क्योंकि टमाटर कभी १ आना सेर होते हैं और कभी १ रुपये सेर। इसी प्रकार एक दूध देनेवाली गाय का मूल्य ऐसी गाय की अपेक्षा अधिक होता है जो बीमार हो या दूध नही देती हो। यह तो सत्य है कि द्रव्य का अर्घ भी बिल्कुल स्थिर नहीं रहता, क्योंकि वस्तुओं के मूल्य घटने-बढ़ने से द्रव्य का अर्घ भी बढ़-घट जाता है। जब वस्तुएँ सस्ती होती हैं तो एक निश्चित द्रव्य की मात्रा से अधिक वस्तुएँ खरीदी जा सकती हैं और जब वस्तुएँ महँगी होती हैं तो उसी द्रव्य की मात्रा से कम वस्तुएँ खरीदी जायेंगी अर्थात् इस अवस्था में द्रव्य का अर्घ पूर्व अवस्था की अपेक्षा कम हो जाता है। परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि साधारणत द्रव्य के अर्घ में वस्तुओं की अपेक्षा बहुत कम परिवर्त्तन होता है। द्रव्य के उक्त लिखित कार्यों को निम्नलिखित अंग्रेजी के दोहे मे भली प्रकार समझाया गया है—

"Money's a matter of functions four,
A medium, a measure, a standard, a store "

द्रव्य से लाभ—द्रव्य के निर्माण से समाज को अधिक लाभ हुआ है। द्रव्य ही अर्थशास्त्री का मापदण्ड है। हम लागत, मूल्य, आय-व्यय, उपयोगिता इत्यादि इत्यादि द्रव्य में ही नापते हैं। द्रव्य से अदल-बदल की कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं और विनिमय सरलता और सुगमता से किया जा सकता है। द्रव्य द्वारा बचत भी आसानी से सम्भव है जिससे मनुष्य अपना वर्तमान का उपभोग घटाकर दूरदर्शिता के कारण बचत बढ़ा देता है। द्रव्य द्वारा ही ऋण लेने-देने में सुगमता होती है और जो व्यक्ति अपनी पूंजी स्वय कारखानो व अन्य उद्योगो मे नही लगा सकते है वे उसे ऐसे व्यक्तियो को उधार दे सकते है जो उसका अधिक उपयोग करते हैं जिससे उत्पादन में वृद्धि होती है। द्रव्य द्वारा ही श्रम-विभाजन और विशेषज्ञता ने अधिक उन्नति की है और अब प्रत्येक व्यक्ति वही कार्य करता है जिसमे वह अधिक चतुर होता है और अपनी आय से अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ खरीद लेता है। राज्य के अन्य कार्य द्रव्य

की सहायता से अधिक सुगम हो गये हैं और द्रव्य के निर्माण से ही राज्य के कार्यों की संख्या में वृद्धि सम्भव हो सकी है। द्रव्य से व्यापार को भी अधिक लाभ पहुँचा है और व्यापार का क्षेत्र बहुत बढ गया है जिससे सबको लाभ है।

द्रव्य-पदार्थ के आवश्यक गुण.—किसी पदार्थ को द्रव्य बनाने से पहले यह आवश्यक है कि उसमे ऐसे गुण हो जिनसे वह द्रव्य का कार्य ठीक-ठीक कर सके। किसी पदार्थ को द्रव्य के कार्य मे लाने के लिए यह आवश्यक है कि उसमें निम्नलिखित गुण हो :—

(१) **मान्यता** (Acceptability) :—वह पदार्थ ऐसा होना चाहिए जिसे स्वीकार करने में कोई व्यक्ति आनाकानी न करे। अर्थात् उसमें कुछ ऐसा गुण होना चाहिए जिससे उस पदार्थ का कुछ वास्तविक मूल्य हो और प्रत्येक व्यक्ति उसको प्राप्त करने को उत्सुक हो। मास अनेक व्यक्तियो के लिए घृणित होगा और पशु भी वह व्यक्ति नही लेगा जिसके पास उसके लिए चारे का प्रबन्ध न हो। इस कारण ये वस्तुएँ द्रव्य के लिए उचित नही हैं।

(२) **परिचयता** (Cognisibility).—पदार्थ ऐसा होना चाहिए जो सुगमता से पहचाना जा सके और प्रत्येक बार उसे प्राप्त करने पर उसकी जाँच या तौल करने की आवश्यकता न हो और न किसी विशेषज्ञ से उसकी परीक्षा करानी पडे। चावल अनेक प्रकार के होते हैं जिनके मूल्य मे अधिक अन्तर होता है और उनके विभिन्न प्रकारो से प्रत्येक व्यक्ति परिचित नही होता है, परन्तु सोने, चाँदी के रंग से सब परिचित होते हैं, उनमें एक विशेष ध्वनि भी होती है जिससे इन धातुओ के सिक्के प्रत्येक व्यक्ति पहिचान सकता है।

(३) **उपयोगिता** (Utility) —उस पदार्थ मे प्रत्येक व्यक्ति के लिए कुछ उपयोगिता होनी चाहिए अन्यथा वह उसे स्वीकार न करेगा। सोना, चाँदी आभूषण और दिखावट के लिए सबको अच्छे लगते हैं।

(४) **वहनीयता** (Portability) —पदार्थ ऐसा होना चाहिए जिसका थोडे से वजन और छोटे आकार मे अधिक अर्घ हो और वह सुगमता और कम व्यय पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सके। घास और मिट्टी के बर्तनो मे यह गुण नही होते जिस कारण वे द्रव्य के उपयोग में नही लाये जाते।

(५) **विभाजकीयता और ढलाई की योग्यता** (Divisibility and Malleability) .—पदार्थ ऐसा होना चाहिए जिसको आसानी से टुकडो मे बाँटा जा सके और इस प्रकार बाँटने से उसके अर्घ में कमी न हो; हीरे के समान नही जिसके टुकडे करने से अर्घ बहुत कम हो जाता है;

और न पशु व मोटर के ही समान जिनके टुकड़े करने से उनकी उपयोगिता अत्यन्त न्यून हो जाती है। पदार्थ ऐसा भी होना चाहिए जो आसानी से गलाया और ढाला जा सके जिससे उसको उचित रूप दिया जा सके और जो चिह्न उन पर लगाने हो वे सरलता से लगाये जा सके। वह बहुत सख्त भी नही होना चाहिए जिससे उसके सिक्के न बन सके और न इतना मुलायम होना चाहिए कि जिसमे सिक्के बनने के उपरात उनका रूप आसानी से बिगड जाय या वे टूट जायें।

(६) अक्षयशीलता (Indestructibility) —पदार्थ ऐसा होना चाहिए कि जो चलन या प्रयोग से शीघ्र घिस या छीज न जायँ, क्योंकि द्रव्य बारबार काम मे आता है और कभी कभी इकट्ठा करके अधिक काल तक रखा भी रहता है। नाज में शीघ्र घुन लग जाता है, पशु बीमार पड जाते है, मुल्तानी घिस जाती है; परन्तु यह अनुमान लगाया गया है कि सोने के सिक्के को बिल्कुल घिस जाने मे लगभग ८००० वर्ष लगेंगे।

(७) स्थिरता (Stability) —पदार्थ ऐसा होना चाहिए जिसका मूल्य या अर्घ स्थिर रहे और तुरन्त उसमे घटती-बढती न हो, अन्यथा उत्पादको और ऋण लेने देनेवालो में शका रहेगी। कोई व्यक्ति उसको विनिमय मे लेते समय भी घबडायेगा, क्योकि उसको यह डर रहेगा कि कही इसका अर्घ शीघ्र घट न जाय।

(८) समानता (Homogeneity)* —पदार्थ की विभिन्न इकाइयाँ समान होनी चाहिएँ। उनमे कोई अन्तर न होना चाहिए। अन्यथा उनका मूल्य भिन्न होगा और उनको स्वीकार करने के पहले उनकी परीक्षा करानी होगी। उसमे यह भी गुण होना चाहिए कि समान इकाइयो का समान अर्घ हो।

पूर्वकाल मे कौडी, पशु, तम्बाकू, नाज इत्यादि अनेक वस्तुएँ द्रव्य के काम में लाई गई; परन्तु उनमे उक्त लिखित प्रत्येक गुण न होने के कारण समाज को अनेक कष्ट उठाने पडे जिससे उन पदार्थो का द्रव्य के लिए प्रयोग बन्द कर दिया गया और अन्त मे सोना और चाँदी ही द्रव्य के प्रयोग में लाये गये, क्योकि इन धातुओ में ही अन्य वस्तुओ की अपेक्षा उक्त लिखित गुण अधिक मात्रा में पाये जाते है। कुछ शताब्दियो से कागजी-द्रव्य का प्रयोग भी चल गया है। कागजी-द्रव्य मे उक्त

---

* उक्त गुणो को सरल रीति से याद करने के लिए A Cup Dish (एक प्याला तश्तरी) याद रखना चाहिए, क्योकि उक्त गुण क्रमानुसार इन अक्षरो से प्रारभ होते हैं।

लिखित प्रत्येक गुण तो नही होते, परन्तु वह विनिमय के माध्यम का इतना सुगम और सस्ता साधन है कि कानून द्वारा उसमे उपयोगिता और मान्यता पैदा कर दी गई है जिससे प्रत्येक व्यक्ति उनको स्वीकार कर लेता है, क्योकि उसको इस बात का विश्वास होता है कि उनके द्वारा वह अन्य वस्तुएँ खरीद सकता है।

द्रव्य का वर्गीकरण और कुछ टैकनिकल शब्द

धात्विक और कागजी-द्रव्य —(Metallic and Paper Money)— वह मुद्रा जो किसी धातु की बनी होती है धात्विक द्रव्य या धातु के सिक्के कहलाती है। पूर्वकाल मे ऐसी मुद्रा सिक्के के रूप मे नही होती थी वरन् धातु के टुकडे ही द्रव्य के काम में लाये जाते थे। कभी कभी उन टुकडो पर उनका वजन इत्यादि अंकित कर दिया जाता था। आजकल धातु के सिक्के टकसाल (Mint) मे बनते है और इनके बनाने के कार्य को सिक्का ढलाई (Coinage) कहते है। इन सिक्को पर उनका अर्घ अंकित होता है और राज्य की मुहर इत्यादि भी अंकित रहती है। कुछ सिक्को का द्राव्यिक अर्घ उनके वास्तविक अर्घ के बराबर होता है और ऐसे भी सिक्के होते है जिनका द्राव्यिक अर्घ उनके वास्तविक अर्घ से अधिक होता है। परन्तु प्रत्येक सिक्के का कुछ न कुछ वास्तविक अर्घ होता है। कागजी-द्रव्य का वास्तविक अर्घ शून्य होता है, क्योकि एक ही कागज पर हजार, दस हजार इत्यादि का नोट छप सकता है। कागजी-द्रव्य की उपयोगिता उसके द्राव्यिक अर्घ के कारण ही होती है। राज्य या केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रसारित नोट कागजी-द्रव्य कहलाता है। चेक, हुडी इत्यादि कागजी-द्रव्य नही कहलाते।

प्रामाणिक (Standard) और सांकेतिक (Token) द्रव्य — जिस मुद्रा का द्राव्यिक अर्घ और वास्तविक अर्घ समान होता है उसको प्रामाणिक द्रव्य कहते है। ऐसा द्रव्य असीमित मात्रा में कानूनी ग्राह्य होता है और उस देश का मुख्य द्रव्य कहलाता है; क्योकि अन्य सिक्को का अर्घ ऐसे द्रव्य मे ही निश्चित होता है। प्रामाणिक द्रव्य के सिक्को को पूर्णकाय सिक्का (Full Bodied Coin) भी कहते है। सांकेतिक द्रव्य का वास्तविक अर्घ उनके द्राव्यिक अर्घ से कम होता है। उनका द्राव्यिक अर्घ कानून द्वारा स्थिर किया जाता है और इस कारण ऐसे सिक्को को कानूनी सिक्के (Fiat Coin) भी कहते है। यह सिक्के सीमित मात्रा मे ही कानूनी ग्राह्य होते है। हमारा रुपया न तो पूर्ण रीति से प्रामाणिक द्रव्य है और न सांकेतिक ही। परन्तु उसमे

दोनो के कुछ लक्षण है। प्रामाणिक द्रव्य के समान वह देश का मुख्य सिक्का है और असीमित मात्रा मे कानूनी ग्राह्य है, परन्तु उसका वास्तविक अर्घ साकेतिक सिक्के के समान उसके द्राव्यिक अर्घ से कम है। इस कारण राज्य को रुपये ढालने से नफा होता है। एक रुपये का मूल्य तो एक रुपया या सोलह आने होता है, परन्तु जो धातु उसमें लगती है उसका मूल्य और उसके ढालने का व्यय मिलाकर सोलह आने से कही कम होता है।

कानूनी ग्राह्य द्रव्य (Legal Tender Money) —यदि कोई मुद्रा एक निश्चित सीमा तक ही कानूनी ग्राह्य होती है तो उस मुद्रा को **सीमित-कानूनी ग्राहच** (Limited Legal Tender) कहते है। साधारणत ऐसी मुद्रा देश का मुख्य सिक्का न होकर छोटे सिक्को व रेजगारी (Change) के काम आती है। हमारे देश में पैसे और पाइयाँ एक रुपये तक कानूनी ग्राह्य है। इसी प्रकार अधन्ना, इकन्नी, दुवन्नी और चवन्नी सीमित-कानूनी ग्राह्य है। जब कोई मुद्रा अपरिमित मात्रा मे कानूनी ग्राह्य होती है तो उसको **असीमित कानूनी ग्राहच** (Unlimited Legal Tender) कहते है। ऐसी मुद्रा देश की मुख्य द्रव्य होती है और उसीमें प्रत्येक वस्तु व अन्य द्रव्यो का मूल्य नापा जाता है। इसी मुद्रा मे ऋण चुकाया जाता है और लेन-देन होता है। प्रत्येक व्यक्ति को यह द्रव्य विनिमय में स्वीकार करना पडता है। इसको स्वीकार न करना कानूनी अपराध होता है और अपराधी को कानून द्वारा दण्ड दिया जाता है। भारतवर्ष में चाँदी का रुपया असीमित-कानूनी ग्राह्य है। लडाई मे भारत सरकार ने एक रुपये के कागजी नोट भी चलाये और यह भी असीमित-कानूनी ग्राह्य है।

स्वतन्त्र और सीमित मुद्रा ढलाई (Free and Limited Coinage) —जब प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार होता है कि वह टकसाल में धातु ले जाये और कानून द्वारा उसके सिक्के ढलवा सके तो उसको स्वतन्त्र मुद्रा-ढलाई कहते है। भारतवर्ष में सन् १८९३ तक स्वतन्त्र मुद्रा-ढलाई थी। जब जनता को धातु देकर सिक्के ढलवाने का अधिकार नही होता है वरन् सिक्के ढलवाने का अधिकार राज्य अपने लिए सुरक्षित कर लेता है तो उस स्थिति को सीमित मुद्रा-ढलाई कहते है। साधारणत साकेतिक सिक्को की (जिनका वास्तविक अर्घ उनके द्राव्यिक अर्घ से कम होता है) सीमित ढलाई होती ह। हमारे रुपये की सीमित-ढलाई है और राज्य को ही उसको ढलाने का अधिकार है। स्वतन्त्र मुद्रा-ढलाई मे यह आवश्यक नही कि राज्य मुफ्त मे सिक्के ढाल के दे। परन्तु जब मुद्रा-ढलाई मुफ्त होती है तो उसको **स्वतन्त्र और मुफ्त मुद्रा-ढलाई** (Free and Gratuitous Coinage) कहते है। ब्रिटेन मे १९१४ के युद्ध के पहले स्वतन्त्र और मुफ्त मुद्रा-ढलाई थी। जब राज्य ढलाई का वास्तविक

व्यय मुद्रा ढलाने वाले से वसूल करता है तो इसको टॉका या ढलाई-व्यय (Brassage) कहते हैं। कभी कभी इसकी दर वास्तविक व्यय से बहुत थोडी अविक रख दी जाती है, जिससे यदि व्यय में कुछ परिवर्त्तन हो तो ढलाई-व्यय स्थिर रहे। जब राज्य ढलाई व्यय की अपेक्षा कुछ रकम और वसूल करता है तो इस रकम को **ढलाई-लाभ** (Seigniorage) कहते हैं। उदाहरणत यदि एक देश मे स्वतन्त्र मुद्रा-ढलाई है और एक तोला चाँदी देकर एक तोले का सिक्का मुफ्त ढलवा सकते है तो उसे स्वतन्त्र और मुफ्त मुद्रा-ढलाई कहेगे। यदि राज्य का एक सिक्का ढालने में दो रत्ती चाँदी के मूल्य के वराबर व्यय होता है और वह एक तोला छ रत्ती चाँदी लेकर एक तोले का सिक्का ढाल कर देता है तो दो रत्ती चाँदी ढलाई-व्यय कहलायेगा और चार रत्ती चाँदी ढलाई-लाभ।

जव राज्य कानून द्वारा किसी सिक्के में धातु की तोल या शुद्धता घटा देता है तो उसको **निकृष्टता** (Debasement) कहते है। जैसे, भारत सरकार ने चाँदी की कमी और उसका मूल्य वढने के कारण रुपये मे चाँदी की मात्रा ११/१२ तोले से घटाकर ६/१२ कर दी है। परन्तु जब लोग सिक्के के किनारे काट कर उसकी तौल घटा देते है तो उसको **कटाई** (Clipping) कहते हैं। इस प्रथा को रोकने के लिए आजकल **सिक्को के किनारे किटकिटी-दार** (Milled Edges) होते है। जव सिक्को का वजन तेजाव या अन्य तीव्र रसायन मे डालकर कम कर दिया जाता है तो उसको **जलाई** (Sweating) कहते हैं। जलाई द्वारा सिक्को मे से कुछ वजन घटाकर धातु अलग निकाल ली जाती है और इस प्रकार लोग नफा उठाते है। जब सिक्को को एक थैली इत्यादि मे भरकर हिलाया जाता है तो उनके कुछ कण अलग हो जाते है और इस प्रथा को **घिसाई** (Abrasion) कहते हैं।

कागजी-द्रव्य (Paper Money) —जव कागजी-द्रव्य धातु के सिक्कों में वदला जाना कानूनी रूप से अनिवार्य होता है तो उसको **परिवर्त्तनशील कागजी-द्रव्य** (Convertible Paper Money) कहते हैं। ऐसी स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति का यह अधिकार होता है कि वह केन्द्रीय वैंक या टकसाल में जाकर कागजी-द्रव्य के वदले धातु के सिक्के प्राप्त कर सकता है। जब कागजी द्रव्य को धातु के सिक्को में नही वदला जा सकता तो उसको **अपरिवर्त्तनशील कागजी-द्रव्य** (Inconvertible Paper Money) कहते हैं। भारतवर्ष में रिजर्व वैंक के नोट परिवर्त्तनशील कागजी-द्रव्य हैं। परन्तु एक रुपये के नोट, जो भारत सरकार प्रचारित करती है, अपरिवर्त्तनशील कागजी-द्रव्य हैं। जव कागजी द्रव्य परिवर्त्तनशील होता है तव भी यह अनुभव किया गया है कि सारे नोट एक ही समय मे सिक्को मे वदलने के लिए उपस्थित नही किये जाते हैं। इस कारण राज्य या केन्द्रीय

बैंक जिस मात्रा में नोटों का प्रचार करता है उतने ही द्रव्य के सिक्के अपने कोष में नहीं रखता, वरन् प्रचारित नोटों की मात्रा का एक भाग ही सिक्कों में रखा जाता है। प्रचारित नोटों की मात्रा के इस भाग को रक्षित भाग (Covered Issue) कहते हैं और बाकी भाग को अरक्षित भाग (Fiduciary Issue) कहते हैं। उदाहरणत यदि राज्य सौ करोड़ रुपये के नोट प्रचारित करता है और उसके कोष मे चालीस प्रतिशत सिक्के हैं तो चालीस करोड़ रक्षित भाग और साठ करोड़ अरक्षित भाग कहलायेगा। इस स्थिति मे हम किसी एक विशेष नोट को रक्षित या अरक्षित नही कह सकते। जब कागजी-द्रव्य अपरिवर्त्तनशील होता है तो अधिक मात्रा मे नोट प्रचलित करने का डर रहता है जिससे उनका अर्घ गिर जाता है। आवश्यकता से अधिक मात्रा राज्य के पास वापस नही लौट सकती वरन् समाज मे चलती रहेगी। यदि उसकी मात्रा व्यवस्थित हो तो उक्त डर नही रहता। यदि नोटों के प्रचार की सख्या सावधानी से व्यवस्थित की जाय तो कोष में सिक्के रखने की कुछ आवश्यकता नहीं; क्योंकि द्रव्य तो विनिमय का माध्यम है और इस कारण सबसे सस्ता माध्यम ही उपयोगी होगा। परन्तु एक दुर्बल सरकार को नोट छापने का अधिक लालच होता है क्योंकि इस प्रकार वह अपने राजस्व सम्बन्धी कष्ट का सामना कर सकती है।

कागजी-द्रव्य के लाभ व हानि —कागजी-द्रव्य का निर्माण आर्थिक विज्ञान की उन्नति का चिह्न है। ऐसा द्रव्य वह सब कार्य कर सकता है जो धातु का द्रव्य कर सकता है; परन्तु धातु के द्रव्य की अपेक्षा यह बहुत सस्ता होता है। इसके बनाने का व्यय भी बहुत कम होता है। धातु का द्रव्य घिस जाता है, परन्तु कागजी-द्रव्य की घिसाई व टूट-फूट की लागत कुछ नही होती। यदि धातु का द्रव्य खो जाता है तो यह एक व्यक्तिगत हानि है और देश की भी हानि है क्योंकि देश मे धातु की मात्रा उतनी कम हो गई। परन्तु यदि एक नोट खो जाय तो यह व्यक्तिगत हानि है परन्तु राज्य या केन्द्रीय बैंक का उतना ही लाभ होता है और इससे समाज या देश को कोई हानि नही होती है। जब धातु का प्रामाणिक द्रव्य चलन मे होता है तो देश मे द्रव्य की मात्रा धातु की पूर्ति पर निर्भर होती है जो स्वय उस देश की धातु खरीदने की शक्ति पर निर्भर होती है। यदि उस देश में ही उस धातु की खानें हैं तो उन खानो का उत्पादन लागत पर निर्भर होता है। परन्तु कागजी-द्रव्य की मात्रा सुगमता से बढाई व घटाई जा सकती है और देश की आवश्यकता के अनुसार उसकी मात्रा व्यवस्थित की जा सकती है। परन्तु मात्रा बढने की सुगमता ही एक हानि हो जाती

है जब कागजी-द्रव्य अधिक मात्रा में प्रचलित कर दिया जाता है। इससे द्रव्य का अर्घ घट जाता है और वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते है। कागजी-द्रव्य से यह भी लाभ है कि उसके प्रचलन से जो धातु की बचत होती है वह उद्योग-धन्धो के काम मे लाई जा सकती है या उसका निर्यात करके विदेशी देशो से उत्पादन के साधन मँगाये जा सकते है जिससे देश के उत्पादन में वृद्धि होती है। इसी कारण केन्स (Keynes) ने सोने को द्रव्य के प्रयोग में लाने की प्रथा को एक असभ्य युग की निशानी कहा है। कागजी-द्रव्य बहुत सुविधाजनक होता है। वह वजन में हल्का होता है और सुविधा से रखा जा सकता है। उसको लेने, ले जाने या दूसरे स्थान पर भेजने या संचय करने मे सुविधा रहती है। यदि प्रत्येक देश धातु के द्रव्य का ही चलन रखता तो आधुनिक काल में द्रव्य की माँग इतनी बढ गई है कि सारे संसार के धातु का स्टॉक दुनिया की द्रव्य की आवश्यकता को पूरी नही कर सकता। इस कारण भी कागजी-द्रव्य का प्रयोग अनिवार्य हो गया है। कागजी-द्रव्य मे यह कमी अवश्य होती है कि जब राज्य पर राजस्व सम्बन्धी या राजनैतिक संकट पड़ता है तो जनता का भरोसा कागजी नोटो पर से हट जाता है और लोग नोटो की अपेक्षा सिक्के या धातु इत्यादि इकट्ठे करने लगते है।

अभ्यास के प्रश्न

१. किसी पदार्थ मे उसे द्रव्य बनाने के लिए किन गुणो की आवश्यकता है?

२. द्रव्य के लाभ समझाइये और द्रव्य के मुख्य कार्यो पर प्रकाश डालिये।

३. कागजी-द्रव्य से आप क्या समझते है? कागजी-द्रव्य के लाभ और हानि समझाइये।

अध्याय २१

ग्रेशम का नियम (Gresham's Law)

जब बिलायत में एलिजाबेथ का राज्य था, तब उस मलका ने यह अनुभव किया कि वहाँ के सिक्के चलते-चलते घिस गये थे और कटाई, जनाई, गलाई इत्यादि के कारण उनका वजन कम हो गया था। हैनरी अष्टम के राज्य मे मुद्रा निकृष्ट (debased) की गई थी। इस कारण एलिजाबेथ ने सर टॉमस ग्रेशम को मुद्रा सुधार के लिए नियुक्त किया। सर टॉमस ग्रेशम ने नये सिक्के चलाये परन्तु यह अनुभव किया कि नये सिक्के चलन मे हट गये और केवल पुराने सिक्के ही चलन में रह गये। यह स्वाभाविक है कि आपके पास दो सिक्के या नोट हों तो पहले आप घिसा हुआ सिक्का या गन्दा नोट खर्च करेंगे। अच्छे और बुरे सिक्को का द्राव्यिक मूल्य तो समान होता है परन्तु इनके वास्तविक मूल्य (जो धातु की तौल पर निर्भर होता है) विभिन्न होते है। इस कारण जब उन सिक्को को द्रव्य के काम में लाया जाता है तो पहले बुरे सिक्के ही चलाये जायेंगे और प्रत्येक व्यक्ति अच्छे सिक्के ही जमा करेगा। इसी तरह यदि किसी व्यक्ति को विदेशी भुगतान करना है तो वह अच्छे सिक्के ही भेजेगा, क्योंकि विदेशी देशो मे हमारे सिक्के द्राव्यिक मूल्य पर नहीं वरन् उनके वजन के अनुसार ही स्वीकृत किये जायेंगे। यदि उसे सिक्के गलाने है या उनका जेवर बनवाना है तो भी वह इन कार्यों के लिए अच्छे सिक्के ही काम में लायेगा। इन कारणों से चलन में केवल बुरे सिक्के ही रह जायेंगे। ग्रेशम का नियम सत्य है कि बुरे सिक्के अच्छे सिक्को को चलन से हटा देते है। यह तभी होगा जब अच्छे और बुरे सिक्को का द्राव्यिक मूल्य समान हो और बुरे सिक्के इतने खराब न हो जायँ कि वे क़ानूनी ग्राह्य न रहें। द्रव्य की मात्रा भी इतनी होनी चाहिए कि समाज की द्रव्य के चलन की आवश्यकता बुरे सिक्को से ही पूरी हो जाय, अन्यथा अच्छे सिक्के भी चलन में रहेंगे यदि उनका द्राव्यिक मूल्य उनके वास्तविक मूल्य से अधिक हो। यह भी आवश्यक है कि अच्छे और बुरे सिक्के एक ही प्रकार के द्रव्य हों अर्थात् या तो दोनो प्रामाणिक द्रव्य हो या सांकेतिक। यदि अच्छे सिक्के सांकेतिक द्रव्य है और बुरे सिक्के प्रामाणिक द्रव्य हैं तो उस स्थिति में अच्छे सिक्के चलन मे रहेंगे। अच्छे सिक्के

जो सांकेतिक द्रव्य है, वह गलाये नहीं जायेंगे और यदि किसी व्यक्ति को उन सिक्कों का ही सनय करना है तो वह उनमें से अच्छे सिक्कों का ही सचय करेगा।

ग्रेशम ने अपना नियम एक धातु के सिक्कों के चलन की स्थिति में अनुभव किया; परन्तु यह नियम तब ही लागू होता है जब दो धातु के सिक्के होते हैं और दोनों प्रामाणिक सिक्के होते हैं और असीमित-कानूनी ग्राह्य भी हों। इस दशा में कोई भी व्यक्ति दोनों धातु टकसाल में ले जा सकता है और उसके सिक्के ढलवा सकता है। अर्थात् दोनों सिक्कों की ढलाई के लिए टकसाल खुली होती है। इन दो सिक्कों का आपसी मूल्य कानून द्वारा नियन्त्रित होता है। परन्तु धातु का मूल्य बाजार में परिवर्तन होता रहता है। इस कारण जब भी उन दो सिक्कों के पारस्परिक कानूनी व बाजारी मूल्य में अन्तर होगा तो ग्रेशम का नियम लागू हो जायगा और चलन में सिक्के उसी धातु के रह जायेंगे जिसका कानूनी मूल्य अधिक है और बाजार-मूल्य कम है। उदाहरणतः मान लीजिये एक देश में सोने और चाँदी के दो सिक्के हैं और कानून द्वारा एक सोने का सिक्का =१५ चाँदी के सिक्के। अब यदि बाजार में चाँदी का भाव गिर जाता है (अर्थात् सोने का भाव बढ़ जाता है) तो मान लीजिये कि बाजार में एक सोने के सिक्के के वजन से १६ चाँदी के सिक्कों के वजन के बराबर चाँदी मिल सकती है अर्थात् एक सोने का सिक्का=१६ चाँदी के सिक्के। इस स्थिति में सोने के सिक्के का बाजार-मूल्य द्राव्यिक मूल्य से अधिक है। इस कारण लोग सोने का सिक्का बाजार में बेचेंगे। उससे चाँदी मोल लेकर (जो १६ चाँदी के सिक्कों के बराबर होगी) सरकार को देकर सोने के सिक्के लेंगे; क्योंकि इस चाँदी से उनको १६/१५ सोने के सिक्के मिलेंगे। इसी तरह यदि उनको सिक्के गलाने हैं तो वे सोने के सिक्के ही गलायेंगे, उन्हीं का संचय करेंगे और उन्हीं को विदेशी भुगतान के काम में लायेंगे; क्योंकि सोने के सिक्के के द्राव्यिक मूल्य में ह्रास हुआ है और उसके वास्तविक मूल्य में वृद्धि। दूसरी ओर चाँदी के सिक्के का वास्तविक मूल्य घट गया है और उसका द्राव्यिक मूल्य उसके वास्तविक मूल्य से अधिक है। इस कारण चाँदी के सिक्के ही चलन में रह जायेंगे और सोने के सिक्के चलन से हट जायेंगे।

यदि प्रत्येक देश में इन दोनों धातुओं का चलन हो तो प्रत्येक देश में सिक्के बनाने के लिए चाँदी की माँग काफी बढ़ जायेगी और बाजार में सोने के सिक्के गलाने के कारण सोने की पूर्ति में भी काफी वृद्धि हो जायेगी। इन दोनों कारणों से चाँदी के मूल्य में वृद्धि और सोने के मूल्य में ह्रास होगा। यह प्रवृत्ति तब तक जारी रहेगी जब तक सोने और चाँदी

का द्राव्यिक और वास्तविक मूल्य समान न हो जाय। इसको क्षति-पूर्ति का नियम कहते हैं। परन्तु जब एक ही देश में दो धातु के सिक्के होते हैं तो उक्त लिखित उदाहरण के अनुसार उस देश से सोना बाहर भेजा जायेगा और चाँदी बाहर से मँगाई जायेगी। एक देश की सोने की पूर्ति और चाँदी की माँग सारे दुनिया की पूर्ति और माँग का छोटा-सा अंश होता है। इस कारण सोने चाँदी के धातु के मूल्य पर एक देश की माँग और पूर्ति का कम प्रभाव पड़ता है और इसीसे क्षति-पूर्ति का नियम (Law of Compensatory Action) लागू नहीं होता।

ग्रेशम का नियम तब ही लागू होता है जब एक देश मे धातु के सिक्के और अपरिवर्तनशील कागजी नोट भी चालू होते हैं। उस स्थिति में यदि कागजी नोट वास्तविक आवश्यकता से अधिक मात्रा में प्रसारित कर दिये जाते हैं तो उनका अर्घ घटने लगता है जिससे वह बुरा द्रव्य हो जाता है और जनता धातु के सिक्कों का संचय करने लगती है। इससे धातु के सिक्के (जो अच्छा द्रव्य है) चलन में से हट जाते हैं और केवल अपरिवर्तनशील कागजी नोट ही चलन में रह जाते हैं। यदि धातु के सिक्के सांकेतिक सिक्के हैं तो हो सकता है वह भी चलन में रहें; परन्तु जब किसी व्यक्ति को द्रव्य का संचय करना है तो वह नोटों की अपेक्षा सिक्कों का ही संचय करेगा। यदि नोटों का अर्घ इतना नहीं गिरा है कि उन पर से जनता का विश्वास घट गया हो तो यह सम्भव है कि सुविधा के कारण लोग नोटों का भी संचय करे।

अभ्यास के प्रश्न

१ ग्रेशम के नियम का कथन कीजिये और उसे उदाहरण सहित समझाइये तथा इसकी सीमाओं का वर्णन कीजिये।

२ ग्रेशम के नियम के विभिन्न स्वरूपों को समझाइये।

अध्याय २२

द्रव्य के मान

एकधातु चलन (Monometallism)—जब किसी देश में एक ही धातु के प्रामाणिक सिक्के बनते है जो असीमित मात्रा में कानूनी ग्राह्य होते है और उनकी ढलाई स्वतन्त्र होती है तो उस देश मे एक धातु का चलन होता है। राज्य या केन्द्रीय बैंक धातु के बदले सिक्के या सिक्को के बदले धातु स्वतन्त्रतापूर्वक देते है। प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार होता है कि वह धातु देकर सिक्के ले सकता है या सिक्के देकर राज्य से धातु प्राप्त कर सकता है। उस देश में कागजी-द्रव्य का चलन भी हो सकता है परन्तु यह प्रामाणिक सिक्को में परिवर्तन-शील होता है। सस्ती धातुओ के सांकेतिक सिक्के भी होते है जो एक सीमित मात्रा में ही कानूनी ग्राह्य होते है। कागजी-द्रव्य या सांकेतिक सिक्के या अन्य मुद्राओ की विनिमय-शक्ति प्रामाणिक सिक्को में ही नापी जाती है। जब प्रामाणिक सिक्को की धातु चाँदी होती है तो उस देश के चलन को रजत-मान (Silver Standard) कहते है। भारतवर्ष और चीन मे १६ वी शताब्दी मे रजत-मान ही था। जब प्रामाणिक सिक्को की धातु सोना होती है तो उस देश के चलन को स्वर्ण-मान (Gold Standard) कहते है। १६ वी शताब्दी में यूरोप और अमरीका के अन्य देशो में स्वर्णमान था।

द्विधातु चलन (Bimetallism)—जब किसी देश मे प्रामाणिक सिक्के बनाने के लिए दो धातुएँ काम मे ली जाती है और दोनो धातुओ के सिक्को की स्वतन्त्र ढलाई होती है और दोनो ही धातुओ के सिक्के असीमित मात्रा मे कानूनी ग्राह्य होते है तो उस देश में द्विधातु चलन होता है। इन दोनो धातुओ के सिक्को का पारस्परिक सम्बन्ध कानून द्वारा निश्चित किया जाता है। अर्थात् एक धातु के सिक्को के बदले मे दूसरी धातु के सिक्के एक स्थिर और निश्चित दर पर राज्य या केन्द्रीय बैंक से प्रत्येक व्यक्ति प्राप्त कर सकता है। साधारणत ये दो धातुएँ सोना और चाँदी होती है। इन दो धातुओ के सिक्को का पारस्परिक सम्बन्ध कानून द्वारा निश्चित किया जाता है परन्तु यह आवश्यक नही कि इन दो धातुओ के बाजार-मूल्य का सम्बन्ध

कानूनी सम्बन्ध के बराबर ही हो। हो सकता है कि अनेक बार यह सम्बन्ध विभिन्न हो ; क्योंकि सिक्कों का पारस्परिक सम्बन्ध तो कानून द्वारा निश्चित होता है और धातुओं का मूल्य समार की माँग और पूर्ति पर निर्भर होता है। यदि एक सोने के सिक्के का मूल्य १५ चांदी के सिक्कों के बराबर कानून के द्वारा निश्चित कर दिया जाता है तो हो सकता है कि वाजार में सोने का मूल्य चाँदी के मूल्य से पन्द्रह गुने से ज्यादा या कम हो। जब बाजार मे सोने का मूल्य चाँदी के मूल्य से १५ गुने से कम है तो सोने के सिक्के का द्राव्यिक मूल्य उसके वास्तविक मूल्य से अधिक है। इस कारण ग्रेशम के नियम* के अनुसार सोने के सिक्के (जो खराब मुद्रा है क्योंकि उसका वास्तविक मूल्य कम है) ही चलन में रह जायेंगे और चाँदी के सिक्के चलन से हट जायेंगे। इसी प्रकार जब बाजार मे सोने का मूल्य चाँदी के मूल्य से १५ गुने से अधिक है अर्थात् एक तोला सोना = १६ तोले चाँदी, तो सोने के सिक्के का द्राव्यिक मूल्य उसके वास्तविक मूल्य से कम है और चाँदी के सिक्कों का द्राव्यिक मूल्य उनके वास्तविक मूल्य से अधिक है। इस कारण ग्रेशम के नियम के अनुसार केवल चाँदी के सिक्के ही चलन में रह जायेंगे। साराश यह है कि उस देश में द्विधातु चलन तभी होगा जब उन दो धातुओं के सिक्कों का कानूनी सम्बन्ध उनके बाजार मूल्य के बराबर हो, अन्यथा उस देश में कभी केवल स्वर्ण-मान होगा और कभी केवल रजत मान। फ्रान्स मे द्विधातु मान १८०३ से १८७० तक था। परन्तु व्यवहार में लगभग ५० वर्ष तक रजत-मान रहा और उसके बाद स्वर्ण-मान।

१९ वी शताब्दी के अन्त मे **अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातु मान** (International Bimetallism) स्थापित करने के अनेक प्रयत्न किये गये परन्तु वे असफल रहे। जैसा कि हम पहले बतला चुके है यदि द्विधातु मान प्रत्येक देश मे स्थापित कर दिया जाय तो क्षति-पूर्ति के नियम के अनुसार ग्रेशम का नियम स्थगित हो जाता है।

जब दोनो धातुओं के सिक्के असीमित कानूनी ग्राह्य होते है, परन्तु एक ही धातु (जो साधारणत सोना होता है) की स्वतन्त्र ढलाई होती है तो उसे **वैकल्पिक मान** (Limping Standard) कहते है।

जब दो धातुओं से अधिक के सिक्के असीमित कानूनी ग्राह्य होते है तो उसे **अनेक धातु मान** (Symmetallism) कहते है। ऐसे मान से यह लाभ होता है कि विनिमय के माध्यम की कमी नही होती। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को भी सुविधा मिलती है, क्योंकि प्रत्येक देश से चाहे वह स्वर्ण

---

* पृष्ठ २०८ देखिये

या रजत-मान पर हो अपने और उस देश के सिक्को में विनिमय-शक्ति स्थापित की जा सकती है। यह मान एकधातु मान से अधिक स्थिर हो सकता है, क्योकि सोने और चाँदी का स्टॉक और उत्पादन कम होने से उनके मूल्य मे अधिक परिवर्त्तन हो सकता है और उनसे प्रत्येक देशो की द्राव्यिक आवश्यकता पूरी नही हो सकती। परन्तु जब कई धातुएँ द्रव्य के काम आती है तो कुल धातुओ की पूर्ति अधिक हो जाती है। ऐसे मान की सफलता की सभावना तभी हो सकती है जब यह प्रत्येक देश मे अपनाया जाय ; अन्यथा ग्रेशम का नियम लागू होने से यह बदलता हुआ मान हो जायेगा।

कागजी मान (Paper Standard) :—जो देश इस मान को अपनाते हैं उन देशो मे कागजी नोट असीमित कानूनी ग्राह्य होते हैं। इन नोटो को राज्य या केन्द्रीय बैंक ही प्रसारित कर सकते हैं। यह नोट सोने, चाँदी या अन्य धातु मे बदले नही जा सकते ; परन्तु इनके बदले में केवल साकेतिक सिक्के ही प्राप्त किये जा सकते हैं। ऐसे मान मे यह शका रहती है कि नोटो की मात्रा बढने से उनकी विनिमय-शक्ति गिर जाती हैं और जनता का उस पर से विश्वास हटने लगता है। जब देश में किसी धातु का मान होता है तो राज्य को मुद्रा की मात्रा बढाने के लिए उस धातु को प्राप्त करना पडता हैं और यह आवश्यकता मुद्रा की वृद्धि पर नियन्त्रण रखती है। यदि द्रव्य की मात्रा बहुत बढ भी जाती है तो द्रव्य राज्य के पास लौट जाता है और लोग धातु ले लेते हैं जिससे द्रव्य का अर्घ नही गिरता। कागजी मान मे राज्य का उत्तरदायित्व बढ जाता है। इस कारण राज्य को नोट प्रचारित करने की सख्या पर नियन्त्रण रखना अनिवार्य हो जाता है। यदि यह नियन्त्रण वैज्ञानिक आधार पर किया जाय तो कागजी मान अन्य मानो से सस्ता और सुगम होता है। इस मान मे द्रव्य का अर्घ अधिक स्थिर रह सकता है, क्योंकि धातुओ के मान के समान वह धातुओ की माँग व पूर्ति पर निर्भर नही रहता। कागजी मान मे द्रव्य का चलन देश की आवश्यकता के अनुसार सुगमता से बढाया और घटाया जा सकता है।

स्वर्ण-मान
(Gold Standard)

जब किसी देश में सोने के सिक्को का चलन होता है और सोने के सिक्को की ढलाई पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है होतीतो उस देश मे स्वर्ण-मुद्रा-

मान (Gold Currency Standard) होता है। उस मान के अनुसार सोने के सिक्के असीमित कानूनी ग्राह्य होते है। कोई भी व्यक्ति सोना ले जाकर टकसाल में सिक्के ढलवा सकता है और सिक्के देकर टकसाल या केन्द्रीय बैंक से सोना प्राप्त कर सकता है। सोने के सिक्के प्रामाणिक द्रव्य होते है। सोने और इन सिक्कों के आयात-निर्यात पर कोई नियन्त्रण नही होता। स्वर्ण-मुद्रा-मान में देश के अन्दर सोने के सिक्के वास्तव मे चलन मे होते है।

प्रथम महायुद्ध के उपरांत एक नये प्रकार के स्वर्ण-मान का निर्माण हुआ जिसके अन्तर्गत सोने के सिक्के चलन मे नही होते, परन्तु कागजी नोट व अन्य मुद्रा सोने के पाटो (Gold Bullion) मे परिवर्त्तित की जा सकती है। अर्थात् सोना विनिमय का माध्यम तो नही रहता परन्तु द्रव्य की विनिमय-शक्ति का नाप सोने मे ही होता है। राज्य या केन्द्रीय बैंक एक निश्चित दर पर सोना खरीदते और बेचते है जिस कारण सोने का कोप रखना आवश्यक होता है। जब इगलैण्ड ने स्वर्ण-मान प्रथम महायुद्ध के बाद सन् १९२५ में अपनाया तो उसने यह नवीन प्रकार का स्वर्ण-मान (जिसको स्वर्ण-पाट-मान Gold Bullion Standard कहते है) ही स्वीकार किया। भारतवर्ष में भी स्वर्ण-पाट-मान १९२७ में अपनाया गया। इसके अर्न्तगत आन्तरिक और वाह्य कार्यों के लिए राज्य कम से कम एक हजार तोले की मात्रा में सोना बेचता था। सोने के आयात-निर्यात पर कोई रोक नही होती। इस मान के अर्न्तगत केवल कागजी नोट और सांकेतिक सिक्के चलन मे रहते है। इस कारण सोने के सिक्को की ढलाई और उनके घिसने का व्यय बच जाता है। सोने की धातु की बचत भी हो जाती है क्योकि देश मे सोने के सिक्को का चलन नही होता। इसी कारण हिल्टन यग कमीशन (जिसकी सम्मति के अनु-सार भारतवर्ष में यह मान अपनाया गया) ने यह दावा किया कि इस मान में स्वर्ण-मुद्रा-मान के सब गुण है और साथ ही साथ उससे सस्ता भी है।

स्वर्णमान के एक और नये रूप का निर्माण भी लगभग २५ वर्ष पूर्व हुआ, जिससे सोने का व्यवहार और भी कम हो गया। इस रूप को स्वर्ण-विनिमय-मान कहते है। इस मान के अन्तर्गत देश के चलन की मुद्रा किसी सस्ती धातु, जैसे चाँदी, की होती है। देश में कागजी नोटो का भी चलन होता है जो इस सस्ती धातु के सिक्को में ही परिवर्त्तित हो सकते है। जहाँ तक देश के निवासियो का सम्बन्ध है उनके लिए यह सस्ती धातु का सिक्का ही मुख्य सिक्का होता है, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए यह सिक्के सोने में (या ऐसी मुद्रा मे जो सोने मे परिवर्त्तित हो

सकती है) परिवर्त्तित हो सकते हैं। अर्थात् विदेशों को उनका ऋण चुकाने या माल के दाम देने के लिए सोना एक निश्चित दर पर दिया जाता है। अर्थात् केवल विदेशी विनिमय के लिए ही स्वर्ण मिल सकता है और इसी कारण इस मान को **स्वर्ण-विनिमय-मान** (Gold Exchange Standard) कहते हैं। इस मान के अन्तर्गत सोने का कोष विदेशी लेन-देन के लिए रखना होता है। यह कोष या तो देश मे ही हो सकता है या सुगमता के लिए दूसरे देश मे रखा जाता है क्योंकि वही भुगतान के लिए सोने की आवश्यकता होती है। देश के अन्दर सस्ती धातु के सिक्को का कोष रखना होता है क्योंकि कागजी नोट उसी मे परिणत किये जा सकते है। इस मान के अनुसार राज्य या केन्द्रीय बैंक को सोने या आन्तरिक मुद्रा (Internal currency) को विदेशी सिक्को (Foreign currency) में कानून के अन्तर्गत परिणत करना पडता है। साथ ही साथ कानून के अन्तर्गत ही विदेशी सिक्के आन्तरिक मुद्रा मे परिणत करने पडते है। इस मान मे आन्तरिक मुद्रा का सोने मे कोई सीधा सम्बन्ध नही होता, परन्तु परोक्ष सम्बन्ध होता है। भारतवर्ष मे स्वर्ण-विनिमय-मान १९०७ में अपनाया गया। इस मान के अर्न्तगत आन्तरिक मुद्रा की बाह्य विनिमय-शक्ति अधिक स्थिर रहती है। परन्तु हमारे देश के लिए जहाँ अन्तर्देशीय व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से कई गुना अधिक है द्रव्य की विनिमय-शक्ति की आन्तरिक स्थिरता अधिक महत्वपूर्ण है।

स्वर्णमान मे निम्नलिखित गुण बताये जाते है —

(१) इस मान के अन्तर्गत द्रव्य की मात्रा आप से आप घट-बढ़ जाती है और राज्य की नीति पर निर्भर नही रहती। द्रव्य का चलन बढने से उसका द्राव्यिक मूल्य गिरने लगता है। इस कारण लोग द्रव्य ले जाकर सोना ले लेते है जिससे द्रव्य की मात्रा घट जाती है। जब द्रव्य की मात्रा कम होती है तो उसका द्राव्यिक मूल्य बढ जाता है जिससे लोग सोना ले जाकर सिक्के बनवा लेते है और द्रव्य की मात्रा बढ जाती है।

(२) मुद्रा की विनिमय-शक्ति अधिक समय तक स्थिर रहती है; क्योकि उसके चलन पर सरकार की ओर से कोई नियन्त्रण नही होता और वह सोने के मूल्य पर ही निर्भर रहती है।

(३) देश की मुद्रा की विदेशी विनिमय-शक्ति स्थिर होती है, जिससे विदेशी और देशी सिक्कों के मूल्य मे स्थिर सम्बन्ध होता है। सोने के स्वतन्त्र आयात-निर्यात के कारण उक्त सम्बन्ध स्थिर रहता है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को अधिक लाभ पहुँचता है; क्योकि आयात-निर्यात की वस्तुओ का मूल्य, देशी-विदेशी सिक्को के परिवर्त्तित सम्बन्ध के अन्तर्गत

जिस प्रकार बदल सकता है, स्वर्ण-मान में इसके कारण उनके मूल्यों में कोई परिवर्तन नहीं होता।

(४) विदेशी भुगतान का अन्तर (Balance of Payments) आपसे आप व्यवस्थित हो जाता है। यदि यह अन्तर देश के प्रतिकूल है तो देश से सोने का निर्यात होगा, जिससे देश में मुद्रा की मात्रा घट जायेगी और वस्तुओं के मूल्य गिर जायेंगे। ऐसा होने से वस्तुओं का निर्यात बढ़ जायेगा और आयात घट जायेगा, जिससे विदेशी भुगतान का अन्तर प्रतिकूल नहीं रहेगा। यदि विदेशी भुगतान का अन्तर अनुकूल है तो सोने का आयात होगा जिससे मुद्रा की मात्रा बढ़ेगी और देश के अन्दर वस्तुओं के मूल्य भी बढ़ेंगे। इससे निर्यात कम होगा और आयात अधिक होगा और विदेशी भुगतान का अन्तर अनुकूल नहीं रहेगा।

(५) इस मान से जनता में विश्वास होता है और राष्ट्रीय गौरव बढ़ता है।

(६) व्यवहार, प्रबन्ध और समझने में यह सरल है।

स्वर्णमान के निम्नलिखित अवगुण हैं —

(१) यह बहुत महँगा मान है और इसकी लागत व्यर्थ है। समाज को एक विनिमय का माध्यम चाहिए। स्वर्ण जैसे महँगे माध्यम की कोई आवश्यकता नहीं। यदि सोने के सिक्के चलन में न हों तो भी सोना कोष में बेकार रखना पड़ता है।

(२) यह अनुभव किया गया है कि सोने का मूल्य भी बहुत समय तक बिल्कुल स्थिर नहीं रहता। वह भी घटता-बढ़ता रहता है। इस कारण मुद्रा की विनिमय-शक्ति भी स्थिर नहीं रहती।

(३) मुद्रा की मात्रा स्वर्ण की पूर्ति पर निर्भर होती है। इस कारण व्यापार की आवश्यकता के अनुसार बढ़ाई नहीं जा सकती। योजना के अनुसार प्रसारित होती हुई आर्थिक व्यवस्था (Planned expansionist Economy) के लिए बढ़ती हुई मुद्रा की आवश्यकता होती है, परन्तु यह स्वर्णमान के अन्तर्गत सम्भव नहीं।

(४) इस मान के अन्तर्गत द्रव्य की विनिमय-शक्ति की बाह्य स्थिरता को आन्तरिक स्थिरता की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाता है। यह ऐसे देशों के लिए, जिनका अन्तर्देशीय व्यापार 'अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से बहुत अधिक होता है, हानिकारक है।

(५) जो देश इस मान को अपनाता है वह स्वतन्त्र द्राव्यिक नीति (Independent Monetary Policy) पर नहीं चल सकता।

(६) आजकल संसार का अधिकतम सोने का स्टॉक अमरीका के

संयुक्त राष्ट्र (U S A.) के पास है। इस कारण दूसरे देश जहाँ सोने का अकाल है इस मान को नही अपना सकते।

२१ सितम्बर सन् १९३१ को ब्रिटेन ने स्वर्णमान छोड़ कर कागजी-मान अपनाया। भारतवर्ष भी ब्रिटेन के कदमो पर चला और स्वर्णमान का इस देश से त्याग हुआ। उसके उपरान्त देश के अन्दर चाँदी के रुपयो और कागज के नोटो का ही चलन रहा। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान और व्यापार के लिए स्टर्लिंग (अर्थात् विलायती पौंड जो स्वर्ण मे परिणत नही हो सकता था) मिल सकता था। कानून के अन्तर्गत भारत सरकार (और रिजर्व बैंक की स्थापना होने के बाद वह बैंक) स्टर्लिंग एक रुपया = १ शिलिंग ६ पेन्स की दर से खरीदती और बेचती थी। स्टर्लिंग खरीदने और बेचने की दर साधारणतः उक्त दर से कुछ अधिक या कम होती थी। इस मान को स्टर्लिंग-विनिमय-मान कहते है। यदि स्टर्लिंग की अपेक्षा देश की मुद्रा डौलर में परिणत की जा सकती हो तो उसको डौलर-विनिमय-मान (Dollar Exchange Standard) कहते है। यह मान भी सस्ता मान है और यदि उचित प्रबन्ध किया जाय तो मुद्रा का अर्घ स्थिर रह सकता है। परन्तु इस मान के अन्तर्गत भी मुद्रा की विदेशी विनिमय-शक्ति के स्थिर रखने के कारण आन्तरिक विनिमय-शक्ति का बलिदान करना पड़ता है। द्वितीय महायुद्ध के उपरांत स्टर्लिंग दूसरी विदेशी मुद्राएँ, विशेषकर डौलर, मे स्वतन्त्र रूप से परिणत नही हो सकता है। इस कारण स्टर्लिंग-विनिमय-मान के अन्तर्गत डौलर अपनाने वाले देशों को भुगतान करने मे कठिनाइयाँ पड़ती है। यह अड़चन डौलर-विनिमय-मान में नही पड़ती: क्योकि जब किसी देश का कोष डौलर में है तो आजकल वह लगभग प्रत्येक देश की मुद्रा डौलर देकर खरीद सकता है।

हम अध्याय में बतलायेगे कि वर्तमान मुद्रा-प्रसार ने स्टर्लिंग-विनिमय-मान (Sterling Exchange Standard) का विशेष हास है।

अभ्यास के प्रश्न

१. स्वर्ण-मान से आप क्या समझते है? उसके विभिन्न रूपो पर प्रकाश डालिये।
२ स्वर्णमान के गुण और अवगुणो का वर्णन कीजिये।
३. स्वर्ण-मुद्रा-मान, स्वर्ण-पाट-मान, स्वर्ण-विनिमय-मान का अन्तर स्पष्ट रूप से समझाइये। इनमें से कौन-सा मान अधिक श्रेष्ठ है?
४. "स्वर्ण असभ्य युग का निशान है।" क्या आप इस कथन से सहमत है?

अध्याय २३

द्रव्य का अर्घ और द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त

(Value of Money & Quantity Theory of Money)

किसी वस्तु का अर्घ हम दूसरी वस्तु मे नापते है। जब उसका अर्घ द्रव्य मे नापते है तो उसको मूल्य कहते है। इसी प्रकार द्रव्य का अर्घ हम वस्तुओ और सेवाओ मे नाप सकते है। 'द्रव्य का अर्घ' से तात्पर्य वस्तुओ व सेवाओ की उस मात्रा से होता है जो द्रव्य द्वारा खरीदी जा सकती है। यही द्रव्य की क्रयशक्ति (Purchasing Power) कहलाती है। यदि एक रुपये मे ढाई सेर गेहूँ, सवा सेर चावल या दो गज कपडा खरीदा जा सकता है तो एक रुपये का अर्घ इन वस्तुओ के बराबर हुआ। द्रव्य मे अनेक वस्तुएँ खरीदी जा सकती है। इस कारण द्रव्य का अर्घ साधारणत वस्तुओ के प्रतिनिधि-सयोग* मे नापा जाता है। वस्तुओ के प्रतिनिधि-सयोग से हमारा तात्पर्य वस्तुओ और सेवाओ के उस जुटाव से है जो कुल वस्तुओ और सेवाओ को प्रतिनिधित्व करता हो। वस्तुओ के प्रतिनिधि-सयोग की एक इकाई का अर्घ जब द्रव्य मे नापा जाता है तो उसको सामान्य मूल्य का स्तर (General Price Level) कहते है। यदि द्रव्य का अर्घ बढ जाता है अर्थात् द्रव्य की एक इकाई से अधिक वस्तुएँ खरीदी जा सकती है तो सामान्य मूल्य का स्तर घट जाता है और जब वस्तुओ के मूल्य बढ जाते है तो सामान्य मूल्य का स्तर भी बढ जाता है जिससे द्रव्य का अर्घ घट जाता है; क्योकि द्रव्य की एक इकाई से अब कम वस्तुएँ खरीदी जा सकती है। साराश यह है कि द्रव्य के अर्घ और सामान्य मूल्य के स्तर में विपरीत सम्बन्ध है। सामान्य मूल्य का स्तर एक काल्पनिक विचार है, क्योकि यह एक विशेष वस्तु या सेवा से सम्बन्धित नही होता है वरन् इसमे वे वस्तुएँ और सेवाएँ सम्मिलित होती है जो उस देश या वर्ग के लिए प्रतिनिधि कही जा सकें। साधारणत प्रत्येक व्यक्ति इसमे से समस्त वस्तुएँ

* इसमें विभिन्न वस्तुओं और सेवाओ की इकाइयाँ विभिन्न मात्रा मे सम्मिलित होती है। किन वस्तुओ और सेवाओ को इसमें सम्मिलित किया जाय यह समाज या वर्ग के उपयोग की रुचि, उत्पादन इत्यादि पर निर्भर होता है।

नही खरीदता है और यदि खरीदता भी है तो विभिन्न मात्रा में। वह इस प्रतिनिधि-संयोग के अतिरिक्त भी अनेक वस्तुएँ खरीदता है इस कारण उसकी आय या व्यय के अर्घ का ठीक ठीक अनुमान इस प्रतिनिधि-संयोग के मूल्य से ही नहीं लगाया जा सकता है; परन्तु उसकी आय या व्यय (या द्रव्य के अर्घ) का यह एक अनुमानित माप है।

द्रव्य का अर्घ घटता-बढ़ता रहता है और वह उसकी क्रयशक्ति पर ही निर्भर है। जब द्रव्य का अर्घ बढ़ जाता है अर्थात् द्रव्य से वस्तुएँ अधिक मात्रा में खरीदी जा सकती हैं तो उसे द्रव्य के अर्घ में वृद्धि (Appreciation) कहते हैं। जब द्रव्य का अर्घ घट जाता है अर्थात् द्रव्य से वस्तुएँ कम मात्रा मे खरीदी जा सकती हैं तो उसे द्रव्य के अर्घ मे ह्रास (Depreciation) कहते हैं।

एक निश्चित समय अन्य वस्तुओं के समान द्रव्य का अर्घ भी माँग और पूर्ति की शक्तियों पर निर्भर होता है। द्रव्य की माँग उसके कार्य करने पर निर्भर है। द्रव्य का यह कार्य है कि उसके द्वारा वस्तुएँ खरीदी व बेची जाँय। जब एक व्यक्ति वस्तु बेचता है तो वह द्रव्य की माँग करता है और वस्तु की पूर्ति। इस कारण द्रव्य की माँग वस्तुओं के क्रय और विनिमय पर निर्भर है। यदि अधिक वस्तुएँ बेचनी हैं तो द्रव्य की माँग भी अधिक होगी। द्रव्य की पूर्ति द्रव्य के चलन की मात्रा पर निर्भर है। इस प्रकार एक ओर वस्तुएँ और सेवाएँ हैं जिनका क्रय करने के लिए लोगो को द्रव्य की आवश्यकता है। दूसरी ओर ऐसे व्यक्ति हैं जिनके पास द्रव्य है जिसका विनिमय वे वस्तुओं या सेवाओं से करना चाहते है। यदि हम यह मान लें कि प्रत्येक विनिमय कार्य द्रव्य द्वारा ही होता है, प्रत्येक सिक्का एक ही बार चलता है, प्रत्येक विनिमय की गई वस्तुएँ और सेवाओं के मूल्य समान हैं और प्रत्येक वस्तु का विनिमय एक ही बार होना है तो यह स्पष्ट है कि वस्तुओं और सेवाओं की कुल मात्राओं का विनिमय द्रव्य की कुल मात्रा से होगा। जैसे, यदि दस हजार वस्तुओं का क्रय होना है और चलन में पचास हजार रुपये हैं तो इन वस्तुओं का विनिमय द्रव्य की इस मात्रा से होगा। अर्थात् दस हजार वस्तुएँ पचास हजार रुपये में खरीदी या बेची जायेंगी। इस स्थिति मे एक वस्तु का मूल्य

$$= \frac{\text{द्रव्य की मात्रा}}{\text{वस्तुओं की इकाइयाँ}}$$

$$= \frac{५०००० \text{ रुपये}}{१००००}$$

$$= ५ \text{ रुपये}$$

और एक रुपये का अर्घ = $\frac{१}{५}$ वस्तु।

यदि द्रव्य की मात्रा घट कर साठ हजार रुपये हो जाती है तो एक वस्तु का मूल्य ६ रुपये होगा और रुपये का अर्घ घटकर ⅙ वस्तु रह जायेगा और जब द्रव्य की मात्रा घटकर चालीस हजार रुपये रह जाती है तो एक वस्तु का मूल्य चार रुपये होगा और एक रुपये का अर्घ बढ़कर ¼ वस्तु हो जायेगा। साराश यह है कि यदि द्रव्य की मात्रा बढ़ जाती है तो उसका अर्घ घट जाता है और यदि द्रव्य की मात्रा घट जाती है तो द्रव्य का अर्घ बढ़ जाता है। अर्थात् द्रव्य का अर्घ उसकी चलन की मात्रा पर निर्भर है और इसी कारण इस सिद्धान्त को द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त (Quantity Theory of Money) कहते हैं। उक्त उदाहरण से यह भी स्पष्ट है कि यदि द्रव्य की मात्रा स्थिर रहे और वस्तुओं की मात्रा बढ़ जाय तो वस्तुओं के मूल्य घट जायेंगे और द्रव्य का अर्घ बढ़ जायेगा। इसी प्रकार जब वस्तुओं की मात्रा घट जायेगी तो वस्तुओं के मूल्य बढ़ जायेंगे और द्रव्य का अर्घ घट जायेगा।

व्यावहारिक जीवन में कुछ वस्तुएँ द्रव्य से खरीदी जाती हैं और कुछ वस्तुएँ उधार। इस कारण द्रव्य की पूर्ति मे द्रव्य के चलन की मात्रा के अतिरिक्त साख (Credit) की मात्रा भी सम्मिलित करनी चाहिए; क्योंकि जो व्यक्ति वस्तु का मूल्य साख में देता है वह भी द्रव्य की पूर्ति करता है। यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि कुछ द्रव्य चलन के काम में आता है और कुछ द्रव्य लोग जमा करते हैं। इस कारण द्रव्य की पूर्ति में केवल उस द्रव्य का ही अनुमान लगाना चाहिए जो वास्तव में वस्तुओं के क्रय के काम मे लाया जाय। कुछ द्रव्य कई बार प्रयोग मे लाया जाता है, जैसे एक रुपया एक ही दिन में पाँच, सात बार काम में आ जाता है। उदाहरणत मैं एक रुपये के गेहूँ खरीदता हूँ, गेहूँ बेचने वाला उसी रुपये से कपड़ा खरीदता है, कपड़ा बेचने वाला उसी रुपये से फल खरीदता है, फल बेचने वाला उसी रुपये से दूध खरीदता है इत्यादि। अर्थात् यह रुपया, उस समय में जब दूसरे रुपये एक बार चलन मे आते हैं, चार बार चलन में आने के कारण चार रुपयों का काम करता है। इस कारण इस रुपये को एक रुपया न गिनकर चार रुपये के बराबर गिनना चाहिए। अर्थात् द्रव्य की प्रभावपूर्ण मात्रा का अनुमान लगाने के लिए हमें केवल द्रव्य और साख की उस मात्रा (जो वास्तव मे चलन में है) के अतिरिक्त यह भी अनुमान लगाना चाहिए कि वह द्रव्य या साख किस वेग के साथ एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास जाता है। इसी प्रकार यह भी स्पष्ट है कि यदि एक निश्चित समय में एक वस्तु चार बार खरीदी और बेची जाती है तो वह चार वस्तुओं का कार्य करती है।

इस कारण हमें वस्तुओं के इस वेग को भी ध्यान में रखना चाहिए और उन वस्तुओ का, जिनका सचय किया जाता है और क्रय-विक्रय के काम में नही आती है, अनुमान नही लगाना चाहिए। उक्त बातों को ध्यान में रखते हुए प्रो० इरविंग फिशर (Irving Fisher) ने द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त को निम्न सूत्र में समझाया है :—

$$मू = \frac{(द \times वे) + (द' \times वे')}{व \times वे^2}$$

इस सूत्र में मू = मूल्यो के स्तर।

द = चलन मे आनेवाले द्रव्य का परिमाण।

वे = द्रव्य के चलन का वेग (Velocity of circulation of money)

द' = चलन मे आनेवाले साख द्रव्य का परिमाण।

वे' = साख द्रव्य के चलन का वेग।

व = क्रय-विक्रय की गई वस्तुओ की संख्या।

वे² = वस्तुओ के चलन का वेग।

(१) उक्त सूत्र मे स्पष्ट है यदि व या वे² की मात्रा बढती है तो मूल्य गिर जायेंगे और द्रव्य का अर्घ बढ जायेगा।

(२) यदि व या वे² की मात्रा घट जाती है तो मूल्य बढ जायेंगे और द्रव्य का अर्घ घट जायेगा।

(३) यदि द, वे, द' या वे' की मात्रा बढती है तो मूल्य बढ जायेंगे और द्रव्य का अर्घ घट जायेगा।

(४) यदि द, वे, द' या वे' की मात्रा घटती है तो मूल्य घट जायेंगे और द्रव्य का अर्घ बढ जायगा।

अर्थात् वस्तुओ के मूल्य बढने के निम्नलिखित कारण हो सकते हैं—

(१) द्रव्य या साख के चलन की मात्रा या उनके चलन के वेग में वृद्धि।

(२) वस्तुओ की मात्रा या उनके चलन के वेग में ह्रास।

इसी प्रकार वस्तुओ के मूल्य घटने के निम्नलिखित कारण हो सकते हैं—

(१) द्रव्य या साख के चलन की मात्रा या उनके चलन के वेग मे ह्रास।

(२) वस्तुओ की मात्रा या उनके चलन के वेग में वृद्धि।

द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त द्रव्य की मात्रा और वस्तुओ के मूल्य (या द्रव्य के अर्घ) में पारस्परिक सम्बन्ध बतलाता है और इस ओर

ध्यान आकर्षित करता है कि द्रव्य या वस्तुओं की मात्रा में परिवर्तन होने से द्रव्य के अर्घ या वस्तुओ के मूल्य में परिवर्तन की प्रवृत्ति होती है। इस सिद्धान्त से स्पष्ट है कि सामान्य वस्तुओं के मूल्य के स्तर और द्रव्य की क्रयशक्ति में विपरीत सम्बन्ध है। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि यदि द्रव्य के अर्घ में वृद्धि या ह्रास हो तो यह आवश्यक नही है कि प्रत्येक वस्तु का मूल्य भी घटे या बढे या उनकी घटती-बढती उसी अनुपात में हो। इसी विचार को हम दूसरे शब्दो मे इस प्रकार भी कह सकते है कि जब सामान्य मूल्य का स्तर बढता या घटता है तो यह आवश्यक नही कि प्रत्येक वस्तु का मूल्य उस स्तर के बढने पर बढे या उस स्तर के घटने पर घटे या प्रत्येक वस्तु के मूल्य मे परिवर्तन सामान्य मूल्य के परिवर्तन के अनुपात में हो। किसी एक विशेप वस्तु के मूल्य में परिवर्तन उस वस्तु की माँग और पूर्ति पर निर्भर होता है जब कि यह सत्य है कि द्रव्य की मात्रा बढने (या उसका अर्घ घटने) से वस्तुओं के मूल्य बढने की प्रवृत्ति होगी और द्रव्य की मात्रा घटने (या उसका अर्घ बढने) से वस्तुओ के मूल्य घटने की प्रवृत्ति होगी। यह हो सकता है कि द्रव्य का अर्घ घटने पर भी कुछ विशेप वस्तुओ के मूल्य में वृद्धि न हो क्योंकि इस वस्तु की पूर्ति बढ जाने से उक्त प्रवृत्ति का प्रभाव रुक जाय। इसी प्रकार यह भी हो सकता है कि द्रव्य का अर्घ जिस अनुपात मे घटे (अर्थात् सामान्य मूल्य का स्तर जिस अनुपात में बढे) कुछ विशेप वस्तुओं के मूल्य उस अनुपात से अधिक बढ जायँ, क्योंकि इस प्रभाव के अतिरिक्त, इस वस्तु की माँग मे वृद्धि हो जाती है और इसकी पूर्ति मे ह्रास।

किसी देश में द्रव्य के चलन की मात्रा कितनी होनी चाहिए यह उस देश के चलन की माँग पर निर्भर है। यदि उस देश में वस्तुओ का क्रय-विक्रय, उत्पादन और व्यापार अधिक मात्रा में है तो वहाँ द्रव्य की आवश्यकता अधिक मात्रा मे होगी, अन्यथा कम मात्रा मे। जब देश में द्रव्य का चलन वास्तविक माँग से अधिक होता है तो द्रव्य का अर्घ गिर जाता है और सामान्य मूल्य का स्तर बढ जाता है। इस स्थिति को मुद्रा-प्रसार (Monetary Inflation) कहते है। प्रथम और द्वितीय महायुद्ध के समय में लगभग प्रत्येक देश में मुद्रा-प्रसार हुआ है। जब यह मुद्रा-प्रसार बहुत बढ जाता है और मुद्रा का मूल्य बहुत घट जाता है तो उस स्थिति को अत्यधिक-मुद्रा-प्रसार (Hyper-Inflation) कहते है। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त जर्मनी, रूस इत्यादि में अपरिवर्त्तनशील कागजी नोट इतनी अधिक मात्रा में प्रसारित किये गये कि उनका मूल्य बहुत घट गया और जब जर्मनी में मुद्रा का पुनसंगठन हुआ तो १०,००,००० मार्क्स (जर्मनी का सिक्का) के नोटो के बदले में एक नया मार्क दिया गया।

जब प्रथम महायुद्ध के उपरान्त द्रव्य का अर्घ घट गया था तो प्रत्येक देश ने द्रव्य का अर्घ बढाने का (या वस्तुओ के मूल्य घटाने का) प्रयत्न किया। इस प्रयत्न में वह इतने अन्धे हो गये कि द्रव्य की पूर्ति वास्तविक माँग से कम हो गई और वस्तुओं के मूल्य बहुत घट गये। इस स्थिति को मुद्रा संकुचन (Deflation) कहते हैं। मूल्य बहुत घटने से उत्पादकों को हानि हुई जिससे उत्पादन में ह्रास हुआ और बेकारी फैली। ससार एक आर्थिक सकट में फँस गया और चारो ओर उस सकट से मुक्त होने के लिए विचार और उपाय किये गये। मुद्रा सकुचन की स्थिति को ठीक करने के लिए जो मुद्रा-प्रसार किया जाता है उसे संकुचन सुधार (Reflation) कहते हैं।

संकेतांक (Index Numbers)

द्रव्य की क्रयशक्ति का परिवर्त्तन संकेताक द्वारा नापा जा सकता है। सामान्य मूल्य के सकेताक (General Price Index) बनाने में वस्तुओ के प्रतिनिधि-सयोग के मूल्य पर विचार किया जाता है। इन सकेताको को बनाने में एक साधारण या औसत 'प्रकार का समय या वर्ष (Basic Period) चुन लिया जाता है। फिर जिस उद्देश्य के लिए हम सकेताक बना रहे हो उस उद्देश्य को दृष्टि मे रखकर वस्तुओ और सेवाओं की एक प्रतिनिधि-सूची बना ली जाती है। यदि हम मजदूरों के रहन-सहन के व्यय के सकेताक (Cost of Living Index) बनाये तो हमे ऐसी वस्तुएँ और सेवाएँ छाँटनी होंगी जिनका उपभोग उस वर्ग के लोग करते हो। फिर उन वस्तुओ का मूल्य प्रतिनिधि स्थानो से, जहाँ से उस वर्ग के लोग उन वस्तुओ को वास्तव में खरीदते हो, मालूम करेंगे। फिर साधारण या औसत समय के मूल्यो को १०० के बराबर मानकर जिस समय की तुलना हम साधारण समय से करेंगे उस समय के मूल्यो को १०० के भाग के रूप में लिख लेंगे। दोनो समयो के मूल्यों का योग लगाकर उसमें जितनी वस्तुएँ है उनका भाग देने से उस समय के सकेताक निकल आयेंगे। यह निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा*।

* इस उदाहरण मे १-४-१९५० को सकेताक ४११ है जब कि औसत समय (१-९-१९३९) को वह १०० है।

वस्तु	मूल्य Basic Period मे १–९–१९३९		मूल्य* १–४–१९५० को	
(१) गेहूँ	५) मन	१००	१६) मन	३३४
(२) पैंजामा	।।।)	१००	३)	४००
(३) चप्पल	१।)	१००	६।)	५००
		३००—३ =१००		१२३४—३ =४११

सकेताको की प्रामाणिकता वस्तुओ की सूची और उनके मूल्यो के ठीक अनुमान पर निर्भर होती है। यह भी आवश्यक है कि दोनो समयो में एक ही प्रकार की वस्तुओ के मूल्य लिए जायें और उन वस्तुओ का महत्व दोनो समयो मे समान हो। व्यावहारिक जीवन मे प्रत्येक वस्तु का महत्व अन्य वस्तु मे विभिन्न होता है और यह महत्व इस बात पर निर्भर रहता है कि उस वस्तु का उपभोग मे कितना महत्व है। इस कारण कुछ वस्तुओ को एक वस्तु न मानकर उनकी कई इकाइयो के मूल्यो का अनुमान किया जाता है। उक्त उदाहरण मे यदि गेहूँ का इतना महत्व है कि उसकी दस इकाइयाँ ली जाँय जब पैंजामे की दो और चप्पल की एक इकाई तो इस प्रथा को 'गुरुता की प्रथा' (Weighting) कहते है और इस प्रकार प्राप्त किये सकेताक को 'गुरुता के सकेतांक' (Weighted Index Number) कहते है, जिनका उदाहरण नीचे दिया गया है —

वस्तु	मूल्य Basic Period में १–९–१९३९	१–९–१९३९ इकाई		मूल्य १–४–१९५० को	
(१) गेहूँ	५) मन	१०	१०००	१६) मन	३३४०
(२) पैंजामा	।।।)	२	२००	३)	८००
(३) चप्पल	१।)	१	१००	६।)	५००
			१३००—१३ =१००		४६४०—१३ =३५७

*यदि हम एक दिन की अपेक्षा एक महीने या सप्ताह का सकेताक मालूम करना चाहे तो हमे इस महीने या सप्ताह के मूल्यो का औसत निकालकर उक्त मूल्यो के कोष्ठ मे भरना चाहिए।

अभ्यास के प्रश्न

१. द्रव्य के अर्घ से आप क्या समझते है ? वह किन कारणो से घटता और बढता है ?
२. द्रव्य का अर्घ किस प्रकार नापा जा सकता है ?
३. द्रव्य का प्रामाणिक सिद्धान्त समझाइये।

अध्याय २४

भारतीय मुद्रा प्रणाली

(Indian Currency System)

भारतवर्ष में अंग्रेजी राज्य के आरम्भ के दिनों में अनेक प्रकार के चाँदी सोने इत्यादि के सिक्के चलन में थे। यह सिक्के यहाँ के भिन्न हिन्दू व मुसलमान राजाओं द्वारा चलाये गये थे। उन सिक्कों मे अधिक अन्तर था जिससे व्यापार को हानि पहुँचती थी। इस कारण सन् १८३५ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने चांदी का प्रामाणिक रुपया चलाया। इसका वजन १८० ग्रेन था और इसमें ११/१२ भाग चांदी थी और शेष अन्य सस्ती धातु। यह प्रामाणिक सिक्का था और इसकी स्वतन्त्र ढलाई थी अर्थात् कोई भी व्यक्ति चांदी ले जाकर टकसाल में सिक्के ढलवा सकता था। उसी समय से हमारे रुपये को "प्रामाणिक चांदी का रुपया" (Standard Silver Rupee) कहा जाने लगा। १८७३ के उपरान्त मैक्सिको और अमरिका की नई चांदी की खानो के खुलने के कारण चाँदी का भाव गिरने लगा और रुपये का वास्तविक अर्घ उसके द्राव्यिक अर्घ से कम हो गया जिससे वह सांकेतिक सिक्का हो गया और सरकार को विवश होकर १८९३ में उसकी स्वतन्त्र ढलाई बन्द करनी पड़ी। १८३५ से १८९३ तक हमारे देश मे रजत-मान था। १८९८ मे यहाँ स्वर्ण-विनिमय-मान अपनाया गया और एक रुपये का वाह्य अर्घ एक शिलिंग चार पेन्स के बराबर रखा गया। सरकार ने इस अनुपात को रखने के लिए काउन्सिल बिल और रिवर्स काउन्सिल बिल जारी किये। जब रुपयो की अधिक माँग होती थी तो लन्दन मे भारतवर्ष के सेक्रेटरी आफ स्टेट् पाउंड लेकर भारत सरकार पर काउन्सिल बिल लिखते थे। भारत सरकार उन काउन्सिल बिलो के अनुसार भारतवर्ष में पाउंडो की अपेक्षा रुपये (एक रुपया = १ शिलिंग ४ पेन्स की दर से) दे देती थी। इसी प्रकार जब पाउंडो की अधिक माँग होती थी तो भारत सरकार रुपये लेकर पाउंडो मे रिवर्स काउन्सिल बिल लिखती थी जिनका भुगतान लण्डन में सेक्रेटरी आफ स्टेट करता था। इस प्रकार एक रुपया = १ शिलिंग ४ पेन्स की दर स्थिर रखी गई। इस मान की भारतवर्ष मे कड़ी आलोचना हुई, क्योकि जनता 'स्वर्ण-मुद्रा-मान' चाहती थी। प्रथम महायुद्ध

के प्रारम्भ होने से भारतवर्ष का आयात कम हो गया और निर्यात उससे बहुत अधिक होता था। जिस कारण काउन्सिल बिलो की माँग बढ गई क्योकि विदेशी व्यापारी रुपया भेजकर यहाँ माल खरीदते थे। भारत सरकार को इन काउन्सिल बिलो को रुपयो में चुकाने मे कठिनाई हुई, क्योकि लडाई के कारण चाँदी के आयात में बाधा पडी और चाँदी का भाव बढने से जनता ने सिक्को को गलाकर धातु के भाव बेचना आरम्भ कर दिया। इस कारण सरकार को एक रुपये और ढाई रुपये के नोट चलाने पडे और सैक्रेटरी आफ स्टेट को भी काउन्सिल बिलो की मात्रा कम करनी पडी; जिससे रुपये की दर शिलिगो में बढ गई और १९१८ मे एक रुपया २ शिलिंग ४ पेन्स के बराबर हो गया। इसके उपरान्त शान्ति स्थापित होने के कारण भारतवर्ष का आयात बढ गया। जिससे विदेशी भुगतान का अन्तर हमारे विरुद्ध हो गया और रिवर्स काउन्सिल बिलो की माँग बहुत बढी। सरकार ने १९२२ मे उनका निर्गम बन्द कर दिया। रुपये की दर शिलिगो में घटने लगी और सरकार ने उसकी विनिमय की दर स्वतन्त्र छोड दी। यह दर गिरते गिरते सन् १९२४ मे १ शिलिंग ६ पेन्स पर आकर रुकी। तब सरकार ने हिल्टन यग कमीशन बैठाया। जिसने 'स्वर्ण-पाट-मान' स्थापित करने की सम्मति दी और एक रुपये की दर १ शिलिंग ६ पेन्स पर ही रखने का विचार प्रकट किया। भारतीय राष्ट्रीय विचार-धारा इस दर के विरुद्ध थी और वह रुपये की दर १ शिलिंग ४ पेन्स पर ही रखना चाहती थी। परन्तु भारत सरकार ने हिल्टन यग कमीशन की राय मानी और रुपये की दर १ शिलिंग ६ पेन्स रखी। एक नियम भी निकाला गया जिसके अनुसार सरकार अपनी इच्छा पर सोना और स्टर्लिंग खरीद व बेच सकती थी। इस प्रकार हमारे देश मे एक नये रूप में स्वर्ण-विनिमय और स्वर्ण-पाट-मान का मिश्रण स्थापित हो गया। २१ सितम्बर सन् १९३१ को ब्रिटेन ने स्वर्णमान का त्याग किया जिससे भारतवर्ष में स्टर्लिंग विनिमय मान स्थापित हो गया। द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त **अन्तर्राष्ट्रीय-द्राव्यिक-कोष (International Monetary Fund)** मित्रराष्ट्रो ने स्थापित किया और प्रत्येक राष्ट्र ने अपने सिक्के की दर स्वर्ण में रखी। भारतवर्ष ने १८ दिसम्बर १९४६ को एक रुपये की दर ०२६८६०१ ग्राम सोने (grams of fine gold) के बराबर रखी जिससे एक रुपया १ शि० ६ पे० या ०३०२२५० डौलर के बराबर हुआ। ८ अप्रैल सन् १९४७ को भारतीय धारा सभा के निर्णय के अनुसार रुपये का सम्बन्ध स्टर्लिंग से तोड दिया गया और रुपये का अन्य विदेशी सिक्को से सीधा सम्बन्ध स्थापित कर दिया गया। इसको हम **अन्तर्राष्ट्रीय मान (International Standard)** कह सकते है। सितम्बर

१६४६ मे रुपये का अवमूल्यन (Devaluation) किया गया जिससे रुपये की नई दर ० १८६६२१ ग्राम सोने के बराबर रखी गई।

मुद्रा-प्रचलन

(Currency Circulation)

भारतवर्ष मे सब सिक्के सरकार ही अपनी टकसालो मे ढालती है। यह टकसालें कलकत्ता और बम्बई मे है क्योकि जो टकसाल लाहौर मे थी वह पाकिस्तान के भाग में आई। हमारा मुख्य सिक्का रुपया है। यह प्रामाणिक सिक्के के समान असीमित-कानूनी ग्राह्य है, परन्तु इसका वास्तविक अर्घ इसके द्राव्यिक अर्घ मे कम है जिससे इसकी स्वतन्त्र ढलाई भी नही हो सकती। इस कारण इसमें कुछ गुण प्रामाणिक सिक्को के है और कुछ गुण साकेतिक सिक्को के, जिससे इसको **साकेतिक-प्रामाणिक सिक्का** (Standard-Token Coin) कहा जा सकता है। इसका वजन १८० ग्रेन के बराबर है और १८३५ से ही इसमें ११/१२ भाग चाँदी होती है। अठन्नी, चवन्नी और दुवन्नी भी चलाई गई थी जिनमें भी चाँदी का भाग ११/१२ था। परन्तु लगभग ३० वर्ष पूर्व चाँदी की दुवन्नी की ढलाई बन्द कर दी गई और वह आजकल चलन मे नही दिखाई देती। इन सिक्को पर विक्टोरिया, एडवर्ड सप्तम, जॉर्ज पचम और जॉर्ज षष्ठ की तसवीर की मुहर होती है और निर्गम का वर्ष भी। द्वितीय महायुद्ध मे चाँदी का मूल्य बहुत बढा जिससे इन रुपयो का वास्तविक अर्घ इनके द्राव्यिक अर्घ से अधिक हो गया और लगभग चाँदी का भाव ११० रुपये की १०० तोले से अधिक होने पर इन सिक्को के गलाने से जनता को लाभ होने लगा। इस कारण सरकार ने विक्टोरिया की मोहर के रुपये और अठन्नियाँ १ अप्रैल १६४१ से, एडवर्ड सप्तम की मुहर के रुपये और अठन्नियाँ ३१ मई १६४२ से, और जॉर्ज पचम और जॉर्ज षष्ठ की मोहर के रुपये और अठन्नियाँ १ मई १६४३ से चलन में से वापस लेने आरम्भ कर दिये। ऐसा करने के पूर्व सरकार ने दिसम्बर १६४० में नया रुपया, अठन्नी और चवन्नी ढाली जिसमें चाँदी की मात्रा घटाकर १/२ कर दी। इन सिक्को को **क्वाटरनरी** (Quaternary) सिक्के कहते है। १ नवम्बर १६४३ में विक्टोरिया, एडवर्ड सप्तम, जॉर्ज पचम और षष्ठ की मुहर के चाँदी के रुपये और अठन्नियो की कानूनी ग्राह्यता को सरकार ने हटा लिया जिससे उनका गलाना अपराध नही रहा। परन्तु चवन्नी और दुवन्नी सीमित-कानूनी-ग्राह्य रहे। इसके उपरान्त भी चाँदी का मूल्य बढता रहा और सरकार को सिक्के ढालने के लिए चाँदी

प्राप्त करने मे कठिनाई हुई। इस कारण क्वाटरनरी सिक्को का भी निर्गम मई १९४७ से वन्द कर दिया गया और एक नया कानून पास किया गया (The Indian Coinage Amendment Act, 1947), जिसके अन्तर्गत सरकार ने गिलट (Nickel) का रुपया ढालने का अधिकार लिया। सरकार ने गिलट का रुपया, अठन्नी और चवन्नी ढाली जिनका वजन पहले के बराबर ही था और यह सिक्के पहली वार २ जून १९४७ को रिजर्व वेंक द्वारा चालू किये गये। हमारे देश में रुपये के समान अठन्नी भी असीमित-कानूनी-ग्राह्य है। इसके अतिरिक्त चवन्नी, दुवन्नी, इकन्नी, अधन्ना, पैसा, अधेला, पाई के भी सिक्के चलन में हैं; परन्तु वस्तुओ के मूल्य वढने से अधेला और पाई का चलन वहुत कम है। दुवन्नी, इकन्नी और नये अधन्ने काँसे (Bronze) के वनाये जाते हैं और पुराने अधन्ने, पैसा, अधेला और पाई ताँवे (Copper) के। चवन्नी और उससे नीचे के सिक्के सीमित-कानूनी-ग्राह्य हैं। हमारे सव सिक्के (रुपये सहित) सांकेतिक सिक्के हैं, क्योकि उनका द्राव्यिक अर्घ उनके वास्तविक अर्घ से अधिक है जिससे सरकार को उनकी ढलाई से लाभ होता है। यह लाभ आजकल लगभग २ करोड रुपया प्रतिवर्ष है।

कागज के नोट —हमारे देश मे १०,०००, १०००, ५००, १००, ५०, १० और ५ रुपये के नोट साधारणत चलन मे रहते हैं। १०,००० रुपये के नोट अधिकतर वैंक अधिक परिमाण के लेन-देन के काम में लाते हैं। ५०० और ५० रुपये के नोट भी बहुत कम चलन में है और द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त सारे देश मे लगभग ५० लाख रुपये के ही यह नोट चलन मे थे। यह सब नोट भारत सरकार द्वारा प्रसारित होते थे। परन्तु सन् १९३५ मे रिजर्व वैंक की स्थापना के वाद यह कार्य रिजर्व वैंक का कानूनी एकाधिकार वना दिया गया। चाँदी के रुपयो की कमी के कारण जुलाई १९४० में भारत सरकार ने स्वय १ रुपये के नोटो का निर्गम किया और रिजर्व बैंक ने भी फरवरी १९४३ मे दो रुपये के नोट इस कारण चालू किये जिससे एक रुपये के नोटो की माँग कम हो जाय। हमारे सव नोट कानूनी गाह्य हैं और १ रुपये के नोट के अतिरिक्त सव परिवर्त्तनशील भी हैं। वास्तव मे सव नोटो पर यह प्रतिज्ञा लिखी होती है कि उस नोट को रिजर्व वैंक (या इम्पीरियल वैंक) के दफ्तर मे पेश करने पर उसके मूल्य के रुपये मिल सकते है। १ रुपये के नोट अपरिवर्त्तनशील कानूनी ग्राह्य हैं परन्तु उनके निर्गम को सरकार व्यवस्थित करती है अन्यथा उनकी मात्रा चलन मे वहुत वढ जायेगी और ग्रेशम का नियम लागू होने के कारण रुपये और अठन्नी के सिक्के चलन से हट जायेगे। यह नोट विशेषकर शहरो मे लोकप्रिय है क्योकि रुपये के सिक्के की अपेक्षा यह सुविधाजनक है।

रिजर्व बैंक को जब नोट निर्गम करने का एकाधिकार मिला तो उस पर निम्नलिखित कानूनी रोक लगाई गई —

(१) बैंक को नोट के निर्गम का विभाग अलग रखना होगा जिसको निर्गम विभाग (Issue Department) कहते हैं और उस विभाग का आंकड़ा (Balance Sheet) अलग बनेगा।

(२) जितने रुपयों के नोट बैंक निर्गम करेगा उतने रुपयों के मूल्य की सम्पत्ति बैंक के पास होनी चाहिए।

(३) यह सम्पत्ति निम्न रूप में होनी चाहिए —

(अ) कुल सम्पत्ति का ४०% भाग सोना, सोने के सिक्के या स्टर्लिंग सिक्योरिटीज (Sterling Securities*) में होना चाहिए जिसमें सोने के सिक्के या सोने के पाट कम से कम ४० करोड़ रुपये के हों। सोने के सिक्के और पाट का ११/१२ भाग भारतवर्ष में होना चाहिए। कुछ कर देने पर यह प्रतिशत ४० से कम हो सकता है।

(ब) सम्पत्ति का शेष भाग रुपयों के सिक्के और भारत सरकार के रुपयों में चुकाये जाने वाले ऋण (Government of India Rupee Securities) में होने चाहिए।†

* यह ब्रिटिश सरकार के द्वारा अल्प काल के लिए लिया गया ऋण है।

† भारतवर्ष के रिजर्व बैंक (Reserve Bank of India) के निर्गम विभाग का बैलेंस शीट (Balance Sheet) २० अप्रैल १९५१ को निम्नलिखित था—

बैंक का ऋण (Liabilities)		
बैंकिंग विभाग के पास जो नोट हैं .	७,००,३५,०००	
चलन में नोट	१२,८१,०२,४८,०००	
निर्गम नोटों की कुल मात्रा	रु०	१२८८,०२,८३,०००
बैंक की सम्पत्ति (Assets)		
(अ) सोने के सिक्के और पाट भारत में। ..	४०,०१,७१,०००	
विदेशी पावने	६८८,१५,११,०००	
(अ) का योग ...		७२८,१६,८२,०००
(ब) रुपये के सिक्के		५८,२३,३८,०००
भारत सरकार के रुपये के ऋण		५०१,६२,६३,०००
कुल सम्पत्ति का योग	रु०	१२८८,०२,८३,०००

१२ जनवरी १९४६ को भारत सरकार ने अद्रव्यीकरण औरडिनैन्स [The High Denomination Bank Notes (Demonetisation) Ordinance]* निकाला। इसके द्वारा ५००, १००० और १०,००० रुपयो के नोटों की कानूनी ग्राह्यता को सरकार ने हटा लिया। जिससे यह नोट चलन से हट गये। अव हमारे देश में १, २, ५, १०, ५० और १०० रुपये के नोट चलन मे है। यह सव नोट कानूनी ग्राह्य है और १ रुपये के नोट के अतिरिक्त बाकी सब नोट परिवर्त्तनशील भी है। ५० रुपये के नोटो की निर्गम की गई मात्रा वहुत ही कम है जिससे यह नोट चलन मे दिखाई नही पडते।

रिजर्व वैंक की स्थापना होने पर सरकार ने उस वैंक को रुपये का बाह्य अर्घ १ रु० = १ शि० ६ पे० पर स्थिर रखने का भी कार्य सौपा। १९२४ से रुपये का सम्वन्ध स्टर्लिंग से है और हमारा देश स्टर्लिंग विनिमय मान पर सितम्बर १९३१ से है। रिजर्व वैंक को द्वितीय महायुद्ध से पहले स्टर्लिंग स्वतन्त्र रूप से खरीदना और वेचना पडता था। उसके वेचने की दर १ रु० = १ शि० ५$\frac{४९}{६४}$ पेन्स से कम नही हो सकती थी और खरीदने की दर १ रु० = १ शि० ६$\frac{३}{१६}$ पेन्स से अधिक नही हो सकती थी। परन्तु वैंक को खरीदने-वेचने को विवश करने के लिए कम से कम प्रति लेन-देन १०,००० पाउण्ड का होना चाहिए था। इस प्रकार रुपये की विनिमय की दर इन दो सीमाओ के वीच मे रहती थी। द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ के वाद हमारे देश में **विनिमय-नियन्त्रण** (Exchange Control) स्थापित किया गया जिससे प्रत्येक व्यक्ति को जो **विदेशी विनिमय** (Foreign Exchange) प्राप्त होता था वह रिजर्व वैंक को रुपये लेकर सौपना पडता है। जिस व्यक्ति को विदेशी विनिमय की आवश्यकता होती है वह भी तभी प्राप्त कर सकता है जव सरकार द्वारा उसकी आज्ञा मिल जाय। अन्तर्राष्ट्रीय द्राव्यिक कोष की स्थापना होने से रुपये का बाह्य अर्घ सोने में स्थापित किया गया। प्रत्येक मित्रराष्ट्र ने जो इस कोष के सदस्य है अपने सिक्को का अर्घ सोने मे स्थापित किया। इस प्रकार प्रत्येक देश के सिक्को में रुपये का अर्घ निश्चित कियाजा सकता है, क्योकि रुपये व अन्य सिक्को का अर्घ सोने मे है इस कारण उन सिक्को का पारस्परिक अर्घ सोने के अनुपात मे ही होगा। जो सम्वन्ध रुपये या अन्य विदेशी सिक्को का सोने मे निश्चित किया गया है वह केवल काल्पनिक है, क्योकि

*इस विषय पर 'पाइनियर' में श्री आर०एन० भार्गव का निवन्ध पढिये। (The Pioneer, dated 4th February, 1946)

कोई भी देश उस दर पर सोना स्वतन्त्र रूप से खरीदने और बेचने के लिए न तो विवश ही है और न खरीदता -बेचता ही है। यह स्वर्णमान का सबसे नवीन रूप है। इस मान के अन्तर्गत सोने का प्रयोग पूर्णतया हटा दिया गया है और सोना आन्तरिक या बाह्य लेन-देन मे बिल्कुल काम मे नही आता। यह मान अमरीका के संयुक्त राष्ट्र की इस इच्छा को भी पूरा करता है कि द्रव्य के मान का स्वर्ण से कुछ सम्बन्ध होना चाहिए और साथ ही साथ विभिन्न देशो की इस स्थिति को भी दृष्टि मे रखता है कि उन देशो मे सोने का अकाल है, क्योंकि उस मान के अन्तर्गत सोने की आवश्यकता बिल्कुल कम हो जाती है। इस प्रकार रुपये का अब प्रत्येक विदेशी सिक्के से सीधा सम्बन्ध है और रुपये का अर्घ किसी विदेशी सिक्के से उस सिक्के के स्वर्ण के अर्घ के अनुपात में है। प्रत्येक देश ने अपने सिक्के का स्वर्ण मे अर्घ अन्तर्राष्ट्रीय द्राव्यिक कोष को बतला दिया है। प्रत्येक देश अपने सिक्के के इस अर्घ को १०% घटा-बढा सकता है और यदि उसको इससे अधिक घटाना-बढाना है तो अन्तर्राष्ट्रीय कोष की सम्मति लेना आवश्यक है। भारतवर्ष ने १८ दिसम्बर १९४६ को रुपये का अर्घ ०.२६८६०१ ग्राम सोने के बराबर रखा जिससे एक रुपया १ शि० ६ पे० या ३०.२२५० सेन्टो के बराबर हुआ। अर्थात् £१ = १३ रु० ५ आ० ४ पा० और $ १ = ३ रु० ४ आ० ११$\frac{३}{४}$ पा०। सितम्बर १९४९ में ब्रिटेन ने पाउण्ट का अर्घ ३.५८१३४ ग्राम सोने से घटाकर २.४८८२८ ग्राम के बराबर कर दिया जिससे £ १ = $ २.८० हो गया जब कि इससे पूर्व £ १ = $ ४.०३ था। ब्रिटेन के इस कार्य में हमारे सामने निम्नलिखित निर्वाचन समस्या थी —

(१) या तो हम भी ब्रिटेन के समान रुपये का अर्घ सोने में उसी अनुपात मे घटा दें जिससे

£ १ = १३ रु० ५ आ० ४ पा० = $ २.८०

और $ १ = ४ रु० १२ आ० २$\frac{३}{४}$ पा०।

(२) या हम रुपये का अर्घ सोने में नही घटावे जिससे

१३ रु० ५ आ० ४ पा० = $ ४.०३ और तब £ १ = ९.२९ रुपये के होता और $ १ = ३ रु० ४ आ० ११$\frac{३}{४}$ पा० के

(३) हम रुपये का अर्घ सोने में घटाते परन्तु उसी अनुपात में नही जिस अनुपात मे ब्रिटेन ने पाउण्ड का अर्घ घटाया।

हमने प्रथम निर्वाचन को स्वीकार किया और रुपये का अर्घ घटाकर ०.१८६६२१ ग्राम सोने के बराबर रखा। २२ सितम्बर १९४९ को अन्तर्राष्ट्रीय कोष ने यह नवीन अर्घ मान लिया। परन्तु पाकिस्तान ने द्वितीय

निर्वाचन को स्वीकार किया, जिससे

हमारा रुपया	=०.१८६६२१ ग्राम सोना	=२१'०००० सेन्ट
पाकिस्तानी रुपया	=०'२६८६०२ ग्राम सोना	=३०'२२५० सेन्ट

£१=१३ रु० ५ आ० ४ पा० (हमारे) =९ २६ रुपये (पाकिस्तानी)

इससे भारतीय और पाकिस्तानी रुपयो का सम्बन्ध गडबडा गया, क्योकि इसके पूर्व १०० भारतीय रुपये=१०० पाकिस्तानी रुपये के थे। परन्तु अब १०० भारतीय रुपये पाकिस्तान के ६९'५४ रुपयो के बराबर हो गये। कुछ समय तक हमारी सरकार ने यह सम्बन्ध नही माना, परन्तु जो अभी व्यापारिक समझौता पाकिस्तान से हुआ है और जो २६ फरवरी १९५१ से ३० जून १९५२ तक लागू है उसके अनुसार हमने यह नवीन सम्बन्ध वर्तमान व्यापारिक व अन्य लेन-देन (Current transactions including trade transactions) के लिए मान लिया है और रिजर्व बैंक ने पाकिस्तानी रुपया खरीदने वेचने की निम्नलिखित दर घोषित कर दी है —

खरीदने की	६९ रु० ८ आ० ३ पा०	पाकिस्तानी	=१०० रु० भारतीय
वेचने की	६९ रु० ६ आ० ६ पा०	"	=१०० रु० "

अर्थात् उक्त दर पर रिजर्व बैंक पाकिस्तानी रुपये खरीदता और बेचता है।

स्टर्लिंग पावने (Sterling Balances*)

द्वितीय महायुद्ध मे भारत सरकार को ब्रिटिश सरकार की ओर से लगभग १७४० करोड रुपया लडाई में व्यय करना पड़ा। इसके अतिरिक्त भारत सरकार को जो अमेरिकन सैनिक भारतवर्ष मे थे उनके व्यय के लिए और मित्रराष्ट्र जो वस्तुएँ हमारे देश मे खरीदते थे उनके लिए भी रुपयो का प्रवन्ध करना पडता था। भारत सरकार यह व्यय रुपयो में करना पडता था, परन्तु इसके बदले मे सरकार स्टर्लिंग स्वीकार करती थी। भारत सरकार इन रुपयो का प्रबन्ध या तो जनता पर कर लगाकर कर सकती थी या ऋण लेकर। कर की दर पहले ही बहुत बढा दी गई थी, क्योकि सरकार का स्वय युद्ध के कारण व्यय बहुत बढ गया

* इस विषय पर 'लीडर' मे श्री आर० एन० भार्गव का निवन्ध पढिये। (The Leader, dated 12th January, 1946)

पर [illegible] सरकार ने [illegible] और [illegible] से [illegible] मात्रा में [illegible] का प्रयोग किया; परन्तु [illegible] [illegible] सरकार [illegible] [illegible] आवश्यकता थी [illegible] थे। इस [illegible] सरकार रिजर्व बैंक से स्टर्लिंग सिक्योरिटीज [illegible] थी। रिजर्व बैंक के निर्गम विभाग पर यह बन्धन था कि यह स्टर्लिंग सिक्योरिटीज द्वारा नोटों की मात्रा के ९०% [illegible] था। लड़ाई में सरकार को रिजर्व बैंक [illegible] में संशोधन करना पड़ा और यह बन्धन हटा दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि रिजर्व बैंक स्टर्लिंग सिक्योरिटीज के बदले में नोट [illegible] रूप में [illegible] गया। [illegible] में नोटों का चलन जो सितम्बर १९३९ में १७२ करोड़ रुपये का (जिसमें लगभग १० करोड़ रुपये के बर्मी नोट थे) बढ़ता गया और जब अगस्त १९४५ में युद्ध समाप्त हुआ तो यह ११३८ करोड़ रुपया के बराबर था। इस संख्या में एक रुपये के नोट जो सरकार द्वारा प्रकाशित किये गये व सम्मिलित नहीं है। इसके अतिरिक्त धातु के रुपये और रेजगारी का चलन भी कई करोड़ रुपयों से बढ़ गया। लड़ाई के उपरान्त भी नोटों के चलन की मात्रा बढ़ती गई। इन कारणों से और लड़ाई भर विदेशी भुगतान का अन्तर हमारे अनुकूल होने से रिजर्व बैंक की स्टर्लिंग सिक्योरिटीज की मात्रा बढ़ती गई। सितम्बर १९३९ में रिजर्व बैंक के निर्गम विभाग में ६४.५० करोड़ रुपयों की और बैंकिंग विभाग में १३.५७ करोड़ रुपयों की स्टर्लिंग सिक्योरिटीज थी। द्वितीय महायुद्ध में भारत सरकार ने अपना स्टर्लिंग ऋण जो लगभग ४७० करोड़ रुपये के बराबर था चुका दिया और तब भी युद्ध समाप्त होने पर रिजर्व बैंक के पास लगभग १८०० करोड़ रुपयों की स्टर्लिंग सिक्योरिटीज थी। लड़ाई के पूर्व हमारा देश ब्रिटेन का ऋणी था, परन्तु लड़ाई समाप्त होने पर ब्रिटेन हमारा ऋणी हो गया। यह एक अद्‌भुत घटना है कि हमारा निर्धन देश ब्रिटेन जैसे बड़े-बड़े देश का ऋणदाता है। यह स्थिति इस कारण सम्भव हुई कि लड़ाई में हमने अपनी जनता को आवश्यक वस्तुओं से हीन रखा जिस कारण उन्हें भूख और अनेक अन्य कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। सारांश यह है कि इन स्टर्लिंग पावनों के बनाने में हमारे देशवासियों का अत्यधिक त्याग और बलिदान है। लड़ाई के उपरान्त भी रिजर्व बैंक के पास स्टर्लिंग सिक्योरिटीज की मात्रा बढ़ती गई और एक समय इनकी सीमा १७३३ करोड़ रुपयों तक पहुँच गई। उसके उपरान्त धीरे-धीरे हमारे देश का विदेशी भुगतान का अन्तर हमारे प्रतिकूल होने के कारण और ब्रिटेन द्वारा

कुछ ऋण का भुगतान प्रतिवर्ष होने से इनकी मात्रा कुछ घटी। देश के विभाजन के उपरान्त इनका एक भाग पाकिस्तान को दे दिया गया और अब (७-६-१६५१) रिजर्व बैंक के पास लगभग ८२७ करोड़ रुपयो की स्टर्लिंग सिक्योरिटीज है।

स्टर्लिंग सिक्योरिटीज ब्रिटिश सरकार के अल्पकाल के ऋण है, परन्तु इन पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है जिस कारण उनका भुगतान अभी नहीं हो सकता। जिसने अल्पकाल के ऋण होने पर भी वास्तव में इन्होंने दीर्घ-काल के ऋण का रूप धारण कर लिया है। अल्पकाल के ऋण होने से इन पर १% प्रतिवर्ष से भी कम ब्याज मिलता है, जबकि दीर्घकाल के ऋणो पर ब्रिटेन आजकल लगभग ३% ब्याज देता है। इसने हमारे देश को अधिक हानि हुई है। इन पावनों को बनाने में हमारे देशवासियों को अत्यधिक त्याग करना पड़ा है; क्योंकि लड़ाई भर आवश्यक वस्तुएँ, हमारे देशवासियो को न देकर जिनका रहन-सहन का दर्जा पहले ही बहुत गिरा हुआ था, मित्रराष्ट्रों के लिए खरीदी गई। यह वस्तुएँ नियन्त्रित मूल्यों पर ली जाती थी: परन्तु अब जब यह पावने चुकाये जा रहे है तो हमको खुले बाजार मे विलायती उत्पादको को मनमाने दाम देने पड़ते हैं। इन पावनो के बदले रुपये देने और उन रुपयों से नियन्त्रित मूल्य पर वस्तु खरीदने से पहले हमारी सरकार को ब्रिटिश सरकार से यह प्रतिज्ञा करवानी चाहिए थी कि लड़ाई के उपरान्त जब यह पावने चुकाये जायेंगे तो ब्रिटिश सरकार भी हमारी आवश्यकता की वस्तुएँ नियन्त्रित और उचित मूल्यो पर खरीदने का प्रबन्ध करेगी। इन पावनो का काफी भाग हम उपभोग की वस्तुएँ जैसे कपड़ा, शृंगार-सामग्री, टूथ-पेस्ट, रेजर ब्लेड, ताश इत्यादि पर व्यय कर चुके हैं जब कि सरकार के लिए यह अनिवार्य था कि वह इन पावनो को मशीनें और आवश्यक कच्चे माल मँगाने के काम में ही लेती। इससे हमारे देश के औद्योगिक विकास में सहायता मिलती और जनता और देश का भला होता और हमारे बलिदानो का कुछ फल तो मिलता। इन पावनो को चुकाने के लिए ब्रिटिश सरकार से कई समझौते हो चुके है। जो समझौता जुलाई १६४८ में हुआ था वह ३० जून १६५१ को समाप्त हो जायेगा। इस कारण एक नया समझौता १ जुलाई १६५१ से ६ वर्ष के लिए कर लिया गया है जिसके अन्तर्गत ब्रिटिश सरकार साढ़े तीन करोड पाउण्ड (लगभग ५७ करोड रुपये) प्रतिवर्ष चुकायेगी। यहां यह बतला देना आवश्यक है कि इन पावनों का कुछ भाग हमे कागजी चलन और विदेशी विनिमय के लिए रिजर्व रखना होगा।

मुद्रा-प्रसार (Inflation)

मुद्रा-प्रसार भारतवर्ष को लडाई की देन है। लडाई के ही कारण हमारे देश मे द्रव्य की चलन की मात्रा मे अधिक वृद्धि हुई जिससे वस्तुओ के मूल्य बहुत बढ गये। यह ध्यान मे रखना चाहिए कि आजकल वस्तुओ के मूल्य बहुत ऊँचे होने का कारण केवल द्रव्य का अधिक चलन ही नही है चाहे प्रारम्भ मे वस्तुओ के मूल्य अधिक बढने का कारण द्रव्य के चलन की वृद्धि ही हो। वस्तुओ के मूल्यो में अत्यधिक वृद्धि के कारण द्रव्य चलन के अतिरिक्त उनकी माँग मे वृद्धि और पूर्ति मे कमी भी है जिसका वर्णन हम 'अर्घ के सिद्धान्त' के अध्याय में 'नियन्त्रित मूल्य और राशनिंग' शीर्षक के अन्तर्गत कर चुके हैं। जो धन लोगो ने अत्यधिक लाभकरण, चोर बाजार या घूस लेकर कमाया वह कर-विभाग के अधिकारियो से छिपाकर रखना होता है जिससे उसको उत्पादन कार्यों मे नही लगाया जा सकता और इस कारण वह उपभोग की वस्तुओ के मूल्य बढाने में प्रभाव डालता है।

मुद्रा प्रसार से द्रव्य का अर्घ घट जाता है। हम इसके प्रभावो का विवेचन करेंगे। मूल्यो के बढने से उत्पादको की लागत भी बढती है, परन्तु बढते हुए मूल्यो की स्थिति मे मूल्य सदा लागत से काफी अधिक होते हैं जिस कारण उत्पादको को अधिक नफा होता है। माँग की वृद्धि के कारण उनकी बिक्री भी बढ जाती है जिससे वह उत्पादन मे वृद्धि करते हैं और नये कारखानो की स्थापना होती है। बेकारी भी कम होती जाती है, परन्तु मूल्य बढने से उपभोक्ताओ को हानि होती है। यहाँ यह ध्यान मे रखना आवश्यकता है कि प्रत्येक व्यक्ति कुछ वस्तुओ का उत्पादक होता है और कुछ अन्य वस्तुओ का उपभोक्ता, जिससे उसको नफा और नुकसान दोनो का अनुभव होता है। इन दोनो का परिणाम उसका कुल नफा या हानि होता है। यदि जिन वस्तुओ का वह उत्पादक है उनके मूल्य उन वस्तुओ की अपेक्षा जिनका वह उपभोक्ता है अधिक बढ जाते है तो उसकी आर्थिक स्थिति सुधर जाती है, अन्यथा बिगड जाती है। गत वर्षो में कृषि सम्बन्धी वस्तुओ के मूल्य लगभग पाँच-छ गुने हो गये है जब कि अन्य वस्तुओ के मूल्य लगभग चार गुने हुए हैं। इस कारण किसान अपनी उत्पादित वस्तुएँ लगभग छ गुने मूल्य पर बेचता है और जो वस्तुएँ वह दूसरो से खरीदता है उनका पहले की अपेक्षा चार गुना मूल्य देता है जिससे उसको नफा हुआ है और उसकी आर्थिक स्थिति सुधर गई है। उसको अब पेटभर भोजन भी मिलता है और उसके रहन-सहन के दर्जे मे भी कुछ उन्नति हुई है। उसने अपने बाप दादो के ऋण भी चुका दिये हैं।

वेतन और स्थिर आय पाने वाले व्यक्ति जैसे, मकान-मालिक, पेन्शन पाने वाले, दान-कोष (Charitable Trust) को मूल्य बढने से हानि होती है ; क्योकि वस्तुओ के मूल्य बहुत बढ जाते है परन्तु उनकी आय में वृद्धि कम होती है। इस कारण उनके रहन-सहन का दर्जा गिर जाता है। गत वर्षों मे मध्यम वर्ग के लोगो को, जो इस श्रेणी में आते हैं, बहुत हानि हुई है। परन्तु व्यापारियो को बढते हुए मूल्यो की स्थिति मे नफा होता है, क्योकि उनका स्टॉक पुराने मूल्यो पर खरीदा हुआ होता है और उसे वह नये मूल्यो पर, जो बढे हुए है, बेचते हैं। इसके अतिरिक्त अत्यधिक लाभकरण और चोर बाजार भी बढते हुए मूल्यो की स्थिति मे पनपता है जिससे व्यापारियो को नफा होता है।

बढते हुए मूल्यो की स्थिति में मजदूरो का वेतन उत्पादको को विवश होकर बढाना होता है । महँगाई के कारण वह हाहाकार मचाते है और उत्पादन में बाधा डालने की धमकी देते है। परन्तु वस्तुओ के मूल्य पहले बढते हैं और मजदूरी मे वृद्धि इसके बाद होती है जिससे इस बीच के समय में उनको हानि होती है। बेकारी के कम होने से मजदूर-वर्ग को लाभ होता है। गत वर्षों में कुछ वर्ग के मजदूरो का वेतन सामान्य मूल्य के स्तर की वृद्धि की अपेक्षा अधिक बढ गया है जिससे वह अपने रहन-सहन के दर्जे में कुछ उन्नति कर सके है।

द्रव्य के अर्घ में ह्रास होने से ऋणियो का भला होता है और ऋण-दाताओ को हानि होती है ; क्योंकि ऋणी ऋणदाताओ को द्रव्य में रकम तो उतनी ही लौटाते है परन्तु उस रकम की क्रयशक्ति में ह्रास होने के कारण वह वस्तुएँ और सेवाएँ कम मात्रा में खरीद सकती है। मुद्रा-प्रसार में सट्टे और अनिश्चितता का वातावरण होता है जिससे जनता को हानि होती है।

भारत सरकार ने मूल्यो की वृद्धि को रोकने के अनेक प्रयत्न किये हैं जिनमे मूल्य नियन्त्रण, राशनिंग, अन्न की अधिक उपज का आन्दोलन मुख्य है। सरकार ने अन्य वस्तुओ के उत्पादन में वृद्धि करने की सुविधाएँ भी दी है । द्रव्य का चलन घटाने के लिए अद्रव्यीकरण ऑर्डिनैन्स भी निकाला, जिसके अन्तर्गत ५००, १००० और १०,००० के नोट भुनाने से पहले एक छपा हुआ फार्म भरना पडता था जिसमे यह बतलाना पडता था कि वह नोट, कहाँ से, कब और कैसे आये। सरकार का विचार था कि इस प्रकार द्रव्य चलन भी कम हो जायेगा और जिन व्यक्तियो ने चोर बाजार या घूस लेकर रुपया कमाया था और जिसको वह कर-विभाग से छिपाने के लिए घर में दबाकर ही रखते थे उनका भी पता लग जायेगा जिससे उनको कानूनी दण्ड दिया जा सकेगा। परन्तु सरकार के यह सब प्रयत्न वस्तुओ के बढते

हुए मूल्यो को रोकने में असफल रहे और वस्तुओ के मूल्य अब भी बढते जा रहे हैं। यदि सरकार मूल्यो की वृद्धि को न रोक सकेगी तो देश को घोर आर्थिक विपत्ति का सामना करना पडेगा। मूल्यो की वृद्धि को रोकने के निम्न मुख्य उपाय हो सकते हैं —

(१) सरकार अपने व्यय मे बचत करे और बजट मे बचाव दिखावे जिससे जनता के पास द्रव्य की मात्रा घट जायेगी।

(२) सरकार ऋण अधिक मात्रा मे ले जिसके लिए उसे प्रचार करना चाहिए और लोगो में यह विश्वास पैदा करे कि सरकार को ऋण देने से देश का भला होगा।

(३) उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि के प्रयत्न किये जाँय और देश की उत्पादक-शक्ति बढाई जाय। बजर भूमि पर सिंचाई का प्रबन्ध करके खेती की जाय। किसानो को अच्छा बीज और खाद दिया जाय और नाज की उपज को टिड्डी व नाज के रोगो से बचाने के उपाय किये जाँय। औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि के लिए अधिक मशीने मँगाई जायँ तथा आवश्यक कच्चे माल का पर्याप्त मात्रा मे प्रबन्ध किया जाय।

(४) आवश्यक वस्तुओ का प्रभावोत्पादक मूल्य नियन्त्रण और राशनिंग किया जाय। अपराधियो को कडा दण्ड दिया जाय जिससे वे चोरी, बेइमानी और घूस लेना बन्द करे।

(५) कृषि-सम्बन्धी उपज (अर्थात् नाज व कच्चा माल) के मूल्य घटाये जाँय, क्योकि तभी अन्य वस्तुओ के मूल्य गिर सकेगे। जैसे कपडे का मूल्य तभी गिर सकता है जब रूई और मजदूरी सस्ती हो। मजदूरी सस्ती तभी होगी जब मजदूरो को नाज सस्ते भाव पर मिले।

मुद्रा-संकुचन में मूल्य गिरने के कारण उत्पादको का नफा घटता जाता है और उनको हानि भी होती है जिससे उत्पादन कम हो जाता है और बेकारी फैलती है। देश आर्थिक सकट मे पड जाता है। वेतन और स्थिर आय पाने वाले व ऋणदाताओ को लाभ होता है और ऋणी व व्यापारियो को हानि होती है। मजदूरो को आर्थिक सकट का सामना करना पडता है, क्योकि बेकारी फैल जाती है। देश को भी उत्पादन घटने के कारण अधिक हानि होती है।

अभ्यास के प्रश्न

१ भारतीय चलन प्रणाली का सक्षिप्त वर्णन कीजिये।

२ द्वितीय महायुद्ध का भारतीय चलन प्रणाली पर जो प्रभाव पडा उस पर प्रकाश डालिये।

३. "अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य कोष की स्थापना से एक नवीन प्रकार के स्वर्ण-मान का निर्माण हुआ है, जो सस्ता और सुगम है।" इस कथन को समझाइये।
४. मुद्रा-प्रसार के कारण संक्षेप में समझाइये। इसको दूर करने के उपाय बतलाइये।
५ मुद्रा-प्रसार के प्रभाव विभिन्न वर्गों पर स्पष्ट रूप से समझाइये।
६. स्टर्लिंग पावने क्या हैं? इस विषय पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये।

अध्याय २५

साख (Credit)

विनिमय का कार्य या तो उमी ममय द्रव्य देकर पूर्ण किया जा मकता है, या उसका भुगतान कुछ समय के लिए स्थगित किया जा सकता है जिम अवस्था को साख कहते है। इसका वास्तविक प्रभाव यह होता है कि विक्रेता कुछ समय के लिए क्रेता को द्रव्य उधार देता है। साख के लेन-देन मे दो पक्ष होते है, ऋणी और ऋणदाता, और उन दोनो के बीच मे कुछ निश्चित मूल्य के अर्थ का लेन-देन होता है। माख मे समय का विशेप महत्व होता है, क्योकि साख के अन्तर्गत भुगतान कुछ समय के लिए स्थगित हो जाता है। साख का प्रत्येक लेन-देन विश्वास पर ही निर्भर है। यदि ऋणदाता को यह विश्वास न हो कि ऋणी ईमानदार है और कुछ समय के उपरान्त उसका ऋण चुका देगा तो वह ऋण देने को तय्यार ही न होगा। साख के लेन-देन के लिखित प्रमाण साख-पत्र (Credit Instruments) कहलाते है और यह द्रव्य की भाँति विनिमय के माध्यम का कार्य करते है।

साख के लाभ—जो व्यक्ति द्रव्य वचाते है, परन्तु स्वय कारखाने व उद्योगो में नही लगा सकते, क्योकि उनकी वचत वहुत कम है या उनमे इतनी योग्यता या उन्हें इतना समय नही है कि वे स्वय ऐसा कर सकें, तो वह साख द्वारा अपनी वचत ऐसे व्यक्तियो को दे सकते है जो उसका अधिक उपयोगी प्रयोग कर सकते है। इस प्रकार उनको अपनी वचत पर व्याज भी मिलता है और वे अधिक वचत के लिए प्रोत्साहित होते है। पूंजी भी ऐसे व्यक्तियो के पास आ जाती है जो उसका अधिक उपयोगी प्रयोग कर सकते है। जिससे पूंजी की उपयोगिता में वृद्धि होती है। साख द्वारा ही वडे पैमाने के उत्पादन कार्य सम्भव होते है, क्योकि उनके लिए अधिक पूंजी की आवश्यकता होती है जो किसी एक व्यक्ति के पास एकत्रित नही होती।

जिन व्यक्तियो में योग्यता और साहस है परन्तु पूंजी नही है, वह पूंजीपतियो से साख द्वारा पूंजी प्राप्त कर सकते है और अपनी योग्यता और साहस के प्रयोग से उत्पादन में वृद्धि करते है। साख के निर्माण के वाद यह आवश्यक नही कि पूंजी और योग्यता एक ही व्यक्ति के पास हो।

यह भिन्न व्यक्तियो के पास हो सकती है और साख द्वारा उसका मेल कराया जा सकता है।

जब राजकीय आय व्यय से कम हो तो राज्य साख द्वारा जनता से या दूसरे देशो से ऋण ले सकता है और बाद मे उसका भुगतान कर सकता है। बडे-बडे राजकीय कार्य जैसे रेलो इत्यादि का बनाना, जिसमे करोडों रुपये लगते है, साधारण आय द्वारा सम्भव नही है। भारतवर्ष की रेलों में लगभग आठ सौ करोड़ रुपये लगे हुए है और राज्य यह धन उधार लेकर ही लगा सका है। युद्ध में भी राजकीय व्यय बहुत बढ जाता है परन्तु आय इतनी जल्दी नही बढती। इसलिये राज्य ऋण लेकर काम चला सकता है। कोई व्यक्ति भी अधिक आवश्यकता के समय ऋ लेकर अपना काम चला सकता है और सुविधानुसार चुका सकता है

साख द्वारा द्रव्य की बचत होती है और यह द्रव्य से सस्ता विनिम का माध्यम है। यह उससे सुगम भी है, क्योकि साख-पत्र आवश्यकतानुसा किसी भी समय लिखा जा सकता है। साख द्वारा द्रव्य एक स्थान दूसरे स्थान को कम मूल्य पर भेजा जा सकता है।

साख से हानि :—साख की मात्रा अत्यधिक बढने का डर रहता है और इससे मुद्रा-प्रसार हो जाता है जिससे वस्तुओ के मूल्य बढ़ने लगते है। यदि ऋणी अपने ऋण का भुगतान करने में असमर्थ हो तो ऋण-दाताओ को अधिक कष्ट होता है और जब बहुत से ऋणी और बडी-बडी संस्थायें ऋण नही चुका पाती तो देश में आर्थिक सकट भी आ जाता है। साख द्वारा उपभोग के लिए कभी-कभी अनेक व्यक्ति अधिक ऋण ले लेते है जिसका चुकाना उनकी शक्ति के बाहर होता है। हमारे देश में इसका अधिक डर है; क्योकि शादी विवाह व अन्य अवसरो पर जनता में अधिक व्यय करने की रुचि होती है। ग्रामीण ऋण का एक महत्वपूर्ण भाग ऐसे ही ऋणो का है।

क्या साख पूंजी है ?*—एक निश्चित समय साख द्वारा देश की बचत व पूँजी की मात्रा तो नही बढ़ती है, परन्तु वह एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के हाथ मे आ जाती है जिससे अधिक उपयोगी कार्यो में लगाई जा सकती है। इस प्रकार साख द्वारा पूँजी अधिक उत्पादित हो जाती है और साख के अभाव मे उत्पादन को अधिक हानि होती है। परन्तु साख स्वयं पूँजी नही कहा जा सकता। जब एक कारखाने का स्वामी एक

---

* साधारणत: साख से पूँजी की मात्रा नहीं बढती है। परन्तु जब बैंक साख की मात्रा बढाते है तो इस प्रकार द्रव्य की मात्रा बढ जाती है और हम कह सकते है कि साख भी उस स्थिति में पूँजी है।

लाख रुपया उधार लेकर अपने कारखाने में लगाता है तो उसके कारखाने मे अवश्य एक लाख पूंजी लग जाती है; परन्तु उसका स्वामी ऋणदाता है। यदि हम साख को भी पूंजी माने तो त्रुटि की सभावना होगी; क्योकि हम कहेगे कि पूंजी दो लाख है.—एक लाख साख और एक लाख द्रव्य जिसका स्वामी ऋणदाता है। इस कारण साख को पूंजी नही कहना चाहिए।

साख व्यवस्था
(Credit Mechanism)

साख की व्यवस्था को हम दो भागो में बाँट सकते है —(१) साख सस्थायें और (२) साख पत्र। साख सस्थायें बैंक इत्यादि होते है जो साख का लेन-देन करते है। साख पत्र लिखित प्रमाण होते है जिनमे एक निश्चित रकम निश्चित समय में चुकाने की प्रतिज्ञा होती है। उनमे ऋणी और ऋणदाता के नाम भी होते है।

साख-पत्र और द्रव्य—द्रव्य के समान साख पत्र भी विनिमय के माध्यम का काम करते है; परन्तु वह कानूनी ग्राह्य नही होते। इस कारण उनको प्रत्येक व्यक्ति स्वीकार नही करता और उनकी स्वीकृति विश्वास पर ही निर्भर होती है। साख पत्र स्वय कुछ समय वाद द्रव्य मे परिणत होते है; परन्तु इस बीच वे द्रव्य का कार्य करते है जिससे उन्ह द्रव्य का स्थानापन्न कहा जा सकता है।

चेक (Cheque)—यह एक व्यक्ति द्वारा अपने वैंक के लिए लिखित आदेश होता है जिसके अनुसार उसको उपस्थित करने पर वैंक एक निश्चित रकम निश्चित व्यक्ति को जिसका विवरण उसमे दिया हुआ होता है चुका देता है। जो व्यक्ति चेक लिखता है उसको **लेखक** (Drawer) कहते है और जिस व्यक्ति के पक्ष में लिखा जाता है उसे **लेनदार** (Payee) कहते है और वैंक **देनदार** (Drawee) कहलाता है। यह ध्यान मे रखना आवश्यक है कि वैंक चेक का भुगतान तभी करेगा जव लेखक का रुपया वैंक के पास जमा हो या लेखक का वैंक से ऋण लेने का कुछ प्रवन्ध हो। चेक का भुगतान उस पर लिखी तारीख से ६ महीने के अन्दर ही हो सकता है। यदि किसी चेक पर भविष्य की कोई तारीख लिख दी जाय तो उसे वाद की तारीख (Post-dated) का चेक कहते है। वैंक अपने ग्राहको को एक छपी छपाई चेक की किताव देता है जिसमें साधारणतया १०, २५ या १०० चेक के फॉर्म होते है। यह चेक फॉर्म अग्रेजी मे छपे होते है; परन्तु अव कुछ वैंक हिन्दी में लिखे और हस्ताक्षर किये चैंको का भुगतान करने लगे है। चेक-बुक में साधारणतया प्रति फार्म के दो भाग होते है। एक भाग प्रमुख भाग या चेक कहलाता

है और दूसरा भाग प्रतिलिपि (Counterfoil), जो अपनी स्मृति के लिए लेखक के ही पास रहता है। हम नीचे एक चेक का उदाहरण देते है :—

No. AD 69892 *Date* 14th March, 1951 *In favour of* Shri Hari Ram Rs. 400/-	No AD 69892. 14th March, 1951 THE CENTRAL BANK OF INDIA LTD. ALLAHABAD *Pay to* Shri Hari Ram *or Bearer* *Rupees* Four hundred only Rs. 400/- Ram Prasad

चेक दो प्रकार के होते हैं :—(१) धनी जोग (Bearer) और (२) शाह जोग (Order)। धनी जोग चेक का भुगतान कोई भी व्यक्ति उस चेक को बैंक की खिडकी पर उपस्थिति करके करा सकता है। इस चेक पर लेनदार के बेचान लेख (Endorsement) की आवश्यकता नही होती और बैंक इस बात का जिम्मेवार नही होता कि भुगतान सही व्यक्ति को ही हो। शाह जोग चेक पर लेनदार का बेचान लेख और हस्ताक्षर आवश्यक है और उसका भुगतान बैंक परिचित व्यक्ति को ही करता है। चेक का बेचान लेख एक से दूसरे व्यक्ति को किया जा सकता है। जब चेक के मुख पर दो तिरछी समानान्तर रेखायें खीच दी जाती है तो उसको रेखांकित (Crossed) चेक कहते है। ऐसे चेक का भुगतान बैंक द्रव्य में नही करता; परन्तु यह किसी व्यक्ति के बैंक के हिसाब में ही जमा हो सकता है। साधारणत. उन रेखाओ के बीच में "& Co." शब्द लिख दिये जाते है। जब इन रेखाओ के बीच में किसी बैंक का नाम लिख दिया जाता है तो इस चेक का भुगतान उसी बैंक द्वारा हो सकता है। और जब उन रेखाओ के बीच में "A/c Payee Only" शब्द लिख दिये जाते है तो यह चेक केवल लेनदार के हिसाब में ही जमा हो सकता है। इस प्रकार का चेक बहुत सुरक्षित हो जाता है और उसका भुगतान गलत व्यक्ति को नही हो सकता।

बैंक में साधारणत· तीन प्रकार के हिसाब खुल सकते है। अस्थायी जमा-खाते (Current Account) में रुपया निकालने व जमा कराने में कोई रोक नही होती और साधारणत. इस पर कुछ ब्याज नहीं मिलता। सेविंग बैंक (Savings Bank Account) के खाते मे

जमा कराने की सीमा होती है और रुपये निकालने पर कुछ प्रतिबन्ध भी होते हैं। साधारणतः बैंक इन खाते पर १% प्रति वर्ष ब्याज देते हैं और कुछ बैंक इन खातों से रुपया निकालने के लिए चैक की सुविधा भी देते हैं। स्थायी जमा-खाते (Fixed Deposit) में रुपया एक निश्चित समय के लिए जमा कराया जाता है और उस समय के उपरान्त ही उसका भुगतान हो सकता है। परन्तु जमा कराने वाला बैंक से कुछ अधिक ब्याज देकर ऋण ले सकता है। चालू और सेविंग बैंक खाते में जमा रुपया जमा कराने के लिए बैंक छपे छपाये फॉर्म देता है जिनको जमा कराने की पर्ची (Pay-in-slip) कहते हैं।

चेक बड़ी सुविधाजनक और लाभदायक साख-पत्र है। चेक-बुक होने पर जेब में अधिक द्रव्य ले जाने की आवश्यकता नहीं होती; क्योंकि यदि आपका रुपया बैंक में है तो आप किसी भी रकम का चेक लिख सकते हैं। यदि चेक-बुक खो जाय तो उससे कुछ हानि नहीं होती। यदि लिखित चेक खो जाय तो बैंक को सूचित करने से बैंक उसका भुगतान रोक देता है। रेखांकित चेक साधारण डाक द्वारा भेजे जा सकते हैं और इस कारण चेक एक स्थान से दूसरे स्थान पर द्रव्य भेजने के सस्ते और सुगम साधन हैं।

बैंक ड्राफ्ट (Bank Draft) —यह बैंक द्वारा लिखित साख-पत्र होते हैं जो एक बैंक किसी दूसरे स्थान पर अपनी शाखा या दूसरे बैंक पर लिखता है और उसको एक निश्चित रकम एक निश्चित व्यक्ति को देने का आदेश देता है। ड्राफ्ट की रकम और इस कार्य को करने का कमीशन लेकर बैंक ऐसे ड्राफ्ट देता है।

साख-पत्र (Letter of Credit) —यह एक ऐसा पत्र होता है जो एक बैंक द्वारा दूसरे स्थान के बैंक या बैंकों पर एक निश्चित रकम तक एक निश्चित व्यक्ति को देने का आदेश देता है। इस पत्र को लिखने से पहले बैंक लिखित रकम इस पत्र को लेने वाले व्यक्ति से ले लेती है। यदि आप दूसरे नगर जा रहे हो तो आपको द्रव्य ले जाने की आवश्यकता नहीं है, वरन् साख-पत्र ले जा सकते हैं।

भारतवर्ष में चेक, बैंक-ड्राफ्ट और साख-पत्र का प्रयोग बहुत सीमित है। यह इतने सुविधाजनक और सस्ते विनिमय के माध्यम हैं कि इनका प्रयोग बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिये। इनके सीमित प्रयोग को बढ़ाने की निम्न रीतियाँ हैं —

(१) जनता में शिक्षा का अभाव है जिस कारण अधिकांश व्यक्ति चेक नहीं लिख सकते हैं और इनका उपयोग भी नहीं समझते हैं। इस कारण जनता में शिक्षा का प्रचार होना चाहिये।

(२) वैको को चेक हिन्दी में छपवाने चाहिये और लेखक को प्रान्तीय भाषा में लिखने व हस्ताक्षर करने की सुविधा देनी चाहिये।

(३) राज्य का लगान, आय-कर इत्यादि के भुगतान मे चेक स्वीकार करने चाहियें और अपने भुगतान भी चेक द्वारा ही करने चाहियें। स्कूल कालेज और यूनिवर्सिटियो को भी फीस चेक में लेने की सुविधा देनी चाहिये

(४) वैंक के कर्मचारियो का वेतन वढने व महँगाई के कारण वैंकों ने दूसरे स्थान के चेको के वसूल करने के व्यय मे वृद्धि कर दी है इसको घटाने के प्रयत्न करने चाहियें।

(५) वैको को चेको का भुगतान तुरन्त करना चाहिये। विदेशो मे वैंक खिडकी पर चेक उपस्थित करने के एक दो मिनट मे ही भुगतान हो जाता है; परन्तु हमारे देग में भुगतान मे अधिक समय लगता है जिससे लोग चेक स्वीकार करने मे हिचकिचाते हैं।

हुण्डी (Hundi).—हुण्डी का प्रयोग भारतवर्ष में वहुत पुराना है। इसके द्वारा लोग रुपया एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजते हैं और ऋण भी लेते है। हुण्डी के तीन पक्ष होते है—लेखक (Drawer) जो हुण्डी लिखता है, देनदार (Drawee) जिस पर हुण्डी लिखी जाती है और लेनदार (Payee) जिसको हुण्डी का रुपया मिलता है। यह दो प्रकार की होती है, दर्शनी या मुद्दती। दर्शनी हुण्डी का भुगतान उसके उपस्थित करते ही हो जाता है। मुद्दती हुण्डी का भुगतान लिखित समय के व्यतीत होने पर ही होता है और उस पर टिकट भी लगाना पडता है। इसके भुगतान में तीन या पाँच रियायती दिन (Days of grace) मिलते हैं। हुण्डी हिन्दी में ही लिखी जाती है जिसका उदाहरण नीचे दिया गया है:—

दर्शनी हुण्डी

न० ४१ ॐ

सिद्ध श्री अजमेर शुभस्थान श्री पत्री भाई रामकृष्ण जोग कानपूर से सेठ रामलाल दीनदयाल की राम राम वचना। अपरच हुण्डी किता नग १ आपके ऊपर करी। रुपया पाँच सौ अकेन रुपया ५००) नीमे रुपया २५०) के दूने पूरा आठे रखा भाई मोहनलाल मिति फाल्गुन सुदी दशमी। तुरन्त शाह जोग रुपया चलन वाजार ठिकाना लगाय चौकस कर दाम देना। हुण्डी लिखी मिति फाल्गुन सुदी दशमी संवत् २००१।

द० रामलाल दीनदयाल

उक्त हुण्डी लिखने वाला रामलाल दीनदयाल है और वह रामकृष्ण के नाम लिखी गई है। इस हुण्डी का रुपया ५००) मोहनलाल को मिलेगा।

बिल ऑफ एक्सचेंज (Bill of Exchange) :—यह एक लिखित प्रमाण होता है जिसमें लेखक (या ऋणदाता) किसी व्यक्ति को, एक आदेशित व्यक्ति को एक निश्चित रकम देने का आदेश देता है। रकम पाने वाले को लेनदार कहते हैं और जिसपर बिल लिखा जाता है उसको देनदार। जब उसका रुपया बिल को उपस्थिति करते ही देना पड़ता है तो उसको दर्शनी बिल (Demand Bill of Exchange) कहते हैं। यदि रुपया कुछ समय के बाद चुकाना हो तो उसे मुद्दती (Time or Usance Bill) बिल कहते हैं। मुद्दती बिल को लेनदार प्राप्त करते ही देनदार के सामने स्वीकृति के लिए उपस्थित करता है जो उस पर "स्वीकार किया" (Accepted) शब्द लिख देता है। जिससे यह पक्का रुक्का हो जाता है और दोनों पक्षों पर लागू हो जाता है। मुद्दती बिल के भुगतान के लिए तीन दिन रियायत के दिये जाते हैं। मुद्दती बिल पर टिकट भी लगाना पड़ता है। लेनदार उस पर बेचान लेख लिखकर दूसरे व्यक्ति को दे सकता है और उस स्थिति में उसके भुगतान का अधिकारी वह दूसरा व्यक्ति ही होता है। बिल पर जितने अधिक बेचान लेख लिखे होते हैं वह उतना ही सुरक्षित हो जाता है; क्योंकि अन्तिम लेनदार किसी भी बेचान लेखक से रुपया ले सकता है, यदि देनदार उसका भुगतान करना अस्वीकार कर दे। जब यह बिल देश में रहने वाले व्यक्ति पर ही लिखा जाता है तो देशी बिल कहलाता है जिसका उदाहरण नीचे दिया गया है —

Rs. 600/-	DELHI,
	7th April, 1951.
STAMP	Thirty days after sight of this Bill pay to the United Commercial Bank Ltd., or order the sum of Rupees six hundred only for value received
To,	For JOLLY ENGINEERING WORKS,
Messrs. Krishna Hardware Stores,	Jitendra Nath
Kanpur.	Proprietor

जब एक देश में रहने वाला दूसरे देश के व्यक्ति पर बिल लिखता है तो उसको विदेशी बिल कहते हैं। यह विदेशी व्यापार के भुगतान मे बहुत सहायक होता है। विदेशी व्यापारी हमारे सिक्के स्वीकार नही करते; क्योंकि वे उनके देश मे नही चलते और उनको सोना चाँदी भेजने में

कुछ व्यय भी करना पड़ता है और समय भी लगता है। इस कारण एक विदेशी विक्रेता भारतीय क्रेता पर बिल लिखता है और ऐसे व्यक्ति को बेच देता है जिसने किसी भारतीय विक्रेता से वस्तु मोल ली हो और जिसको भुगतान करना हो। बैंको के निर्माण के कारण इन व्यक्तियो को एक दूसरे की खोज नही करनी पड़ती। विदेशी विक्रेता अपना बिल बैंको से भुना लेता है और इसी तरह विदेशी क्रेता बैंको से भारतीय द्रव्य खरीदकर भारतीय विक्रेताओ का भुगतान कर देता है। इस प्रकार बैंक विदेशी द्रव्य, विदेशी क्रेता से प्राप्त करके विदेशी विक्रेता को दे देते हैं और भारतीय द्रव्य भारतीय क्रेता से लेते हैं और भारतीय विक्रेता को देते है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का भुगतान बड़ी सुगमता और कम व्यय पर हो जाता है। साधारणतया विदेशी बिल की तीन नकलें लिखी जाती हैं जिससे यातायात मे उनकी एक या दो नकल खोने पर भी कम से कम एक नकल तो सुरक्षित पहुँच सकती है। इन तीनों नकलों में से केवल एक ही का भुगतान करना पड़ता है। विदेशी बिल ऑफ एक्सचेंज का उदाहरण नीचे दिया गया है :—

(First of Exchange)

Bond Street,
London, 4th April, 1951

£ 42-6-8

STAMP

Ninety days after sight of the first of Exchang (second and third of the same tenure and dat unpaid) pay to the Central Bank Ltd , the sun of forty-two pounds, six shillings and eigh pence, value received

To,
Messrs. M. R & Sons,
Ajmer.

Per Pro Martin Harris Ltd
Arthur Brown
Manager

विदेशी या देशी मुद्दती बिलो का रुपया लेनदार उनके भुगतान के अन्तिम तिथि से पहले भी बैंक से उनका भुगतान कराकर ले सकता है। बैंक जितने दिन बाद उस बिल का रुपया मिलेगा उसका ब्याज (Discount) काट कर उस बिल को खरीद लेते है।

प्रोमिसरी नोट (Promissory Note).—यह एक लिखित प्रतिज्ञा होती है जिसके अनुसार लिखने वाला लिखित व्यक्ति को लिखित

रकम इस पत्र के उपस्थित करने पर देने की प्रतिज्ञा करता है। इसके लिखने की रीति सदा दर्शनी होती है, परन्तु जब लेनदार इसका रुपया तुरन्त नही लेना चाहता है तो इस पर व्याज की प्रतिज्ञा लिखा लेता है, जिससे उसको व्याज मिलता रहे। प्रोमिसरी नोट का उदाहरण नीचे दिया गया है :—

AJMER

Dated 1st April, 1951.

On demand I promise to pay to Shri Ram Krishna a sum of Rupees Five hundred only (Rs 500/–) value received with interest thereon at nine per cent per annum from date hereof until repayment in full.

Radhey Shyam.

Stamp

रिजर्व बैंक के कागजी नोट भी प्रोमिसरी नोट है जिनका रुपया उसको उपस्थित करनेवाले व्यक्ति को मिल सकता है। परन्तु कानून के अनुसार इनको प्रोमिसरी नोट की परिभाषा के अन्तर्गत नही रखा गया है और इस कारण प्रोमिसरी नोट के समान इन नोटो पर टिकट की आवश्यकता नहीं होती।

अभ्यास के प्रश्न

१. साख से आप क्या समझते हैं ? इससे लाभ और हानियाँ बतलाइये।
२. चेक की परिभाषा समझाइये। इसके प्रयोग के लाभ बतलाइये और समझाइये कि हमारे देश मे इसका प्रयोग किस प्रकार बढ सकता है।
३. बिल ऑफ एक्सचेंज और चेक की तुलना कीजिये और उनमें अन्तर समझाइये।

अध्याय २६

वैंक-प्रणाली

मनुष्य अपनी आय का पर्याप्त भाग अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के निमित्त व्यय करता है और शेष भाग वचा लेता है। इस वचत को मनुष्य या तो अपनी आर्थिक स्थिति को दृढ बनाने के लिए सचित करता है या उसे किसी ऐसे कार्य में लगा देता है जिससे भविष्य में उसे लाभ हो सके। यदि वह मनुष्य अपनी इस वचत को अपने पास सचित करने की अपेक्षा वैंक में जमा कर दे तो उसका धन सुरक्षित रहता है और वैंक इसके वदले में उसे व्याज भी देता है। यदि वैंक में रुपया जमा किया जाय तो वैंक उन व्यवसायियो को रुपया ऋण दे सकते है जिनको अपने कारोवार को चलाने के लिए रुपयो की आवश्यकता है। इस प्रकार जो रुपया हम वैंक मे जमा करते है उससे केवल हमारा ही लाभ नहीं होता वरन् देश की आर्थिक उन्नति में सहायता मिलती है। वैंको का विशेष कार्य यही है कि जिसके पास द्रव्य आवश्यकता से अधिक है उसका द्रव्य सुरक्षित रखे और जिनको अपने स्वय व्यय करने के लिए या अपने कारोवार के लिए द्रव्य की आवश्यकता है उनको द्रव्य ऋण दे। द्रव्य को एक स्थान पर एकत्रित कर रखने से ही काम नही चल सकता। इसलिये वैंक द्रव्य को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने का कार्य भी करता है। वैंक के ग्राहक उसके भडार गृह (Safe Vault) में अपने जेवरात, मूल्यवान् वस्तुएँ या सिक्योरिटियाँ इत्यादि सुविधापूर्वक जमा कर सकते है। अपने ग्राहको के लिए वैंक सिक्योरिटी (Securities) खरीदता-वेचता है और उनके लिए ट्रस्टी (Trustee) का काम भी करता है।

वैंक एक ऐसी सस्था है जो द्रव्य का लेन-देन करती है। वैंक और महाजनो में अन्तर यह है कि वैंक केवल द्रव्य के लेन-देन का काम करता है; परन्तु महाजन इसके अतिरिक्त कमीशन-एजेन्सी व व्यापार इत्यादि कार्य भी करता है। वैंक की मुख्य विशेषता यह है कि वह ऐसे खाते में रुपया जमा करता है जिसमें से जमा करने वाले व्यक्ति को चेक के द्वारा या किसी अन्य विधि से माँग करने पर द्रव्य तुरन्त मिल सकता है।

वैंको के प्रकार (Types of Banks) —वैंक कई प्रकार के होते है जिनके कार्य व कार्य करने की विधियाँ विभिन्न है।

(अ) केन्द्रीय वैंक (Central Banks) —केन्द्रीय वैंक एक महत्वपूर्ण संस्था है। यह अन्य वैंको के कार्यों पर नियन्त्रण रखता है। यह नोट छापता तथा उनका प्रचलन करता है। यह देश में प्रचलित साख की विधियो का सगठन करता है और उन पर नियन्त्रण भी रखता है। यह विशेषकर सरकार का द्रव्य सम्बन्धी कार्य करता है।

(ब) व्यापारी वैंक (Commercial Banks) —व्यापारी वैंक रुपया जमा करने व ऋण देने का कार्य करता है। यह आवश्यकतानुसार देश में द्रव्य एक स्थान से दूसरे स्थान में भेजने का कार्य करता है और अपने ग्राहको को वहुमूल्य वस्तुएँ जैसे आभूषण, सोना इत्यादि रखने की सुविधा देता है। यह व्यापारी हुण्डी का मितिकाटे (Discount) का कार्य करके देश के आन्तरिक व्यापार को पर्याप्ति सुविधा देता है।

(स) विदेशी-विनिमय वैंक (Foreign Exchange Banks) —यह वैंक व्यापारी-वैंक की श्रेणी मे ही आता है। अन्तर केवल इतना है कि व्यापारी-वैंक देश के आन्तरिक व्यापार से सम्वन्ध रखता है; परन्तु विदेशी-विनिमय वैंक विदेशी-व्यापार सम्वन्धी कार्य करता है।

(द) औद्योगिक वैंक (Industrial Banks) —इन वैंको की विशेषता यह है कि ये उद्योग-धन्धो के लिए दीर्घकालीन ऋण (Long period loans) देते है और इसी कारण अपने सदस्यो का द्रव्य केवल स्थायी खाते में ही जमा करते है। भारत में ऐसे वैंको की वहुत कमी है, इसी कारण भारत सरकार ने केन्द्रीय इण्डस्ट्रियल फाइनेन्स कारपोरेशन (Industrial Finance Corporation of India) का निर्माण किया है।

(य) सेविंग वैंक (Saving Banks) —इन वैंको का मुख्य उद्देश्य यह है कि थोडी मात्रा में द्रव्य जमा करने वाले व्यक्ति इनमें द्रव्य जमा कर सकें। भारत में ऐसे वैंको को विशेषकर डाकखाने चलाते है। अव भारत के सभी व्यापारिक वैंक सेविंग वैंक का काम भी करने लगे है।

(र) भूमि-वन्धक वैंक (Land Mortgage Banks) —औद्योगिक वैंक उद्योग-धन्धो को दीर्घकालीन ऋण देते है, परन्तु ये वैंक भूमि के आधार पर कृषको को दीर्घकालीन ऋण देते है।

(ल) सहकारी वैंक (Co-operative Banks) —ये वैंक केवल अपने सदस्यो से ही लेन-देन का कारोवार करते है। भारत के कृपि-उद्योग के लिए इनका विशेष महत्व है।

(व) साहुकारी वैंक (Indigenous Banks) —ये वैंक लेन-देन का

कार्य करते है तथा रुपया एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने के उद्देश्य से हुण्डी बेचते है। भारतवर्ष में यह सस्था अत्यन्त प्राचीन है। यह बैंकिग के साथ ही व्यापार भी करते है।

केन्द्रीय बैंक

केन्द्रीय बैंक एक महत्वपूर्ण सस्था है जिसपर देश की आर्थिक समृद्धि निर्भर रहती है। प्रत्येक देश मे अनेक प्रकार के बैंक होते है जिनके द्वारा देश का आर्थिक लेन-देन चला करता है। परन्तु प्रत्येक देश में केवल एक ही केन्द्रीय बैंक होता है। अन्य बैंको का उद्देश्य सदा नफा कमाना रहा है। वे अपने द्रव्य को व्यापार में, ऋण में तथा किसी लाभदायक योजना मे लगाते है और इसके फलस्वरूप लाभ प्राप्त करते है। इसी लाभ में से वे अपने सदस्यो के जमा द्रव्य पर ब्याज इत्यादि देते है और इस प्रकार द्रव्य जमा करने की प्रवृति को प्रोत्साहन देते है। परन्तु केन्द्रीय बैंक का उद्देश्य नफा कमाना नहीं होता है। वह प्राय देश में प्रचलित साख की विधियो पर नियन्त्रण रखता है। वह अन्य बैंको की साख-व्यवस्था का निरीक्षण करता रहता है और उसमे किसी भी प्रकार की शिथिलता या भूले नही होने देता। ऐसा होने पर वह अपने अधिकारो का पूरा प्रयोग करके सारी व्यवस्था को ठीक राह पर ले आता है। केन्द्रीय बैंक अन्य बैंको तथा देश की आर्थिक समृद्धि चाहता है और उसके लिए सदा प्रयत्न करता है। वह नफे के उद्देश्य से कार्य नही करता है। वह अपने क्षेत्र में सर्वशक्तिशाली होता है।

अन्य बैंक नफे के लिए कार्य करते है जिसके लिए वे सुरक्षा चाहते है। उनके कार्य अधिकतर प्रतिस्पर्धा की नीति से प्रभावित होते है जिसके फलस्वरूप उन्हें हानि या अन्य किसी दुर्घटना की आशका रहती है। केन्द्रीय बैंक ऐसे बैंको को सुरक्षा प्रदान करता है। आवश्यकता पडने पर अन्य बैंक इससे द्रव्य ऋण ले सकते है। तात्पर्य यह है कि केन्द्रीय बैंक देश की बैंक-व्यवस्था का सगठन एव सचालन करता है और अन्य बैंक इसके आदेशानुसार कार्य करके देश की आर्थिक समृद्धि मे सहायक होते है।

भारतवर्ष में केन्द्रीय बैंक को रिजर्व बैंक कहते है। पहले इगलैण्ड मे देश की बैंक-व्यवस्था का निरीक्षण, सगठन एव संचालन करने के लिए केन्द्रीय बैंक सी कोई सस्था न थी। समस्त व्यापारी बैंक नोट छापते व उनको प्रचलित करते थे। जिससे देश का आर्थिक जीवन सुचारु रूप से उन्नति नही कर पाता था। इस कठिनाई को देखकर केन्द्रीय बैंक की महत्वपूर्ण स्थापना की गई। भारतवर्ष मे भी रिजर्व बैंक नाम से यह सस्था १९३५ से कार्य कर रही है।

यह तथ्य निर्विवाद है कि प्रचलित मुद्रा देश की आर्थिक स्थिति को सदैव प्रभावित करती रहती है। जब देश मे मुद्रा का प्रसार आवश्यकता से अधिक हो जाता है तो देश की वस्तुओ के मूल्यो मे एक भारी परिवर्तन आने लगता है। वस्तुओं के मूल्य बढने आरभ हो जाते है और अधिक मूल्य बढने की आशा से व्यापारी बहुत-सी आवश्यक वस्तुओ का विक्रय बन्द कर देते है और इससे देश मे आर्थिक सकट उत्पन्न हो जाता है। यदि मुद्रा का प्रचलन आवश्यकता से कम होता है तो इसका प्रभाव मनुष्य की कार्यक्षमता पर पडता है। जो मुद्रा चलन में होती है वही दूसरे रूप मे आय भी होती है। यदि आय कम होगी तो स्वभावतया आवश्यकता की वस्तुएँ कम खरीदी जायेंगी अर्थात् वस्तुओं की माँग घट जायेगी। जिससे मनुष्य के स्वास्थ्य व उसके रहन-सहन के दर्जे पर बुरा प्रभाव पडेगा। इसके फलस्वरूप उत्पादन में भी कमी आ जायेगी और पुन एक आर्थिक सकट उपस्थित हो जायेगा। इसका तात्पर्य यह है कि मुद्रा का चलन न तो आवश्यकता से अधिक हो और न कम। इस बात का निरीक्षण, सगठन व सचालन देश का केन्द्रीय बैंक करता है।

यदि बैंक नोट छापकर प्रचलित करें तो देश की आर्थिक स्थिति की जाँच तथा उसकी मुद्रा की आवश्यकता इत्यादि की उचित व्यवस्था हो सकना सम्भव नही है। यदि अन्य व्यापारी बैंको को नोट छापने का अधिकार दे दिया जाय तो अनेक प्रकार के नोट चलन मे आ जायेंगे और साधारण मनुष्य के लिए यह जानना असम्भव हो जायेगा कि कौन नोट ठीक है और कौन जाली है। दूसरी ओर यदि जनता नोटो के बदले मे धातु की मुद्रा की माँग करे और व्यापारी बैंक इस माँग की पूर्ति न कर सकें तो उस बैंक की साख टूट जायेगी। जनता का विश्वास उस पर से उठ जायेगा और बैंक फेल हो जायेगा। इसका अन्य बैंको पर बुरा प्रभाव पडता है। इसलिए नोट छापने व प्रचलित करने का अधिकार केवल केन्द्रीय बैंक को दिया गया है जो इन सब कमियो को ध्यान मे रखकर नोट छापता व उन्हे प्रचलित करता है। इससे आर्थिक सकटो की सम्भावना कम रहती है और बैंक पर लोगो का विश्वास बना रहता है।

देश मे साख का कार्य कई विधियो व साधनो से—बिल, हुण्डी, ड्राफ्ट इत्यादि के द्वारा किया जाता है। केन्द्रीय बैंक का ऋण लेने की इन सब द्वारा विधियो पर पूरा नियन्त्रण रखना आवश्यक है। इसका अर्थ यह है कि केन्द्रीय बैंक को द्रव्य की कुल पूर्ति पर नियन्त्रण रखना होता है। इसके लिए उसे मुख्यतया दो विधियो का अनुसरण करना पडता है। (१) बैंक की सूद की दर सम्बन्धी नीति और (२) खुले बाजार मे सिक्योरिटियो का क्रय-विक्रय।

बैंक की दर (Bank Rate)—यह ब्याज की उस दर को कहते हैं जिसपर केन्द्रीय बैंक अन्य बैंको को ऋण दिया करता है। केन्द्रीय बैंक के इस दर के आधार पर ही अन्य बैंक ऋण देते व अन्य लेन-देन के कार्य करते हैं। ब्याज की दर का प्रभाव प्रत्येक ऋण लेने वाले पर पड़ता है। यदि ब्याज की दर अधिक है तो ऋण कम लिया जायेगा और ब्याज की दर कम है तो ऋण अधिक लिया जायेगा। जब केन्द्रीय बैंक साख बढाना चाहता है तो ब्याज की दर कम कर देता है। इसके फलस्वरूप अन्य बैंको की ब्याज की दर भी कम होगी और इससे व्यापारी वर्ग, उद्योग-पतियो को ऋण लेने के लिए प्रोत्साहन मिलता है। यदि केन्द्रीय बैंक साख का सकुचन करना चाहता है तो ब्याज की दर बढा देता है। अन्य बैंक भी इसी दर के आधार पर अपने ब्याज की दर बढाते है और इसका परिणाम यह होता है कि व्यापारी व उद्योगपति बैंको से ऋण लेना कम कर देते है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक की ब्याज की दर निश्चित करने की नीति का प्रभाव देश के सारे बैंको व उनके लेन-देन के कार्यो पर पडता है। यह नीति साख को बढाने व घटाने का एक महत्वपूर्ण साधन है।

इस नीति का प्रभाव पूंजी की गतिशीलता (Capital Movement) पर पडता है। यदि किसी देश के भुगतान आधिक्य (Balance of Payment) मे कमी हो जाती है अर्थात् किसी एक देश को विदेश से कम मात्रा में पूंजी प्राप्त करनी है और पूंजी का भुगतान अधिक मात्रा में करना पडता है, तब प्राय उस देश का केन्द्रीय बैंक अपने देश मे ब्याज की दर बढा देता है। इससे विदेशी पूंजी उसकी ओर आकर्षित होती है और इस प्रकार वह देश अपने घाटे की पूर्ति कर लेता है। यदि विदेशी पूंजी की मात्रा अपने देश में कम करनी हो तो केन्द्रीय बैंक ब्याज की दर कम कर देता है। विदेशी पूंजीपति अपनी पूंजी को उस देश से निकाल कर ऐसे देशो में लगाना चाहेंगे जहाँ ब्याज की दर अधिक हो। इस प्रकार विदेशी पूंजी की मात्रा अपने देश में कम व अधिक करने के लिए भी इस नीति का बडा महत्व है।

परन्तु कुछ कारणो से केन्द्रीय बैंक की इस नीति का प्रभाव कम हो गया है। केन्द्रीय बैंक की ब्याज की नीति की पूर्ण सफलता के लिए यह आवश्यक है कि यदि केन्द्रीय बैंक अपने ब्याज की दर मे वृद्धि करे तो अन्य बैंक भी अपने ब्याज की दर, हुण्डी या बिल इत्यादि भुनाने की दर बढा दे। यदि केन्द्रीय बैंक अपने ब्याज की दर घटा दे तो अन्य बैंक भी अपनी ब्याज की दर उसी आधार पर घटा दें। १९३१ तक ब्रिटेन के केन्द्रीय बैंक व अन्य बैंको की दरो मे इस प्रकार का सम्बन्ध था; परन्तु अब वहाँ भी यह सम्बन्ध नही रहा है। भारत मे इस प्रकार का कोई सम्बन्ध था ही नही। यद्यपि केन्द्रीय बैंक के ब्याज की दर मे

परिवर्तन करने से अन्य व्याज की दरों पर कुछ प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है; परन्तु आवश्यकतानुसार उसका वाछित प्रभाव न पड सकने के कारण केन्द्रीय बैंक की इस नीति का प्रभाव कम हो गया है।

भारतवर्ष मे १९३५ से सस्ते दर की नीति (Cheap Money Policy) अपना ली गयी है। यह पहले से ही निश्चय कर लिया गया है कि केन्द्रीय बैंक की व्याज की दर कम रखी जायेगी। इसके फलस्वरूप व्याज की दर मे बढती हो सकना लगभग असम्भव है। इससे केन्द्रीय बैंक की व्याज की दर घटाने-बढाने की नीति का अधिक महत्व नही रहा।

आजकल विदेशी पूंजी की गतिशीलता मे प्रतिबन्ध लगे हुए है। यदि एक देश का केन्द्रीय बैंक व्याज की दर बढा भी दे तो वह अन्य देशो की पूंजी को उक्त प्रतिबन्धो के कारण आकर्पित नही कर सकता है। यदि आकर्पित कर भी ले तो विदेशी पूंजीपतियो को इसकी स्थिरता पर विश्वास नही हो पाता है। इस कारण भी केन्द्रीय बैंक की उक्त नीति के प्रभाव में कमी आ गयी है।

Open Market Operations '—खुले बाजार में सिक्योरिटियो का क्रय-विक्रय करके केन्द्रीय बैंक देश में सन्तुलित आर्थिक व्यवस्था स्थापित करता है। केन्द्रीय बैंक के पास व्यक्तिगत, सस्था व सरकार की सिक्योरिटियाँ रहती है। जब देश में साख बढानी है या मुद्रा का अधिक चलन करना है तो केन्द्रीय बैंक इस प्रकार की सिक्योरिटियाँ खरीद लेता है। इसके फलस्वरूप व्यापारियो के पास नकद मुद्रा की मात्रा बढ जाती है और वे उसे बैंको मे जमा कर देश में ऋण व साख के प्रचलन मे वृद्धि करने में सहायक बन जाते है या स्वय ही अपनी आवश्यकता की पूर्ति में उसका उपयोग कर सकते है। यदि बैंक अपनी सिक्योरिटियो को बेचें तो उनकी ऋण देने की शक्ति बढ जाती है, इस प्रकार मुद्रा के प्रसार मे वृद्धि की जा सकती है। यदि केन्द्रीय बैंक मुद्रा प्रसार में सकुचन लाना चाहता है तो वह प्राय सिक्योरिटियो को बेचना प्रारम्भ कर देता है। इस क्रिया से वह बैंको व व्यक्तियो के पास से अवाछित मुद्रा की मात्रा अपने कोप मे एकत्र कर लेता है। लोगो और बैंको के पास नकद द्रव्य कम होने से देश में साख के चलन में कमी आ जायेगी।

परन्तु यह विधि व्यवहार में अत्यन्त कठिन है। यदि देश में मुद्रा प्रसार करने या साख बढाने के उद्देश्य से केन्द्रीय बैंक सिक्योरिटियाँ खरीदना चाहें तो बहुत सम्भव है कि बेची जाने वाली सिक्योरिटियाँ केन्द्रीय बैंक के उपयोग की न हो या जब केन्द्रीय बैंक सिक्योरिटियाँ बेचता है तब

उसके खरीदनेवाले न मिलें। इससे साख व्यवस्था को वहुत हानि होता है और केन्द्रीय बैंक की नियन्त्रण रखने की शक्ति मे ह्रास हो जाता है।

वर्तमान में केन्द्रीय बैंको के कोष मे अधिकतर सिक्योरिटियाँ सरकारी हैं। यदि वे सब सिक्योरिटियाँ वेची जाँय तो सरकारी साख को धक्का लगने की सम्भावना है। इससे भी स्पष्ट होता है कि केन्द्रीय बैंक की खुले वाजार में क्रय-विक्रय करने की नीति उतनी शक्तिशाली नही है।

यदि व्यापारिक बैंको और व्यक्तियो के पास द्रव्य-प्राप्ति और प्रसार के प्रचुर साधन हो तो केन्द्रीय बैंक की खुले वाजार में सिक्योरिटियो के क्रय-विक्रय करने की नीति का वाछित प्रभाव नही पडता है। इस नीति के प्रयोग में यदि व्यापारिक बैंको व अन्य व्यक्तियो का सहयोग केन्द्रीय बैंक को प्राप्त न हो तो यह नीति असफल हो सकती है। अतएव साख के चलन पर नियन्त्रण रखने के लिए केन्द्रीय बैंक को अन्य बैंको व सस्थाओ का पूर्ण सहयोग प्राप्त करना अनिवार्य है।

Banker's Bank :—केन्द्रीय बैंक सकट के समय अन्य बैंको की रक्षा करता है। प्राय देश में अनेक बैंक होते है जो खास व्यापार चलाते है। सबके व्यापार-कार्य का आधार साख ही होता है।

यदि किसी बैंक पर कुछ सकट आ जाये और उसके सदस्य उससे अपना द्रव्य वापस माँगना आरम्भ कर दें तो ऐसी अवस्था मे वह बैंक केन्द्रीय बैंक से सहायता ले सकता है और इस अस्थायी सकट से मुक्त हो सकता है। साधारणतया अन्य बैंक लेन-देन के लिए प्राय १०% नकद द्रव्य ही अपने कोष मे रखते है और नियमानुसार अपनी कुल सम्पत्ति का एक निश्चित भाग केन्द्रीय बैंक मे सुरक्षित रखते है। केन्द्रीय बैंक इस सुरक्षित कोष के आधार पर सकट के समय उस बैंक को ऋण देता है और उसकी सरकारी सिक्योरिटियो, बिलो इत्यादि को खरीद लेता है और प्राप्त द्रव्य से बैंक अपने सदस्यो की माँग का भुगतान कर अपनी ठोस आर्थिक स्थिति के प्रति विश्वास पैदा कर सकता है। व्यापारिक बैंको के सिवाय अन्य बैंको को केन्द्रीय बैंक की सहायता की कम आवश्यकता पड़ती है, क्योकि उनका लेन-देन दीर्घकालीन होता है। व्यापारिक बैंक अल्पकालीन लेन-देन करते है और केन्द्रीय बैंक से अधिक सहायता लिया करते है। इस दृष्टि से केन्द्रीय बैंक अन्य बैंको की सहायता करने का महत्वपूर्ण कार्य करता है।

यदि एक बैंक भी फेल हो जाता है अर्थात् माँग करने पर अपने सदस्यो के जमा-द्रव्य का भुगतान नही कर पाता है तब अन्य बैंको को भी इससे हानि होती है। केन्द्रीय बैंक इनकी सहायता का अन्तिम आधार

होने के कारण इन बैंकों पर सदा निरीक्षण करना रहता है। अन्य बैंकों के लिए यह आवश्यक है कि वे सब केन्द्रीय बैंकों को अपनी आर्थिक स्थिति, लेन-देन इत्यादि की पूर्ण सूचना देते रहें जिनके अध्ययन के आधार पर केन्द्रीय बैंक अपनी नीति निर्धारित करते हैं। यदि कोई बैंक जिसकी आर्थिक स्थिति ठीक है अस्थायी रूप से संकट में पड़ गया हो तो केन्द्रीय बैंक से सहायता की आशा कर सकता है परन्तु यदि उसकी आर्थिक स्थिति नियमानुसार न रखने से दुर्बल पड़ गयी हो तो उसे सहायता की कम आशा होती है और वह उस संकट में समाप्त हो जाता है।

राजकीय बैंक (State Banker)—राजकीय बैंक के रूप में केन्द्रीय बैंक अनेक महत्वपूर्ण कार्य करता है। अन्य बैंकों का तथा राज्य का देश-विदेशों से आर्थिक लेन-देन होने से यह ऋण के सूद व मितिकाटे इत्यादि की दर निश्चित करता है। भारत का केन्द्रीय बैंक स्टर्लिंग की समस्याओं, दरों व द्रव्य के मूल्य इत्यादि का निरीक्षण करता है और इन पर नियन्त्रण रखता है। अधिकतर राज्य को जब किसी योजना के लिए या किसी अन्य आकस्मिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए जनता से ऋण लेने की आवश्यकता पड़ती है तब केन्द्रीय बैंक ही इस ऋण की वसूली करता है। राज्य का लगान वसूल करने का कार्य व राज्य के लेन-देन का हिसाब रखने का कार्य भी केन्द्रीय बैंक ही करता है। राज्य के द्रव्य सम्बन्धी सभी कार्यों के करने के कारण इसे राजकीय बैंक भी कहा जाता है।

बैंकों के कार्य

यह तो सर्वविदित है कि बैंक द्रव्य का लेन-देन करते हैं; परन्तु यदि बैंकों की लेन-देन की इस क्रिया का सूक्ष्म निरीक्षण करें तो निम्न बातें ज्ञात होती हैं।

केन्द्रीय बैंक को छोड़कर अन्य सब बैंक तीन प्रकार के कार्य करते हैं—

(१) द्रव्य जमा करना,

(२) साख के आधार पर ऋण देने का कार्य,

(३) मूल्यवान् वस्तुओं, सिक्योरिटियों इत्यादि की सुरक्षा और ट्रस्टी इत्यादि का कार्य।

सर्वप्रथम हम बैंकों के द्रव्य जमा करने के कार्य का अध्ययन करेंगे। अधिकांश जनता अपनी बचत को बैंकों में जमा करती है। इसका मुख्य कारण यह है कि यदि बचत को घर में ही जमा किया जाय तो शीघ्र से शीघ्र उसका व्यय हो जाना बहुत सम्भव है। द्रव्य घर में रखकर व्यक्ति आवश्यक और अनावश्यक वस्तु पर व्यय करने के पहले गंभीरता से उस पर नहीं सोचता है। दूसरा कारण यह है कि बचत इसीलिये की

जाती है कि वह सुरक्षित रहे और भविष्य में आवश्यकता के समय उसका उपयोग किया जा सके। घर मे अधिक मात्रा मे द्रव्य रखने से चोर-डाकुओ का भय लगा रहता है। अतएव उसकी पूर्ण सुरक्षा नही हो सकती। बैंक इन दोनो शकाओ से अधिकतर मुक्त होता है। व्यक्ति के बचत करने का एक उद्देश्य यह भी होता है कि आवश्यकता पर जितनी माँग की जाय उतना द्रव्य सरलता से प्राप्त हो सके और बचत पर कुछ लाभ भी हो। बैंक मे इसकी भी पूर्ण व्यवस्था रहती है। इसलिये व्यक्तियों को अपनी बचत अधिकतर बैंको में ही जमा करनी चाहिये।

बैंक द्रव्य जमा करने में अपने लाभ और सदस्यो की सुविधाओ का पूरा ध्यान रखते है। बहुत से सदस्य अल्पकाल के लिए अपना द्रव्य जमा करते है और आवश्यकता पडने पर द्रव्य निकाल लेते है। कुछ सदस्य दीर्घकाल के लिए अपना द्रव्य बैको में जमा कर देते है। कुछ सदस्य ऐसे भी होते है जो अधिक मात्रा में द्रव्य जमा कर सकते है और कुछ कम मात्रा मे। इसलिये बैंक ने सदस्यो की व अपनी सुविधा के अनुसार जमा खाते को तीन मुख्य भागो में बाँटा है :—

(अ) अस्थायी जमा-खाते (Current Account)

(ब) स्थायी जमा-खाते (Fixed Account)

(स) सेविंग बैंक के खाते (Saving Bank Account)

(अ) अस्थायी जमा-खाते —इस खाते में अधिकतर वे ही सदस्य द्रव्य जमा करते है जिन्हे अल्पकाल में ही उस द्रव्य की आवश्यकता होती है। बैंक इस खाते के द्रव्य की अधिकाश मात्रा को अपने कोष में सुरक्षित रखते है; क्योकि सदस्य की माँग पर यह पूरा द्रव्य उसको दे देना बैंक के लिए अनिवार्य होता है। इसी कारण बैंक इस द्रव्य मे से उद्योगपतियो को या अन्य योजनाओ के लिए दीर्घकाल के लिए ऋण नही दे सकता है। इसी के फलस्वरूप उद्योग-बैंक और भूमि-बन्धक बैको का निर्माण हुआ। दीर्घकालिक ऋण न दे सकने और अधिक खतरे के कार्यों में इसको न लगा सकने के कारण इस द्रव्य से बैंक को अधिक लाभ नही होता है और इसीसे वह अपने सदस्यो को सूद भी बहुत कम देता है। भारत का इम्पीरियल बैंक इस खाते पर कुछ भी सूद नही देता है।

(ब) स्थायी जमा-खाता :—इस खाते में द्रव्य दीर्घकाल के लिए जमा किया जाता है। बैंक इस द्रव्य को बड़ी योजनाओं में या बडे उद्योग-धन्धों मे लगा सकते है जिससे उन्हें अधिक लाभ हो सकता है। बैंक इस कारण इस खाते में जमा द्रव्य पर सूद भी अधिक देते है। इससे बैंक और सदस्य दोनो का लाभ होता है। यदि सदस्य इस द्रव्य को बैंक

से निकालना चाहे तो उसे इसकी सूचना बैंक को एक निश्चित समय से पहले दे देनी पडती है जिससे उस समय तक बैंक द्रव्य के भुगतान का प्रबन्ध कर सके।

(स) सेविंग बैंक —यह बैंक प्राय. निर्धनो का बैंक है। जो लोग बहुत थोडी मात्रा मे द्रव्य बचा सकते है वे उस थोडी मात्रा को इस बैंक में जमा कर सकते हैं। भारतवर्ष में इसका कार्य प्राय डाकखाने के द्वारा होता है। इस खाते मे जमा द्रव्य सप्ताह मे एक वार निकाला जा सकता है। बैंक इस द्रव्य पर स्थायी जमा-खाते की तरह सूद भी देता है। अतएव सेविंग बैंक खाता न अस्थायी जमा खाता है और न स्थायी। यह इन दोनो के बीच का है। इसका मुख्य कारण है इसका उद्देश्य। सेविंग बैंक का उद्देश्य निम्न मध्यवर्ग व निर्धनो मे द्रव्य जमा करने या वचत करने की प्रवृत्ति उत्पन्न करना है। इस प्रवृत्ति से देश की आर्थिक उन्नति मे बडी सहायता मिलती है तथा रहन-सहन के दर्जे में भी प्रचुर प्रभाव पडता है। भारतवर्ष में यह अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही है। राज्य को इसके विकास की ओर अधिक ध्यान देना चाहिये ; क्योकि देश की अधिकतम जनसख्या केवल इसी बैंक से आसानी के साथ अपना सम्बन्ध जोड सकती है।

बैंक ऋण देते है और बडे-बडे उद्योगो में द्रव्य लगाते है। इसका कुछ विवेचन पूर्व के पृष्ठो में किया जा चुका है। व्यापारी बैंक किसी मूल्यवान वस्तु को गिरवी रखकर ही ऋण दे सकते है या तो सोना चाँदी या सोने चाँदी के जेवर गिरवी रखकर ऋण देते है। यदि किसी व्यक्ति के पास सरकारी सिक्योरिटियाँ है तो उनके आधार पर भी ऋण दिया जाता है। यदि किसी व्यक्ति का बैंक मे स्थायी खाता हो तो बैंक उसके आधार पर ऋण दे सकता है। उद्योग-धन्धो के लिए आवश्यक कच्चे माल को अपने गोदाम में सुरक्षित रखकर ये बैंक व्यापारियो को ऋण देते हैं।

बैंको के ऋण देने की कई विधियाँ है। ऋण लेने वाला यदि चाहे तो बैंक से नकद रुपया ले सकता है और उस नकद रुपये से अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति कर सकता है, व्यापार मे लगा सकता है या सट्टे मे लगा सकता है और जितने समय के लिए ऋण लिया है उसके पूरे होने पर ऋण का रुपया वापस कर दे। यदि ऋण लेने वाला व्यक्ति नकद रुपया ऋण न ले और उसका बैंक मे अस्थायी खाता हो तो बैंक की स्वीकृति पर वह अस्थायी खाते पर अपने जमा किये हुए द्रव्य से अधिक द्रव्य का चेक (Overdraft) काट सकता है। जब वह अपने अस्थायी खाते में और अधिक द्रव्य जमा कर दे तो यह ऋण

चुकाया जा सकता है। व्यापारी एक स्थान से दूसरे स्थान पर माल भेजने में हुण्डी का प्रयोग करते हैं। सामान भेजने वाला चाहता है उनको सामान का मूल्य तुरन्त मिल जाय। परन्तु यदि सामान खरीदने वाला मूल्य तुरन्त न चुका सके तो वह अपने बैंक से ऐसा प्रबन्ध करता है कि वह उस हुण्डी पर स्वीकृति दे दे और सामान भेजने वाला हुण्डी का रुपया सिकारने पर अपने बैंक से ले ले। इस प्रकार सामान बेचने वाले को मूल्य तुरन्त मिल जायेगा और उसका बैंक सामान खरीदने वाले के बैंक से नियत समय पर रुपया ले लेगा। हुण्डी के आधार पर इस प्रकार ऋण देने से व्यापार में बहुत सहायता मिलती है। इस प्रकार व्यापारी बैंकों का ऋण-कार्य अल्पकालीन होता है।

ये बैंक दीर्घकाल के लिए द्रव्य उद्योगों में नहीं लगा सकते हैं; क्योंकि एक निश्चित समय से पहले उस द्रव्य को वापस लेने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पडता है। ऐसे बैंकों में जमा किया हुआ द्रव्य अधिकतर अस्थायी खाते में जमा द्रव्य होता है जिसकी बैंक से कभी भी माँग की जा सकती है। यदि उद्योगों में अथवा कृषि सम्बन्धी योजनाओं में यह बैंक अपना द्रव्य लगा दें तो एक निश्चित समय तक के लिए ये बैंक द्रव्य की बहुत कमी का अनुभव करेंगे, अपने सदस्यों को माँग करने पर पर्याप्त मात्रा में उनके जमा द्रव्य का भुगतान नहीं कर सकेंगे जिसके फलस्वरूप सदस्यों का इस प्रकार के बैंकों से विश्वास उठ जायेगा और इन पर संकट आने की सम्भावना हो सकती है। इसी कारण दीर्घकालिक ऋण सम्बन्धी कार्य के लिए औद्योगिक बैंक और भूमि-बन्धक बैंकों का निर्माण हुआ। जर्मनी में एक बार इसी प्रकार के मिले-जुले बैंकों (Mixed Banks) का चलन हुआ जो वास्तव में व्यापारी बैंक थे; परन्तु उद्योगों में दीर्घकालिक ऋण देने का कार्य भी करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि वहाँ के अधिकाश बैंक कठिनाइयों मे पड गये और वहाँ की आर्थिक व्यवस्था को बडा धक्का पहुँचा। भारतवर्ष के निवासियों को अभी बैंकिंग का काफी अनुभव नहीं हुआ है। यदि कोई व्यापारी बैंक किसी उद्योग में कुछ रुपया दीर्घकाल के लिए ऋण दे दे और अकस्मात् उद्योग-योजना असफल हो जाय तो बैंक के सदस्यों में एक प्रकार का भय फैल जाता है और प्रत्येक उस बैंक से अपने जमा द्रव्य की माँग करने लगता है; जिसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि उद्योग के साथ ही बैंक भी समाप्त हो जाता है। भारत मे दीर्घकालिक ऋण देने के लिए एक केन्द्रीय इण्डस्ट्रियल फाइनैन्स कारपोरेशन नाम की सस्था का निर्माण किया गया है। परन्तु यह सब कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि भारतीय व्यापारिक बैंकों ने राष्ट्रीय उद्योगों में द्रव्य नहीं लगाया है। सत्य यह है कि उन्होंने

उद्योगो और बडी योजनाओ मे जितना भी द्रव्य लगाया है वह अल्प-कालिक है और जिसकी वसूली आवश्यकता पडने पर की जा सकती है।

साख के निर्माण का कार्य (Creation of Credit)—मनुष्य अपनी बचत को बैंको मे जमा कर देते है जिससे भविष्य मे वे उसे आसानी से प्राप्त कर सके, वह सुरक्षित रहे और उस पर सूद भी मिले। बैंक यह सब कार्य करता है। बैंक का ध्येय नफा कमाना है। यदि यह द्रव्य बैंक अपने पास ही रखा रहने दे तो उससे कुछ लाभ प्राप्त नही हो सकता। मान लिया जाय कि किसी एक व्यक्ति ने बैंक में १,००० रुपया नकद जमा किया। यदि बैंक यही १,००० रुपया किसी को ऋण दे दे तो उससे अधिक आमदनी नही हो सकती है। इन १,००० रुपयो के आधार पर बैंक इससे कही अधिक मात्रा मे ऋण दे सकता है। बैंक के इसी कार्य को साख का निर्माण करना कहते है। पश्चिमी देशो मे बैंको ने यह अनुभव किया है कि जमा करने वाले औसतन किसी समय मे अपने जमा द्रव्य का १०% से अधिक द्रव्य बैंक से नही निकालते है। इसलिये यदि बैंक इन १,००० रुपयो में से १०० रुपया अपने पास नकद रख ले तो वह आवश्यकता पडने पर अपने सदस्यो की द्रव्य की माँग पूरी कर सकता है। १०० रुपया अपने पास जमा रखने के बाद जो ९०० रुपये शेष रहे उनके आधार पर बैंक साख का निर्माण करता है। जिस प्रकार १,००० रुपये की जमा (Deposit) पर बैंक ने केवल १०० रुपये अपने कोष में रखे, उसी प्रकार यदि बैंक किसी व्यक्ति को १,००० रुपयें का ऋण (Loan) दे दे तो भी समय पडने पर इसका भुगतान करने के लिए केवल १०० रुपयो की ही आवश्यकता पडेगी। इस प्रकार ९०० नकद रुपयो के आधार पर बैंक ९ हजार रुपयो का ऋण दे सकता है। बैंक ने जो ९ हजार रुपया ऋण दिया उसको यदि ऋण लेने वाले अपने अस्थायी खाते में जमा कर दें तो ऋण के आधार पर बैंक के जमा खाते में उतनी वृद्धि हो गयी (In this way loans create deposits) ।

बैंक के साख के निर्माण-कार्य के लिए दो बातो का होना आवश्यक है। यदि कोई व्यक्ति बैंक से ऋण लेने के लिए तैयार न हो तो चाहते हुए भी बैंक साख का निर्माण नही कर सकता है। परन्तु क्योकि प्रत्येक समय व्यापारी अपने कार्य के लिए बैंक से ऋण लेने के लिए उद्यत रहते है इसलिये उक्त स्थिति उपस्थित नही होती है। यह अवश्य होता है कि कभी ऋण लेने वाले अधिक होते है और कभी कम और उसी मात्रा मे बैंक की साख निर्माण करने की शक्ति घटती-बढती जाती है। साख के निर्माण के लिए दूसरी आवश्यक बात यह है कि देशवासियो मे चेक

की प्रथा प्रचलित हो और प्रत्येक व्यक्ति का बैंक मे जमा-खाता हो। यदि ऐसा नही है तो बैंक ९०० रुपयो के आधार पर ९ हजार रुपयों का ऋण कदापि नही दे सकता है। यदि प्रत्येक ऋण लेनेवाला कुल रुपया नकद लेना चाहे तो बैंक ९०० रुपयो के आधार पर केवल ९०० रुपयो का ही ऋण दे सकता है और इसको साख निर्माण करने का कार्य नही कहा जा सकता है। यह कार्य साधारण लेन-देन के कार्य की श्रेणी में आता है। परन्तु यदि ऋण लेने वाला द्रव्य को अपने खाते मे जमा कर दे और उसके आधार पर अन्य व्यक्तियो को चेक से भुगतान करे और वह चेक पानेवाले व्यक्ति भी इन चेको को अपने खाते में जमा कर दे तो बिना नकद रुपयो की आवश्यकता के बैंक के खाते मे जमा-खर्च से ही कार्य पूरा हो जाता है। इस स्थिति में जो कार्य नकद रुपया करता है, वह बैंक के जमा-खर्च के खाते से पूरा हो गया। बैंक के साख के निर्माण करने के कार्य से देश मे कुल नकद द्रव्य के प्रसार मे इस प्रकार वृद्धि हो जाती है।

Bank Clearing —साख के निर्माण मे Bank Clearing का विशेष महत्व है। व्यक्तियो के खाते भिन्न भिन्न बैंको में होते है। जब किसी को भुगतान मे चेक मिलता है और वह उसको अपने बैंक के खाते में जमा करता है तो यह बैंक इस चेक को Clearing के समय प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार जो चेक अन्य बैंको को प्राप्त हुए है वह उनको प्रस्तुत करते है। इस प्रकार बिना नकद रुपयो के व्यवहार के बैंको में जमा-खर्च के हिसाब से कार्य पूरा हो जाता है। मान लीजिये कि एक बैंक अ ने दूसरे बैंक ब के ऊपर १० हजार रुपये के चेक प्रस्तुत किये और ब ने भी बैंक अ के ऊपर इतने ही द्रव्य के चेक प्रस्तुत किये तो इन्ही दोनो बैंको के खातो मे जमा-खर्च होकर हिसाब पूरा हो गया। परन्तु यदि अ ने १० हजार रुपये के चेक प्रस्तुत किये और ब ने १२ हजार रुपयों के तो २ हजार रुपये केन्द्रीय बैंक मे बैंक अ के हिसाब मे से कम करके बैंक ब के हिसाब मे जोड दिये जायेंगे। इस प्रकार Bank Clearing से साख के निर्माण मे उपयुक्त सुविधा मिलती है।

भारतवर्ष की जनता चेको से अधिक नकद द्रव्य पर विश्वास करती है और जितनी शीघ्र हो सके चेक को भुनाने का प्रयत्न करती है। इससे बैंको को द्रव्य अधिकतर नकद रूप में रखना पड़ता है और वह उसका प्रयोग व्यापार ऋण इत्यादि में नही कर सकते है जिससे साख का निर्माण करने मे भारतीय बैंको की शक्ति बहुत क्षीण है। जिसका प्रभाव भारत के सारे आर्थिक ढाँचे पर पडता है।

वैंको से लाभ —आधुनिक सभ्यता मे वैंको का एक महत्वपूर्ण स्थान है। देश की आर्थिक स्थिति की माप वहाँ के वैंको की संख्या व उनकी सम्पत्ति के द्वारा सरलता से की जा सकती है। मनुष्य का सीमित दृष्टि-कोण अव अन्तर्राष्ट्रीय रूप ले चुका है। उसकी आवश्यकताएँ एक ही देश की उत्पादित वस्तुएँ नही कर सकती है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य का कार्यक्षेत्र अव राष्ट्र की सीमा लाँघ कर अन्तर्राष्ट्रीय हो चुका है। वैंक ही इस दृष्टिकोण की सफलता के मुख्य आधार है। वैंक अपने जमा-खाते के रूप मे राष्ट्र के धन की रक्षा करते है। उसको एकत्र करके देश की प्रगति में सहायक वनाते है, उसमे वृद्धि करते है जिससे वैंक के सदस्यो व ग्राहको के साथ ही सम्पूर्ण सामाजिक जीवन पर इसका अच्छा प्रभाव पडता है।

वैंको के द्वारा देश मे धन वचाने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। थोडा-थोडा करके पर्याप्त मात्रा में धन एकत्रित हो जाता है जिसका उपयोग राष्ट्र के निर्माण-कार्य में किया जा सकता है। वडे वडे उद्योग-धन्धे स्थापित किये जा सकते है जिससे देश में उत्पादन वढता है। कृषि सम्वन्धी सिंचाई इत्यादि की अनेक योजनाओं को कार्यरूप मे परिणत किया जा सकता है।

पहले विनिमय कार्य स्वर्ण, रजत इत्यादि वहुमूल्य धातु की मुद्राओ मे किया जाता था, जिससे वहुत-सी वहुमूल्य धातु घिस कर नष्ट हो जाती थी। वैंको के स्थापित होने से वहुमूल्य धातु-मुद्रा का प्रयोग काफी कम हो गया है और इसके वदले कागजी मुद्राओ या चेको का प्रयोग किया जाता है। ये कागजी मुद्राएँ एक स्थान से दूसरे स्थान पर आसानी से ले जाई जा सकती है। वहुमूल्य धातु की रक्षा देश की समृद्धि में वहुत सहायक होती है।

राष्ट्र के एक स्थान का दूसरे स्थान से व्यापार-सम्वन्धी कार्य वहुत सरल हो गया है। वहुत कम व्यय पर अधिक से अधिक मात्रा में द्रव्य राष्ट्र के एक कोने से दूसरे कोने में भेजा जा सकता है। इससे जनता की क्रय-शक्ति में वृद्धि हुई है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी व्यापार में, विदेश भ्रमण करने में तथा अन्य प्रकार के लेन-देनो में वैंको से पर्याप्त सहायता मिलती है।

इससे स्पष्ट है कि देश मे वैंको का होना, उनकी समृद्धि और जनता का उनपर विश्वास देश के आर्थिक जीवन में एक क्रान्ति ला सकते है। परन्तु खेद है कि भारतवर्ष इस पक्ष में दूसरे देशो से वहुत पीछे है।

अभ्यास के प्रश्न

१ बैंक की परिभाषा कीजिये और व्यापारी बैंक के कार्यों का वर्णन कीजिये।

२. बैंक कितने प्रकार के होते है? प्रत्येक की विशेषताओ का वर्णन कीजिये।

३. व्यापारी बैंक साख का निर्माण किस प्रकार करते हैं?

४. इस बात को स्पष्ट रीति से समझाइये कि व्यापारी बैंक अपनी पूंजी से कही अधिक लेन-देन का काम किस प्रकार करते है।

५. केन्द्रीय बैंक अन्य बैंको से किस प्रकार भिन्न है? संक्षेप मे केन्द्रीय बैंक के मुख्य कार्यों का वर्णन कीजिये।

अध्याय २७

भारतीय बैंक

भारत मे बैंक का कार्य प्राचीन समय मे होता आया है। प्राचीन समय मे महाजन, सर्राफ इत्यादि लोगो को सूद पर रुपया ऋण मे दिया करते थे। बैंको की आधुनिक रूप-रेखा का आरम्भ ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय से होता है। जैसे-जैसे उनका व्यापार बढ़ता गया उनको अधिक रुपयो की आवश्यकता हुई। उनकी माँग की कुल पूर्ति ये छोटे-बड़े महाजन नही कर पाते थे। इसलिये उनके उद्योग से भारत में पहले प्रेसिडैन्सी बैंक स्थापित किये गये।

सन् १८०६ में भारत मे पहला प्रेसिडैन्सी बैंक 'बंगाल-बैंक' के नाम से खुला। इसके पश्चात् बम्बई और मद्रास में भी प्रेसिडैन्सी बैंक खुले। ये तीन बैंक मिलकर नोट छापते व उन्हें प्रचलित करते थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी को जब रुपया ऋण लेने की आवश्यकता होती थी तो ये बैंक उसके लिए ऋण वसूल करते थे तथा उसके व्यापार-कार्य में आवश्यकतानुसार रुपया लगाते थे। परन्तु १८६२ में इन तीनों बैंको का नोट छापने व उनका प्रचलन करने का अधिकार सरकार ने स्वय ले लिया। ये बैंक इसके पश्चात् भी सरकार के विदेशी भुगतान व खजाने सम्बन्धी कार्य करते रहे। यद्यपि ये केन्द्रीय बैंक तो नहीं कहे जा सकते थे, तथापि ये अधिकतर केन्द्रीय बैंको का ही कार्य करते थे। इन पर सरकार अपना नियन्त्रण रखती थी।

सन् १९२० में इन तीनो बैंको को मिलाकर इम्पीरियल बैंक का निर्माण किया गया। यह नोट छापने के अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक के अन्य सारे कार्य किया करता था। द्रव्य जमा करना, ऋण देना, सरकार को आर्थिक सहायता देना, विदेशी भुगतान व आन्तरिक साख सम्बन्धी व्यवस्था का निरीक्षण, सगठन व सचालन इत्यादि ये सब कार्य इम्पीरियल बैंक करता था। १९२० से १९३५ तक इम्पीरियल बैंक केन्द्रीय बैंक के स्थान पर कार्य करता था; परन्तु १९३५ में भारतवर्ष में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का निर्माण हुआ जो तब से केन्द्रीय बैंक का कार्य करता है; फिर भी इम्पीरियल बैंक का भारतीय व्यापारी जनता पर काफी प्रभाव है।

भारत का रिजर्व बैंक

भारत का रिजर्व बैंक आरम्भ में हिस्सेदारों का बैंक था। हिस्सेदारों से प्राप्त हुई इसकी कुल पूंजी पाँच करोड रुपये थी। इनके प्रत्येक हिस्से का मूल्य १०० रुपये था, जो हिस्सा खरीदते समय ही पूरा चुकाना पड़ता था। भारत सरकार ने इसके रिजर्व कोष की कुल पूंजी ५ करोड रुपये बनायी। भारत का रिजर्व बैंक इस रूप में १९३५ में स्थापित किया गया। १९३५ से १९४९ तक यह बैंक हिस्सेदारों का बैंक ही रहा। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पश्चात् भारत की राष्ट्रीय सरकार ने १ जनवरी १९४९ को इसका राष्ट्रीयकरण कर दिया। इस कारण अब इस बैंक की हिस्सेदार केवल भारतीय सरकार है।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट के अनुसार इस बैंक के दो विभाग बनाये गये—(१) निर्गम विभाग (Issue Department) और (२) बैंकिंग विभाग (Banking Department)। निर्गम विभाग ने १ अप्रैल १९३५ से अपना कार्य आरम्भ कर दिया और बैंकिंग विभाग का कार्य १ जुलाई १९३५ से आरम्भ हुआ।

निर्गम विभाग भारतीय रिजर्व बैंक का एक महत्वपूर्ण विभाग है। यही विभाग नोट छापकर देश में प्रचलित करता है। यह जितने रुपये के नोट छापता है उनका हिसाब रखता है। यह विभाग इस बात का विशेष ध्यान रखता है कि कुल जितने नोट छापे गये है या छापे जानेवाले है, उनकी पुष्टि (Backing) के लिए रिजर्व कोष में आवश्यक स्वर्ण, चाँदी व अन्य सिक्योरिटियाँ हो। यह एक गंभीर उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य है।

इस बैंक का बैंकिंग विभाग अन्य लेन-देन का कार्य करता है। यह बैंक की चल और अचल सम्पत्ति का हिसाब रखता है, बिल या हुण्डियो को मितिकाटे की एक निश्चित दर पर भुनता है, विदेशी भुगतान करता है और अन्तर्देशीय बैंको से रिजर्व बैंक का सम्बन्ध स्थापित किये रहता है।

रिजर्व बैंक का सबसे मुख्य कार्य है नोट छापना और देश में उनको प्रचलित करना। यह कार्य देश की अर्थ-व्यवस्था का आधार-स्तम्भ है। नियमानुसार जितने रुपये के नोटो का रिजर्व बैंक निर्गम करता है उसका ४०% भाग स्वर्ण स्वर्ण-मुद्रा, स्वर्ण पाटमान या स्वर्ण की सिक्योरिटियो में बैंक के पास सुरक्षित रहता है। इस नियम के अनुसार बैंक के रिजर्व कोष में कम से कम ४० करोड रुपये का स्वर्ण सदा सुरक्षित रहना चाहिये। शेष ६०% भाग सरकारी सिक्योरिटियो, हुण्डी इत्यादि के रूप मे रहना चाहिये। ऐसा करने की आवश्यकता इसलिये पडती है कि लोगो

को कागजी मुद्रा के चलन में विश्वास रहे और माँग की जाने पर बैंक कागजी मुद्रा के बदले स्वर्ण या धातु की मुद्रा दे सके। जब रिजर्व बैंक को अधिक सख्या में नोटो के निर्गम करने की आवश्यकता होती है और उनकी पुष्टि के लिए निर्गम विभाग में स्वर्ण इत्यादि की पर्याप्त मात्रा नही होती है, तब रिजर्व बैंक का निर्गम विभाग बैंकिंग विभाग से आवश्यक स्वर्ण या सिक्योरिटियाँ इत्यादि अपने विभाग मे ले आता है। यदि नोटो का निर्गम कम मात्रा मे करना हो तो अपने विभाग की अधिक स्वर्ण-मात्रा, सिक्योरिटियाँ इत्यादि बैंकिंग विभाग में जमा कर देता है। इस प्रकार दोनो विभाग पूर्ण सहयोग के साथ कार्य करते है।

भारत का विदेशी विनिमय प्राय स्टर्लिंग मान मे होता है। विदेशी भुगतान में स्टर्लिंग क्षेत्र का भुगतान रुपये को स्टर्लिंग में बदल कर किया जाता है। भारत सरकार के इस विदेशी-विनिमय कार्य का निरीक्षण रिजर्व बैंक किया करता है। स्टर्लिंग मान के आधार पर १ रुपया = १ शि० ६ पे० के होता है। इस मान को स्थिर रखने का उत्तरदायित्व रिजर्व बैंक पर है। इस सम्बन्ध मे एक नियम के अनुसार यदि कोई व्यक्ति स्टर्लिंग को रुपयो में बदलना चाहता है तो वह कम से कम १० हजार पाउड देकर उन्हें रुपयें मे बदल सकता है और इसी मात्रा के बराबर रुपये स्टर्लिंग में बदले जा सकते है। परन्तु इससे कम मात्रा को एक दूसरे मान में नही बदला जा सकता है; क्योकि ऐसा करने से बैंक को असुविधा होती है। इसी सिद्धान्त के आधार पर द्वितीय महायुद्ध में इगलैण्ड ने जब उसके पास रुपया नही था, भारत से रुपये प्राप्त किये और उतने ही मूल्य के पाउड रिजर्व बैंक को दे दिये। इस प्रकार भारत सरकार के नाम पर स्टर्लिंग बैलेन्स जमा हो गया। इस सारे विनिमय व्यवहार का निरीक्षण, सगठन व सचालन करने का सारा भार रिजर्व बैंक पर है। परन्तु अप्रैल १९४७ में अन्तर्राष्ट्रीय मौनेटरी फड (International Monetary Fund) नामक सस्था की स्थापना हुई। अब अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय मे आवश्यक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-मान स्थापित करने का कार्य यह सस्था करती है। अब भारत का रिजर्व बैंक प्रत्येक देश की मुद्रा खरीद व बेच सकता है। अब उसके लिए यह अनिवार्य नही है कि स्टर्लिंग को रुपये में या रुपये को स्टर्लिंग मे किसी विशेष दर पर बदलने का कार्य करे। इसके लिए उसे भारतीय सरकार के उन नियमो का अनुसरण करना पडता है जो समय-समय पर सरकार बनाती रहती है।

भारतीय रिजर्व बैंक ब्याज की एक दर निश्चित करता है और उसीके आधार पर सारे लेन-देन का कार्य चलता है। इसी निश्चित ब्याज

की दर पर वह स्वीकृत सिक्योरिटियो को खरीदता, वेचता है, सरकार व अन्य बैंको को ऋण देता है तथा सरकार के लेन-देन का हिसाब रखता है।

रिजर्व बैंक शैडयूल बैंको (Scheduled Banks) पर नियन्त्रण रखता है। शैडयूल बैंक ऐसे व्यापारी बैंको को कहते है जिनकी पूंजी ५ लाख रुपये या उससे अधिक होती है ऐसे व्यापारी बैंक अपनी अस्थायी सम्पत्ति का ५% और स्थायी सम्पत्ति (Time Liabilities) का २% रिजर्व बैंक में सुरक्षित रखते है। रिजर्व बैंक इन अन्य बैंको पर नियन्त्रण रखता है और इन बैंको को अपनी आर्थिक अवस्था व लेन-देन सम्बन्धी सारी सूचनाये समय समय पर रिजर्व बैंक को भेजनी पडती है और रिजर्व बैंक के आदेशानुसार कार्य करना पड़ता है।

जिन प्रदेशो में रिजर्व बैंक की शाखायें नही है वहाँ इसका काम इम्पीरियल बैंक किया करता है। इस कार्य के लिए रिजर्व बैंक इम्पीरियल बैंक को एक निश्चित आधार पर कुछ कमीशन देता है। इससे इम्पीरियल बैंक को काफी लाभ होता है।

इन सब कार्यो को करने के साथ ही रिजर्व बैंक का एक कार्य भारत में कृषि की आर्थिक स्थिति का अध्ययन करना व उसके निर्माण करने के लिए योजना बनाना है। इसके लिए रिजर्व बैंक का एक अलग विभाग है जिसका कार्य पूर्णतया कृषि सम्बन्धी साख का बढाना और सहयोगी बैंको (Co-operative Banks) को सगठित करना है।

भारतीय रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण

प्राय रिजर्व बैंक के स्थापित होते ही यह विवाद चल पड़ा कि रिजर्व बैंक की हिस्सो की पूंजी (Share Capital) सरकार के पास रहे या हिस्सेदारो के पास रहे। विदेशी सरकार होने के कारण लोग यह नही चाहते थे कि हिस्सो की पूंजी सरकार के पास रहे और वह उसका प्रयोग करे। इसलिये धारा-सभा ने यह निश्चय किया कि यह पूंजी हिस्सेदारो के पास ही रहे। यह विवाद चलता ही रहा। स्वतन्त्रता प्राप्त होने के पश्चात् यह प्रश्न फिर सामने आया। १९३५ में जव रिजर्व बैंक का निर्माण हुआ था तो इसके 'हिस्से' वहुत से व्यक्तियो ने खरीदे थे। परन्तु धीरे-धीरे इन हिस्सो के एक बहुत वडे अश को बम्बई के कुछ गिने-चुने व्यक्तियो ने अपने अधिकार मे कर लिया। १९३५ में जव रिजर्व बैंक को हिस्सेदारो का बैंक बनाया गया था तो हिस्सो के इस तरह कुछ व्यक्तियो के अधिकार में आ जाने की कोई सम्भावना

नहीं थी। रिजर्व वैंक एक महत्त्वपूर्ण संस्था होने से उसके हिस्से कुछ व्यक्तियों के अधिकार में आ जाने उचित नहीं थे। इसका राष्ट्रीयकरण करने से इस प्रकार की कुछ सम्भावना नहीं रही।

जब भारत में विदेशी सरकार थी, तब देश के आर्थिक निर्माण के लिए कोई योजना थी ही नहीं। अब राष्ट्रीय सरकार ने ऐसी योजना तैयार की है। इस योजना की सफलता के लिए वहुत अधिक पूंजी की आवश्यकता होगी। यह पूंजी तभी एकत्रित की जा सकती है जब कि सरकार और रिजर्व वैंक की नीति विल्कुल एक हो और उनमें पूर्ण सहयोग हो। यदि रिजर्व वैंक हिस्सेदारों का वैंक होता और उसके अपने डायरेक्टर होते तो यह सम्भव था कि भारत सरकार और रिजर्व वैंक मे उतना सहयोग नही होता। राष्ट्रीयकरण से इस प्रकार की सम्भावना दूर हो गयी है।

राष्ट्रीयकरण करते समय १०० रुपये के प्रत्येक हिस्से के सरकार ने ११८ रुपये १० आने दिये; क्योंकि उस समय रिजर्व वैंक के हिस्से का बाजार में यही मूल्य था। यह मूल्य कुछ नकद द्रव्य में दिया गया और अधिकतर भाग सरकारी सिक्योरिटियो के रूप में। ऐसा करने से भारतीय सरकार को नकद द्रव्य का अधिक प्रवन्ध न करना पड़ा और वैंक उनके हाथ मे आ गया।

रिजर्व वैंक का प्रवन्ध Central Board of Directors करता है। इसके पांच भाग है जिनमें अलग अलग बोर्ड है। राष्ट्रीयकरण मे पहले इन डायरेक्टरो का चुनाव हुआ करता था, परन्तु अव इन्हें भारत सरकार नियुक्त करती है।

यद्यपि रिजर्व वैंक के गवर्नर, डिप्टी गवर्नर व डायरेक्टरो को सरकार नियुक्त करती है, तव भी यह एक स्वतन्त्र सस्था है और सरकार का अर्थ-विभाग इसके कार्य मे हस्तक्षेप नही करता है। इस प्रकार सरकार विशेपज्ञो की सम्मति का पूरा लाभ उठा सकती है और साथ ही साथ रिजर्व वैंक की व सरकार की नीति मे एकता आ जाती है।

रिजर्व वैंक की सफलतायें —भारतीय साख-व्यापार को और अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय को रिजर्व वैंक की स्थापना से काफी सहायता मिली है। उसकी मुख्य सफलताओ का सक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है —

विदेशी व्यापार व लेन-देन के लिए अन्तर्देशीय मुद्रा-मान की स्थिरता अत्यन्त आवश्यक है अन्यथा व्यापार को और साख को हानि पहुँचने की सम्भावना रहती है। भारतीय रुपये का स्टर्लिंग मे मान १ शि० ६ पे० के वरावर स्थिर किया गया था। इस मान को स्थिर रखना वहुत कठिन था, क्योंकि राजनैतिक व अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो का अनेक वार इस मान पर ऐसा प्रभाव पडा कि इसके टूटने का भय होने लगा था, परन्तु भारतीय रिजर्व वैंक ने वडी दक्षता से इस मान को स्थिर रखा।

कोई भी व्यक्ति आवश्यकता पड़ने पर भारतीय मुद्रा को पौण्डों में बदल सकता है। परन्तु इसमे से आर्थिक व्यवस्था में गडबड होने की आशंका रहती है। इसलिये रिजर्व बैंक का इस विनिमय पर पूरा नियन्त्रण है। कोई भी व्यक्ति बिना रिजर्व बैंक को सूचना दिये और उससे आज्ञा प्राप्त किये एक मुद्रा को विदेशी मुद्रा में नही बदल सकता है। इस नियन्त्रण में रिजर्व बैंक को काफी सफलता मिली है।

समय समय पर सरकार को विभिन्न कारणो व योजनाओ के लिए ऋण लेने की आवश्यकता पडती है। रिजर्व बैंक ने सरकार के लिए सस्ते ब्याज की दर मे ऋण वसूल करके उसके कार्यो को आगे बढाने का भी सराहनीय कार्य किया है।

रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् ब्याज की दर कम रखने की नीति को अपनाया गया था। अनेक कठिनाइयो के बीच भी भारतीय रिजर्व बैंक इस सस्ती दर को स्थिर रख सकने मे सफल हुआ है।

सन् १९३५ से पहले देश की आन्तरिक व बाह्य साख-व्यवस्था अव्यवस्थित थी। इससे देश की आर्थिक उन्नति मे बडी बाधा पडती थी; परन्तु रिजर्व बैंक ने साख व्यवस्था का अध्ययन कर उसे सगठित और व्यवस्थित कर लिया है। जिससे विदेशो में भारत का सम्मान बढा है।

भारतीय व्यापारियो को १९३५ से पहले अनेक कष्टो का सामना करना पडता था। वर्ष के एक भाग अक्टूबर से मई तक व्यापार की तथा लेन-देन की काफी चहल-पहल रहती है। प्राय द्रव्य की कमी के कारण इस काल का पूरा लाभ नही उठाया जा सकता था। परन्तु रिजर्व बैंक ने ऐसी व्यवस्था कर दी है जिससे इस काल में द्रव्य की कमी का अनुभव न हो सके और व्यापार का पूरा लाभ उठाया जा सके।

परन्तु रिजर्व बैंक की इन सफलताओ के साथ उसकी असफलताओ पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है।

भारतीय रिजर्व बैंक का कृषि-साख-विभाग (Agricultural Credit Department) इस उद्देश्य से खोला गया था कि भारतीय कृषि-व्यवस्था का अध्ययन करे तथा कृषको को ऋण इत्यादि की सहायता देने की उचित व्यवस्था करे। परन्तु रिजर्व बैंक कृषको में साख की लेन-देन को सगठित कर सकने में असफल रहा है। वह कोई ऐसी योजना नही बना पाया है, जिसके आधार पर भारतीय कृषि की दशा को सुधारा जा सके।

रिजर्व बैंक की स्थापना के समय यह आशा की जाती थी कि भारत की पुरानी महाजनी प्रथा को बैंकिंग प्रथा में सम्मिलित किया जा सकेगा। भारत के महाजन व सर्राफ ऋण के लेन-देन के साथ अन्य व्यापार इत्यादि कार्य भी करते है। रिजर्व बैंक इनको बैंकिंग-व्यवस्था में नही मिला सका।

ये भारत के अधिकाश भागो मे उसी रूप में अपना कार्य कर रहे हैं।

भारत में हुण्डियो व साख-पत्रो द्वारा अधिकाश व्यापार चलता है। हुण्डियाँ कई प्रकार की होती हैं। अन्य व्यापारी वैंको को उनके भुनाने की सुविधाये भी नही दी गई हैं। इस कारण व्यापारी वैंक हुण्डियाँ कम लेते हैं। इससे आन्तरिक व्यापार को धक्का पहुँचता है। रिजर्व वैंक विलो व हुण्डियो के लेन-देन को सगठित नही कर सका है और उनमे एकात्मकता (Uniformity) नही ला सका है।

रिजर्व वैंक का एक महत्वपूर्ण कार्य यह है कि वह सकट पडने पर अन्य वैंको को सहायता दे और उन्हे फेल होने से वचाये। परन्तु अनेक व्यापारी वैंक फेल हो चुके हैं जिससे साख की अत्यन्त हानि हुई है। वैंको की स्थिरता पर लोगो का विश्वास घटता जा रहा है। रिजर्व वैंक के लिए यह आवश्यक है कि वह अन्य वैंको के साख व लेन-देन पर पूरा नियन्त्रण रखे, उनकी आर्थिक स्थिति का अध्ययन करते रहे और सकट के समय सहायता देकर उन्हें समाप्त होने से वचा सके।

इन असफलताओ के होते हुये भी रिजर्व वैंक ने भारतीय व्यापार की आन्तरिक व बाह्य स्थिति को सगठित करने मे काफी सफलता प्राप्त की है और भारत की आर्थिक स्थिति को दृढ वनाने का सराहनीय कार्य किया है।

व्यापारी वैंक

(Commercial Banks)

भारत में महाजन व साहूकार वहुत प्राचीन काल से लेन-देन का कार्य करते रहे हैं। परन्तु वैंकिंग की आधुनिक रूपरेखा १९ वी सदी के दूसरे भाग में प्रारम्भ हुई। प्रारम्भ मे यह कार्य वम्वई, कलकत्ता व मद्रास के प्रेसिडैन्सी वैंक करते थे। इसके कुछ समय पश्चात् १९ वी सदी के अन्तिम भाग मे कुछ भारतीय व्यापारिक वैंको की स्थापना हुई। प्रारम्भ में अवध-व्यापारी वैंक, पजाव नेशनल वैंक और पीपुल्स वैंक ऑफ इण्डिया स्थापित किये गये। भारतीय व्यापारिक वैंको की उन्नति २० वी सदी में हुई, परन्तु उस समय भी प्रेसिडैन्सी वैंक और एक्सचैन्ज वैंक भारतीय वैंको से कही अधिक शक्तिशाली थे। २० वी सदी के आरम्भ मे ऐसे केवल ९ वैंक थे जिनकी पूंजी (Capital) और सुरक्षित धन (Reserve) पाँच लाख रुपये से अधिक था। इन ९ वैंको की पूंजी और सुरक्षित धन केवल १ करोड २८ लाख रुपये था और इनके जमा-खाते (Deposit) मे केवल ८ करोड रुपये थे। इसकी अपेक्षा वम्वई, वगाल और मद्रास के प्रेसिडैन्सी वैंको

की, जिनकी व्यवस्था व सचालन विदेशियो के हाथ मे थे, पूंजी और सुरक्षित धन ५२ करोड रुपयों से अधिक था। इनके जमा-खाते में १६ करोड रुपये थे। इसी समय ८ एक्सचेंज बैंको के जमा-खाते मे लगभग १०१/२ करोड रुपये थे। इससे यह विदित हुआ कि भारत के बैंक विदेशी बैंको की अपेक्षा बहुत निर्बल थे और उन्हें बहुत बडी प्रतिस्पर्धा का सामना करना पडता है।

बीसवी सदी के आरम्भ मे विशेष रूप से १९०६ के उपरान्त स्वदेशी आन्दोलन से भारतीय बैंको को बहुत प्रोत्साहन मिला। १९०६ से १९१३ के बीच ऐसे बैंको की संख्या जिनकी पूंजी और सुरक्षित धन ५ लाख रुपये और इससे अधिक था, ९ से बढकर १८ हो गयी। उनके जमा-खाते में २२ करोड रुपये थे। परन्तु यह प्रगति स्थायी न रह सकी और १९१३ से १९१७ तक भारतीय बैंक एक भीषण सकट मे पड गये और इस समय लगभग ८७ बैंक फेल हो गये। इससे भारत में साख को बहुत बडा धक्का लगा और बैंकिंग की उन्नति मे बहुत बाधा पडी। इस सकट (Crisis) का विशेष कारण यह था कि स्वदेशी आन्दोलन के कारण निर्बल और अव्यवस्थित बैंकों का निर्माण हो गया था। इन बैंको के स्वामी बैंकिंग के सिद्धान्तो से अपरिचित थे और उन्होंने बैंकिंग के मूल सिद्धान्तो के अनुसार कार्य नही किया और जमा-खाते में रुपया बढाने के अभिप्राय से सूद की दर बढा दी। परन्तु इस आवश्यकता की पूर्ति करने योग्य आमदनी न कर सके। बैंकिंग के सिद्धान्तो के विरुद्ध उन्होने अपनी जमा को दीर्घकालीन उद्योगो में लगाया था और इन उद्योगो पर सकट पडने से ये बैंक भी अपने को सकट से न बचा सके और फेल हो गये। इसके उपरान्त भी भारत के बैंको के इतिहास का अध्ययन करने से यह बात विदित होती है कि कुछ प्रोत्साहन मिल जाने से नये बैंको का निर्माण हुआ। परन्तु ये बैंक भी अपनी स्थिति को दृढ न कर सके और सकट पडने पर फेल हो गये। प्रथम महायुद्ध में भारतीय बैंको की पूंजी, सुरक्षित धन और जमा-खाते में काफी वृद्धि हुई ; परन्तु महायुद्ध के उपरान्त जो आर्थिक सकट आया उसमे लगभग साढे चार सौ बैंक फेल हो गये और लगभग ८ करोड रुपयो की पूंजी नष्ट हो गयी। इससे भारतीय बैंको के विकास मे बहुत धक्का लगा। द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होने से पहले ऐसे बैंक लगभग ५१ थे, जिनकी पूंजी और सुरक्षित धन ५ लाख रुपयो से अधिक थे। इनकी कुल पूंजी और सुरक्षित धन १३१/२ करोड रुपये थे और इनके जमा-खाते मे लगभग ११० करोड रुपये थे। इस समय इम्पीरियल बैंक की पूंजी और सुरक्षित धन ११ करोड रुपयो से अधिक था और इसके जमा-खाते मे सरकारी द्रव्य के अतिरिक्त लगभग

८८ करोड रुपये थे। २० एक्सचेंज वैंको के जमा-खाते मे इस समय १२६ करोड रुपये थे। इससे यह विदित हुआ कि भारत के वैंको की स्थिति यद्यपि पहले के अपेक्षा अधिक दृढ थी और उनका प्रभाव भी अधिक था, तथापि इम्पीरियल वैंक और एक्सचेंज वैंक मिलाकर इनसे कही अधिक दृढ थे। वैंकिंग में भारत के व्यवसाय ने उतनी उन्नति नही की जितनी अन्य उद्योग-धन्धों व व्यापार में की। भारत मे कुछ औद्योगिक कम्पनियाँ भी फेल हुई, परन्तु वैंक कही अधिक संख्या मे फेल हुए।

भारत के वैंक देश के बडे-बडे शहरो मे और कुछ अन्य व्यापारिक केन्द्रो मे ही स्थापित हुए। छोटे शहरो मे और देश के बहुत बडे भाग मे इन वैंको की शाखायें नही खुली। जमा-खाते की कुल पूँजी का बहुत बडा भाग थोडे से बडे वैंको के हाथो में है। भारत में छोटे वैंको को उतना प्रोत्साहन नही मिला जितना देश की उन्नति के लिए आवश्यक था।

द्वितीय महायुद्ध से वैंकिंग के कार्य में उन्नति हुई, नये वैंक भी खुले और उनके जमा-खाते में अधिक द्रव्य भी जमा किया गया। ५ लाख रुपयो से अधिक पूँजी वाले वैंक इम्पीरियल वैंक व एक्सचेंज वैंको की संख्या कुल मिलाकर १९३९ में ५१ और १९४६ में बढकर ९३ हो गयी। उनकी कुल शाखाओ की संख्या १३२८ से बढकर ३१०६ हो गयी और उनके जमा-खाते में द्रव्य २३८ करोड रुपयो से बढकर १०९७ करोड रुपये हो गया। परन्तु इस समय भी और विशेष रूप से द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त बहुत से भारतीय वैंक फेल हो गये। इस समय भी भारतीय वैंको की उन्नति उतनी दृढ न हो सकी जितनी आवश्यक थी। सबसे बडी आवश्यकता यह है कि वैंको को फेल होने से बचाया जाय और उनकी उन्नति संगठन और सहयोग के आधार पर हो। द्वितीय महायुद्ध के समय वैंको ने बिना सोचे-समझे नये-नये स्थानो पर अपनी शाखायें खोल दी। प्राय: एक ही स्थान पर वैंको की अनेक शाखायें हो जाने से परस्पर प्रतिस्पर्धा बढी और इससे वैंको को हानि हुई। कई ऐसे स्थानो पर जहाँ वैंको की शाखाओ की आवश्यकता थी, वहाँ शाखाये न खोली गयी; जिससे देश की उन्नति में बाधा पडी। यदि इन स्थानो पर शाखायें खोली जाती तो वैंको को लाभ होने की सम्भावना थी। वैंको की स्थिति दृढ न होने का और वैंक फेल हो जाने का एक कारण यह भी था कि वैंको के स्वामियो ने औद्योगिक कम्पनियो पर भी अपना अधिकार कर लिया और किसी न किसी बहाने से वैंको की पूँजी औद्योगिक व बीमा कम्पनियो मे लगायी। ऐसा करने से वैंको को बडी हानि हुई। वैंक के स्वामियो ने वैंक के हिस्सेदारो को लाभांश (Dividend) देने के उद्देश्य से अनुचित रूप से द्रव्य कमाने का प्रयत्न किया। भारत के वैंको की

उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि इस प्रकार के अनुचित कार्यों को रोका जाय। इसका उत्तरदायित्व केन्द्रीय वैंक पर है। १९३९ में स्वीकृत वैंकिग एक्ट के अनुसार केन्द्रीय वैंक को कुछ ऐसे अधिकार मिल गये हैं जिससे वह इन वैंको पर पूरा नियन्त्रण रख सकता है। आशा है कि भविष्य मे वैंको की स्थिति में सुधार हो सकेगा।

द्वितीय महायुद्ध मे अस्थायी जमा-खाते के द्रव्य में अधिक वृद्धि हुई और स्थायी जमा-खाते मे कम। इस महायुद्ध के पहले स्थायी जमा-खाते का द्रव्य कुल जमा द्रव्य का तिहाई भाग होता था; परन्तु युद्ध के समय यह कुल का $\frac{1}{4}$ भाग हो गया और अस्थायी जमा-खाते का द्रव्य $\frac{3}{4}$ भाग हो गया। इसका कारण यह था कि युद्ध के समय अनिश्चितता और भय पैदा हो जाने से व्यक्ति अपना द्रव्य अधिकतर इस रूप में रखना चाहते थे कि आवश्यकता पडने पर तुरन्त मिल जाय। युद्ध के समय व्यापारी वैंको के हुण्डियो इत्यादि पर ऋण की मात्रा भी कम हो गयी थी। १९४६ के पश्चात् स्थायी जमा-खाते के द्रव्य मे फिर वृद्धि हुई और फिर युद्ध के पहले की सी स्थिति हो गयी। वैंको के खातो मे जमा द्रव्य और वैंको के ऋण की मात्रा देश के औद्योगिक और व्यापारिक उन्नति पर निर्भर रहती है। भारत को स्वतन्त्रता मिल जाने के पश्चात् औद्योगिक व व्यापारिक उन्नति में कुछ हानि हुई, जिसके कारण वैंको के खातो में भी जमा कम हो गयी। आवश्यकता इस वात की है कि वैंकिग का व उद्योग-धन्धो का विकास साथ-साथ हो।

इन्डस्ट्रियल फाइनैन्स कारपोरेशन

भारत के व्यापारिक वक उद्योग-धन्धो के लिए अल्पकालीन ऋण देते हैं, क्योकि समय समय पर व्यापारी वैंको को अपने सदस्यो की द्रव्य की माँग की पूर्ति करनी पडती है। परन्तु उद्योग-धन्धो के विकास व उनकी उन्नति के लिए दीर्घकालिक ऋण की आवश्यकता होती है। इस अभाव की पूर्ति के लिए भारत सरकार द्वारा इण्डस्ट्रियल फाइनैन्स कारपोरेशन की स्थापना की गई। कुछ प्रदेशो में वहाँ की सरकार द्वारा इसी प्रकार की सस्थायें छोटे पैमाने के उद्योग-धन्धो की सहायता करने के लिए वनाई गयी हैं। यह आशा की जाती है कि अन्य प्रदेश भी इसी प्रकार की सस्थाये वनायेंगे।

इण्डस्ट्रियल फाइनैन्स कारपोरेशन का निर्माण १९४८ में हुआ। इसकी पूंजी १० करोड रुपये होगी और इसको एकत्र करने के लिए पाँच पाँच हजार रुपये के वीस हजार हिस्से (Shares) बेचे जायेंगे।

प्रारम्भ मे इस सस्था की पूंजी का अर्ध भाग केवल ५ करोड रुपये के हिस्से बेचे गये। आगे आवश्यकता पडने पर ५ करोड रुपये के हिस्से और बेचे जा सकते है। इस कारपोरेशन के हिस्से केवल केन्द्रीय सरकार, केन्द्रीय बैंक, ५ लाख रुपये की पूंजी से अधिक पूंजीवाले बैंक (Scheduled Banks), बीमा कम्पनियाँ और कुछ अन्य सस्थायें ही खरीद सकती है। इस कारपोरेशन के हिस्से अन्य व्यक्ति नही खरीद सकते है। यह बन्धन इस कारण लगाया गया कि जिससे यदि ये व्यक्ति घबरा उठे और हिस्से बेचने लगें तो कारपोरेशन को इस तरह से धक्का न लगे। इनमें से कितने हिस्से कौन खरीद सकता है यह भी ऐक्ट मे स्पष्ट कर दिया गया है। ३० जून १९५० को हिस्से निम्नलिखित रूप से बँटे हुए थे —

हिस्सो की सख्या

१	केन्द्रीय सरकार	२,०००
२	रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया	२,०५५
३	शैडचूल बैंक	२,४८०
४	बीमा कम्पनी तथा अन्य सस्थायें	२,५२३
५	सहकारी बैंक	९४२
	कुल	१०,०००

जब यह कारपोरेशन पूरी शक्ति से कार्य करने लगेगा उस समय यह उद्योग-धन्धो को लगभग १३० करोड रुपयो की सहायता कर सकेगा। ऐक्ट के अनुसार इस कारपोरेशन की पूँजी १० करोड रुपये है और इसका सुरक्षित कोष भी १० करोड रुपयो का होगा। पूँजी व सुरक्षित कोष का पाँच गुना अर्थात् १०० करोड रुपये ये बाजार से अपने ऋण-पत्र (Debentures) या बौण्ड (Bonds) के आधार पर एकत्रित कर सकता है। इस प्रकार १२० करोड रुपये इस कारपोरेशन के पास हो सकते है। इसके अतिरिक्त १० करोड रुपये देश के अन्य व्यक्तियो से जमा-खाते के रूप में स्वीकार कर सकता है।

परन्तु अब तक इस कारपोरेशन ने बहुत कम मात्रा मे उद्योग-धन्धो को सहायता दी है। कारपोरेशन के कथनानुसार जिन सस्थाओ ने ऋण के लिए प्रार्थना-पत्र दिये उनकी योजनायें इस प्रकार की न थी कि कारपोरेशन उनकी सहायता कर सकता। परन्तु कुछ विशेषज्ञो की यह

सम्मति है कि कारपोरेशन अपने कार्य को पुरानी रूढि के अनुसार चलाना चाहता है और उद्योग-धन्धो पर इस प्रकार के कडे नियम लगाता है कि वह ऋण लेने को तैयार नही होते है। कारपोरेशन का यह कथन मान्य नही है कि, औद्योगिक संस्थाओ को योजना बनानी ही नही आती और वह अपने प्रार्थना-पत्र में पूरा विवरण नही देते यदि औद्योगिक सस्थाये ऐसा नही करती हैं तो कारपोरेशन को इस प्रकार की योजना वनाने मे सहायता करना आवश्यक है। प्रश्न यह है कि कारपोरेशन ने उन्हें इस प्रकार की सहायता क्यो न दी? जून १९४९ तक १२ महीनो मे कारपोरेशन के पास ९५ प्रार्थना-पत्र आये जिसमें १०.३३ करोड रुपयो की याचना की गयी थी। परन्तु कारपोरेशन ने केवल २१ प्रार्थना-पत्र स्वीकार किये और केवल ३ ४२ करोड रुपया देना स्वीकार किया। जून १९५० तक १२ महीनो में कारपोरेशन के पास ६५ प्रार्थना-पत्र आये जिसमें से कारपोरेशन ने केवल २३ प्रार्थना पत्र स्वीकार किये और ३ ७७ करोड रुपये देना स्वीकार किया। इस प्रकार से दो वर्ष मे कारपोरेशन ने केवल ७ १९ करोड रुपयो की सहायता उद्योग-धन्धो को दी। जिस उद्देश्य से इस कारपोरेशन की स्थापना की गयी थी वह उद्देश्य पूरा न हुआ और भारतीय उद्योगो को पूरी सहायता न मिल सकी।

यह कारपोरेशन केवल उन पब्लिक लिमिटेड कम्पनियो और सहकारी समितियो को ऋण या अन्य सहायता दे सकता है जो बडे पैमाने के उत्पादन के कार्य में व्यस्त हैं। यह कारपोरेशन व्यापार के लिए रुपया ऋण नही दे सकता है। छोटे पैमाने के उद्योग-धन्धो को या घरेलू उद्योग-धन्धो को या कृषको को यह कारपोरेशन ऋण नही दे सकता है। इन कार्यों के लिए पृथक् कारपोरेशनो का निर्माण किया जायेगा। छोटे पैमाने के उद्योग-धन्धो व घरेलू उद्योग-धन्धो को ऋण देने व उनकी सहायता करने के लिए प्रान्तीय सरकार इस प्रकार की सस्थाओ का निर्माण करेंगी। कृषि सम्बन्धी कार्यो के लिए एक अन्य इसी प्रकार के कारपोरेशन का निर्माण किया जायेगा।

ऐक्ट के अनुसार कारपोरेशन निम्नलिखित विधियो से औद्योगिक सस्थाओ के लिए पूंजी एकत्र करने में सहायता कर सकता है —

(अ) उद्योग-धन्धो को द्रव्य-बाजार से यह कारपोरेशन अपनी जिम्मेदारी में इस शर्त पर ऋण दिलवाने का कार्य करता है कि वह ऋण २५ वर्ष के अन्दर अन्दर चुका दिया जायेगा।

(ब) उद्योग-धन्धो के हिस्सो व ऋण-पत्रो को यह कारपोरेशन भविष्य मे बाजार में बेच देने के उद्देश्य से (Underwriting) खरीद लें।

(स) उद्योग-धन्धो के ऋण-पत्रो को खरीद ले या उनको द्रव्य ऋण दे दे जो २५ वर्ष के अन्दर अन्दर चुका दिया जाय।

भूमि-बन्धक बैंक

साधारण व्यापारिक वैंक या सहकारी सस्थाये अपने अस्थायी जमा-खाते से दीर्घकालीन ऋण नही दे सकते है और न ऋण का भुगतान थोडी-थोडी मात्रा में स्वीकार कर सकते है। सभी कृषक विशेष कर छोटे-छोटे जमीदार किसी न किसी समय ऋण अवश्य लेते है। महाजन या साहूकार भी दीर्घकाल के लिए ऋण दे सकने में असमर्थ होते है। यदि अवधि समाप्त होने पर पूरा ऋण एक साथ चुकाया जाय तो सूद के कारण उसका चुकाया जा सकना असम्भव सा हो जाता है। अन्त मे या तो ऋण चुकाया ही नही जाता है या विवश होकर भूमि वेचकर ऋण चुकाना पडता है। कुछ देशो में सरकार कृषको को कृषि की सहायता लिए अल्पकालीन व दीर्घकालीन ऋण देती है परन्तु यह अनुभव किया गया है कि सरकार इस प्रकार की सहायता का मुख्य आधार नही हो सकती है, वह केवल अत्यन्त आवश्यकता के समय कृपको को ऋण देकर सहायता दे सकती है। यद्यपि कुछ देशो मे सरकार की इस प्रकार की सहायता देने से कृपि की काफी उन्नति सम्भव हो मकी है, परन्तु इस कार्य में सरकार को अनेक कठिनाइयो का व अनेक आपत्तियो का मामना करना पडता है।

इस कारण ऐसी सस्थाओ की अत्यन्त आवश्यकता अनुभव की गयी है जो कृषको को दीर्घकाल के लिए सुविधापूर्वक ऋण दे सकें, जो सूद की मध्यम दर पर दीर्घकालीन कोष एकत्र कर सकें और कृपको व अन्य छोटे जमीदारो से ऋण का भुगतान प्रत्येक वर्ष थोडी थोडी मात्रा मे वसूल कर सकने में समर्थ हो और इस प्रकार कृपको इत्यादि को ऋण का भुगतान करने के लिए उचित सुविधा मिल सके। ऐसी सस्थाओ को भूमि-वन्धक वैंक कहते है। ससार के अन्य वहुत से देशो में इनकी स्थापना की जा चुकी है।

भूमि-वन्धक वैंको ने अपने ऋण के लेन-देन के कार्यो के उपयुक्त विधियाँ खोज निकाली है। ये व्यापारी वैंको की तरह अस्थायी जमा-खाते से अपनी पूंजी एकत्रित नही करते है, वरन् ये सस्थायें ऋण-पत्रो (Debentures) को वेचकर या भूमि-वन्धक-पत्रो (Mortgage Bonds) के द्वारा अपनी पूंजी एकत्रित करते है। ये भूमि-बन्धक-पत्र ऋण लेने वालो से प्राप्त करते है, क्योकि इन पत्रो के आधार

पर ही ऋण दिया जाता है। कुछ अवस्थाओ मे इन सस्थाओ की सेवाओं के कारण या देश की आर्थिक स्थिति मे इनकी महत्ता के कारण बहुत से भूमि-बन्धक पत्रो की जिम्मेदारी सरकार स्वयं ले लेती है। इन सस्थाओं ने ऐसी विधियाँ खोज निकाली हैं जिनसे वे इन भूमि-बन्धक-पत्रो की लोकप्रियता बढाने में सफल हुए है। किसी किसी प्रसिद्ध भूमि-बन्धक-बैंक के ये पत्र (Bonds) अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे बेचे-खरीदे जा सकते है। प्रत्येक ऋणी के थोडी-थोडी मात्रा के वार्षिक भुगतान का सदुपयोग करने की विधियो से ये सस्थायें काफी लाभ उठाती है। इन सस्थाओं ने बन्धक मे रखी भूमि व अन्य सम्पत्ति के मूल्य इत्यादि की उचित जाँच करने के लिए उपयुक्त विशेषज्ञो के लिए अन्य विभागो का निर्माण भी किया है।

कृषको इत्यादि को बहुमूल्य सहायता देने व कृषि की उन्नति में सहायक होने के फलस्वरूप सरकार द्वारा इन्हें बहुत-सी सुविधायें भी दी गयी है। ये सुविधायें प्राय. कुछ विशेष प्रकार के अधिकारो के रूप में है जिनके प्रयोग करने से वे फँसा हुआ ऋण वसूल कर सकते है, कर से मुक्त हो सकते है और अपने कुछ बन्धक-पत्रो की जिम्मेदार सरकार को बना सकते है।

भूमि-बन्धक बैंक ऋण लेने व ऋण देने का कार्य दीर्घकाल के आधार पर करते है। सरकार इन सस्थाओ के कार्यो का निरीक्षण करती है और इन पर नियन्त्रण भी रखती है।

सगठन की दृष्टि से इन सस्थाओ के अनेक रूप है। कुछ सहकारी सगठनो के रूप मे, कुछ ज्वाइन्ट स्टॉक संस्थाओं व कुछ सरकारी या अर्ध सरकारी सस्था के रूप मे कार्य करती है। कई देशो मे ये विभिन्न रूपो में साथ साथ कार्य करती है।

वर्तमान समय में भारतवर्ष में खाद्यान्न की व कच्चे माल की बहुत अधिक कमी होने से भूमि-बन्धक बैंको का महत्व बहुत बढ गया है। खाद्यान्न व कच्चे माल के उत्पादन में वृद्धि करने के लिए भूमि का बडे पैमाने मे सुधार करने की आवश्यकता है तथा पैदावार बढाने की विधियो का पुनर्निर्माण करना है। इसके लिए जितने द्रव्य की आवश्यकता होगी वह भूमि-बन्धक बैंको के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। देश की ऐसी आर्थिक अवस्था में यह अति आवश्यक है कि भूमि-बन्धक बैंको के महत्व की ओर विशेष ध्यान दिया जाय जिससे देश की उन्नति मे वे यथोचित भाग ले सकें।

भारतवर्ष मे सहकारी आन्दोलन के आरम्भ होने के साथ ही यह आशा की जाने लगी कि कृषको की आवश्यकता पूर्ति के लिए सहकारी

सस्थाये उन्हें दीर्घकाल और अल्पकाल के लिए ऋण दे सकेगी। प्रत्येक समिति या समितियो के भिन्न-भिन्न समूह कुल कितना ऋण दे सकती है इसको समितियो के रजिस्ट्रार निश्चित करते थे और ऋण देने वाली समितियो (Credit Societies) को उस निश्चित मात्रा तक दीर्घ-काल के एव अल्पकाल के लिए ऋण देने की आज्ञा दे दी गयी थी। परन्तु बहुत शीघ्र इस बात का अनुभव किया गया कि साधा-रण ऋण देने वाली समितियाँ इस कार्य के लिए नितान्त अनुपयुक्त है। प्राइमरी समितियाँ अपने कार्य के लिए आवश्यक पूँजी के हेतु केन्द्रीय बैंको पर निर्भर रहती थी। इन बैंको मे द्रव्य केवल अल्पकाल के लिए ही जमा किया जाता था। इसलिये अल्पकालिक जमा-खाते के आधार पर समितियाँ दीर्घकालीन ऋण नही दे सकती थी। जब कभी उन्होने यह कार्य किया या तो वे बडे सकट में पड गयी और या बरबाद हो गयी। इसके साथ ही प्राइमरी समितियाँ उस वास्तविक सम्पत्ति का उचित मूल्य निर्धारित कर सकने में असमर्थ थी जिसके आधार पर वे ऋण देती थी। यदि ऋणी ऋण का भुगतान न कर सकें तो ये समितियाँ अपनी अन्य व्यक्तियो या सस्थाओ से की गई प्रतिज्ञाओ को पूरा नही कर सकती थी। यदि कोई ऋणी ऋण न चुका सके तो उन्हें कानूनी सहायता लेकर भूमि के अधिकार से वचित कर दिया जाता था और वह भूमि समितियो के अधिकार मे आ जाती थी ; ऋणी को विवश होकर अपनी भूमि समिति को बेचनी पडती थी। परन्तु इससे समितियो के कार्य में सहायता की अपेक्षा अडचनें अधिक पडती थी, क्योकि मन्दी के समय में समितियो से इस प्रकार की भूमि को खरीदने के लिए कोई भी तैयार नही होता था। शासको और अन्य सहयोगियो ने इस स्थिति पर गभीरता से विचार करके यह निष्कर्ष निकाला कि दीर्घकाल के लिए ऋण देने का कार्य करने के हेतु पृथक् सस्था का निर्माण करना आवश्यक है। इस दिशा में भूमि-बन्धक बैंको का निर्माण करने का कार्य सर्वप्रथम पजाब में आरम्भ किया गया। सबसे पहला सहकारी भूमि-बन्धक बैंक का निर्माण १९२० मे झाग (Jhang) नामक स्थान में किया गया। १९२५ में मद्रास मे उसी प्रकार के दो और बैंको का निर्माण हुआ और १९२९ में बम्बई में उसी प्रकार के तीन बैंक स्थापित किये गये।

सन् १९२६ में भूमि-बन्धक बैंको के सगठन पर और उसके विकास पर विचार-विमर्श करने के लिए सहकारी विभाग के रजिस्ट्रारो की एक कान्फ-रेन्स हुई। इस विषय पर Royal Commission on Agriculture और Central Banking Enquiry Committee ने भी विचार किया। रजिस्ट्रारो की कान्फरेन्स द्वारा दिये गये सुझावो को मानते हुये उक्त दोनो

कमेटियो ने कई अन्य सुझाव और दिये। भारत के रिजर्व बैंक के कृषि-साख-विभाग (Agricultural Credit Department) द्वारा प्रकाशित "भूमि-बन्धक बैंक" (Land Mortgage Banks) नामक पुस्तिका में उक्त तीनो कमेटियो द्वारा दिये गये मुख्य सुझावो का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है –

(१) भूमि-बन्धक बैंको का निर्माण सहकारी समिति ऐक्ट (Co-operative Societies Act) के अनुसार किया जाना चाहिये। उनका कार्यक्षेत्र न तो बहुत बडा हो जिसपर नियन्त्रण न रखा जा सके और न इतना सकीर्ण हो कि उससे बैंक को हानि उठानी पडे। उनके निर्माण करने मे पहले सावधानी से प्रारम्भिक जाँच करना आवश्यक है।

(२) केवल निम्न मुख्य उद्देश्यो के लिए ही ऋण देना चाहिये —

(अ) कृपको के घर व जमीन बन्धक से छुडाने के लिए।

(ब) भूमि और पैदावार उत्पन्न करने की विधियो मे सुधार करने के लिए।

(स) पूर्व के ऋणो को चुकाने के लिए, और

(द) विशेष परिस्थितियो मे भूमि खरीदने के लिए।

(३) ऋण कुल बन्धक-सम्पत्ति के मूल्य के आधे से अधिक मात्रा में नही होना चाहिए। प्रत्येक बैंक अपनी नियमावलियो मे यह स्पष्ट कर दें कि व्यक्तिगत ऋण अधिक से अधिक और कम से कम कितना दिया जायगा। न्यूनतम ऋण इतना होना चाहिये जिससे बैंक का लेन-देन सरलता से हो सके और प्राइमरी समितियाँ आसानी से उतना ऋण दे सकें।

(४) भूमि-बन्धक बैंको को Land Improvement Act के अनुसार ऋण का वितरण करने के लिए उपयुक्त एजेन्सियाँ स्थापित करनी चाहिये।

(५) ऐसा कोई ऋण नही देना चाहिये जो ऋण लेने वाले के लिए लाभप्रद (Economically Profitable) न हो।

(६) ऋण की कुल मात्रा और ऋण भुगतान की अवधि ऋण लेनेवाले की ऋण का भुगतान कर सकने की क्षमता के आधार पर और उस उद्देश्य के आधार पर निश्चित करनी चाहिये जिसके लिए ऋण लिया गया है।

(७) वर्तमान स्थिति मे ऋण भुगतान की अवधि २० वर्ष से अधिक नही होनी चाहिये।

(८) यदि किसी प्राइमरी ऋण देनेवाली समिति (Primary Credit Society) का सदस्य ऋण लेने के लिए प्रार्थना-पत्र दे तो उस पर उक्त समिति से विचार-विनिमय किया जाय और उसकी सम्मति ले ली जाय।

(९) ऋण-पत्र Central Financing Body के द्वारा ही बेचे जाने चाहिये जिसे Land Mortgage Corporation कहा जा सकता है। ऋण-पत्रो पर मिलने वाले सूद की जिम्मेदारी सरकार स्वय ले और उन्हे ट्रस्टी सिक्योरिटीज (Trustee Securities) की सूची मे रख लिया जाय।

(१०) सरकार को भूमि-बन्धक बैंको की प्रारम्भिक अवस्था को दृढ बनाने के लिए उन्हें सहायता देनी चाहिए। जो भी सुविधाएँ स्टैम्प ड्यूटी, रजिस्ट्री करने की फीस इत्यादि के रूप मे दी गयी है वे भूमि-बन्धक बैंको के लिए भी दी जाँय।

(११) भूमि-बन्धक बैंक को बिना अदालती कार्यवाही किये हुए बन्धक-भूमि पर से ऋणी का अधिकार छीन लेने और उसे बेचने का अधिकार देना चाहिये।

(१२) प्रान्तीय सहकारी बैंक केवल अस्थायी रूप से प्रान्त के लिए केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंको का कार्य कर सकते है। परन्तु जब तक प्रान्तो मे प्रान्तीय भूमि-बन्धक कारपोरेशन स्थापित नही हो जाते तब तक प्रान्तीय सहकारी बैंक प्राइमरी भूमि-बन्धक बैंको को उस कोष से दीर्घकाल के लिए ऋण दे सकते है, जो विशेष कर इसी उद्देश्य से एकत्रित किया गया हो।

रिजर्व बैंक के कथनानुसार भारतवर्ष में भूमि-बन्धक बैंको का विकास प्राय उक्त सुझावो के आधार पर ही हुआ है।

जैसा पहले कहा जा चुका है कि यद्यपि प्रथम भूमि-बन्धक बैंक १९२० में पजाब के झाग (Jhang) नामक स्थान पर स्थापित किया गया और उसके बाद कुछ और इसी प्रकार के बैंक अन्य प्रदेशों मे स्थापि हुये, परन्तु भूमि-बन्धक बैंको का भारतवर्ष में वास्तविक आरम्भ मद्रास मे १९२९ में केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंक की स्थापना से हुआ है। उसके पश्चात् इसी प्रकार की अन्य सस्थायें मैसूर, कोचीन, बम्बई और उडीसा मे स्थापित हुई ।

सेविंग बैंक

अन्य बैंको की अपेक्षा सेविंग बैंक की भारतीय जनता में पहुँच अधिक है। सेविंग बैंक का आरम्भ डाकखानो के द्वारा हुआ। अधिकाश डाकखानो में व उनकी छोटी शाखाओ में जनता अपना द्रव्य जमा कर सकती है। इसमें कम से कम चार आने तक जमा किये जा सकते है और सप्ताह में केवल एक बार इनसे द्रव्य निकाला जा सकता है। अन्य बैंको की तरह सेविंग बैंक भी द्रव्य जमा करने वाले को ब्याज देता है। परन्तु अब प्रत्येक व्यापारी बैंक ने भी सेविंग बैंक का कार्य करना आरम्भ कर दिया है।

सेविंग बैंक के उक्त विवरण से यह स्पष्ट विदित होता है कि इस बैंक का उद्देश्य लाभ कमाने की अपेक्षा जनता का हित करना अधिक है। प्राय अधिक द्रव्य जमा कर सकने वाले व्यक्ति बड़े बैंको में अपनी बचत सुरक्षित रख सकते है; परन्तु कम आमदनी वाले व्यक्तियो अर्थात् निम्न मध्यवर्ग व मजदूर किसान इत्यादि की बचत भी कम मात्रा में होती है जिसे बडे बैंको में जमा नही किया जा सकता और कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते है जो थोडी मात्रा मे द्रव्य बडे बैंको में जमा करने से हिचकते है। इसके फलस्वरूप उनमें व्यर्थ व्यय करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। थोड़ी मात्रा मे द्रव्य को वे अधिक महत्व नही देते और प्राय. अनावश्यक वस्तुओं पर व्यय कर देते है। परन्तु सेविंग बैंक की स्थापना होने से जनता की इस प्रवृत्ति को बढने का कम अवसर मिला है। डाकखानो का काफी प्रसार है और अधिकाश जनता से उनका नित्य-प्रति का सम्बन्ध रहता है। इससे इनको सेविंग बैंको में द्रव्य जमा करने में विशेष कष्ट नही उठाना पडता है। स्त्री, पुरुष सब अपनी थोडी-सी बचत को भी इसमें जमा करके सुरक्षित कर सकते है। इससे उनमे मितव्ययिता की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, अनावश्यक वस्तुओ का उपभोग घटता है और रहन-सहन के स्तर में वृद्धि होती है।

यद्यपि सेविंग बैंक से जनता को काफी लाभ पहुँचा है, परन्तु भारतवर्ष की जनसख्या के अनुपात में अभी यह बहुत कम है। राष्ट्रीय सरकार को प्रत्येक गाँव की बचत को सेविंग बैंको मे सुरक्षित रख सकने का प्रयत्न करना चाहिये। ग्रामो की सहकारी संस्थाओ (Co-operatives) के द्वारा यह कार्य आसानी से किया जा सकता है।

द्वितीय महायुद्ध में डाकखाने के सेविंग बैंको में अधिक मात्रा में रुपया जमा हुआ था। इसका कारण यह है कि उस समय मुद्रा-प्रसार बढा हुआ था और बहुधा निम्न वर्ग के व्यक्तियो की आय उनके व्यय से अधिक थी। जैसा कि निम्नलिखित कोष्ठक से विदित होता है कि १९१४–'१५ में १४ ८९ करोड रुपयो से बढकर १९३८–'३९ में भारतीय डाकखानो के सेविंग बैंको में ८१ ८८ करोड़ रुपये जमा हो गये। द्वितीय महायुद्ध के अन्त में १९४५–'४६ मे इसकी मात्रा ११५ ०४ करोड रुपये, १९४६–'४७ में १४२·३५ करोड रुपये और १९४७–'४८ में १४६·८२ करोड़ रुपये हो गयी। भारतवर्ष के विभाजन के उपरान्त घबराहट और हलचल के कारण डाकखाने के सेविंग बैंको की जमा मे बहुत कमी आ गयी। परन्तु अब फिर इसमें वृद्धि होनी आरम्भ हो गयी है। १९४९–'५० में यह जमा ४४ ११ करोड रुपया हो गयी थी।

डाकखानों के सेविंग बैंकों में जमा का विवरण

(करोड रुपयो मे)

वर्ष	वर्ष के अन्त मे कुल जमा
१९१३–'१४	२३ १६
१९१४–'१५	१४ ८९
१९१५–'१६	१५ ३२
१९१८–'१९	१८ ८२
१९१९–'२०	२१ ३४
१९२०–'२१	२२ ८६
१९३०–'३१	३७ ०२
१९३१–'३२	३८ २०
१९३२–'३३	४३ ४५
१९३६–'३७	७४ ६८
१९३७–'३८	७७ ५०
१९३८–'३९	८१ ८८
१९४४–'४५	८० २२
१९४५–'४६	११५ ०४
१९४६–'४७	१४२ ३५
१९४७–'४८	
(अ) पहली अप्रैल से १४ अगस्त तक	१४६ ८२
(व) १५ अगस्त से ३१ मार्च तक	१० १२
१९४८–'४९	७९ ९१
१९४९–'५० (अनुमानित)	४४ ११

साहुकारी

(Indigenous Banking)

भारतवर्ष में साहुकारी की प्रथा का इतिहास बहुत प्राचीन है और आज भी भारतवर्ष के अधिकाश भाग में अपने पूर्व-रूप मे, विना किसी परिवर्त्तन के वर्तमान है। भारत की अधिकाश जनता गाँवो मे वसी हुई है, क्योकि यह कृषिप्रधान देश है। आधुनिक सभ्यता का उन पर वहुत कम प्रभाव पड सका है। वे परम्परा से चली रीति को आधुनिक रीतियो की अपेक्षा अधिक लाभदायक समझते है। उनका अशिक्षित होना ही उनकी इस प्रवृत्ति का कारण है। यदि साहूकारी प्रथा का सूक्ष्म निरीक्षण

किया जाय तो विदित होता है कि इस प्रथा का अब तक अपने प्राचीन रूप में चले आने का एक कारण उनकी यही प्रवृत्ति है।

भारत की ग्रामीण जनता अशिक्षित होने के साथ ही निर्धन भी है। व्याह-शादी, उत्सव व अन्य सामाजिक व धार्मिक रिवाजो को सम्पन्न करने के लिए उसे समय-समय पर द्रव्य की आवश्यकता पड़ती है। इसकी पूर्ति गाँव का महाजन, साहुकार या सेठ करता है। वह किसानो व अन्य छोटे-छोटे पेशेवालो को ऋण देकर उस पर सूद लेता है। प्रायः भारत के प्रत्येक गाँव में ऐसे महाजन व साहुकार रहते है जिनका गाँव की जनता पर बड़ा प्रभाव होता है।

साहुकारी प्रथा का कार्यक्षेत्र गाँव और शहर दोनो हैं। गाँवो मे इसका कार्य महाजन करते है। अधिकतर यह कार्य वंशगत होता है। ये लोग किसानो को बहुत ऊँची दर पर ऋण देते है जिसकी वसूली यदि द्रव्य में हो सकना सम्भव नही है तो अनाज के आधार पर करते है। प्राय. फसल के तैयार होने पर महाजन के ऋण का अधिकाश भाग अन्न के रूप मे देकर चुका दिया जाता है, जिसे महाजन या तो स्वयं अपने उपभोग के कार्य में लाता है या निकट अथवा दूर की व्यापारी मण्डियो में अवसर के अनुसार नफा लेकर बेच देता है। इस तरह महाजन गाँव के अनाज को बाहर भेजने का भी कार्य करता है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि महाजन और बैंक के कार्य मे एक अन्तर है। बैंक ऋण देते है और ऋण लेते भी है। उनके सदस्य उनमें अपना द्रव्य इत्यादि जमा कर देते है जिसका व्यापार इत्यादि में प्रयोग करके बैंक नफा कमाते है; परन्तु महाजन केवल ऋण देने का कार्य करता है। यह ऋण वह अपने पिता व पूर्वजो के सचित किये हुये द्रव्य में से देता है। प्राय. ग्रामीण जन अपने सोने चाँदी के आभूषणों को महाजन के पास गिरवी रखकर भी ऋण लेते है और ऋण चुका देने के पश्चात् आभूषण इत्यादि वापस ले जाते है। कभी सुरक्षा के विचार से भी मूल्यवान् वस्तुएँ इनके पास जमा कर दी जाती है जिसका आधार विश्वास होता है।

आवश्यकता पड़ने पर यद्यपि ये महाजन ग्रामीणो की सहायता करते है, परन्तु इनका व्यवहार ग्रामीणो के प्रति अच्छा नहीं होता है। ग्रामीणों की आर्थिक स्थिति मे अस्थिरता अधिक होती है। इस कारण महाजन उनसे सूद की ऊँची दर वसूल करते है, धोखा व जालसाजी करके उनको काफी हानि पहुँचाते है। भारत की अधिकाश कृषक व मजदूर जनता सूद ही चुकाते चुकाते मर जाती है। मूलधन चुका ही नही पाती है। इस प्रकार पिता द्वारा लिया हुआ ऋण पुत्र को चुकाना पड़ता है। ऋण देने

की महाजनी प्रथा के साथ ही साथ ऋण-भुगतान करने का कार्य भी नगगत चलता है। इससे महाजन को काफी लाभ होता है।

शहर में भी ऋण देने की यह प्रथा काफी प्रचलित है। साहूकार या सेठ लोग छोटे-छोटे व्यापारियो को ऊँचे सूद की दर पर ऋण देते है, उनकी मूल्यवान् वस्तुओं, आभूषण इत्यादि को गिरवी रखते है, हुण्डियाँ भुनते है और अन्य प्रकार के व्यापार भी करते है। इनकी पूँजी भी अधिकतर पिता व पूर्वजों द्वारा सचित पूँजी होती है और इनकी सूद की दर बैंक से अधिक होती है।

महाजन व साहूकार इत्यादि अपने ऋण के लेन-देन का नियमित हिसाब नही रखते है। वे अपने प्रत्येक कार्य को इस दृष्टि से करते है कि उसमें व्यय कम से कम हो और लाभ अधिक हो। ऋण लेने वाले को प्राय इनकी दया पर निर्भर रहना पडता है। इनके ऋण वसूल करने के ढग क्रूर होते है । ग्रामीणो की कठिनाइयो के प्रति इनका ध्यान नही होता है और अधिकतर उनकी जमीन, पशु इत्यादि छीनने से हिचकते नही है। अल्पकालिक दृष्टिकोण से महाजन व साहुकार इत्यादि ऋण लेनेवाले की सहायता करते हुये प्रतीत होते है, परन्तु भारतवर्ष की सामाजिक अवस्था व भारत के निर्धनो की परिस्थितियो के कारण इस ऋण का दीर्घकालिक प्रभाव बहुत हानिकारक सिद्ध हुआ ह।

इसमे किंचित् मात्र भी सन्देह नही है कि साहुकारी प्रथा का भारत की अधिकाश जनता पर काफी प्रभाव है। परन्तु बैंकिग की व्यवस्थित और सगठित प्रणाली की आधुनिक जगत् की आर्थिक उन्नति में बहुत बडी आवश्यकता है। उसके महत्व के सामने साहूकारी भारत की आर्थिक उन्नति में बाधक प्रतीत होती है। कृषि की उन्नति और घरेलू उद्योग-धन्धों के विकास में इस प्रथा से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक पहुँची है। जब भारत में रिजर्व बैंक की स्थापना हुई थी तब यह आशा की जाती थी कि वह कृषि व ग्राम-उद्योगो की उन्नति व उनके विकास के लिए योजना बनायेगा; परन्तु कुछ कारणो से यह आशा पूरी न हो सकी। रिजर्व बैंक ने साहूकारी प्रथा का बैंकिंग प्रथा से सम्बन्ध जोडने का काफी प्रयत्न किया, परन्तु महाजनो व साहूकारो ने रिजर्व बैंक के सुझावो व आदेशो पर चलना अस्वीकार कर दिया। सूद की दर कम करने, नियमित रूप से अपनी आर्थिक स्थिति की सूचना रिजर्व बैंक को भेजने और उचित रीति से लेन-देन का हिसाब रखने के लिए साहूकार और महाजन तैयार नही हुए। उन्होने बैंकिंग के अतिरिक्त अन्य व्यापारो को त्याग देने मे अपनी हानि समझी। इससे रिजर्व बैंक के सारे प्रयत्न असफल हो गये।

यदि यह प्रयत्न सफल हो जाते तो गाँवों को दो बहुत बड़े लाभ होते। उनकी बिखरी पूँजी एक स्थान पर जमा हो सकती थी। उसकी उपयोगिता में बहुत वृद्धि हो जाती। दूसरा लाभ यह होता कि इस पूँजी के आधार पर गाँवों में साख का निर्माण किया जा सकता था। सूद की दर कम होती और घरेलू उद्योगों व कृषि-विकास के कार्यों में द्रव्य लगाकर गाँवों की आर्थिक उन्नति की जा सकती थी। परन्तु अब भारतवर्ष स्वतन्त्र हो चुका है। हमारी राष्ट्रीय सरकार को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिये और भारतीय रिजर्व बैंक को ऐसी सुविधायें प्रदान करनी चाहियें जिनसे वह अपनी विकास की योजनाओं को कार्यान्वित कर सके।

अभ्यास के प्रश्न

१. रिजर्व बैंक का संक्षिप्त वर्णन कीजिये और उसके मुख्य लक्षण बतलाइये।
२. क्या रिजर्व बैंक उन उद्देश्यों को पूरा कर सका जिनके लिए उनका निर्माण किया गया था ?
३ भारत के व्यापारी बैंकों की कार्यप्रणाली में क्या त्रुटियाँ हैं ? उन्हें किस प्रकार दूर किया जा सकता है ?
४ इण्डियन फाइनैन्स कारपोरेशन का निर्माण क्यों किया गया ? क्या इस कारपोरेशन ने भारतीय उद्योग-धन्धों को उचित सहायता दी ?
५. भूमि-बन्धक बैंकों की क्या विशेषता है ? भारतीय भूमि-बन्धक बैंक किन नियमों के अनुसार कार्य करते हैं ?
६. साहूकारी प्रथा का भारतीय व्यापार, कृषि और उद्योग-धन्धों के लिए क्या महत्व है ? संक्षेप में बतलाइये कि इसको किस प्रकार आधुनिक बैंकिंग प्रणाली में सम्मिलित किया जा सकता है।

अध्याय २८

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक और द्रव्य-कोष

द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त दो बडी महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ का निर्माण हुआ। इन दोनो सस्थाओ के उद्देश्य भिन्न-भिन्न है। अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष (International Monetary Fund) द्रव्य की अल्पकालीन समस्याओ से सम्बन्ध रखता है और अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (International Bank for Reconstruction and Development) द्रव्य की दीर्घकालीन समस्याओ से सम्बन्ध रखता है। ये दोनो सस्थायें द्रव्य-क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के उज्ज्वल उदाहरण है।

प्रत्येक देश में भिन्न-भिन्न प्रकार की मुद्राओ का प्रयोग किया जाता है और एक दूसरे से उनकी विनिमय की दरे भी विभिन्न होती है। उदाहरणार्थ एक रुपया पाउण्ड में १ शि० ६ पे० के बराबर होता है और १ पाउण्ड किसी समय मे ४ ८६६ डौलरो के बराबर था। व्यापार की उन्नति के लिए यह आवश्यकता है कि मुद्राओ की विदेशी विनिमय दर में आकस्मिक और सम्भावना से अधिक परिवर्त्तन न हो। स्वर्ण-मान (Gold Standard) की एक विशेषता यह थी कि वह विनिमय की दरो को स्थायी रखता था। परन्तु अब किसी भी देश मे स्वर्ण मुद्रा-मान नही है। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व प्रत्येक बडे बडे देश ऐसे कुछ प्रबन्ध करते थे जिससे उनके विनिमय की दरें स्थायी रहे। परन्तु बिना अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के इस कार्य मे बडी कठिनाई पडती थी और प्रत्येक देश में परस्पर एक प्रकार का असन्तोष और सन्देह उत्पन्न हो जाता था, जिससे आपस में द्वेष बढता था और मुद्रा की विनिमय की दरो में व्यर्थ का अन्तर उत्पन्न हो जाता था। इन सब समस्याओ, सन्देहो और असन्तोपो को दूर करने के लिए सयुक्त राष्ट्र (United Nations) की एक कान्फ्रेन्स ब्रटन वुड्स् (Bratton Woods) में १९४५ में हुई। जिसके परिणाम स्वरूप इन दो अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ का निर्माण हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने मार्च १९४७ से कार्य करना आरम्भ किया। इसके उद्देश्य निम्नलिखित है :—

(१) द्रव्य-विनिमय के अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे सहयोग की भावना का प्रसार करना और अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-विनिमय की समस्याओ को सुलझाने में सहयोग प्राप्त करने के लिए तथा उनपर विचार-विमर्श करने के लिए एक सस्था को जन्म देना।

(२) विनिमय की दरो मे स्थायित्व (Stability) लाना, अपने सदस्यो के विनिमय के लिए उचित प्रवन्ध करना और विनिमय-मान मे परस्पर स्पर्धा के कारण कमी न आने देना।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय शेष भुगतान (Balance of Payment) मे अल्पकालीन सन्तुलन स्थापित करना।

(४) अपने सदस्य देशो के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की उनके अपने देश मे सामाजिक एव राजनैतिक नीतियो पर चलने की स्वतन्त्रता के अधिकार मे बिना हस्तक्षेप किये उन्नति कराना।

(५) (अ) अस्थायी लेन-देन में विभिन्न प्रकार की भुगतान की विधियो की स्थापना में सहायता देना।

(ब) विदेशी विनिमय की बाधाओ को दूर करना जो विश्व के व्यापार की उन्नति मे अडचने डालती हैं।

इस अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष मे ससार के ४७ देशो ने सहयोग दिया है और ३० अप्रैल १९५० को इसकी कुल पूंजी (Share Capital) ७९२ १५ करोड अमरीकन डौलर थी। जिसमे हर एक देश का उसकी आर्थिक स्थिति और उसके महत्व के अनुसार कोटा (Quota) निश्चित किया गया है। पाँच वडे देशो का कोटा इस प्रकार है—

देश	कोटा (करोड अमेरिकन डौलर)
अमेरिका (U.S A)	२७५
ग्रेट ब्रिटेन (United Kingdom)	१३०
चीन (China)	५५
फ्रान्स (France)	५२ ५
भारत (India)	४०

इस सस्था के कार्य में प्रत्येक देश को उसके कोटे के अनुपात में ही वोट (Vote) देने का अधिकार है और समय पडने पर प्रत्येक देश इस सस्था से अपने कोटे के आधार पर ऋण ले सकता है। द्वितीय महा-युद्ध के उपरान्त कुछ समय के लिए भारतवर्ष, ग्रेट ब्रिटेन व अन्य देशो मे अमेरिकन डौलरो की वडी कमी पड गयी। उस कमी को पूरा करने के लिए इन देशो ने अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष से अमेरिकन डौलर उधार लिए और इस प्रकार अपनी मुद्राओ के विदेशी मूल्य कम होने से रोके। अन्य देशो ने भी समय समय पर आवश्यकतानुसार जिस देश को मुद्रा की आवश्यकता पडी वह इस कोष से ऋण ले ली। कितने ही देशों ने प्रारम्भ से ही इस कोष से द्रव्य ऋण लिया। प्रारम्भ से लेकर ३० अप्रैल १९५० तक सदस्य देशो ने इस अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष से अपनी मुद्रा के वदले में ७७ ७२ करोड अमेरिकन डौलरो के बराबर विदेशी

मुद्रायें ली। जिसमें ने ग्रेट ब्रिटेन ने ३० करोड अमेरिकन डौलरो का, फ्रान्स ने १२५ करोड अमेरिकन डौलरो का और भारत ने १० करोड अमेरिकन डौलरो का ऋण लिया। जब इन देशो का निर्यात (Export) बढेगा और जब इनके पास विदेशी मुद्रा की मात्रा आवश्यकता से अधिक होगी, ये देश उस मात्रा को इस कोष मे ऋण के भुगतान के रूप मे दे देंगे। इस प्रकार इन देशो की मुद्राओ की विदेशी विनिमय की दरो मे अवाछित परिवर्तन होने से बच गया। इस कोष के नियमो के अनुसार प्रत्येक देश आवश्यकता पडने पर अपनी मुद्रा की विदेशी विनिमय की दर को १०% घटा-बढा सकता है। इसके अतिरिक्त इस कोष की आज्ञा से १०% की घटती-बढती और कर सकता है। यद्यपि इस कोष का उद्देश्य विदेशी विनिमय की दरो को स्थिर रखना है, परन्तु प्रत्येक देश को यह अधिकार है कि कुछ सीमा तक उसमे परिवर्तन भी कर सके। सितम्बर १९४९ में जब भारत, ग्रेट ब्रिटेन इत्यादि देशो ने अपनी मुद्राओ का डौलर मे विदेशी मूल्य कम किया था तब इस कोष ने इस कार्य में सहायता की थी। यह कहना अनुचित न होगा कि इस कोष ने विनिमय की दरो को स्थिर रखने का कार्य बडी कुशलता से किया।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने मई १९४७ से कार्य करना आरम्भ किया। इस बैंक का उद्देश्य यह है कि जो देश आर्थिक उन्नति मे पिछडे हुए है वह उनको द्रव्य ऋण देकर उनकी उन्नति मे सहायक हो। दुनिया के सभी देश उन्नति के एक ही स्तर पर नही है। कुछ देश बहुत पिछडे हुए है और कुछ देश बहुत आगे बढे हुए है। इससे विदेशी व्यापार मे कमी होती है और परस्पर द्वेष-भावना फैलती है। इससे यह अनुभव किया गया कि यदि सभी देश जितना सभव हो सके उतनी उन्नति कर ले तो इससे सब देशो का लाभ हो सकेगा। इस उन्नति के लिये द्रव्य की आवश्यकता है, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-बाजार की ऐसी स्थिति है कि जो देश आर्थिक दृष्टि से पिछडे हुए है वह इसके लिये आवश्यक पूंजी एकत्रित नही कर सकते है। इसलिये अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का निर्माण किया गया जिससे उन देशो को द्रव्य मिल सके।

जो देश अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष के सदस्य है वे इस सस्था के भी सदस्य है और प्रत्येक का 'कोटा' भी उसी के अनुसार निश्चित है। प्रारम्भ से लेकर मार्च १९५१ तक इस बैंक ने १०८.९९ करोड अमेरिकन डौलर अन्य देशो को ऋण दिये। इसमें से भारतवर्ष को तीन बार निम्नलिखित विवरण के अनुसार ऋण मिला—

ऋण का उद्देश्य	ऋण की मात्रा (अमेरिकन डौलर)	सूद की दर	समय जिसके लिए ऋण मिला
(१) रेलो का पुनर्निर्माण	३४,०००,०००	४%	१९५०–१९६४
(२) कृषि के लिए मशीने	१०,०००,०००	३½%	१९५२–१९५६
(३) विद्युत्-शक्ति का विकास	१८,५००,०००	४%	१९५५–१९७०

इस सस्था की कार्य-प्रणाली मे कई त्रुटियाँ रही है। इसने अधिकतर ऋण यूरोप व अमेरिका के देशो को दिया और एशिया के देशो को बहुत कम। इससे इस सस्था का उद्देश्य पूरा नही हो सका है, क्योकि यूरोप के देशो की अपेक्षा एशिया के देश अधिक पिछडे हुये है। उनको ही अधिक आर्थिक सहायता की आवश्यकता है। अन्तर्राष्ट्रीय सस्था में इस प्रकार का भेद-भाव उचित नही कहा जा सकता है। उसे पक्षपात रहित होकर अपने उद्देश्य की पूर्ति का प्रयत्न करना चाहिये। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय बैंक यह नही कर सका है।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने ऋण देने के लिए अत्यन्त सकीर्णता से कार्य किया। उसके नियमानुसार ऋण लेने वाले देश को अपनी योजना एक विशेष प्रकार की बनानी पडती है, जिसका अन्तर्राष्ट्रीय बैंक अध्ययन करता है और इसके पश्चात् कई अन्य प्रश्नो पर विचार करके ऋण देने की स्वीकृति या अस्वीकृति देता है। यह इस बात पर भी विचार करता है कि योजना में जितना द्रव्य लगा है वह उसके कार्यान्वित होने से वसूल हो सकेगा या नही। परन्तु बहुत-सी ऐसी योजनायें होती है जो पूर्णतया निश्चित (Definite) योजनायें नही कही जा सकती ह। इस कारण इस बैंक ने इन योजनाओ को स्वीकृत नही किया और कई देशो के विकास में इससे बहुत हानि हुई है।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की सूद की दर भी बहुत अधिक रही है। दीर्घ-कालीन ऋण के हेतु सूद की दर कम होनी चाहिये। परन्तु इसकी बढी हुई दर से भी बहुत से देश ऋण लेने से हिचकते है।

अभ्यास के प्रश्न

१. अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष क्या है? इसका उद्देश्य समझाइये और इसकी कार्य-प्रणाली पर प्रकाश डालिये।
२. अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोप किन उद्देश्यो के लिए ऋण देता है? उससे द्रव्य की विदेशी विनिमय की दर में स्थिरता किस प्रकार रहती है, समझाकर लिखिये।
३. अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के क्या उद्देश्य है? क्या यह अपने उद्देश्यो की पूर्ति में सफल हो सका है?

राजकीय अर्थशास्त्र

अध्याय २६

राजस्व

समाज के विकास के साथ यह अनुभव हुआ कि कुछ मानवी आवश्यकताएँ ऐसी होती है जिनकी तृप्ति एक सामाजिक सस्था द्वारा अधिक मितव्ययता और सुगमता के साथ हो सकती है। साथ ही साथ मनुष्य को समाज में रहने के कारण कुछ ऐसी सामाजिक आवश्यकताओ का अनुभव होता है जिनकी पूर्ति के प्रयत्न करना कोई एक विशेष व्यक्ति अपना कर्तव्य नही समझता है। उदाहरणत अपने देश की सुरक्षा कोई व्यक्ति अपना उत्तरदायित्व नही समझता वरन् सारे समाज पर ही इसकी जिम्मेदारी होती है। इस कारण कुछ सामाजिक और सगठित आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए ही राष्ट्र का निर्माण हुआ। प्रारम्भ मे राष्ट्र एक 'पुलिस-स्टेट' ही था और उसका मुख्य कर्तव्य राष्ट्र की वाह्य आक्रमणो से सुरक्षा करना और आन्तरिक शान्ति व व्यवस्था स्थापित करना ही था। ऐसे राष्ट्र की आवश्यकताएँ कम थी और उनकी पूर्ति के लिए थोडी सी आय पर्याप्त होती थी। इस कारण राष्ट्र इने-गिने कुछ कर लगाता था और यह कोई आश्चर्य की वात नही कि ऐसी स्थिति मे राजस्व के सिद्धान्तो का विशेष महत्व व इनकी विशेष आवश्यकता भी न थी। परन्तु समाज के विकास के साथ साथ राष्ट्र के कार्यो का क्षेत्र भी वढता गया है। राष्ट्र के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वह उन सेवाओ का प्रवन्ध करे जो समाज के लिए आवश्यक है और जिनका प्रवन्ध करना या तो कोई व्यक्ति अपनी जिम्मेदारी न ही समझता जैसे सडकें वनाना, नगर मे सफाई रखना इत्यादि या जिनका प्रवन्ध किसी एक व्यक्ति पर छोडना समाज के लिए हितकर नही है, जैसे शिक्षा इत्यादि। गत वर्षों में अनेक नये नये आविष्कार और अनुसन्धान किये गये है जिनसे उत्पादन बडे पैमाने पर होता है। इन कारणो से ससार की उत्पादन शक्ति में अधिक वृद्धि हुई है और धन का उत्पादन बहुत वढ गया है। उत्पादन की वर्तमान रीतियो की यह प्रवृत्ति होती है कि उत्पादित धन का अधिकाश भाग कुछ इने-गिने व्यक्तियो के पास एकत्रित होता जाता है। इससे समाज में असमानता वढती जाती है। एक ओर

तो बडे बडे नगरो में करोडपतियो की विशाल अट्टालिकाएँ है और वहाँ से थोडी दूर पर निर्धनो की टूटी फूटी झोपडियाँ है। इसके साथ साथ शिक्षा का प्रसार भी होता गया जिससे जन साधारण जाग्रत हो गये और अपने अधिकारो की माँग करने लगे। ऐसी परिवर्तित होती हुई स्थिति मे यह आवश्यक था कि राष्ट्र की व्याख्या की व उसके कर्तव्यो की नये सिरे से छानबीन हो। वर्तमान राष्ट्र ने एक 'पुलिस-स्टेट' के रूप की अपेक्षा मानवी कल्याण के राष्ट्र का रूप धारण कर लिया है। राष्ट्र का उद्गम और अस्तित्व का कारण कुछ सामाजिक और सगठित आवश्यकताओ की पूर्ति करना है। इसलिए राष्ट्र एक सामाजिक सस्था है और उसका यह कर्तव्य हो जाता है कि वह इस सस्था का अधिकतम कल्याण करे। इस राष्ट्र की कुछ आवश्यकताएँ है। उन आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उसे प्रयत्न करने पडते है क्योकि ससार मे अभाव का प्रभाव है। जब राष्ट्र प्रयत्न करता है तभी उसकी आवश्यकताओ की पूर्ति होती है। राष्ट्र का मुख्य लक्ष्य समाज का अधिकतम सुख है और इस कारण वह ऐसे कार्य करता है जिससे समाज के सुख मे अधिकतम वृद्धि हो। इस लक्ष्य के अन्तर्गत ही वह शिक्षा, स्वच्छता, चिकित्सा इत्यादि की व्यवस्था करता है।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि जो राष्ट्र का लक्ष्य होगा उसीके अनुकूल हम अधिकतम सुख की व्याख्या कर सकते है। जैसे साम्राज्यवादी ब्रिटिश सरकार का लक्ष्य भारतवासियो का कल्याण नही था वरन् अपने देशवासियो का कल्याण और भारतवर्ष में अपनी शक्ति को प्रबल रखना था। इस कारण वह प्रत्येक कार्य को इस कसौटी पर ही जाँचते थे। इसी प्रकार हिटलर के विचार मे बन्दूकें मक्खन से अधिक आवश्यक थी क्योकि उसके राष्ट्र का कल्याण प्रसर नीति के अपनाने मे ही था और इसी कारण अन्य समस्त कार्य इस नीति के अनुसार ही किये जाते थे।

हम यहाँ एक ऐसे प्रजातन्त्र राष्ट्र का अध्ययन करते है जिसका लक्ष्य सारे समाज का अधिकतम कल्याण करना है, न कि किसी विशेष जाति या वर्ग का। भिन्न प्रकार के राष्ट्रो के लिए "अधिकतम कल्याण" का भिन्न अर्थ होगा, (जैसे साम्राज्यवादी ब्रिटिश सरकार और हिटलर की सरकार के लिए 'अधिकतम' कल्याण का भिन्न अर्थ है) और वह राष्ट्र अपने राजस्व का सचालन उन्ही आदर्शों की प्राप्ति को ध्यान मे रखकर करेंगे।

राजस्व राजकीय अर्थशास्त्र की महत्वपूर्ण शाखा है। राजकीय अर्थशास्त्र अब एक स्वतन्त्र विज्ञान समझा जाता है। जिस प्रकार अर्थशास्त्र एक व्यक्ति का हो सकता है उसी प्रकार वह एक राष्ट्र का भी हो सकता है। राष्ट्र की भी आवश्यकताएँ होती है। उन आवश्यकताओ की

पूर्ति के लिए राष्ट्र को भी एक व्यक्ति के समान प्रयत्न करने पडते है क्योकि ससार मे वस्तुएँ मुफ्त नही मिलती और उन प्रयत्नो द्वारा ही उसकी आवश्यकताओ की पूर्ति होती हैं। राजकीय अर्थशास्त्र स्वभावत ही सामाजिक विज्ञान है। यदि समाज न होगा तो राष्ट्र भी न होगा और राजकीय अर्थशास्त्र की कोई समस्या न उठेगी। रौबिन्सन क्रूसो के लिए न कोई राष्ट्र है और न वह किसी राज्य को कर देता है। उसके जैसे एकान्ती व्यक्ति की सभ्यता राजकीय अर्थशास्त्र या राजस्व के क्षेत्र के वाहर है।

राष्ट्रीय व व्यक्तिगत व्यय की तुलना—यह कहा जाता है कि एक व्यक्ति की आय स्थिर होती है और उसको अपना व्यय उस आय के अनुकूल ही करना होता है। परन्तु एक राष्ट्र पहले अपने व्यय का अनुमान लगाता है और फिर उतनी ही आय का प्रवन्ध करता है। यह अन्तर वहुत गहरा नही है क्योकि एक व्यक्ति का व्यय वढने पर वह अपनी आय अधिक परिश्रम करके वढा सकता है। दूसरी ओर राष्ट्र भी उतना ही व्यय कर सकता है जितना कर देने की शक्ति उसकी जनता मे हो। भारतीय सरकार यू० एस० ए० की सरकार के वरावर व्यय कदापि नही कर सकती।

एक व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी आय का कुछ भाग वचावे जिससे आवश्यकता के समय जव उसकी आय कम हो जाय या व्यय एकदम वढ जाय तो वह अपनी वचत से काम चला सके। परन्तु राष्ट्र के लिए अपने व्यय से अधिक आय एकत्रित करना आवश्यक नही है क्योकि आवश्यकता पडने पर वह अधिक कर लगा सकता है या अधिक ऋण ले सकता है।

कुछ लोगो का कथन है कि राष्ट्रीय व्यय अनिवार्य होता है जैसे राष्ट्र को सुरक्षा का प्रवन्ध करना ही होगा चाहे कुछ लोग उसके विरुद्ध ही हो या उसकी आवश्यकता न समझते हो। परन्तु एक व्यक्ति का व्यय उसकी इच्छा पर निर्भर होता है। यह अन्तर ठीक प्रतीत नही होता क्योकि कुछ व्यय एक व्यक्ति के लिए भी अनिवार्य होते हैं जैसे भोजन और कपडा। यदि वह इन आवश्यक वस्तुओ पर व्यय न करे तो उसका जीवित रहना ही असम्भव हो जाय।

राजस्व का सिद्धान्त

(Principle of Public Finance)

राष्ट्र की कुछ आवश्यकताएँ होती हैं। उनकी पूर्ति के लिए उसे व्यय करना पडता है जिनके लिए आय आवश्यक है। इस कारण राष्ट्र को इन

लगाने पडते है। इनसे हम देखते है कि राष्ट्र अपनी व्यय और आय की आर्थिक क्रियाओ द्वारा समाज के कल्याण में वृद्धि करता है। जब राष्ट्र कर लगाता है तो जनता को कुछ त्याग करना पडता है और उस कर का भार करदाता पर पडता है क्योंकि कर देने से करदाता की आय कम हो जाती है और जो उपयोगिता वह उस धन के व्यय से प्राप्त कर सकता था उससे वह वचित रह जाता है। जब राष्ट्र कुछ कर लगाता है तो प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय की अन्तिम इकाइयाँ ही या अन्तिम रुपये जिसकी उपयोगिता सबसे कम होती है वही राष्ट्र को देते है। जब राष्ट्र कर की दूसरी इकाई वसूल करता है तो करदाताओ को अपने सीमान्त रुपयो के पूर्व के रुपये, जिनकी उपयोगिता सीमान्त रुपयो से अधिक है, देने पडते है। इस कारण कर की उस द्वितीय इकाई के देने में करदाताओ को पहली इकाई की अपेक्षा अधिक उपयोगिता की हानि होती है। इससे स्पष्ट है कि जनता पर पहली इकाई की अपेक्षा दूसरी इकाई का अधिक भार पडता है। इस प्रकार जैसे जैसे कर की अधिक इकाइयाँ लगाई जाती है वैसे ही वैसे उन इकाइयो का जनता पर भार बढता जाता है। दूसरी ओर राष्ट्र कर की पहली इकाई, एक व्यक्ति के समान, अपनी अत्यन्त अनिवार्य आवश्यकता पर व्यय करता है जिससे उस इकाई के व्यय से उसको अधिकतम उपयोगिता प्राप्त होती है। कर की दूसरी इकाई ऐसी आवश्यकता पर व्यय की जायगी जिसकी पूर्ति से पहले की अपेक्षा कम उपयोगिता प्राप्त होगी। ऐसा सीमान्त उपयोगिता के ह्रास के नियम के अनुसार होता है जब कि वह नियम एक व्यक्ति की अपेक्षा राष्ट्र की आवश्यकताओ की पूर्ति पर लागू होता है। इस प्रकार हम देखते है कि जैसे-जैसे राष्ट्र अपनी आय की अधिक इकाइयाँ व्यय करता है वैसे-वैसे उन इकाइयो से प्राप्त उपयोगिता मे ह्रास होता है। साराश यह है कि एक ओर जैसे-जैसे कर की अधिक इकाइयाँ जनता पर लगाई जाती है उन इकाइयो का भार जनता पर बढता जाता है। दूसरी ओर जब वह आय व्यय की जाती है तो उन इकाइयो से प्राप्त उपयोगिता मे ह्रास होता जाता है। इस कारण एक समय ऐसा आयेगा जहाँ भार और उपयोगिता समान हो जायेंगे। यदि राष्ट्र इस सीमा से अधिक कर लगायेगा तो उस कर का भार उसके व्यय करने से प्राप्त उपयोगिता से अधिक होगा जिससे कुल लाभ मे ह्रास होगा। इस कारण आय-व्यय द्वारा अधिकतम लाभ तभी होता है जब सीमान्त व्यय द्वारा प्राप्त उपयोगिता सीमान्त कर द्वारा भार के बराबर या कुछ अधिक होती है। राष्ट्र को इस सीमा तक ही कर लगाना चाहिये और इसी सीमा तक व्यय करना चाहिए। इसीसे राजकीय आय-व्यय द्वारा जनता का अधिकतम लाभ होता

हैं और इसी को राजस्व का सिद्धान्त कहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्र अपने आय-व्यय के कार्यों द्वारा जनता के लाभ या कल्याण में वृद्धि करता है। यदि राष्ट्र न हो तो समाज या जनता इस वृद्धि से वंचित ही रह जाय।

कार्यों का विभाजन

अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में राज्य को यह अनुभव होता है कि कुछ कार्य अधिक मितव्ययता और सुगमता से हो सकते हैं जब उनका केन्द्रीयकरण कर दिया जाय, और कुछ कार्य अधिक मितव्ययता और सुगमता से तब हो सकते हैं जब उनका विकेन्द्रीयकरण कर दिया जाय। उदाहरणत सुरक्षा का केन्द्रीयकरण करना आवश्यक है। सेना की संख्या, उसकी स्थिति और युद्ध-सामग्री के कारखानों की स्थिति इत्यादि का निर्णय किसी एक नागरिक संस्था या नगर के निवासियों पर नहीं छोड़ा जा सकता है क्योंकि विभिन्न नागरिक संस्थाएँ विपरीत निर्णय करेंगी। कलकत्ते के निवासी यह अनुभव करेंगे कि अधिकतर सेना कलकत्ते के पास ही रहनी चाहिए जिससे उनकी रक्षा का पूरा प्रबन्ध हो सके। अमृतसर या आसाम के रहनेवाले इसके विपरीत निर्णय करेंगे। देश के हित में इसका उचित निर्णय कि कितनी सेना किस स्थान पर रहनी चाहिए अखिल भारतीय अधिकारी संस्था द्वारा ही किया जा सकता है। दूसरी ओर कुछ ऐसे कार्य हैं जैसे नगर की सड़कें, सफाई, पानी की सप्लाई, प्रारम्भिक शिक्षा इत्यादि, जिनका निर्णय स्थानीय संस्थाओं पर ही छोड़ना होगा क्योंकि न तो केन्द्रीय सरकार उनकी देखभाल व जाँच कर सकेगी और न उसे उनका इतने विस्तार से परिचय होगा जितना स्थानीय संस्थाओं को होता है। इसी प्रकार कुछ कर केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाने में सुविधा होती है जैसे आय-कर। यदि एक मिल बम्बई में कपड़े का उत्पादन करती है और उसको उत्तर प्रदेश में बेचती है तो बम्बई और उत्तर प्रदेश की सरकारें उस पर कर लगाने के अधिकार का दावा करेंगी जिससे उत्पादन और व्यापार को हानि पहुँचेगी। इसी प्रकार सफाई का कर एक स्थानीय संस्था सुगमता से वसूल कर सकती है। इन कारणों से कार्यों और करों का विभाजन आवश्यक हो जाता है चाहे संघ-सरकार (Federal Form of Government) हो जैसे भारतवर्ष और यू० एस० ए० इत्यादि या एकात्मक सरकार (Unitary Form of Government) हो जैसे ब्रिटेन। साधारणत संघ-सरकार में केन्द्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय सरकारें होती हैं।

राजस्व के विभाग

राजस्व में हम राज्य की आय और व्यय सम्बन्धी कार्यों का अध्ययन करते हैं। यह कार्य साधारणत. निम्नलिखित चार भागों में बाँटे जाते हैं —

(१) राजकीय व्यय (Public Expenditure)—इसके अन्तर्गत राजकीय व्यय की रीतियो व सिद्धान्तो का अध्ययन होता है और यह निर्णय किया जाता है कि राष्ट्र को किन कार्यों पर कितना व्यय करना उचित है।

(२) राजकीय आय (Public Revenue)—इसके अन्तर्गत हम यह अध्ययन करते है कि राजकीय आय किन किन स्रोतो से आती है और राज्य को किन किन रीतियो और सिद्धान्तो से वह आय एकत्रित करनी चाहिए।

(३) राजकीय ऋण (Public Debt)—राज्य को कभी कभी ऋण भी लेना पडता है। इसकी आवश्यकता तव होती है जब उसका व्यय उसकी आय से अधिक हो। आय आने में समय लगता है और उस बीच में व्यय करने के लिए राज्य को कर लेना पडता है। राज्य को विकास की योजनाओ (Development Schemes) के लिए भी ऋण लेना पडता है क्योकि राज्य की साधारण आय से इन योजनाओ का व्यय पूरा नही होता। इस प्रकार युद्ध या ऐसी अदृष्ट आकस्मिक घटनाओ के अवसर पर भी ऋण लेना पड़ता है क्योकि ऐसी स्थिति में व्यय अकस्मात् वहुत बढ जाता है और आय में उतनी जल्दी व्यय के अनुपात मे वृद्धि नही होने पाती। ऋण वास्तव मे एक प्रकार का भविष्य का कर है क्योकि जव उसका भुगतान होता है तो वर्तमान की अपेक्षा राज्य को उस समय कर लगाना पडता है। इसके अतिरिक्त राज्य जिससे ऋण लेता है उसीको उसका भुगतान करता है। परन्तु कर लगाने में यही व्यवहार नही किया जाता अर्थात् राज्य के लिए यह आवश्यक नही कि जिससे कर वसूल किया जाय उसी पर व्यय करे।

(४) राजस्व का प्रवन्ध (Financial Administration)—इसके अन्तर्गत हम राजकीय आय-व्यय और ऋण की समस्याओ के वास्तविक प्रवन्ध का अध्ययन करते है। इसमें यह भी अध्ययन करते है कि राज्य का वजट किस प्रकार तैयार किया जाता है और किस प्रकार उचित अधिकारियो द्वारा स्वीकृत किया जाता है और किस प्रकार राज्य अपनी आय और व्यय वजट के अनुसार ही करता है। इसके अन्तर्गत राज्य के आँकडो और आय-व्यय के हिसाब की जाँच (Audit) भी होती है।

साधारणत राज्य को अपनी आय-व्यय का सन्तुलित वजट वनाना चाहिए। यदि उसके वजट में घाटा है (अर्थात् आय व्यय से कम है) तो इसका अर्थ यह है कि वह वर्तमान में आवश्यकता से कम कर लगा रही है जिस कारण इस घाटे को पूरा करने के लिए उसे भविष्य में अधिक कर लगाना होगा। यदि वह उस घाटे को चुकाने का प्रयत्न न

[illegible] चाहिए, [illegible] चाहिए कि [illegible] आय। [illegible] चाहिए [illegible] जाय। [illegible] करना चाहिए जिससे समाज [illegible] की वृद्धि हो जाय और उत्पादन में सहायता मिलने से बेकारी भी कमी हो। सारांश यह है कि राज्य को अपना वार्षिक घाटा या बचत समाज की आवश्यकता के अनुसार बदलते रहना चाहिए।

राजकीय आय के स्रोत

राजकीय आय के स्रोत निम्नलिखित है —

(१) राज्य की सम्पत्ति (Public Domain) —राज्य कुछ भूमि, खानें, इमारतें इत्यादि का स्वामी होता है और उनसे राज्य को कुछ आय प्राप्त होती है।

(२) जुर्माना (Fines) —जो लोग राज्य के कानूनो व नियमो का उल्लघन करते हैं उनसे राज्य जुर्माना वसूल करता है। इसका उद्देश्य आय नही होता परन्तु लोगो को कानून न तोडने के लिए बाध्य करना होता है।

(३) भेंट (Gifts) —कुछ लोग राज्य को भेट देते हैं जिससे वह उस धन को जनता के हित में व्यय कर सके।

(४) मूल्य (Price) —राज्य कुछ वस्तुओ और सेवाओ का उत्पादन करके उनका क्रय करता है। कभी कभी उन वस्तुओ का मूल्य लागत से अधिक होता है जिससे राज्य को नफा होता है। जब कोई

व्यक्ति उन वस्तुओं का मूल्य देता है उसको उन वस्तुओं के प्रयोग से प्रत्यक्ष लाभ होता है। उदाहरणत. राज्य पोस्टकार्ड, लिफाफे मूल्य लेकर बेचता है।

(५) सरकारी शुल्क (Fees).—कुछ सेवाएँ प्रदान करने के लिए सरकार शुल्क लेती है। वह सेवाएँ राज्य प्रधानतः जनता के हित के लिए करता है परन्तु शुल्क देनेवाले को उन सेवाओं से विशेष लाभ मिलता है, जैसे शराब बेचने के लाइसैन्स की फीस या कोर्टफीस।

(६) कर (Tax) —राज की आय अन्य स्रोतों से पर्याप्त नहीं होती इस कारण उसको कर लगाना पड़ता है। कर का मुख्य लक्ष्य राज्य के लिए आय एकत्रित करना है। कर वह धन है जो जनता राज्य के व्यय के लिए राज्य को देती है। राज्य के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह जिससे कर वसूल करे उसको उसीके हित में व्यय करे। जैसे राज्य कर बिड़ला से वसूल करती है और शिक्षा पर व्यय कर देती है चाहे बिड़ला के सन्तान ही न हो जो शिक्षा का लाभ उठा सके।

(७) विशेष उघाई (Special Assessment) —जब राज्य कोई सड़क, बाजार इत्यादि बनाती है तो आसपास के रहनेवालों को विशेष लाभ होता है। इस कारण कभी कभी राज्य उस विशेष लाभ को ध्यान में रखकर उन लोगों से विशेष उघाई करता है।

(८) अनिवार्य शुल्क (Compulsory Contribution).—यह कर के समान ही होता है परन्तु किसी विशेष अवसर या विशेष उद्देश्य के लिए लगाये जाते हैं। जैसे शरणार्थियों को बसाने के लिए राज्य कुछ लोगों से अनिवार्य शुल्क वसूल कर सकता है।

अभ्यास के प्रश्न

१ राष्ट्रीय व व्यक्तिगत व्यय की तुलना कीजिये।

२ राजकीय अर्थशास्त्र से आप क्या समझते हैं? राजस्व का महत्व समझाइये।

३. राजस्व के सिद्धान्त पर प्रकाश डालिये।

४ राजस्व के मुख्य विभागों का वर्णन कीजिये।

५ राजकीय आय के मुख्य स्रोतों का वर्णन कीजिये।

अध्याय ३०

राजकीय व्यय और कर के सिद्धान्त

राजकीय व्यय का सिद्धान्त

(Principle of Public Expenditure)

राज्य को धन का व्यय करने से कुछ उपयोगिता या लाभ प्राप्त होता है। राज्य में रहनेवाले व्यक्तियो और समाज को जो इस व्यय से कुल लाभ होता है वही राज्य का कुल लाभ कहलाता है। राज्य को, एक व्यक्ति के समान, व्यय करते समय इस लाभ की मात्रा अधिकतम करने का प्रयत्न करना चाहिए जिससे जनता और समाज का अधिक भला हो सके। यदि सम-सीमान्त उपयोगिता के नियम * को राज्य के व्यय पर लागू किया जाय तो यह लाभ अधिकतम तभी होता है, जब—

$$\frac{\text{'अ' कार्य पर व्यय करने से प्राप्त उपयोगिता या लाभ}}{\text{'अ' कार्य पर व्यय की मात्रा ।}}$$

$$= \frac{\text{'ब' कार्य पर व्यय करने से प्राप्त उपयोगिता या लाभ}}{\text{'ब' कार्य पर व्यय की मात्रा ।}}$$

$$= \frac{\text{'स' कार्य पर व्यय करने से प्राप्त उपयोगिता या लाभ}}{\text{'स' कार्य पर व्यय की मात्रा ।}}$$

साराश यह है कि राज्य को अपने विभिन्न कार्यों पर व्यय इस प्रकार करना चाहिए कि प्रत्येक कार्य पर व्यय की मात्रा और उससे प्राप्त लाभ या उपयोगिता का अनुपात समान हो। इससे स्पष्ट है कि राजकीय व्यय का सिद्धान्त अधिकतम लाभ (Principle of Maximum Benefit) प्राप्त करने का ही सिद्धान्त है । इस सिद्धान्त को हम **सम-सीमान्त राजकीय या सामाजिक लाभ (या उपयोगिता) का सिद्धान्त** (Principle of Equi-marginal Social Benefit) भी कह सकते है । इस नियम के अन्तर्गत राष्ट्र को निर्धनो पर अधिक व्यय और धनी व्यक्तियो पर कम व्यय करना चाहिए, क्योकि निर्धनो की आवश्यकता धनी व्यक्तियो की अपेक्षा अधिक होती है। धनवानो के पास अधिक सम्पत्ति होती है और निर्धनो के पास कम। इस कारण जब राज्य कुछ व्यय निर्धनो के भले के लिए करता है तो उन व्यक्तियो को (इस लाभ का योग ही राज्य और समाज का लाभ है) धनवानो पर व्यय

---

* पृष्ठ ४४ देखिये।

करने से प्राप्त लाभ की अपेक्षा अधिक लाभ होता है। उदाहरणतः यदि राज्य निर्धनो की चिकित्सा के लिए औषधालय खोलता है तो उनसे निर्धनो को धनवानो की अपेक्षा अधिक लाभ होता है क्योंकि धनवानों के पास अपनी चिकित्सा करवाने के साधन है और उनके व्यय करने में उनको अपने धन के छोटे से भाग का ही त्याग करना पड़ता है क्योंकि उनकी आय और सम्पत्ति निर्धनो की अपेक्षा अधिक होती है। इस कारण राज्य को धनवानो की अपेक्षा निर्धनो पर अधिक व्यय करना अनिवार्य हो जाता है।

कर का सिद्धान्त (Principle of Taxation)

राज्य को व्यय करने के लिए आय की आवश्यकता होती है। इस कारण उसको जनता पर कर लगाने पडते है। राज्य को कर चुकाने से जनता को त्याग (Sacrifice) करना पडता है क्योंकि कर देने से जनता की आय कम हो जाती है। इस कारण जब कर द्वारा राज्य आय प्राप्त करता है तो कर देने का बोझा करदाताओं पर पडता है। राज्य को यह प्रयत्न करना चाहिए कि यह बोझा न्यूनतम हो। यह बोझा तभी न्यूनतम होता है जब प्रत्येक करदाता का सीमान्त त्याग (Marginal Sacrifice) समान हो या जहाँ तक सभव हो लगभग समान हो। यदि विभिन्न करदाताओ का सीमान्त त्याग समान नही है तो जनता का कुल त्याग (जो विभिन्न करदाताओ के त्याग का योग है) न्यूनतम नही हो सकता। यह एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा। मान लीजिये कि राज्य 'अ' और 'ब' दो व्यक्तियो पर कर लगाता है तो उनको प्रत्येक कर की इकाई देने से निम्नलिखित अनुपात में त्याग करना पड़ता है।*

		'अ'	'ब'
पहली	इकाई	१०	८
दूसरी	,,	११	१०
तीसरी	,,	१२	१२
चौथी	,,	१४	१४
पाँचवी	,,	१८	१६

अब यदि राज्य को ६ इकाइयाँ कर द्वारा वसूल करनी है और वह पाँच इकाइयाँ 'ब' से वसूल करता है और एक इकाई 'अ' से तो कुल त्याग न्यूनतम नही होगा क्योकि 'अ' और 'ब' का सीमान्त त्याग समान या लगभग समान नही है। 'अ' का सीमान्त त्याग १० है और 'ब' का १६। यदि 'ब' पर एक इकाई कम कर लगाया जाय और 'अ' पर एक इकाई

* त्याग की मात्रा बढती जाती है जैसा कि पृष्ठ ४ पर समझाया है।

अधिक, तो 'ब' का त्याग १६ से घट जायगा और 'अ' का त्याग ११ से बढ़ जायगा जिससे 'अ' और 'ब' के त्याग के योग मे १६–११ = ५ की कमी हो जायगी। इसके उपरान्त 'अ' का सीमान्त त्याग ११ हो जाता है और 'ब' का सीमान्त त्याग १४ तो अब भी यदि 'ब' पर कर की एक इकाई कम कर दी जाय तो उसका त्याग १४ से घट जायगा और यदि वही इकाई 'अ' से वसूल की जाय तो 'अ' का त्याग १२ से बढ जायगा जिससे 'अ' और 'ब' के कुल त्याग में १४–१२ = २ की कमी हो जायगी। अब 'अ' और 'ब' दोनों का सीमान्त त्याग १२ के बराबर है और इस ही स्थिति में कुल त्याग न्यूनतम है। यदि अब 'ब' पर एक इकाई कम कर लगाया जाता है तो उसका त्याग १२ से घट जाता है परन्तु जब वही इकाई 'अ' से वसूल की जाती है तो उसका त्याग १४ से बढ जाता है जिससे कुल त्याग मे २ की वृद्धि होती है। इससे स्पष्ट है कि कुल त्याग का योग न्यूनतम तभी होता है जब प्रत्येक व्यक्ति का सीमान्त त्याग बराबर या लगभग बराबर हो।

राज्य का उद्देश्य किसी एक विशेष व्यक्ति या वर्ग के कुल त्याग को न्यूनतम करना नही होता वरन् समाज के कुल व्यक्तियो के त्याग को न्यूनतम करना होता है। इसी कारण वह प्रत्येक व्यक्ति के सीमान्त त्याग को समान करने का प्रयत्न करता है और यह प्रयत्न नही करता कि प्रत्येक व्यक्ति का कुल त्याग दूसरे व्यक्तियो के समान हो। इसी सिद्धान्त को कर का सिद्धान्त कहते है और इसको हम न्यूनतम त्याग या कर के न्यूनतम भार का सिद्धान्त (Principle of Least Aggregate Sacrifice) कह सकते है। कर लगाने में न्याय और समानता का उद्देश्य तभी पूर्ण होता है जब कर उक्त सिद्धान्त के अनुसार लगाया जाय।

उक्त व्यय और कर के सिद्धान्त राजस्व के सिद्धान्त से भी प्राप्त किए जा सकते है। राजस्व का सिद्धान्त है कि राजकीय आय-व्यय द्वारा जनता का अधिकतम लाभ हो। राज्य की आय से जनता पर बोझा पडता है और राज्य के व्यय से जनता का भला होता है। इस कारण आय-व्यय के त्याग और लाभ का अन्तर अधिकतम लाभ तभी होगा जब आय द्वारा त्याग न्यूनतम हो और व्यय द्वारा प्राप्त लाभ अधिकतम हो।

कर के नियम (Canons of Taxation)

एडम स्मिथ (Adam Smith) ने कर के चार मुख्य नियम बतलाये थे। वह नियम समानता, मितव्ययता निश्चितता और सुविधा के नियम है। एडम स्मिथ के उपरान्त कुछ और नियम भी बतलाये गये है। इन सब नियमो का विवरण नीचे दिया गया है। ये सब नियम कर के सिद्धान्त से ही प्राप्त किए जाते है।

(१) समानता (Equality) :—राज्य के प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सामर्थ्य के अनुपात मे कर देने चाहिएँ। अर्थात् अधिक सामर्थ्यवान् व्यक्तियो को कर का अधिक बोझा सहना चाहिए तभी कुल भार न्यूनतम हो सकता है। समानता के नियम का यह अर्थ नही है कि प्रत्येक व्यक्ति समान मात्रा मे कर दे। परन्तु उसका अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामर्थ्य के अनुपात मे कर दे। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति का कर देने का सीमान्त बोझा समान हो और तभी कुल बोझा न्यूनतम होगा। इस नियम के अन्तर्गत कर प्रणाली प्रगतिशील (Progressive) होनी चाहिए।

(२) मितव्ययता (Economy) —कर वसूल करने का खर्च कर की आय के अनुपात मे कम होना चाहिए। इस नियम का यह सकीर्ण अर्थ है। इसी नियम का व्यापक अर्थ यह है कि कर ऐसे होने चाहिएँ कि उनका बुरा प्रभाव बचत, पूँजी लगाने के कार्य और उत्पादन पर न्यूनतम पडे। अर्थात् करो से करदाताओ की आर्थिक स्थिति, व्यापार और उत्पादन इत्यादि पर कम से कम हानि पहुँचनी चाहिए और तभी करो का बोझा न्यूनतम होगा।

(३) निश्चितता (Certainty) .—कर ऐसे होने चाहिएँ कि उनके देने का समय, कर की मात्रा और उसके चुकाने की रीति करदाताओ को स्पष्ट और निश्चित रूप से मालूम होनी चाहिए। राज्य को भी निश्चित रूप से पता होना चाहिए कि कौन व्यक्ति कितना कर देगा और कब देगा। कर की मात्रा इत्यादि कर विभाग के अधिकारियो की स्वच्छन्द इच्छा पर निर्भर नही होनी चाहिए अन्यथा वे अपनी मनमानी करेंगे और जनता को कष्ट पहुँचेगा। कर प्रणाली इसी कारण निश्चित होनी चाहिए जिससे उसका भार न्यूनतम हो।

(४) सुविधा (Convenience) —कोई भी कर ऐसे समय और ऐसे ढग से वसूल करना चाहिए जिससे करदाता उन्हें सुविधापूर्वक चुका सकें। जैसे मालगुजारी फसल के समय चुकाने में किसान को सुविधा होती है और आय-कर आय प्राप्त होने के समय सुविधापूर्वक चुकाया जा सकता है। यदि कर ऐसे समय वसूल किए जायँ जब उनके चुकाने में अधिक कष्ट हो तो उन करो का बोझा न्यूनतम नही हो सकता।

(५) लचक (Elasticity) .—अच्छे कर लचीले होते है जिससे धन, उत्पादन और जनसख्या की वृद्धि के साथ साथ उन करो की आय भी बढ जाती है। आवश्यकता पडने पर यदि उन करो की दर बढा दी जाय तो उन करो की आय आसानी से बढ जाती है जिससे राज्य को नवीन कर नही लगाने पडते, जो जनता को अधिक हानिकारक

और कष्टप्रद प्रतीत होते हैं। लचीली कर प्रणाली से करो का भार जनता को कम प्रतीत होता है।

(६) उत्पादकता (Productivity) —कर-प्रणाली ऐसी होनी चाहिए कि थोडे से ही कर लगाने से पर्याप्त आय वसूल हो जाय। बहुत प्रकार के कर लगाने से राज्य को भी कठिनाई होती है और जनता को भी अधिक कष्ट सहना पडता है।

(७) सरलता (Simplicity) —कर सरल और स्पष्ट होने चाहिएँ जिससे करदाता उन्हें आसानी से समझ सके। यदि कर पेचीदे और जटिल होते हैं तो जनता को उनके समझने में बाधाएँ पडती हैं जिससे करदाताओ को उनके चुकाने मे अधिक कठिनाइयाँ सहन करनी पडती है।

(८) भिन्नता (Diversity) —राज्य की कर-प्रणाली में अनेक प्रकार के कर होने चाहिएँ। यदि राज्य एक या दो प्रकार के ही कर लगाता है तो यह सम्भव है कि उन करो द्वारा वह कुछ व्यक्तियो से कुछ भी आय वसूल न कर सके। जैसे, यदि राज्य केवल आय-कर ही लगाता है तो वह लोग जो अपनी आय राज्य से छिपा सकते है, कर देने से बिल्कुल बच सकते है। यह कर निर्धन और साधारण व्यक्तियो पर भी नही लगाया जा सकता क्योकि उन वर्गो पर यह कर लगाने से इसकी वसूली की लागत बहुत अधिक होती है। यदि राज्य केवल शराब या तम्बाकू पर ही उत्पादन-कर लगाये तो जो व्यक्ति इन वस्तुओ का प्रयोग नही करते है वह बिल्कुल कर नही देंगे, चाहे उनकी आय या सम्पत्ति अधिक हो। इस कारण कर-प्रणाली को न्यायपूर्ण बनाने के लिए यह आवश्यक है कि राज्य कई प्रकार के कर लगाये जिससे कुछ करो की कमियाँ दूसरे प्रकार के करो से पूरी हो जायँ।

अभ्यास के प्रश्न

१ राजकीय व्यय का सिद्धान्त समझाइये।

२. कर के न्यूनतम-भार के सिद्धान्त से आप क्या समझते है ?

३ ऐडम स्मिथ के कर के नियम समझाइये। उसके अतिरिक्त कर के अन्य नियम जो आप जानते हो उनका भी वर्णन कीजिये।

अध्याय ३१

प्रत्यक्ष और परोक्ष कर

(Direct and Indirect Taxes)

कर का हटाना और उसका भार

(Shifting and Incidence of Taxation)

जब राज्य कर लगाता है तो जिस व्यक्ति को प्रथम बार ही कर देना पड़ता है उसे कर-संघात (Impact) का अनुभव होता है। प्रत्येक व्यक्ति जो कर-संघात का अनुभव करता है वह यह प्रयत्न करता है कि उस कर को अपने ऊपर से हटाकर किसी दूसरे व्यक्ति पर डाल दे। जब वह अपने द्वारा दिये गये कर का प्रत्यक्ष द्राव्यिक भार दूसरे व्यक्ति पर हटा देता है तो इसे कर का हटाना (Shifting) कहते हैं। जो व्यक्ति अन्त में कर सहन करता है उस पर कर का भार (Incidence) पड़ता है। कर के भार (Incidence) और उसके प्रभाव (Effect) में अन्तर है। कर के भार से तात्पर्य केवल कर के प्रत्यक्ष द्राव्यिक भार (Direct Money Burden) से होता है। परन्तु कर के प्रभाव के अन्तर्गत वे सभी परिणाम आ जाते है जो कर लगाने से उत्पन्न होते हैं। उदाहरणत. चीनी या माचिस पर उत्पादन कर लगाने से उस कर का द्राव्यिक भार इन वस्तुओ के उपभोक्ताओ पर पड़ता है। परन्तु उसके प्रभाव अनेक हो सकते है, जैसे, कर लगाने से चीनी का मूल्य बढ जाय जिससे उसकी माँग कम हो जाय और कारखानों को उत्पादन घटाना पडे और मजदूरो की संख्या कम करनी पडे। इससे चीनी के मजदूरो में बेकारी फैलेगी और यह भी हो सकता है कि उनकी मजदूरी की दर घट जाय।

प्रत्यक्ष और परोक्ष कर

प्रत्यक्ष कर (Direct Tax) —उसको कहते है जिसमे राज्य का यह अभिप्राय होता है कि उसका द्राव्यिक भार उसी व्यक्ति पर पड़े जिससे वह कर वसूल किया जाता है। अर्थात् राज्य का अभिप्राय यह होता है कि जो व्यक्ति कर दे वही उसका भार सहे। ऐसे करो का कर-संघात (Impact) और कर-भार (Incidence) एक ही व्यक्ति पर पडता है, जैसे आय-कर, मालगुजारी इत्यादि। परोक्ष कर (Indirect Tax) उसको कहते है जिसमे राज्य का यह अभिप्राय होता है कि उसका द्राव्यिक भार उसी

व्यक्ति पर न पड़े जिससे वह कर वसूल किया जाता है। अर्थात् वह कर एक विशेष व्यक्ति से इस आशा से वसूल किया जाता है कि वह उसका वास्तविक भार किसी दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों पर हटा देगा। ऐसे करों का कर-आघात और कर-भार एक ही व्यक्ति पर न होकर विभिन्न व्यक्तियों पर पड़ता है, जैसे चीनी के उत्पादन-कर का कर-आघात चीनी के उत्पादकों पर पड़ता है परन्तु उसका भार चीनी के उपभोक्ताओं पर पड़ता है। जब करदाता व्यापारी सेवाएँ या वस्तुएँ बेचता है तो वह उनके मूल्य के साथ जो कर उसने राज्य को चुकाया है वह भी वसूल कर लेता है। जब राज्य परोक्ष कर लगाता है तो उसकी वास्तविक इच्छा यह होती है कि वह उपभोक्ताओं पर कर लगाये। परन्तु जब वह प्रत्येक उपभोक्ता पर प्रत्यक्ष कर लगाता है तो उसमें उसको अधिक कठिनाई भी होती है और कर वसूल करने में अधिक व्यय भी करना पड़ता है। इस कारण वह उपभोक्ताओं पर उत्पादक और व्यापारियों द्वारा कर लगाता है। जैसे उत्पादन-कर, बिक्री-कर, आयात-निर्यात कर इत्यादि।

यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि प्रत्यक्ष और परोक्ष कर का अन्तर राज्य के अभिप्राय पर ही निर्भर होता है। यह सम्भव है कि कुछ व्यक्ति प्रत्यक्ष कर का बोझा भी दूसरे व्यक्तियों पर हटा देने में सफल हों। दूसरी ओर यह भी सम्भव है कि कुछ परोक्ष कर का बोझा वही व्यक्ति सहन कर ले जिन पर उन करों का सघात हो।

प्रत्यक्ष कर

प्रत्यक्ष करों के लाभ निम्नलिखित है —

१ इन करों के वसूल करने पर व्यय उनकी आय के अनुपात में कम होता है। इस कारण कर मितव्ययतापूर्ण होते है।

२ इन करों की मात्रा, देने का समय और रीति राज्य और करदाता दोनो को ही निश्चित होते है। इसमे इनकी आय भी निश्चित होती है।

३. प्रत्यक्ष होने के कारण यह कर करदाताओं की सामर्थ्य के अनुपात मे लगाये जा सकते है। यह कर प्रगतिशील हो सकते है। इस कारण न्यायपूर्ण होते है।

४. यह कर लचीले होते है और देश में सम्पत्ति और उत्पादन की वृद्धि के साथ साथ इनकी आय भी बढ जाती है। इनकी दर बढाने से इनकी आय सुगमतापूर्वक बढ सकती है।

५ इन करों के चुकाने से करदाता में नागरिक चेतना उत्पन्न होती है और वह राज्य के कार्यों में अधिक रुचि प्रकट करता है। वह इस

बात का पता लगाने का प्रयत्न करता है कि राज्य उन करो द्वारा प्राप्त आय का उचित प्रयोग करता है या नही। करदाता चुनाव के समय भी इस बात का प्रयत्न करते है कि वह योग्य और ईमानदार व्यक्तियों को ही देश की धारासभा के लिए अपना प्रतिनिधि चुने।

प्रत्यक्ष करो की निम्नलिखित हानियाँ है —

१ प्रत्येक प्रत्यक्ष कर करदाता को बुरा लगता है इसलिए उसके चुकाने मे उसको अधिक कष्ट होता है।

२ इन करो से बचने के लिए प्रत्येक करदाता प्रयत्न करता है। ईमानदार व्यक्ति कर का उचित भाग चुकाते है परन्तु दूसरे व्यक्ति अपना उचित भाग चुकाने से बच जाते है, जिस कारण प्रत्यक्ष कर ईमानदारी पर भारस्वरूप हो जाते है। कुछ प्रत्यक्ष करो में कर-अधिकारी करदाता से ही उसकी आय इत्यादि पूछते है जिससे उसकी ईमानदारी पर बडा दवाव पडता है और वह जान-बूझकर अपनी आय कम बताता है।

३ कुछ प्रत्यक्ष करो के अन्तर्गत करदाताओ को विशेष प्रकार के फौर्म भरने पडते है और हिसाब-किताब भी कर-अधिकारियो के आदेश के अनुसार रखना पडता है जिससे उनको अनेक असुविधाओ का सामना करना पडता है। कुछ कर-अधिकारी इस रीति का दुरुपयोग करते है और करदाताओ को व्यर्थ कष्ट देते है।

४ प्रत्यक्ष करो द्वारा निर्धन और साधारण स्थिति के लोगो से राज्य के लिए अपनी कर की आय का कुछ भी भाग वसूल करना दुष्कर हो जाता है। यदि उनसे प्रत्यक्ष कर वसूल करने का प्रयत्न किया जाय तो कर वसूल करने की लागत बहुत बढ जाती है।

परोक्ष कर

परोक्ष करो के निम्नलिखित लाभ है —

१. जब यह आवश्यक वस्तुओ पर लगाये जाते है, तो इनमे भी काफी लचक होती है और इनकी दर बढाने से आय आसानी से बढ जाती है।

२ जनता के लिए यह कर अधिक सुविधाजनक होते है क्योकि जब लोग वस्तुएं मोल लेते है तो उसके साथ साथ कर भी चुका दिया जाता है और करदाताओ को यह अनुभव नही होता कि वह कर चुका रहे है।

३ यह कर वस्तुओ के मूल्य में सम्मिलित होते है जिस कारण इनके 'कर' का रूप मूल्य मे छिप जाता है। इससे इनका अनुभव कम होता है और यह बुरे नही लगते और इनके देने में भार भी कम लगता है।

४ उपभोक्ता इन करो से आसानी से बच नही सकते क्योकि जब वे वस्तु का मूल्य चुकाते है तब उन्हें कर देना भी अनिवार्य होता है।

वस्तु का मूल्य, जिसमे कर सम्मिलित होता है, देने पर ही वे वस्तु प्राप्त कर सकते हैं और इस कारण वे इन करो से बच नही सकते ।

५ यह कर निर्धनो और साधारण स्थिति के व्यक्तियो से वसूल किये जा सकते हैं। और यदि आवश्यक वस्तुओ पर कर की दर कम हो और विलासिता की वस्तुओ पर अधिक हो तो यह न्यायपूर्ण भी होते हैं।

६ इन करो द्वारा माँग या उपभोग की मात्रा जब भी राज्य चाहे आसानी से घटा सकता है । ऐसे कर लगाने से वस्तुओ का मूल्य बढ जाता है जिससे उनकी माँग की घटने की प्रवृत्ति होती है। जब यह कर हानिकारक वस्तुओ जैसे, शराब, तम्बाकू इत्यदि पर लगाये जाते हैं तो यह उनका उपभोग घटा देते हैं जिससे उपभोक्ताओ और समाज का भला होता है ।

परोक्ष करो की हानियाँ निम्नलिखित हैं —

१ यह कर साधारणत ह्रासोन्मुख (Regressive) प्रवृत्ति के होते हैं क्योकि धनी और निर्धन व्यक्ति दोनो ही जब वस्तु खरीदते हैं तो समान कर देते हैं जब कि धनी व्यक्तियो से अधिक दर से कर वसूल करने चाहिएँ, इस कारण यह कर न्यायोचित नही होते हैं।

२ इन करो की आय इतनी निश्चित नही होती जितनी प्रत्यक्ष करो की होती है। इन करो के लगाने से वस्तुओ के मूल्य बढ जाते हैं जिससे उनकी माँग में घटने की प्रवृत्ति होती है। ऐसी स्थिति मे परिवर्तित मूल्य पर उपभोग की मात्रा का ठीक अनुमान लगाना कठिन होता है ।

३ जब उत्पादक या व्यापारी इन करो को उपभोक्ताओ पर हटाते हैं तो हो सकता है कि वे कर से अधिक भार उपभोक्ताओ पर डालने का प्रयत्न करें और वस्तुओ का मूल्य कर की मात्रा से अधिक बढा दे । इससे उपभोक्ताओ को हानि होती है ।

४ इन करो से नागरिक भावना चेतन नही होती क्योकि कर देते समय करदाता को उन करों का अनुभव ही नही होता।

५ इन करो से वस्तुओ का मूल्य बढ जाता है जिससे उन वस्तुओ की माँग घट जाती है और उन वस्तुओ का उत्पादन घटाना पड़ता है। इसलिए कभी कभी यह कर उद्योग-धन्धो को अधिक हानि पहुँचा सकते हैं जिस कारण इन करो को सावधानी से ही लगाना चाहिए।

उक्त विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि एक उचित कर-प्रणाली में प्रत्यक्ष या परोक्ष कर ही नही होने चाहिएँ परन्तु यही उचित है कि दोनो प्रकार के कर लगाये जाँय। इन दोनो प्रकार के करो में उचित सन्तुलन होना चाहिए जिससे सारी कर-प्रणाली का जनता पर न्यूनतम भार पडे।

अभ्यास के प्रश्न

१ कर-सघात, कर-भार और कर के हटाने से आप क्या समझते है ? उदाहरण देकर समझाइये।

२ प्रत्यक्ष और परोक्ष-कर की व्याख्या करिये। उनके लाभ और हानियो को सक्षिप्त रूप में समझाइये।

अध्याय ३२

भारतीय राजस्व

भारतीय राजस्व तीन भागों में बाँटा जा सकता है। केन्द्रीय राजस्व में हम केन्द्रीय सरकार के आय-व्यय का अध्ययन करेंगे, प्रान्तीय राजस्व में प्रान्तीय सरकार के आय-व्यय का अध्ययन करेंगे और स्थानीय राजस्व में म्युनिसिपैलिटियों और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के आय-व्यय का अध्ययन करेंगे। इन वर्षों में इन सरकारों के आय-व्यय द्वितीय महायुद्ध के पूर्व की अपेक्षा बहुत बढ़ गये हैं। इसके मुख्य कारण हैं सरकारों के बढ़ते हुए कार्य और मुद्रा प्रसार हैं। मुद्रा प्रसार के कारण वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य बढ़ गये हैं जिससे सरकार को अधिक व्यय करना पड़ता है।

भारतीय केन्द्रीय सरकार के आय के मुख्य स्रोत निम्नलिखित हैं —

(१) आय-कर (Income Tax) —यह कर भारतवर्ष में सबसे पहले १८६० ई० में लगाया गया। १९३५ के विधान के अनुसार इस कर की आय में प्रान्तीय सरकारों को भी भाग दिया गया। भारतवर्ष के नए विधान में भी इस रीति को मान लिया गया है और आय-कर का ५०% भाग प्रान्तीय सरकारों में बाँटा जाता है। प्रान्तीय सरकारों का भाग लगभग ४५ करोड़ रुपया होता है। परन्तु केन्द्रीय सरकार द्वारा प्राप्त आय पर जो कर लगाया जाता है उसका कुछ भी भाग प्रान्तों को नहीं मिलता वरन् उसकी सारी आय केन्द्रीय सरकार को ही मिलती है। इसके अतिरिक्त जो सरचार्ज (Surcharge) आय-कर पर लगाया जाता है वह भी सारा केन्द्रीय सरकार को ही मिलता है।

आय-कर एक प्रत्यक्ष कर है और इसका भार साधारणत कर देने-वाले पर ही पड़ता है। साधारणतः आय-कर प्रगतिशील होता है अर्थात् जैसे जैसे आय की मात्रा बढ़ती है वैसे वैसे कर की दर भी बढ़ती जाती है। आय-कर प्रत्येक पूँजीवादी देश में बहुत उत्पादक और लचीला पाया गया है। भारतवर्ष में इस कर द्वारा आय १९३८-३९ में १५ २४ करोड़ रुपये थी जो १९४८-४९ में बढ़कर लगभग १११ करोड़ रुपये हो गयी।

इंडियन स्टेट्स फाइनैन्सेज इन्क्वायरी कमेटी (Indian States Finances Enquiry Committee) की रिपोर्ट के अन्तर्गत जो भारतीय रियासतों (Indian States) का राजस्व सम्बन्धी एकी-

करण (Financial Integration) हुआ है उसके अनुसार अब प्रत्येक केन्द्रीय कर उन रियासतों में भी लागू होंगे। इस कारण आय-कर अब केन्द्रीय कर्मचारियो द्वारा भारतीय रियासतो मे भी लगाया जाता है। कुछ रियासतो में यह कर पहले ही से था, जैसे कोचीन और वहाँ इसकी दर भी केन्द्रीय दर के अनुपात में ही थी। कुछ अन्य रियासतो मे, जैसे सौराष्ट्र, इसकी दर भारतीय दर के $\frac{1}{2}$ भाग से भी कम थी और कुछ अन्य रियासतो मे जैसे राजस्थान में आय-कर लगाया ही नही जाता था। परन्तु अब इन सब रियासतों में आय-कर की दर धीरे-धीरे बढाकर ५ वर्षो के अन्दर भारतीय दर के बराबर कर दी जायगी और सन् १९५५-५६ तक सारे भारतवर्ष मे आय-कर की दर समान हो जायगी।

आय-कर उन्ही व्यक्तियों पर लगाया जाता है जिनकी वार्षिक आय ३,६०० रुपयो से अधिक हो। (साझे के हिन्दू परिवारो—Joint Hindu Families—के लिए यह सीमा ७२०० रु० है।) जिन लोगो की आय इस सीमा से अधिक है उन पर निम्न दर से कर लगाया जाता है —

(अ) कुल आय के पहले १५०० रुपयो पर कुछ नही।
(ब) कुल आय के अगले ३५०० रुपयो पर ९ पाई प्रति रुपया।
(स) कुल आय के अगले ५००० रुपयो पर १ आ० ९ पा० प्रति रुपया।
(द) कुल आय के अगले ५००० रुपयो पर: ३ आ० प्रति रुपया।
(य) कुल आय के शेष भाग पर (अर्थात् कुल आय का जो भाग १५००० रुपये से अधिक है।) } :४ आ० प्रति रुपया।

यह कर लगाने के पूर्व कुल आय को $\frac{1}{5}$ भाग से कम कर दिया जाता है यदि वह उपार्जित आय (Earned Income) हो। परन्तु यह छूट ४००० रुपये से अधिक नही हो सकती।

यदि आय २५००० रुपये से अधिक होती है तो उस पर सुपर टैक्स (Super Tax) भी लगता है जिसकी दर भी प्रगतिशील है। इसकी वर्तमान में अधिकतम दर ८॥ आ० प्रति रुपया है और यह आय के उस भाग पर लगाई जाती है जो १॥ लाख रुपये से अधिक हो। साराश यह है कि जो आय १॥ लाख रुपये से अधिक होती है उस पर ४ आ० प्रति रुपया आय कर और ८॥ आ० प्रति रुपया सुपर टैक्स, अर्थात् १२॥ आ० प्रति रुपया कर लगता है।

आय-कर कृषि द्वारा प्राप्त की गई आय पर नही लगाया जाता। यह इसमें एक कमी है जिस कारण बडे बडे जमीदारो पर कर का उचित

आय भी घटता। आय-कर अब उपार्जित (Earned) —और अनुपार्जित (Unearned) आय में भेद करता है जैसा कि ऊपर बतलाया गया है। परन्तु यह अब भी आश्रित (Dependents) व्यक्तियों के लिए कोई छूट नहीं देता है।

(२) कारपोरेशन-कर (Corporation Tax) ज्वाइन्ट स्टॉक कम्पनियों को अपनी कुल आय पर ४ आना प्रति रुपया आय-कर देना पड़ता है। यदि उनके हिस्सेदारों की आय-कर की दर उससे कम हो तो उनको यह कर मांगने पर वापस लौटा दिया जाता है। आय-कर के अतिरिक्त ज्वाइन्ट स्टॉक कम्पनियों को कारपोरेशन कर भी देना पड़ता है जिसकी दर आजकल २ आना ६ पाई प्रति रुपया है। कारपोरेशन-कर की सारी आय केन्द्रीय सरकार को ही मिलती है। १९३८-३९ में इस कर की आय २·०४ करोड़ रुपये थी। १९४९-५० में यह बढ़कर ३९·५३ करोड़ रुपये हो गई थी।

(३) आयात-निर्यात-कर (Import Export Duties or Customs):—जो कर आयात की गई वस्तुओं पर लगाया जाता है वह आयात-कर (Import Duty) कहलाता है और जो कर निर्यात की गई वस्तुओं पर लगाया जाता है वह निर्यात-कर (Export Duty) कहलाता है। आयात-निर्यात कर या तो मूल्य के अनुसार (Ad valorem) या परिमाण के अनुसार (Specific) लगाये जाते हैं। जब यह कर केवल आय प्राप्त करने के आदेश से ही लगाया जाता है तो आय-निमित्त कर (Revenue Duty) कहलाता है। जब यह कर देशी उद्योगों को विदेशी उद्योगों से रक्षा करने के लिए लगाया जाता है तो सुरक्षण कर (Protective Duty) कहलाता है।

१९३५ के विधान के अनुसार पटसन पर निर्यात कर का ६२½% भाग पटसन का उत्पादन करनेवाले प्रान्तों में बाँट दिया जाता था। १९४८–४९ में इस कानून के अन्तर्गत पटसन का उत्पादन करनेवाले प्रान्तों को १·४३ करोड़ रुपया केन्द्रीय सरकार से मिला। नए विधान के अनुसार आयात-निर्यात कर में प्रान्तीय सरकारों का कोई भाग नहीं है और इसके द्वारा प्राप्त सारी आय केन्द्रीय सरकार को ही मिलती है। परन्तु नये विधान के अन्तर्गत एक ऐसा नियम है कि १० वर्षों तक केन्द्रीय सरकार प्रान्तीय सरकारों को पटसन-निर्यात कर के भाग के बदले में आर्थिक सहायता देगी जिससे प्रान्तीय सरकारों के बजटों में गड़बड़ न हो। १९३८–३९ में आयात-निर्यात कर की आय ४०·५१ करोड़ रुपये थी। १९४९–५० में यह बढ़कर १२४·७१ करोड़ रुपये हो गई। यह परोक्ष कर है, इस कारण ह्रासोन्मुख कर है। परन्तु विलासिता की वस्तुओं पर अधिक कर लगाकर इसकी यह बुराई रोकी जा सकती है।

(४) **केन्द्रीय उत्पादन-कर** (Union Excise Duties) :—यह कर वस्तुओ के बनाने या उत्पादन करने पर केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाया जाता है। परन्तु मादक वस्तुओ पर उत्पादन-कर लगाने का अधिकार प्रान्तीय सरकारो को है। आजकल यह कर चीनी, दियासलाई, कपडा, तम्बाकू, बनस्पति घी, मोटर के टायर और ट्यूब इत्यादि पर लगाया जाता है। इसकी आय १९३८–३९ में ८ ६६ करोड रुपये थी जो बढकर १९४९–५० मे ६७ ८५ करोड रुपये हो गई। भारतवर्ष में अधिक उद्योग-धन्धो की स्थापना होने से इस कर से आय बढेगी परन्तु इस कर के लगाने में यह सावधानी वर्तनी होगी कि नए उद्योग-धन्धो को हानि न पहुँचे; क्योकि इस कर के लगाने से वस्तुओ के मूल्य बढ जाते है जिससे उनकी माँग घट जाती है।

(५) **अफीम-कर** (Opium Tax) —प्राचीन काल से अफीम का उत्पन्न करना व वेचना सरकारी एकाधिकार है। पहले अफीम का उपभोग चीन में वहुत होता था और भारतवर्ष से अधिकतर अफीम उस देश को ही जाती थी। इस वस्तु के उपभोग से स्वास्थ्य और कार्यक्षमता को बहुत हानि पहुँचती है जिससे भारत सरकार ने विश्व के मतानुसार इस वस्तु का निर्यात रोकने का प्रवन्ध किया और अव चीन को अफीम भेजनी बन्द हो गई है। वर्तमान में अफीम का निर्यात चिकित्सा इत्यादि आवश्यक कार्यों के लिए ही किया जाता है जिससे इसकी आय जो प्रथम महायुद्ध के पूर्व लगभग ८ करोड रुपये थी, घटकर १९४९–५० मे १·२४ करोड रुपये ही रह गयी।

(६) **टकसाल और रिजर्व बैंक का नफा** (Mint and Profits of the Reserve Bank) —भारत में सांकेतिक सिक्के ही चलन में है, जिस कारण सरकार को टकसाल से नफा होता है। १९३८–३९ मे इसकी मात्रा ३८ लाख रुपये थी जो १९४८–४९ मे बढकर १४२ लाख रुपये हो गयी।

रिजर्व वैक का अव राष्ट्रीयकरण हो गया है जिस कारण उसकी कुल आय भारत सरकार को ही मिलती है। राष्ट्रीयकरण के पूर्व भी इसके हिस्सेदारो में एक निश्चित दर से नफा विभाजित किया जाता था और उससे अधिक नफा भारत सरकार को ही मिलता था। १९३८–३९ मे भारतीय सरकार को २० लाख रुपये रिजर्व वैक के नफे के मिले, १९४८–४९ में यह आय वढकर ९·८० करोड रुपये हो गई।

(७) डाक व तार (Posts and Telegraphs) —यह सरकारी एकाधिकार है। इसका मुख्य लक्ष्य जनता की सेवा करना है, न कि राष्ट्र के लिए आय वसूल करना। परन्तु इस विभाग से प्रतिवर्ष

भारत सरकार को कुछ वचत होती है। १९३८–३९ में यह वचत १९ लाख रुपये थी और १९४९–५० में २३८ लाख रुपये।

(८) रेल (Railways) :—अव लगभग सारी रेले भारत सरकार की ही है। भारतीय रियासतो के राजस्व सम्वन्वी एकीकरण के उपरान्त रियासतो की रेलें की भी स्वामी भारत सरकार हो गई है। भारतवर्ष की रेलो मे सरकार का ८०० करोड रुपये से अधिक रुपया लगा हुआ है। १९२४ के उपरान्त रेलो का हिसाव व आँकडा केन्द्रीय सरकार से अलग कर दिया गया और उनके कुल नफे का एक निश्चित भाग भारत सरकार को मिलने लगा। परन्तु सन् १९५०–५१ से ५ वर्ष के लिए भारत सरकार को कुल लगी हुई पूंजी पर ४% नफा दिया जायेगा। १९५१–५२ मे रेलो से जो नफा इस प्रकार सरकार को मिलेगा उसमें से लगी हुई पूंजी पर व्याज चुकाने के उपरान्त भारत सरकार को लगभग ७½ करोड रुपये वचेंगे।

१९४० में भारत सरकार ने अत्यधिक नफा कर (Excess Profits Tax) भी लगाया। जैसा कि हम 'अर्घ के सिद्धान्त' के अध्याय में राशनिंग और नियन्त्रण-मूल्य के शीर्षक के अन्तर्गत समझा चुके है लडाई में कुछ व्यक्तियो को अत्यधिक नफा होता है। इस कारण जव वह नफा १९३९ के पूर्व के कुछ वर्षों के औसत नफे से अधिक होता था तो उस अधिक भाग पर यह कर लगाया जाता था। १९४५–४६ में इस कर की आय ७५ करोड रुपये थी। यह कर ३१–३–१९४६ से हटा दिया गया। परन्तु १९४७–४८ के वजट मे इसकी अपेक्षा व्यापार-नफा-कर (Business Profits Tax) लगाया गया जो १९५०-५१ के वजट में हटा दिया गया।

१९४७-४८ के वजट मे पूंजी के अर्घ की वृद्धि का कर (Capital Gains Tax) भी लगाया गया। यह कर जो पूंजी के अर्घ में वृद्धि होती थी उस पर लगाया जाता था। इसकी आय कम थी और इससे पूंजीपतियो व उद्योगपतियो में अधिक असन्तोष था। इस कारण १ अप्रैल १९४९ से इसको हटा दिया गया।

नये विधान के अनुसार केन्द्रीय सरकार उत्तराधिकारी कर (Inheritance Tax) लगा सकती है जिसकी कुल आय प्रान्तो में वाँटी जायेगी। केन्द्रीय सरकार यह कर कृषि-भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति पर लगा सकती है। ऐसा कर लगाने के लिए एक विल भारतीय पार्लमैन्ट में विचाराधीन है।

नमक-कर (Salt Tax) —यह वहुत पुराना कर है। इसकी आय लगभग सवा आठ करोड रुपये थी। विक्री के लिए नमक तैयार करने का एकाधिकार सरकार को था। १९३१ के असहयोग आन्दोलन

का प्रारम्भ महात्मा जी ने प्रसिद्ध डाडी यात्रा में नमक-कर तोडने से किया। इस कारण जब भारतीय नेताओ ने केन्द्रीय सरकार की बागडोर सभाली तो १ अप्रैल १९४७ से इस कर को हटा दिया गया और अब नमक बनाने के लिए न किसी लाइसेन्स की और न कर देने की आवश्यकता है। इस कर की अधिक से अधिक दर ३ रुपये ४ आने प्रति मन थी। इस दर से वर्तमान में इस कर की आय लगभग १५ करोड़ रुपये होगी।

केन्द्रीय व्यय

भारत सरकार के व्यय के मुख्य विभाग निम्नलिखित हैं —

(१) सुरक्षा सम्बन्धी व्यय (Defence Expenditure) :—अंग्रेजी राज्य के समय मे भारतीय नेताओ द्वारा इस व्यय की कडी आलोचना होती थी। उनका कहना था कि भारतीय सेना में अंग्रेजी अफसरो व सैनिको की सख्या बहुत थी जिनको भारतवासियो की अपेक्षा अधिक वेतन मिलता था। इससे सेना पर बहुत-सा रुपया व्यर्थ व्यय होता था। यह व्यय सेना का भारतीयकरण करने से घटाया जा सकता था। इस व्यय की आलोचना इस कारण भी की जाती थी कि भारतीय सेना की सख्या भारत की आवश्यकता से बहुत अधिक थी। भारतवर्ष शान्तिप्रिय देश है और वह प्रसर नीति के विरुद्ध है। इस कारण उसे अधिक सेना की आवश्यकता नही थी। परन्तु अंग्रेजी सरकार अपने साम्राज्यवादी उद्देश्यो और उत्तरदायित्वो के कारण अधिक सेना रखती थी। इस व्यय की आलोचना इस कारण भी की जाती थी कि बहुत-सा व्यय जो भारतवर्ष के हित में नही होता था वह भी भारतीय-खाते से चुकाया जाता था— जैसे चीन, वर्मा, अफगानिस्तान की लडाइयाँ। ये लडाइयाँ ब्रिटेन के साम्राज्यवादी हितो के लिए लडी गई थी परन्तु उन पर व्यय भारतवर्ष के बजट से किया गया। १९३८-३९ मे सुरक्षा सम्बन्धी व्यय ३८.९७ करोड रुपये था। द्वितीय महायुद्ध में यह बहुत बढ गया था और १९४४-४५ मे ४५८.३२ करोड रुपये था। परन्तु १९४९-५० में घटकर १४८.८६ करोड रुपये रह गया था। कुछ लोगो का कथन है कि भारतवर्ष जैसे निर्धन और शान्तिप्रिय देश के लिए सुरक्षा पर इतना व्यय करना बहुत बडा भार है। परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्त करने के उपरान्त देश की रक्षा का भार हमारे कन्धो पर पड़ गया है। हैदराबाद का प्रश्न सुलझाने के लिए भी अधिक व्यय करना आवश्यक था और अभी काश्मीर की समस्या हमारे सामने खडी है। इस कारण सेना में कोई कमी करना उचित न होगा। सुरक्षा सम्बन्धी व्यय अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति पर निर्भर होता है।

जब चारो ओर भय और संदेह फैल रहा है और कुछ राष्ट्र प्रसर की नीति अपना रहे हैं तो सुरक्षा सम्बन्धी व्यय में कोई विशेष कमी होना सभव नही है।

(२) आय पर प्रत्यक्ष मांग (Direct Demand on Revenue)—कर वसूल करने के लिए सरकार को कुछ व्यय करना आवश्यक है। इस व्यय मे सरकारी कर्मचारियो का वेतन इत्यादि सम्मिलित होता है। १९३८-३९ में यह व्यय ४ २४ करोड रुपये था और १९४९-५० मे १३·९० करोड रुपये।

(३) ऋण सम्बन्धी व्यय (Debt Services)—भारत सरकार ने ऋण ले रखा है जिसका व्याज उसको चुकाना पडता है और उसके भुगतान के लिए कुछ रुपया एक अलग कोप में (जिसको सिंकिंग फड Sinking Fund कहते हैं) रखना पडता है। १९३८-३९ मे यह व्यय १४ १२ करोड रुपये था। १९४९-५० में यह वढकर ३९ ४३ करोड रुपये हो गया जिसमें ५ करोड रुपये जो ऋण के भुगतान के लिए अलग कोप मे रखे गये सम्मिलित हैं। इस मद के अन्तर्गत १९४९-५० मे कुल व्यय ६५ ७३ करोड रुपये थी जिसमे से २७·३० करोड रुपया दूसरे हिसावो में से चुकाया गया—रेल खाते से २३ १८ करोड, प्रान्तीय सरकारो से २ ८ करोड, डाक व तार विभाग से ९७ लाख रुपये।

भारतवर्ष का अधिकाश ऋण उत्पादक है अर्थात् ऐसे कार्यो के लिए लिया गया है कि जिनसे व्याज चुकाने की आय प्राप्त हो जाती है। भारत सरकार का कुल व्याज चुकाने वाला ऋण (Interest bearing obligations) ३१ मार्च १९५० को लगभग २५०० करोड रुपये था जिसमे से भारत सरकार के पास लगभग १५२१ करोड रुपये की ऐसी सम्पत्ति थी जिससे व्याज पूरा वसूल हो जाता था।

(४) नागरिक शासन (Civil Administration)—इसमें राष्ट्रपति का कुल व्यय, केन्द्रीय धारा-सभा, सैक्रेटरियट व जाँच इत्यादि का व्यय सम्मिलित है। लडाई के कारण केन्द्रीय सैक्रेटरियट मे कई नये विभाग खुल गये, जैसे नाज विभाग, शरणार्थी विभाग इत्यादि। इससे व्यय वढ गया। अग्रेजी राज्य के समय भारतीय नेताओ का यह आरोप था कि उच्च अधिकारियो को जो अधिकतर अग्रेज थे वहुत अधिक वेतन दिया जाता था। १९३८-३९ मे नागरिक शासन पर १० ९० करोड रुपये व्यय हुआ था। १९४९-५० मे यह व्यय ३९ ३० करोड रुपये हुआ।

(५) प्रान्तीय सरकारो को सहायता (Grants to Provincial Government)—प्रान्तीय सरकारो की आय जनता के हित की विकास-योजनाओ के लिए पर्याप्त नही होती। इस कारण केन्द्रीय सरकार

को प्रान्तीय सरकारो को सहायता देनी पडती है। कभी कभी यह सहायता विशेष योजनाओ के लिए दी जाती है, जैसे शरणार्थियो को वसाना, अधिक नाज उत्पादन की योजना इत्यादि। भारतीय सरकार को अपने बजट के सन्तुलन की कठिनाइयो के कारण इस सहायता मे वहुत कमी करनी पडी है।

(६) अनाज पर व्यय (Subsidy on Foodgrains) —भारत सरकार विदेशो से जो अनाज मँगाती है उसको घाटे से बेचती है। इस नाज को घाटे से बेचने का उद्देश्य यह है कि देश में नाज का भाव बढे नही। प्रान्तीय सरकारो को नाज के उत्पादन, नाज के खरीदने व नाज को दूसरे प्रान्तो मे भेजने पर कुछ वोनस भी देती है। इस मद के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार का लगभग २० से ३० करोड रुपये व्यय होते है।

(७) शरणार्थियो पर व्यय —भारत सरकार को पाकिस्तान से आए शरणार्थियो को बसाने व उद्योग-धन्धो में लगाने के लिए १० से १५ करोड रुपये व्यय करना पडता है।

नीचे हम भारत सरकार के आय-व्यय के आँकडे देते है।

	सशोधित (Revised)	करोड रुपयो मे अनुमानित (Estimated)
आय	१९५०-५१	१९५१-५२
आय कर	८० २०	८५·०४
कारपोरेशन कर	३८ ९२	३२ ७३
आयात निर्यात कर	१४५ ३१	१५० ०४
केन्द्रीय उत्पादन कर	६९ ६८	८४ ७८
अफीम कर	३·००	२ ३५
टकसाल और रिजर्व वैंक का नफा	१२ ८७	१२ ३२
डाक व तार	३ ०७	२ ००
रेल	६ ७६	७ २६
(शेष आय अन्य स्रोतो से)		
कुल आय	३८७ २१	४०१ ०४
व्यय		
सुरक्षा सम्वन्धी व्यय	१७९ ४७	१८०·०२
आय पर प्रत्यक्ष माँग	१३ ३५	१४ ५८
ऋण सम्वन्धी व्यय	३६·४६	३७ ३२
नागरिक शासन	५२ ७६	५६ ०२
(शेष व्यय अन्य विभागो पर)		
कुल व्यय	३७९ २८	३७५ ४३

अभ्यास के प्रश्न

१ केन्द्रीय सरकार की आय के मुख्य स्रोतो का सक्षिप्त वर्णन कीजिये।

२ निम्नलिखित विपयो पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिये—

(१) आय-कर (२) नमक-कर (३) सुरक्षा सम्बन्धी व्यय।

३ केन्द्रीय सरकार के व्यय के मुख्य विभागो का वर्णन कीजिये।

अध्याय ३३

प्रान्तीय राजस्व

१९३५ के विधान के अनुसार प्रान्तीय सरकारो को आय के कुछ साधन सौंप दिये गये और इसके साथ साथ कुछ मदो पर व्यय करने की जिम्मेदारी भी उन पर डाल दी गई। इस क्षेत्र मे प्रान्तीय सरकारें कुछ सीमा तक स्वतन्त्र है। उनके आय के साधन अधिक लचीले नही है परन्तु उनके व्यय के मद ऐसे है जिन पर प्रतिदिन अधिक व्यय करने की आवश्यकता है। इस कारण जनता के हित की योजनाओ के लिए प्रान्तीय सरकारें केन्द्रीय सहायता पर निर्भर रहती है।

नए विधान के अन्तर्गत प्रान्तीय सरकारें तीन भागो में बाँटी गई है। भाग A के प्रान्तो में (१) मद्रास (२) बम्बई (३) पश्चिमी बगाल (४) उत्तर प्रदेश (५) पंजाब (६) बिहार (७) मध्य प्रदेश (८) आसाम (९) उडीसा है। भाग B के प्रान्तो में निम्नलिखित भारतीय रियासते है जो (१) हैदराबाद (२) मैसूर (३) ट्रावनकोर कोचीन (४) सौराष्ट्र (५) राजस्थान (६) मध्य भारत (७) पटियाला और पूर्वी पजाब की रियासतो का सघ। भाग C में वे प्रदेश है जिनका शासन चीफ कमिश्नर द्वारा होता है, जैसे, दिल्ली, अजमेर, कुर्ग, हिमाचल प्रदेश, विन्ध्यप्रदेश और बिलासपुर। भाग C के प्रदेशो की आय-व्यय केन्द्रीय सरकार के आय-व्यय में ही सम्मिलित होती है।

देश-विभाजन के उपरान्त भारतवर्ष का क्षेत्रफल घट गया है। परन्तु वह पहली बार पूर्ण रूप से भौगोलिक और राजनैतिक एकता के सूत्र में बँधा है। इसके साथ साथ उसके सब प्रान्तो का राजस्व सम्बन्धी एकीकरण भी हो गया है जिससे भाग B की रियासतो मे भी केन्द्रीय कर लगाये जाते है और उन्हें केन्द्रीय सरकार द्वारा अन्य प्रान्तो के समान प्रत्येक सहायताएँ भी मिलती है।

१९३८-३९ में भाग A के कुल प्रान्तो की आय ७९·४२ करोड रुपये थी और व्यय ८०·५२ करोड रुपये था। १९४८-४९ में इनकी आय २५८·२१ करोड़ रुपये थी और व्यय २५०·८२ करोड़ रुपये। भाग B की रियासतो की कुल आय १९४९-५० मे ९६·९९ करोड रुपये थी और उनका व्यय ९५·४५ करोड़ रुपये था। प्रान्तीय सरकारो के आय के मुख्य स्रोत निम्नलिखित है :—

(१) केन्द्रीय–आय-कर का भाग :—कुल आय-कर की आय का ५०%

भाग प्रान्तो को मिलता है। प्रारम्भ मे प्रान्तो का भाग सर ओटो नियमर (Sir Otto Niemeyer) की रिपोर्ट के अनुसार बांटा जाता था। देश-विभाजन के उपरान्त उसमें परिवर्तन कर दिया गया जिससे कुछ प्रान्तो में असन्तोष था। इस कारण सर चिन्तामणि देशमुख को निर्णय करने के लिए नियुक्त किया गया। उन्होने यह निर्णय जनवरी १९५० मे दिया और अब प्रान्तो का भाग उसके अनुसार ही परस्पर बांटा जाता है।

(२) मालगुजारी (Land Revenue)—यह कृषि-भूमि पर कर है। यह कर भूमि की उपज पर लगाया जाता है या जो लगान काश्तकार देता है उस पर। यह प्रगतिशील कर नही है परन्तु समान दर मे लगाया जाता है। चाहे किसान निर्धन हो या बडा जमींदार हो, उसपर वह कोई भी वस्तु उत्पन्न करता हो परन्तु कर की दर समान रहती है। युद्ध के कारण अनाज का भाव बहुत बढ गया है परन्तु मालगुजारी की दर या मात्रा मे कोई परिवर्तन नही हुआ जिस कारण कृषि-वर्ग की आय बहुत अधिक बढने पर भी उनके कर का भार नही बढा और उनपर राजकीय करो का उचित भार नहीं डाला गया। मालगुजारी की आय मे बिलकुल लचक नही है। १९३८-३९ में कुल प्रान्तो में इससे आय २५·४१ करोड रुपये थी और १९४८-४९ में भी, जब अनाज का भाव कई गुना बढ गया था २५.७८ करोड रुपये थी। कांग्रेस पार्टी जमींदारी तोडने का निर्णय कर चुकी है और प्रत्येक प्रान्त में जमींदारी तोडने का आन्दोलन जोर पकड रहा है। उत्तर प्रदेश और बिहार ने जमींदारी समाप्त करने का कानून पास कर दिया है। यह आशा की जाती है कि जमींदारी समाप्त होने के उपरान्त मालगुजारी मे आय कुछ बढ जायेगी क्योकि जो नफा अब जमींदारो को मिलता है उसका कुछ भाग सरकार लेने लगेगी।

(३) कृषि-आय-कर (Agricultural Income-Tax)—कृषि से जो आय प्राप्त होती है उसपर केन्द्रीय आय-कर लागू नही होता। १९३५ के एक्ट व नये विधान के अन्तर्गत कृषि की आय पर कर लगाने का अधिकार प्रान्तो को मिल गया है। १९३८-३९ में बिहार प्रान्त ने यह कर सबसे पहले लगाया। इस प्रान्त की इस कर से १९४९-५० में लगभग ४२ ६ लाख रुपये आय थी। आसाम, बंगाल, उत्तर प्रदेश और उडीसा में भी यह कर लगाया जाता है।

(४) आबकारी (Provincial Excise)—यह कर शराब, अफीम, गाजा, चरस व अन्य मादक वस्तुओ के उत्पादन व बिक्री पर लगाया जाता है। इन वस्तुओ के बेचने के लाइसेन्स भी सरकार देती है और उनका शुल्क वसूल करती है। जब १९३७ में प्रान्तो मे कांग्रेसी सरकारें स्थापित हुईं तो उन्होने मद्यनिषेध की नीति अपनाई। मद्रास, उडीसा, मध्य प्रदेश, बिहार, उत्तर प्रदेश, उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त इत्यादि मे कांग्रेस

सरकारो ने यह नीति अपनाई। परन्तु द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त कांग्रेस सरकारो ने त्याग-पत्र दे दिया और मद्यनिषेध की नीति भी छोड दी गई। स्वतत्रता प्राप्त होने के उपरान्त यह नीति फिर से प्रान्तो मे अपनाई गई। बम्बई प्रान्त में तो अब पूर्ण मद्यनिषेध है परन्तु अन्य प्रान्तो ने इस ओर धीरे-धीरे कदम बढाया। मद्रास मे कुछ जिलो में यह नीति लागू की गई। इसी प्रकार उत्तर प्रदेश में भी १९४७ मे एटा, मैनपुरी, फर्रुखाबाद, बदायूँ, प्रतापगढ़, सुलतानपुर और जौनपुर के जिलो में मद्य-निषेध किया गया। १९४८ में कानपुर और उन्नाव के जिले और १९४९ मे फतेहपुर व रायबरेली के जिले भी इसके अन्तर्गत आ गये। देश के आर्थिक सकट के कारण केन्द्रीय सरकार ने भी प्रान्तीय सरकारों को यह सम्मति दी कि वे इस ओर सावधानी से और धीरे-धीरे कदम बढायें प्रान्तीय सरकारो को इस समय आय की अधिक आवश्यकता है। इस कारण वह इस नीति को अपना कर आय को इस उत्पादक साधन का त्याग नहीं कर सकती। १९३८-३९ में आबकारी से कुल प्रान्तो की आय १३·०८ करोड रुपये थी। १९४६-४७ में यह बढ़कर ५०·२२ करोड़ हो गई थी। इसके उपरान्त मद्यनिषेध की नीति के कारण कुल प्रान्तों की आय घटकर १९४७-४८ मे ३९.६८ करोड रुपये रह गई थी और १९४८-४९ में और भी घट गई और ३४·३२ करोड़ रुपये थी।

(५) स्टाम्प (Stamps) .—यह आय कई मदो से प्राप्त होती है। कई व्यापारिक लेन-देनो मे कानून के अनुसार टिकट लगाने पड़ते हैं। कचहरी में दावा करने पर व अपील इत्यादि करने पर कोर्ट-फीस देनी पड्ती है। यह भी स्टाम्प के मद मे ही आती है। कचहरी व अन्य कुछ दफ्तरो में कुछ प्रार्थना-पत्रो पर टिकट लगाने पड़ते है। उत्तराधिकार के प्रमाण-पत्र (Succession Certificates) इत्यादि पर भी जो फीस सरकार लेती है वह स्टाम्पों के रूप में ही दी जाती है। स्टाम्प ज्यूडिशियल और नॉन-ज्यूडिशियल (Judicial and Non-Judicial) दो प्रकार के होते है। ज्यूडिशियल स्टाम्प कोर्ट-फीस व प्रार्थना-पत्रो इत्यादि के काम में आते है। नॉन-ज्यूडिशियल स्टाम्पो में इकरारनामे व दस्तावेज लिखे जाते है। सब प्रान्तों की स्टाम्पो से आय १९३८-३९ मे ९·५९ करोड़ रुपये थी और १९४८-४९ में १९·३१ करोड़ रुपये।

(६) रजिस्ट्री (Registration):—इडियन रजिस्ट्रेशन एक्ट (Indian Registration Act XVI of 1908) के अन्तर्गत कुछ प्रकार की दस्तावेजो की रजिस्ट्री करानी पड़ती है। इस कानून के अन्तर्गत इनकी रजिस्ट्री कराना अनिवार्य तो नही है परन्तु कुछ दस्तावेजे ऐसी है कि जो अदालत मे गवाही में नही मानी जाती यदि उनकी रजिस्ट्री

नही हुई हो। इस कारण ऐसे दस्तावेजो की रजिस्ट्री करानी ही पडती है जिसके लिए प्रान्तीय सरकारें फीस लेती है। उन रजिस्ट्रियो की नकल देने के लिए भी फीस ली जाती है। १९३८-३९ में इस विभाग से बिहार की आय १३ लाख रुपये थे और उत्तर प्रदेश व मध्य प्रदेश की ९ लाख व ५ लाख रुपये। १९४९-५० मे इस मद से बिहार की आय ६१ लाख रुपये, उत्तर प्रदेश की २२ लाख और मध्यप्रदेश की २० लाख रुपये थी।

(७) वन (Forests).—कई वन प्रान्तीय सरकार के होते है और प्रान्तीय सरकार वहाँ की लकडी व अन्य पैदावार वेचकर आय प्राप्त करती है। पशुओ के चराने व लकडी काटने के लाइसेन्स की फीस भी लेती है। १९४९-५० में वनो से उत्तर प्रदेश की आय २७५ लाख रुपये, मध्यप्रदेश की २७२ ५ लाख रुपये और बिहार की ५४ ९ लाख रुपये थी। हमारे देश में वनो का ठीक प्रवन्ध करने और वहाँ वृक्षो की सख्या अधिक वढाने की आवश्यकता है।

(८) सिंचाई (Irrigation).—प्रान्तीय सरकारो ने सिंचाई के लिए अनेक नहरे इत्यादि वनवा रखी है और जब किसान सिंचाई के लिए नहरो से पानी लेता है तो उससे सरकार शुल्क लेती है। १९४९-५० मे उत्तर प्रदेश की सिंचाई से आय २८६ लाख रुपये थी, बिहार की १५ लाख और मध्यप्रदेश की १९ ८ लाख।

(९) विक्रय-कर (Sales Tax).—१९३५ के विधान के अनुसार प्रान्तो को यह कर लगाने का अधिकार मिल गया। दूसरी ओर मद्य-निषेध की नीति अपनाने से प्रान्तो की आवगारी से आय घट गई। इस कारण आय के नए स्रोत आवश्यक हो गये। प्रान्तो की इस आवश्यकता और उनके वढते हुए व्यय के लिए विक्रय-कर की आय काफी उत्पादक सिद्ध हुई। १९३८ में सवसे पहले मध्यप्रदेश ने यह कर पेट्रोल इत्यादि पर लगाया। १९३९ में मद्रास-प्रान्त ने अधिकाश वस्तुओ पर यह कर लगाया और उसी साल वम्वई प्रान्त ने भी विक्रय-कर लगाया। १९४१ मे वगाल और पजाव ने भी यह कर लगाया। अव यह कर भाग A के सव प्रान्तो मे लगाया जाता है। उत्तर प्रदेश में सव प्रान्तो के वाद १९४८ मे यह कर लगाया गया। हर प्रान्त मे इस कर की दर, रीति तथा कर देनेवाली वस्तुओ की सूची भिन्न है। परन्तु प्रत्येक प्रान्त में कुछ आवश्यक वस्तुओ पर (जैसे अनाज, दाल, दूध इत्यादि) पर यह कर नही लगाया जाता। १९४६-४७ मे इस कर से सव प्रान्तो की आय १२ ४६ करोड रुपये थी। यह वढकर १९४७-४८ मे १७ ०३ करोड रुपये, १९४८-४९ मे ३२ ९५ करोड रुपये और १९४९-५० मे लगभग ४८ करोड रुपये हो गई। नये विधान के अनुसार १ अप्रैल १९५१ से जिन

इस कर से राजस्थान की आय लगभग ३१७ लाख रुपये, मध्य-भारत की १६० लाख रुपये और सौराष्ट्र की लगभग ५७ लाख रुपये थी। परन्तु अब यह कर इन रियासतो से शीघ्र ही हटा दिया जायेगा।

केन्द्रीय सरकार से सहायता (Grants from the Centre) प्रान्तीय सरकारो की आय जनता के हित की विकास योजनाओ के लिए पर्याप्त नही होती है। इस कारण केन्द्रीय सरकार को उन्हे सहायता देनी पडती है। कभी कभी यह सहायता विशेष योजनाओ के लिए दी जाती है जैसे, शरणार्थियो को बसाना, अधिक नाज-उत्पादन की योजना इत्यादि। १९४९-५० मे बिहार को १४९ २ लाख रुपये की सहायता मिली और उत्तर प्रदेश को ३३३ लाख रुपये की। मध्यप्रदेश को शरणार्थियो को बसाने के लिए १०९ ५ लाख रुपये की सहायता मिली, अधिक नाज उत्पादन के लिए ९ ४ लाख रुपये की और अन्य विकास की योजनाओ के लिए ११० ४ लाख रुपये की। भारतीय सरकार को अपने बजट के सन्तुलन की कठिनाइयो के कारण केन्द्रीय-विकास की योजनाओ में काट-छाँट करनी पडती है और प्रान्तो की सहायता मे भी कमी करनी पडी है।

प्रान्तीय व्यय

प्रान्तीय सरकारो के व्यय के मुख्य विभाग निम्नलिखित है —

(१) **आय पर प्रत्यक्ष माँग** (Direct Demand on Revenue)— कर वसूल करने के लिए प्रान्तीय सरकारो को अपने कर्मचारियो के वेतन इत्यादि पर व्यय करना आवश्यक है। १९३८-३९ में सब प्रान्तो का यह व्यय ५ ३५ करोड रुपये था जो १९४८-४९ में बढकर ९ ६८ करोड रुपये हो गया। १९३८-३९ में उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और बिहार का यह व्यय १५४ लाख, ६५ लाख और ३८ लाख रुपये था जो १९४९-५० में बढकर ४९४ लाख, १९० ६ लाख और १७१ लाख रुपये था।

(२) **ऋण सम्बन्धी व्यय** (Debt Services)—प्रान्तीय सरकारो को ऋण लेने का अधिकार भी है जिस पर उनको ब्याज चुकाना पडता है और ऋण के भुगतान के लिए कुछ रुपया एक अलग कोष (Sinking Fund) में रखना पडता है। १९३८-३९ में इस सम्बन्ध मे सब प्रान्तो का व्यय १७८ लाख रुपये था जो १९४८-४९ मे बढकर ४२२ लाख रुपये हो गया। १९३८-३९ मे उत्तर प्रदेश का इस मद पर व्यय ६१ लाख रुपये था और बिहार का ६ लाख रुपये। १९४९-५० में इन प्रान्तो का इस मद पर व्यय ८७ हजार और १ लाख ९० हजार रुपये था। इसी वर्ष मध्यप्रदेश का यह व्यय ४२ ३ लाख रुपये था जिसमे ऋण भुगतान के लिए अलग कोष में रखे हुए १५ लाख रुपये भी सम्मिलित है। कुछ प्रान्तो का इस सम्बन्ध मे लडाई के पूर्व

की अपेक्षा व्यय बहुत घट गया है क्योंकि लड़ाई के वर्षों में कई प्रान्तो के बजटों में बचत होती रही जिसको वह विकास की योजनाओ के कोष में या आय के सुरक्षित कोष में रखते गये। और इन कोषो की आय से उनका ऋण सम्बन्धी व्यय घट गया।

(३) सार्वजनिक निर्माण (Civil Works)—प्रान्तीय सरकारों को प्रान्तीय सडकें, सार्वजनिक इमारतें इत्यादि के बनाने व मरम्मत कराने में व्यय करना पडता है। इन कार्यों पर १९४९-५० में उत्तर प्रदेश का व्यय ५ ३५ करोड रुपये, मध्य प्रदेश का २२९ ३ लाख रुपये और बिहार का २६७·५ लाख रुपये हुआ।

(४) नागरिक शासन (Civil Administration)—नागरिक शासन के व्यय के दो मुख्य भाग हैं —(१) समाज-सेवा पर व्यय (Social Services), (२) सुरक्षा सम्बन्धी व्यय (Security Services)। १९३८-३९ मे सब प्रान्तो का समाज-सेवा पर पर व्यय २० ८९ करोड रुपये था जो १९४८-४९ में बढकर ६८ ०७ करोड रुपये और १९४९-५० मे लगभग ९२ करोड रुपये हो गया। सुरक्षा सम्बन्धी व्यय में भी वृद्धि हुई परन्तु इसी अनुपात में नही। सब प्रान्तो का सुरक्षा सम्बन्धी व्यय १९३८-३९ में २६ ६३ करोड रुपये था जो बढ-कर १९३८-३९ मे ७३ २५ करोड रुपये और १९४९-५० मे लगभग ८८ करोड रुपये हो गया। १९४९-५० मे सबसे पहली बार प्रान्तीय सरकारो का व्यय समाज-सेवा पर सुरक्षा सम्बन्धी व्यय से अधिक था।

१९४९-५० में नागरिक शासन मे उत्तर प्रदेश का व्यय ३५ ७८ करोड रुपये और मध्य प्रदेश का ९ ७४ करोड रुपया था। इस व्यय मे आम शासन, न्याय, जेल शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, चिकित्सा, पुलिस, कृषि, पशु-चिकित्सा, सहयोग, हवाई-यातायात का निर्माण इत्यादि इत्यादि पर व्यय सम्मिलित है।

आम शासन में प्रान्तीय गवर्नर का कुल व्यय प्रान्तीय धारा सभा, सेक्रेटेरियट व जाँच इत्यादि का व्यय सम्मिलित है। १९४९-५० आम शासन पर उत्तर प्रदेश का व्यय ५ ४५ करोड़ रुपये, मध्य प्रदेश का १७३ ८ लाख रुपये और बिहार का २०४ ६ लाख रुपये था।

न्याय के व्यय (Justice) मे हाईकोर्ट के जजो इत्यादि का वेतन भी सम्मिलित है। १९४९-५० मे उत्तर प्रदेश का इस विषय पर व्यय १ २९ करोड़ रुपये, मध्य प्रदेश का ४६ लाख रुपये और बिहार का ८३·३ लाख रुपये था।

जेलों (Jails) के व्यय में जेल के कर्मचारियो का वेतन व कैदियों का व्यय सम्मिलित है। उत्तर प्रदेश का इस मद पर व्यय

१९४९-५० मे १ २३ करोड रुपये था और मध्य प्रदेश का २६ १ लाख लाख रुपये और विहार का ८९ लाख रुपये था।

शिक्षा (Education) के व्यय मे स्वतन्त्रता मिलने के उपरान्त अधिक वृद्धि हुई है। इस व्यय में यूनिवर्सिटियो को दी गई सहायता, प्रान्तीय सरकार के स्कूल व कालेजो का व्यय व अन्य स्कूलो को सहायता इत्यादि सम्मिलित है। १९४९-५० में शिक्षा पर उत्तर प्रदेश का व्यय ६ ६३ करोड रुपये था और मध्य प्रदेश का २७१ १ लाख रुपये और विहार का ४३७ १ लाख रुपये।

सार्वजनिक स्वास्थ्य (Public Health) पर १९४९-५० मे उत्तर प्रदेश का व्यय १०५ लाख रुपये था और मध्य प्रदेश का २१ ९ लाख रुपये व विहार का ५५ ८ लाख रुपये।

चिकित्सा (Medical) के व्यय में प्रान्तीय अस्पतालो का व्यय भी सम्मिलित है। १९४९-५० में चिकित्सा पर उत्तर प्रदेश का व्यय १९५ लाख रुपये था, मध्य प्रदेश का ४८ ८ लाख और विहार का १०० ५ लाख रुपये।

पुलिस (Police)—गत वर्षो मे पुलिस पर भी व्यय वढता जा रहा है। १९४९–५० में पुलिस पर उत्तर प्रदेश का व्यय ७ ९९ करोड रुपये था और मध्य प्रदेश का २ ६४ करोड रुपये व विहार का ३ ६३ करोड रुपये।

कृषि (Agriculture)—देश मे अनाज की कमी व हमारी कृषि की स्थिति विगडी हुई होने के कारण प्रान्तीय सरकारो को कृषि पर अधिक व्यय करना अनिवार्य सा है। १९४९–५० में कृषि पर उत्तर प्रदेश का व्यय ४·०९ करोड रुपये था और मध्य प्रदेश का ५८·९ लाख रुपये व विहार का १ १२ करोड रुपये।

नीचे हमने कुछ प्रान्तो के आय-व्यय के वजट के आँकडे दिये है —

१९५१–५२ के बजट के अनुमानित आँकडे लाख रुपयो में।

आय के विभाग	उत्तर प्रदेश	मध्य प्रदेश	बिहार	उडीसा १९५०–५१ के आँकडे
१ निर्यात-कर का प्रान्तीय भाग	.	.	३५·०	५·०
२ आयकर का प्रान्तीय भाग		२६६ ९	५५६ ०	१४० ५
३ कृषि आय-कर	९२५ ५	.	४०·८	१५ ०
४ मालगुजारी	१४०७ १	४०४ ६	१४३ ९	११३·६
५ आबकारी	५८४ १	२१५ ०	५०६ ३	१६९·३
६ स्टाम्प	२२५ ०	९१ ८	२३० ९	४५ ८
७. रजिस्ट्री	२४ ७	२० २	६६ ८	७ ०
८ वन	३३९ ९	३७५·८	६५ २	८९·४
९ सिंचाई	३०१ ८	१९ ४	(–)२ ८	(–)८·२
१० विक्रय-कर	.	१५६·०	२८३·८	८३ ८
११. मनोरजन-कर, अन्य कर	९१८ ३	२९ ५	३६ ५	३ १
१२ बिजली पर कर	.	७ ०	१२ ३	० २
१३ केन्द्रीय सरकार से सहायता	८० ५	३ ८	११९ ३	१२६ ०
कुल आय	६१२ ७०	२०४४ ५	३५९६ ७	१०६५·८

बाकी आय अन्य स्रोतो से।

व्यय के मुख्य विभाग	उत्तर प्रदेश	मध्य प्रदेश	बिहार	उडीसा १६५०–५१ के आँकडे
१. आय पर प्रत्यक्ष माँग	५१७ १	२३० ८	१५५ ७	८४ ७
२ ऋण सम्बन्धी व्यय	१०० ५	८८ ६	(–) १४ ६	१४ ६
३ सार्वजनिक निर्माण	३७५ ४	११९४ १	७६६ ४	२०४ ७
४ सिंचाई	२६६ १	६४ ८	१५१ ६	११ ४
५ बिजली की योजनायें	१६ ३	३४ ५	६ ३	५ ५
६ सामान्य शासन	६३५ ७	१६१ ६	२०४ ०	१०६ १
७. न्याय	१३५ ३	४३ १	७५ ६	२१·२
८ शिक्षा	७३७ २	३१६ ८	३२८ ८	१५१ ८
६ सार्वजनिक स्वास्थ्य	१०५·३	३० ५	१०७ ५	१७ ०
१०. जेल	१०८ १	२३ ६	८३ ८	१८ ६
११ चिकित्सा	२०७ ८	७१ १	६६ १	५१ ०
१२ पुलिस	७३० ४	२५० ६	३६८ १	१३५ ६
१३ कृषि	३३८ ०	१०० ७	१५७ ५	७६ ५
१४ पशु चिकित्सा	१०७ २	३२ ४	२५·८	२० ७
१५ सहयोग	६५ २	३६ ३	१६ ३	१४ २
कुल व्यय	६१५० ६	२०४४ ५	३११२ ६	११४१ ६

बाकी व्यय अन्य विभागो पर होता है।

अभ्यास के प्रश्न

१ प्रान्तीय सरकारो की आय के मुख्य स्रोतो पर प्रकाश डालिये।

२ निम्नलिखित विषयो पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये —
(१) मालगुजारी (२) आबकारी (३) विक्रय-कर (४) प्रान्तीय सरकारो का शिक्षा और पुलिस पर व्यय।

३ प्रान्तीय सरकारो के व्यय के मुख्य विभागो का वर्णन कीजिये।

अध्याय ३४

स्थानीय राजस्व

भारतवर्ष मे मुख्य स्थानीय सस्थाएँ दो प्रकार की हैं —(१) म्यूनिसिपैलिटियाँ, जो नगरो मे होती हैं और (२) जिला बोर्ड जो ग्राम्य प्रदेशों में होते हैं।

सन् १९४६–४७ मे भाग A के प्रान्तो मे ३ म्यूनिसिपल कॉरपोरेशन, ६२८ म्यूनिसिपैलिटियाँ और १७६ जिला बोर्ड थे। जनता के प्रतिदिन के जीवन की आवश्यकताओ के प्रबन्ध करने का उत्तरदायित्व स्थानीय सस्थाओ पर है। यह इन्ही संस्थाओ की जिम्मेवारी है कि वह जनता के लिए पानी, सफाई, सडको पर रोशनी, शहरो व गाँवो में गन्दे पानी की नालियो, प्रारम्भिक शिक्षा के स्कूल व अस्पताल इत्यादि का प्रबन्ध करें। इस कारण यह आवश्यक है कि उनके पास आय के पर्याप्त साधन हो जिससे वह अपने कर्त्तव्यो का पालन उचित रीति से कर सकें क्योंकि उसी पर जनता की भलाई निर्भर है। परन्तु यह खेद की बात है कि भारतवर्ष में स्थानीय सस्थाओ की आर्थिक स्थिति बहुत शोचनीय है। जब कि अमेरिका के सयुक्त राष्ट्र में कुल सरकारी व्यय का ५५% भाग स्थानीय सस्थाएँ व्यय करती हैं और केवल ३०% व १५% केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारें, तो भारतवर्ष में (१९३७–३८) स्थानीय सस्थाओं का व्यय कुल व्यय का १९% ही था जब कि केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारों का व्यय में भाग ४९ % और ३२% था। इस दृष्टि से स्थानीय सस्थाओ की स्थिति गत वर्षो में और भी गिर गई है। १९४९–५० में केन्द्रीय सरकार की आय ३५० करोड रुपये थी, भाग A के प्रान्तो की २९५ करोड रुपये और भाग B के प्रान्तो की ९७ करोड रुपये। परन्तु स्थानीय सस्थाओ की आय लगभग ६४ करोड रुपये थी जो कुल सरकारी आय के ९०% से भी कम है। स्थानीय सस्थाओ की शोचनीय स्थिति का अनुमान इससे भी लग सकता है कि म्यूनिसिपैलिटियो की आय जिनकी जनसख्या २·२ करोड़ है, १५ १८ करोड रुपये हैं। जिला बोर्डों की स्थिति इससे भी खराब है और जब उनकी जनसंख्या २० ५ करोड है तो उनकी आय केवल १५ ५५ करोड़ रुपये हैं। म्यूनिसिपल कॉरपोरेशनो की स्थिति इनकी अपेक्षा अच्छी थी। उनकी जनसख्या ४८ लाख थी और आय १२ ४ करोड रुपये थी। इस कारण जिन सेवाओ का प्रबन्ध इन स्थानीय सस्थाओ

पर निर्भर हैं वे बहुत कम और त्रुटिपूर्ण हैं। यह अनुमान लगाया गया है कि ६ गाँवो के बीच मे १ स्कूल है। ऐसे बहुत से गाँव है जहाँ से रेलवे स्टेशन या नागरिक केन्द्रो को जाने के लिए सडके नही बनी हैं। ३५ करोड की जनसख्या मे से लगभग ७० लाख व्यक्ति ऐसे स्थानो मे रहते है जहाँ गन्दे पानी व मैले की नालियो का उचित प्रबन्ध है। उत्तर प्रदेश मे ग्राम्य-प्रदेशो में १,०५,६२६ व्यक्तियो के बीच में एक अस्पताल है और नगरो मे १७,६६८ व्यक्तियो के बीच में। यह शोचनीय स्थिति तभी सुधर सकती है जब स्थानीय सस्थाओ की आय बढाई जाय। इस विषय पर केन्द्रीय सरकार ने अप्रेल १९४९ में लोकल फाइनैन्स इन्क्वायरी कमेटी (Local Finance Enquiry Committee) बैठाई जिसकी रिपोर्ट अप्रेल १९५१ में प्रकाशित हुई। इस कमेटी ने यही सम्मति दी है कि स्थानीय सस्थाओ को अधिक कर लगाने के अधिकार देने चाहिए। कमेटी ने यह बतलाया है कि आजकल स्थानीय सस्थाएँ प्रान्तीय सहायता पर अधिक निर्भर हैं और कमेटी की सम्मति में इस सहायता की अपेक्षा स्थानीय सस्थाओ को कुछ विशेष आय के साधन सौप देने चाहिए। नये विधान के अनुसार रेल, जहाज या हवाई जहाज द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने वाले यात्री या माल पर सीमा कर (Terminal Tax) लगाने का अधिकार केन्द्रीय सरकार को है। कमेटी की सम्मति में यह अधिकार स्थानीय सस्थाओ को सौप देना चाहिए। इसी प्रकार कमेटी ने सम्मति दी है कि कुछ कर जिनको लगाने का अधिकार प्रान्तीय सरकारो को हैं वह भी स्थानीय सस्थाओ को सौप देने चाहिए, जैसे (१) भूमि, इमारते या खनिज पदार्थो के उत्पादन के विकास पर कर, (२) बिजली के उपयोग व विक्रय पर कर, (३) मोटर गाडियो इत्यादि पर कर, (४) रोजगार, पेशे और व्यापार पर कर, (५) मनोरजन कर।

इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि स्थानीय सस्थाओ को जो कर लगाने के अधिकार हैं उनसे वह पूरा लाभ उठायें। उत्तर प्रदेश मे ११२ म्यूनिसिपैलिटियो में से केवल ३३ ही घरो पर कर (House Tax) लगाती हैं और अधिक स्थानो पर इसकी दर बहुत कम है। इसका कारण यह है कि प्रान्तीय सस्थाओ के सदस्य वहाँ के निवासियो के वोटो से चुने जाते हैं और वे प्रत्यक्ष कर लगाने से घबराते हैं। इस कारण प्रान्तीय सरकारो के लिए यह आवश्यक है कि जब स्थानीय सस्थाएँ अपने कर सम्बन्धी अधिकारो का उचित प्रयोग न करे तो प्रान्तीय सरकार स्वय उन सस्थाओ की ओर से कर लगावे। साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि स्थानीय सस्थाओ के शासन मे उन्नति हो। उनके हिसाब रखने के उचित ढग होने चाहिए और उनकी ठीक रीति मे जाँच होनी चाहिए।

उनके कर निर्धारण और उसके वसूल करने का भी उचित प्रबन्ध होना चाहिए। बहुत से स्थानो मे जिन व्यक्तियो का प्रभाव होता है उन पर कर कम लगाये जाते है और अनेक बार बहुत सी आय वसूल न होने के कारण डूब जाती है। स्थानीय सस्थाओ के कर्मचारियो की नियुक्ति में पक्षपात होता है जिस कारण उचित व्यक्ति नियुक्त नही होते और उनके शासन की कार्यक्षमता गिर जाती है। प्रान्तीय सरकारो को इस पर कुछ रोक लगानी चाहिये और स्थानीय सस्थाओ के शासन की जाँच करने के उपरान्त उसमें उन्नति करने की रीतियाँ बतलानी चाहिये। यह बहुत आवश्यक है अन्यथा स्थानीय सस्थाओ की आय बढने पर भी वे उसका उचित प्रयोग न कर सकेगी।

म्यूनिसिपैलिटियों की आय

म्यूनिसिपैलिटियो की आय के मुख्य स्रोत निम्नलिखित है:—

(१) चुंगी (Octroi)—जो माल बाहर से रेल, सडक या नदी द्वारा नगर के अन्दर आता है उस पर यह कर लगाया जाता है। साधारणत. यह कर वस्तुओ के मूल्य के अनुसार लगाया जाता है। जो माल नगर से बाहर भेजा जाता है उस पर यह कर नही लगाया जाता और यदि उसके आने पर चुंगी चुकाई गई थी तो माँगने पर उसकी वापसी हो जाती है। परन्तु वापसी की रीतियाँ जटिल होती है जिससे बहुत से लोग वापसी माँगते ही नही। जो यात्री नगर में आते है उनको चुगी के मोर्हारर तग करते है। कभी-कभी उनके सन्दूक व बिस्तर खुलवाकर देखते है और यदि उनके पास छोटी मोटी नई वस्तुएँ होती है तो उनका अधिक मूल्य आँककर कर माँगते है। यदि वह इस आँके-मूल्य को मानना अस्वीकार करते है तो उन्हें केन्द्रीय कार्यालय मे ले चलने को कहत है जिससे वे परेशान होकर या तो मुँहमाँगा कर दे देते है या उनकी जेब गरम कर देते है जिससे भ्रष्टाचार फैलता है। इस कर से व्यापार में भी बाधा पडती है क्योकि चुंगी से वस्तुओ के मूल्य बढ़ जाते है और आस-पास के गाँवो व छोटे नगरो के लोग वस्तुएँ वही से खरीदना पसन्द करते है जहाँ यह कर नही होता है जिससे उस नगर के विकास मे बाधा पडती है। इन कारणो से प्रत्येक नगर में लोगो की भावनाएँ इस कर के विरुद्ध है। परन्तु यह कर म्यूनिसिपैलिटियो की आय का महत्वपूर्ण स्रोत है। उदाहरणत. उत्तर प्रदेश की म्यूनिसिपैलिटियो की इस कर से आय (१९४६–४७) १७३ करोड रुपये थी जो उनकी कुल कर द्वारा प्राप्त आय का ६२·८% भाग है। इसके रिक्त स्थान की पूर्ति कर सकने वाला कोई अन्य कर न होने से म्यूनिसिपैलिटियाँ इसी कर को

लगाती हैं। संयुक्त प्रदेश की म्यूनिसिपल-कर-कमेटी (१९०८-०९) ने यह सम्मति दी कि चुंगी की अपेक्षा सीमा-कर लगाया जाय। सरकार ने यह सम्मति मान ली और कुछ म्यूनिसिपैलिटियों ने इसको अपनाया। सीमा कर (Terminal Tax) नगर में रेल द्वारा आनेवाली वस्तुओं पर लगाया जाता है पर इसकी वापसी नहीं होती। यह वस्तुओं के परिमाण पर लगाया जाता है जिससे उनके मूल्य आंकने की असुविधा हट जाती है। इसका भार चुंगी से कम होता है। जब केवल रेल द्वारा लाई वस्तुओं पर ही कर लगाया जाता है तो व्यापारी माल सडक और नदियों से लाने पडते हैं। इस कारण इन मार्गों से आने वाले माल पर भी कर लगाना आवश्यक हो जाता है। जो कर सडक और नदियों द्वारा लाये माल पर लगाया जाता है उसे राहदरी महसूल (Terminal Toll) कहते हैं।

(२) मकान, भूमि व सम्पत्ति पर कर (Taxes on Houses, Lands or Property Tax) यह कर मकान व भूमि के किराये पर लगाया जाता है और उनके स्वामी से वसूल किया जाता है। इसकी अधिकतम दर किराये की १०% या ११% है। कुछ स्थानों पर केवल मकान या जिस भूमि पर वह बने होते हैं उस पर ही कर लगाया जाता है और उसे घरों पर कर (House Tax) कहते हैं। अधिकतर स्थानों पर इसकी दर बहुत कम है।

(३) रोजगार, पेशे व व्यापार पर कर (Tax on Trades, Professions, Arts and Callings)—यह बहुत कम स्थानों पर लगाया जाता है और जहाँ लगाया भी जाता है वहाँ लाइसेन्स फीस के रूप में वसूल किया जाता है। उत्तर प्रदेश में धोबीघाट के प्रयोग पर धोबियों से एक वार्षिक शुल्क लिया जाता है।

(४) व्यक्तियों पर कर या हैसियत-कर (Taxes on Persons or Haisyat Tax)—यह कर आय पर नहीं लगाया जाता परन्तु करदाताओं की सामाजिक स्थिति या कुटुम्ब के परिमाण पर लगाया जाता है। कहीं कहीं नौकरों पर भी कर लगाया जाता है और वह उनके स्वामियों से वसूल किया जाता है।

(५) मनोरंजन-कर (Entertainment Tax)—यह केवल मद्रास प्रान्त में ही म्यूनिसिपैलिटियाँ लगाती हैं अन्य प्रान्तों में यह कर प्रान्तीय सरकारें लगाती हैं। अजमेर में भी यह कर म्यूनिसिपैलिटी लगाती है।

(६) यात्री-कर (Pilgrim Tax)—नये विधान के अनुसार यह कर केन्द्रीय सरकार लगा सकती है परन्तु जो स्थानीय संस्थाएँ विधान के पूर्व यह कर लगाती थीं उनको इसके लगाने की आज्ञा दे दी गई है। यह कर रेलों से आनेवाले यात्रियों पर लगाया जाता है और रेल के

टिकट में सम्मिलित कर दिए जाता है और स्थानीय संस्थाएँ इसे रेलवे शासन से वसूल कर लेती है। उत्तर प्रदेश में यह कर इलाहाबाद, मथुरा, आगरा, बनारस, वृन्दावन इत्यादि मे लगाया जाता है।

(७) गाड़ियो इत्यादि पर कर (Vehicle Tax)—म्यूनिसिपैलिटिय मोटर, लौरी, ताँगा, इक्का, बैलगाडी, नावो इत्यादि पर कर लगाते है। कुछ म्यूनिसिपैलिटियाँ साइकिलो पर भी कर लगाती है।

(८) कुत्ते व नौकरों पर कर (Tax on Dogs or Servants)—म्यूनिसिपैलिटियाँ यह कर इनके स्वामी से वसूल करती है।

(९) कुछ म्यूनिसिपैलिटियाँ बाजार कर (Bazar Tax) लगाती हैं यह कर उन दुकानदारो से वसूल किया जाता है जो म्यूनिसिपैलिटी द्वार बनाये बाजारो में दुकानें खोलते है।

(१०) सफाई की फीस (Conservancy Tax) भी कई स्थानो वसूल की जाती है।

(११) म्यूनिसिपैलिटियो को शादी पर भी कर (Marriage Tax लगाना चाहिए क्योकि उस अवसर पर लडकी व लडके वाले के पक्ष अत्यधिक व्यय किया जाता है। वे कुछ कर स्थानीय सस्थाओ को भी सकते है। यह कर केवल बम्बई मे लगाया जाता है। प्रत्येक स्थानी सस्था को शादी की रजिस्ट्री पर भी फीस लेनी चाहिए जिसकी द १ रुपया हो सकती है। इससे शादियो की प्रामाणिक सूची भी तैयार हो जायेगी

(१२) उन्नति-कर (Betterment Tax)—म्यूनिसिपैलिटियो को खाल भूमि पर बाजार व नई बस्तियाँ बसानी चाहिए जिससे उन भूमिय के अर्घ में वृद्धि हो और उनके स्वामियो से उन्नति कर वसूल किया जाय

(१३) शिक्षा की अधिक माँग और आवश्यकता होने से म्यूनिसि पैलिटियो को शिक्षा-कर (Education Tax) लगाना चाहिए। घरो कर पर २ या ३% शिक्षा कर भी जोड देना चाहिए जिससे वे शिक्षा प अधिक व्यय कर सके। स्कूलो की फीस से भी कुछ आय प्राप्त होती है

(१४) जुर्माना (Fines)—म्यूनिसिपैलिटियो के कानून तोड़ने पर सस्थाएँ जुर्माना वसूल करती है। भटकते हुए जानवरो (Stray Cattle को काँजी हाउस मे बन्द कर दिया जाता है और जुर्माना लेकर ही उन स्वामियो को वापिस किया जाता है।

(१५) म्यूनिसिपैलिटी कुछ भूमि, मकान व अन्य जायदाद की स्वाम होती है और उसके किराये से आय प्राप्त करती है।

(१६) पानी की सप्लाई का प्रबन्ध नगरो में म्यूनिसिपैलिटी द्वारा ह होता है और वह उस पर कर या शुल्क वसूल करती है। मकानो नल लगाने का या तो वह स्थिर दर से शुल्क ले लेती है या वहाँ मीट

लगा देती है और पानी के प्रयोग के अनुपात मे शुल्क लेती है। मीटर लगाने की रीति अधिक उचित है क्योकि उससे जनता पानी का प्रयोग सावधानी से करती है। धनी व्यक्तियो के घरो मे पानी का अधिक व्यय होता है और इस कारण म्यूनिसिपैलिटियो को पानी के शुल्क की दर प्रगतिशील रखनी चाहिए।

(१७) जिन म्यूनिसिपैलिटियो के अपने बिजलीघर या यातायात के साधन जैसे ट्राम या बस होते है उनको इस मद से भी आय प्राप्त होती है।

(१८) कुछ म्यूनिसिपैलिटियाँ सडक और घाट के प्रयोग का भी महसूल बसूल करती है और बूजरखाने के लाइसेन्स का शुल्क भी लेती है।

(१९) **प्रान्तीय सरकार से सहायता** (Grants-in-Aid)—यह सहायता साधारणत प्रतिवर्ष मिलती है और कभी आकस्मिक भी मिल जाती है। प्रान्तीय सहायता ३ मुख्य भागो मे बाँटी जा सकती है, (१) शिक्षा के लिए (२) चिकित्सा के लिए (३) साधारण अन्य कार्यो के लिए सहायता, जैसे स्वास्थ्य, सडकें बनवाना, दवाइयो के क्रय के लिए इत्यादि, इत्यादि।

म्यूनिसिपैलिटियों का व्यय

इसके मुख्य विभाग निम्नलिखित है —

(१) सामान्य शासन व कर वसूल करने पर व्यय।

(२) नगर की सफाई, नालियो के बनवाने, मैले को नगर के बाहर फिकवाने इत्यादि पर व्यय। यह व्यय नागरिको के स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

(३) **चिकित्सा** (Medical)—म्यूनिसिपैलिटियाँ अस्पताल और दवाईखाने चलाती है व टीके लगाने का प्रबन्ध करती है। इसके अतिरिक्त वे पशुओ की चिकित्सा के अस्पताल भी खुलवाती है जहाँ गाय, बैल, घोडे, कुत्ते इत्यादि की चिकित्सा की जाती है। गायो की नस्ल सुधारने के लिये स्वस्थ और अच्छी नस्ल के साँडो का भी प्रबन्ध करती है।

(४) **शिक्षा** (Education)—म्यूनिसिपैलिटियो को विशेषकर प्रारम्भिक शिक्षा का प्रबन्ध करना होता है और कही कही वह हाईस्कूल व कॉलेज भी चलाती है। नगर मे पुस्तकालय भी खोलती है।

(५) **सार्वजनिक निर्माण**—कुछ मुख्य सडको को छोडकर (जो प्रान्तीय सरकार के अन्तर्गत होती है) म्यूनिसिपैलिटियो को नगर की सडको को बनाने व मरम्मत करने पर व्यय करना पडता है व बागबगीचे लगवाती है और खेलो के मैदान भी बनवाती है। सडको पर पेड भी लगवाती है और उनके बेचने से कुछ आय भी प्राप्त होती है। कुछ म्यूनिसिपैलिटियाँ अजायब घर (Museum) व पशु-वाटिका (Zoo) भी बनवाती है।

(६) म्यूनिसिपैलिटियो को नगर की सडकों की रोशनी के प्रबन्ध पर व्यय करना पडता है।

(७) बडे नगरो की म्यूनिसिपैलिटियो मे आग बुझाने का विभाग (Fire Brigade) भी होता है जहाँ आग बुझाने की लारियाँ इत्यादि रखी जाती हैं।

(८) कुछ म्यूनिसिपैलिटियाँ प्रान्तीय सरकार की स्वीकृति से ऋण भी लेती है। यह ऋण उन्हे पानी का कारखाना (Water Works) बिजलीघर बनवाने व ट्राम, बस चलाने के लिए लेना पडता है। इस ऋण पर व्याज चुकाना पडता है।

जिला बोर्ड

जो कार्य म्यूनिसिपैलिटियाँ नगरो मे करती है वही कार्य ग्रामीण प्रदेशो में जिला बोर्डों द्वारा होता है। १९४६-४७ में भाग A के प्रान्तो में कुल १७६ जिला बोर्ड थे जिनकी जनसख्या २०४ करोड और आय १५६ करोड रुपये थी। जिला बोर्डों के मुख्य आय के स्रोत निम्नलिखित है :—

(१) स्थानीय भूमि-कर (Land Cess)—जिला बोर्डों की आय का यह मुख्य साधन है। भाग A के प्रान्तो के जिला बोर्डो की इस विभाग से कुल आय ५२ करोड रुपये थी। यह उनकी कुल आय का $\frac{1}{3}$ भाग है। उत्तर प्रदेश में मई १९४८ से प्रत्येक जिला बोर्ड के लिए यह अनिवार्य है कि वह मालगुजारी का ३ आ० प्रति रुपया की दर से स्थानीय भूमि-कर लगाये। इस कर की वसूली मालगुजारी के साथ-साथ प्रान्तीय कर्मचारी करते हैं और फिर वह जिला बोर्डो को दे दी जाती है। इस कर का $\frac{1}{2}$ भाग जमींदार को देना पडता है और $\frac{1}{2}$ भाग आसामी किसानो को। परन्तु व्यवहार में सारा कर जमीदार ही देते है। जमीदारी के समाप्त हो जाने पर यह कर उत्तर प्रदेश की सरकार को देना होगा क्योकि वह भूमिधारो से मालगुजारी से कुछ अधिक लगान वसूल करेगी। उत्तरप्रदेश के जिला बोर्डों की इस कर से १९४६-४७ मे आय ९२१ लाख रुपये और बिहार में ८५१ लाख रुपये, उडीसा में ६५ लाख रुपये और मध्य प्रदेश मे ३७९ लाख रुपये थी।

(२) आर्थिक अवस्था और संपत्ति पर कर (Tax on Circumstance and Property)—इसके अन्तर्गत हैसियत कर भी लगा या जाता है। उत्तर प्रदेश मे ४९ में से केवल २७ जिला बोर्डों को यह कर लगाने का अधिकार है। कर की दर कुल आय पर ४ पाई प्रति रुपया से अधिक नही हो सकती। इन २७ जिला बोर्डो की इस कर से आय १६ लाख रुपये है। यह कर प्रत्येक जिला बोर्ड में लगना चाहिए और प्रान्तीय

सरकारो को यह अधिकार भी जिला बोर्डों को दे देना चाहिए कि वह कृषि की आय पर भी यह कर लगा सकें।

(३) महसूल (Tolls)—जिला बोर्ड यह कर तालाब, घाट, पुल, सडक इत्यादि के प्रयोग पर लगाते है।

(४) लाइसेन्स का शुल्क (Licence Fees)—कुछ व्यापार व पेशो के लिए जिला बोर्ड लाइसेन्स देते है और उसका शुल्क लेते हैं, जैसे कसाइयो से, गोश्त की दुकाने, वनस्पति घी की दुकाने, आटे की चक्की व अन्य कारखाने इत्यादि पर।

(५) जिला बोर्डों को भी शादी पर कर लगाना चाहिए जिसको लगाने का सुझाव हमने म्यूनिसिपल बोर्डों को भी दिया है।

'(६) जुर्माना (Fines)—जिला बोर्डों के कानून तोडने पर ये संस्थाएँ जुर्माना वसूल करती है। भटकते हुए जानवरो को काँजी-हाउस मे बन्द कर दिया जाता है और जुर्माना लेकर ही उनके स्वामियो को वापिस किया जाता है।

(७) शुल्क (Fees)—स्कूलो व अस्पतालो के शुल्क से भी कुछ आय होती है। बाजार, दूकाने, मेलो, प्रदर्शनियो पर भी शुल्क लगाया जाता है।

(८) जिला बोर्डों को अपनी इमारतें व नजूल सम्पत्ति से भी कुछ कुछ आय प्राप्त होती है। डाक बगले मे ठहरने वालो से किराया भी लिया जाता है।

(९) प्रान्तीय सरकार से सहायता—शिक्षा के व्यय का २/३ भाग प्रान्तीय सरकार देती है और शेष जिला बोर्डो को अपने पास से व्यय करना पडता है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य कार्यो के लिए भी सरकार सहायता देती है। गाँवो में अस्पताल व दवाखानो की बहुत आवश्यकता है। इनकी स्थापना को प्रोत्साहन देने के लिए प्रान्तीय सरकार को उनके व्यय का आधा भाग देने की रीति को मान लेना चाहिए।

जिला बोर्डों का व्यय

इनके व्यय के निम्नलिखित मुख्य भाग है —

(१) सामान्य शासन व कर वसूल करने पर व्यय।

(२) अस्पतालो व सफाई पर व्यय। पशु चिकित्सा के अस्पतालो पर भी व्यय करना पडता है और पशुओ की नस्ल सुधारने पर भी जिला बोर्ड व्यय करते है।

(३) शिक्षा—गाँवो मे स्कूल जिला बोर्ड खोलते है और इस विभाग के व्यय का १/३ भाग तो सरकार देती है परन्तु शेष जिला बोर्डों को अपनी आय मे से देना पडता है। पुस्तकालयो पर भी व्यय करना पडता है।

(४) सार्वजनिक निर्माण—जिला बोर्डों को सड़क बनाने, पुल व अन्य इमारतें बनवाने व इनकी मरम्मत करवाने पर व्यय करना पड़ता है। वह सड़कों पर पेड़ भी लगवाते हैं।

(५) काँजी-हाउस, मेले, प्रदर्शनियों इत्यादि के प्रबन्ध पर भी व्यय करना पड़ता है।

ग्राम-पंचायतें

लोकल फाइनैन्स इन्क्वायरी कमेटी ने यह सम्मति दी है कि इन संस्थाओं को निम्नलिखित दो कर अवश्य लगाने चाहिए:—

(१) घरों पर कर या चूल्हा कर या आर्थिक अवस्था व सम्पत्ति पर कर।

(२) सफाई पर कर।

अन्य कर स्थानीय आवश्यकता व स्थिति को ध्यान में रखते हुए लगाने चाहिए। अधिकतर ग्राम पंचायतों की आर्थिक स्थिति सन्तोषजनक नहीं है। इसलिये यह आवश्यक है कि उनको अन्य स्रोतों से भी सहायता दी जाय। इस कारण उक्त कमेटी ने यह सम्मति दी है कि पंचायतों के क्षेत्र से जो मालगुजारी वसूल की जाय उसका १५% भाग ग्राम पंचायतों को दे देना चाहिए। कांग्रेस सरकारों का यह लक्ष्य है कि इन पंचायतों का देश के शासन में महत्वपूर्ण भाग हो। इस कारण यह आवश्यक है कि इनके आय के साधन पर्याप्त हों।

ग्राम पंचायतों के आय के मुख्य साधन निम्नलिखित हैं। उनको प्रान्तीय सरकारों से शिक्षा, चिकित्सा, सार्वजनिक स्वास्थ्य व सड़क इत्यादि के लिए सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त जिला बोर्डों से भी कुछ सहायता मिलती है। पंचायती अदालतों की आय और ग्राम के स्कूल की शिक्षा की फीस भी पंचायती कोष में जमा होती है। मेले, प्रदर्शनी इत्यादि के प्रबन्ध से भी आय प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त पंचायतें कुछ कर भी लगाती हैं।

पंचायतों के व्यय के मुख्य विभाग ये हैं —

(१) सामान्य शासन

(२) शिक्षा

(३) सार्वजनिक निर्माण

(४) सार्वजनिक स्वास्थ्य

(५) पंचायती अदालत पर व्यय

(६) सफाई पर व्यय, इत्यादि।

अभ्यास के प्रश्न

१ स्थानीय सस्थाओं का महत्त्व समझाइये। उनकी आय किस प्रकार बढाई जा सकती है ?

२ म्यूनिसिपैलिटियो की आय व व्यय के मुख्य भाग कौन से है ? उनका सक्षिप्त वर्णन कीजिये।

३ जिला बोर्डो के आय-व्यय के भागो पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

अध्याय ३५

व्यापार (Trade)

किसी देश का व्यापार ३ भागो मे बाँटा जा सकता है—

(१) देशान्तर्गत व्यापार (Internal Trade)*—जो व्यापार देश के अन्दर होता है उसको देशान्तर्गत व्यापार कहते है। इसमे एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त का व्यापार सम्मिलित होता है। यह व्यापार सडको, रेलो, नहरो, नदियो या वायु-मार्गों द्वारा होता है। प्राय· प्रत्येक देश का देशान्तर्गत व्यापार उसके कुल व्यापार का एक प्रमुख भाग होता है।

(२) तटीय व्यापार (Coastal Trade)—वास्तव में यह व्यापार देशान्तर्गत व्यापार का ही भाग होता है परन्तु साधारणत इसका वर्णन अलग किया जाता है। इसमे देश का वह व्यापार सम्मिलित होता है जो देश के विभिन्न भागो मे बन्दगाहो द्वारा किया जाता है।

(३) विदेशी व्यापार (Foreign Trade)—एक देश दूसरे देशो से जो व्यापार करता है वह उस देश का विदेशी व्यापार कहलाता है।

देशान्तर्गत व्यापार

हमारे देशान्तर्गत व्यापार के ठीक और सही आँकड़े नही मिलते है परन्तु इस व्यापार की मात्रा का अनुमान लगाया जा सकता है। किसी देश का देशान्तर्गत व्यापार निम्नलिखित प्रमुख कारणो पर निर्भर होता है —

(१) देश का विस्तार (Size of Country)—देश जितना बडा होगा उसका व्यापार भी उतना ही अधिक होगा। हमारा देश विस्तार में एक महाद्वीप के बराबर है और यहाँ भिन्न प्रकार की जलवायु और प्राकृतिक अवस्थाएं है। कुछ भाग ठढे है तो कुछ गर्म है, कही वर्षा अधिक

---

* देशान्तर्गत व्यापार साधारणत· एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त के व्यापार को कहते है। परन्तु हमारे मत में एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त के व्यापार को प्रान्तीय व्यापार कहना चाहिये और देशान्तर्गत व्यापार में प्रान्तीय व्यापार के अतिरिक्त वह व्यापार भी सम्मिलित होना चाहिये जो प्रान्त के अन्दर ही होता है क्योंकि वह व्यापार भी देश के अन्दर का ही व्यापार है अर्थात् देशान्तर्गत व्यापार में देश का कुल व्यापार आना चाहिये और इसका पूर्ण अनुमान तभी लगाया जा सकता है जब उसमे देश के अन्दर के प्रत्येक विनिमय कार्य को सम्मिलित कर लिये जायें।

होती है तो कही रेगिस्तान है। इसी प्रकार कोई भाग पहाडी है तो कही मीलो तक मैदान ही दिखाई पडते है। इस कारण हमारे देश मे विनिमय और विशेषज्ञता के लिये विस्तृत क्षेत्र है। उदाहरणत देश की चीनी अधिकतर उत्तर प्रदेश और विहार में होती है, कोयला और लोहा विहार में, पटसन बगाल मे, कपडा बम्बई में इत्यादि । इस कारण देश का एक भाग दूसरे भाग से अधिक वस्तुएँ मँगाता और भेजता है।

सन् १९३७ में वर्मा एक अलग देश वना दिया गया और सन् १९४७ में देश का विभाजन हुआ जिससे भारतवर्ष का कुछ भाग पाकिस्तान वना दिया गया। इन कारणो से भारतवर्ष का विस्तार कुछ कम हो गया है। परन्तु अव भी वह यूरोप के देशो से कई गुना वडा है।

(२) देश की जनसंख्या—देश की जनसख्या जितनी अधिक होगी वहाँ व्यापार भी उतना ही वढा-चढा होगा। हमारे देश की जनसख्या लगभग ३५ करोड है। यह ब्रिटेन की जनसख्या से ६ गुनी अधिक है और अमेरिका के सयुक्त राष्ट्र से लगभग दुगुनी। हमारे देश की जनसख्या लगभग ३५ करोड अव है जव कि वर्मा और पाकिस्तान भारतवर्ष से अलग होकर नये देश वन गये है।

(३) देश का उत्पादन—यदि देश में उत्पादन अधिक होता है तो विनिमय और व्यापार भी अधिक होगा। किसी देश का उत्पादन हम ३ मुख्य भागो मे वाँट सकते है —(अ) कृषि सम्वन्धी उत्पादन, (ब) धातु व खनिज पदार्थों का उत्पादन, (स) औद्योगिक उत्पादन।

(अ) कृषि सम्वन्धी उत्पादन (Agricultural Production)—भारतवर्ष के कुल कृषि-उत्पादन में कुछ वृद्धि होती जा रही है। सन् १९०० में हमारे देश में लगभग १५६ करोड एकड भूमि में कृषि होती थी परन्तु १९४९ में लगभग २४½ करोड एकड भूमि में धान व अन्य चीजें वोई जाती थी। इस प्रकार गत ५० वर्षों में लगभग ९ करोड एकड अधिक भूमि में खेती होती है जिससे स्पष्ट है कि हमारे कृषि सम्वन्धी उत्पादन में अवश्य वृद्धि हुई है। यह अनुमान लगाया गया है कि यदि कुल खेती में से एक एकड भूमि में निर्यात के लिये वस्तुओ का उत्पादन होता है तो इस प्रकार की प्रति एकड भूमि के पीछे लगभग ११ एकड भूमि का उत्पादन आन्तरिक उपभोग के काम में आता है। इससे भी स्पष्ट है कि हमारे वढते हुए विदेशी व्यापार के साथ साथ देशान्तर्गत व्यापार की मात्रा भी वहुत अधिक है।

(व) धातु व खनिज पदार्थों का उत्पादन—(Mineral Production)—यह अनुमान लगाया गया है कि सन् १९०० में धातु व खनिज पदार्थों का कुल उत्पादन लगभग ७½ करोड रुपये के वरावर था।

सन् १९४८ में यह बढ़कर लगभग ६० करोड़ रुपये के बराबर हो गया। यदि हम कुछ विशेष वस्तुओं के उत्पादन की मात्रा की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं तो उक्त वृद्धि स्पष्ट हो जाती है। उदाहरणत: १९०० में हमारे देश में ६१ लाख टन कोयला निकाला गया परन्तु १९४९ में इसकी मात्रा बढ़कर ३१० लाख टन हो गई थी।

(म) औद्योगिक उत्पादन (Industrial Production) में भी अधिक वृद्धि हुई है। कुटीर व छोटे पैमानो के उद्योगो को सही आँकड़े नही मिलते हैं। परन्तु बड़े पैमाने के उत्पादन के आँकड़ों से पता चलता है कि उसमें अधिक वृद्धि हुई है जिससे हम अनुमान लगा सकते हैं कि इसके साथ साथ अन्य क्षेत्रो में भी उत्पादन की वृद्धि हुई होगी। बड़े पैमाने के उत्पादन की वृद्धि का अनुमान उसके कर्मचारियों की सख्या की वृद्धि से लगाया जा सकता है। सन् १९०० में लगभग ७ लाख २० हजार व्यक्ति बड़े पैमानो के उद्योगो में लगे हुए थे परन्तु १९४९ मे उनकी सख्या बढ़कर लगभग २१ लाख हो गई थी। यदि हम किसी विशेष वस्तुओं के उत्पादन पर ध्यान दें तो उक्त परिणाम की पुष्टि होती है। सूती कपडे का उत्पादन इस समय मे १८० करोड़ गज से बढ़कर ४०० करोड गज हो गया है। पटसन की बनाई हुई वस्तुओं का उत्पादन ६ लाख टन से बढकर १३ लाख टन हो गया है। इस्पात (Steel) का उत्पादन ३५ हजार टन से बढकर ६½ लाख टन हो गया है। १९०० मे देश में चीनी की मिलें नही थी और हम अपने उपभोग के लिये चीनी विदेशो से मँगाते थे। परन्तु अब हमारा देश चीनी मे लगभग स्वावलम्बी हो गया है और चीनी के कारखानो का कुल उत्पादन अब लगभग १० लाख टन है।

(४) देश में यातायात और संवाद-साधनों का विकास (Development of Means of Transportation and Communication)—देश में यातायात और सवाद साधन जितने अधिक होंगे वहाँ विनिमय और व्यापार भी अधिक मात्रा मे होगा। यातायात और सवाद साधन रेलो, सड़कों, नहरों और वायु-मार्गो के विकास पर निर्भर हैं। भारतवर्ष में सन् १९०० मे कुल रेलो की लम्बाई लगभग १९ हजार मील थी और सन् १९४९ मे यह लम्बाई बढकर ३७ हजार मील हो गई थी। अर्थात् गत पचास वर्षों में रेल यातायात का प्रसार दुगुना हो गया है। यह विकास रेलो के द्वारा ले जाये गये माल की मात्रा से भी स्पष्ट हो जाता है। सन् १९०० में भारतवर्ष की रेलो के द्वारा लगभग ३६० लाख टन माल लाया ले जाया गया। सन् १९४८-४९ में इसकी संख्या बढकर ८२५ लाख टन हो गई थी। सड़को के द्वारा यातायात में भी अधिक उन्नति हुई है।

सन् १९०० मे यहाँ मोटरो का प्रयोग लगभग नही था परन्तु १९४९ में लगभग १ लाख ८० हजार मोटरे रजिस्टर्ड थी जिसमें से ४० हजार से अधिक सामान लाने ले जानेवाले ठेले थे। इससे स्पष्ट है कि सडको द्वारा जो व्यापार होता है उसमे महत्वपूर्ण वृद्धि हुई होगी। सडको की लम्बाई भी इस समय मे लगभग ६० हजार मील वढ गई है जो निम्न कोष्टक से स्पष्ट है —

	सन् १९०० में	सन् १९४५ में
पक्की सडकें (मीलो में)	४७,०००	७८,९६०
कच्ची सडकें (मीलो मे)	१२९,०००	१५७,५७५

वायु-मार्ग से यातायात को अभी कुछ वर्ष ही हुए है। अभी तक हमारे देश में इसका प्रयोग कम है तो भी इसके विकास से देशान्तर्गत व्यापार मे वृद्धि ही हुई है।

नहरो द्वारा जो व्यापार किया जाता है उसमें गत ५० वर्षों में कुछ वृद्धि नही हुई है जिसका कारण सडको और रेलो की प्रतिस्पर्धा है। सन् १९०० में यातायात के लिये लगभग ३ हजार मील लम्वी नहरें थी। ऐसी नहरो की लम्वाई सन् १९४८ में वढकर लगभग ५ हजार मील हो गई थी। यातायात की नहरो की लम्वाई वढने पर भी नावो की सख्या मे कुछ वृद्धि नही हुई और वे लगभग १ लाख ८० हजार पर स्थिर रही। सन् १९०० में लगभग २० लाख टन माल नहरो द्वारा लाया ले जाया गया परन्तु अव इसकी मात्रा लगभग १९ लाख टन है। नहरो द्वारा व्यापार मे मद्रास प्रान्त ही सदा प्रमुख रहा है और सन् १९४८ में मद्रास प्रान्त में ही लगभग १७ लाख टन माल नहरो द्वारा लाया ले जाया गया।

सन् १९०० में रेल और नदियो के द्वारा किये गये व्यापार की मात्रा लगभग ४२० लाख टन थी, जिसका मूल्य ५६० करोड रुपये था। १९२०-२१ मे देश के देशान्तर्गत व्यापार की सख्या वढकर १५०० करोड रुपये हो गई थी। इस वर्ष के उपरान्त रेल और नदियो के द्वारा किये गये व्यापार के मूल्य के आँकडे नही मिलते है। परन्तु कुछ प्रमुख वस्तुओ के व्यापार पर विचार करके हम यह अनुमान लगा सकते है कि देशान्तर्गत व्यापार मे किस ओर परिवर्तन हुआ है। कुछ वर्ष पूर्व देश मे चीनी विल्कुल नही वनती थी जिस कारण गन्ने का उत्पादन कम था और वह केवल गुड वनाने के काम में ही आता था। परन्तु चीनी की मिलो की स्थापना के वाद अव चीनी में हमारा देश लगभग स्वावलम्वी हो गया है। चीनी के उत्पादन की वृद्धि के कारण गुड का व्यापार कुछ कम हो गया है परन्तु चीनी के व्यापार मे उसकी अपेक्षा अधिक वृद्धि हुई है। इसी

प्रकार कुछ वर्ष पूर्व हमारे देश में विलायती व जापानी सूती कपडा बहुत आता था परन्तु अब कपडे का उत्पादन देश में ही होता है। इसी प्रकार लोहे इस्पात, कोयले इत्यादि का उत्पादन भी बहुत बढ गया है और इन वस्तुओ का देशान्तर्गत व्यापार भी पहले की अपेक्षा अधिक है।

साराश यह है कि नहरो के व्यापार में कुछ कमी हुई है परन्तु इस कमी का कुछ महत्व नही है क्योकि हमारे देश में यातायात के मुख्य साधन सडक और रेलें है और उनके द्वारा देशान्तर्गत व्यापार मे बहुत वृद्धि हुई है।

(५) **देश की आर्थिक स्थिति**—यदि देश की आर्थिक उन्नति हो रही है तो उसका देशान्तर्गत व्यापार भी वृद्धि कर रहा होगा और देश का आर्थिक पतन हो रहा है तो यह सभव है कि वहाँ के व्यापार मे भी ह्रास हो। हमारे देश में गत शताब्दियो की अपेक्षा शाति और व्यवस्था का प्रचार है। अन्य वस्तुओ के उत्पादन में वृद्धि हुई है और नये नये कारखाने और उद्योग-धन्धे स्थापित हुए है। बैंकिंग प्रणाली ने भी अधिक उन्नति की है। विदेशी व्यापार भी बहुत बढ गया है जिससे भी देशान्तर्गत व्यापार ने उन्नति की है; क्योकि आयात की वस्तुएँ बन्दरगाह से देश के आन्तरिक भागो में बाँटनी पडती है और निर्यात की वस्तुएँ भी उत्पादन के स्थानो से व्यापार के केन्द्रो को और वहाँ से बन्दरगाहो को और तभी वह दूसरे देशो को भेजी जाती है। इन सब कारणो पर विचार करने से यही स्पष्ट होता है कि हमारा देशान्तर्गत व्यापार पहले की अपेक्षा बहुत अधिक है और उसकी सख्या विदेशी व्यापार से कई गुनी है। यह भी हर्ष की बात है कि हमारा देशान्तर्गत व्यापार अधिकतर हमारे देशवासियो के ही हाथ में है। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि बर्मा के अलग होने व देश के विभाजन से हमारे देशान्तर्गत व्यापार मे कुछ कमी हुई और विदेशी व्यापार में वृद्धि। जो नाज पहले बर्मा से आता था या जो नाज पटसन, सूत इत्यादि पाकिस्तान से आता था या जो माल हम इन देशो को भेजते थे वह देशान्तर्गत व्यापार का भाग था परन्तु अब वह विदेशी व्यापार का भाग है।

तटीय व्यापार

यह हर्ष की बात है कि स्वतन्त्रता प्राप्त करने के उपरान्त हमारी सरकार ने तृतीय व्यापार केवल राष्ट्रीय जहाजो के लिये सुरक्षित कर दिया है। हमारे देश का तट बहुत लम्बा है परन्तु वह ब्रिटेन के तट के बराबर फटा-छँटा नही है। इस कारण हमारे देश के विस्तार और उसके तट की लम्बाई को देखते हुए यहाँ अच्छे बन्दरगाहो का अभाव है। तटीय व्यापार

में जहाजों की भी कमी है। निम्न कोष्टक में भारत का तटीय व्यापार दर्शाया गया है :—

(करोड़ रुपयों में)

	प्रथम महायुद्ध के पूर्व का वार्षिक औसत	१९३९–४०
कुल तटीय व्यापार	७०	६०
बम्बई प्रान्त	३२	२९
बंगाल प्रान्त,	१९	११
मद्रास प्रान्त	१७	१८

इससे स्पष्ट है कि तटीय व्यापार में कुछ कमी हुई है। द्वितीय महायुद्ध में भी इस व्यापार की मात्रा मे अवश्य कमी हुई होगी क्योकि युद्ध के समय में जहाजों की अधिक कमी थी और दुश्मन की पनडुब्बियो के आक्रमण का डर भी रहता था। परन्तु हमारा विचार है कि शान्ति की स्थापना के बाद तटीय व्यापार की मात्रा फिर बढ़ गई होगी क्योकि जहाजों की संख्या में वृद्धि हुई है। अब तटीय व्यापार की मात्रा लगभग युद्ध के पूर्व की संख्या के बराबर होगी।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार
(International Trade)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अनेक लाभ है जिनमें से मुख्य निम्नलिखित है —

(१) यह एक विनिमय का कार्य है जिससे दोनो पक्षो को उपयोगिता का लाभ होता है।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन और विशेषज्ञता प्राप्त करना सम्भव है जिससे विभिन्न वस्तुओ का उत्पादन उन्ही स्थानो पर होता है जहाँ उनकी उत्पत्ति सस्ते मूल्य पर हो सकती है। इससे लागत कम होती है और मूल्य भी कम होते है जिससे उपभोक्ताओ को लाभ होता है। अधिक माँग होने से (क्योकि अब देश के ही लिये नही परन्तु विभिन्न देशो के लिये उत्पादन होता है) उत्पादक भी अधिक मात्रा में उत्पादन करते है और बडे पैमाने की सुविधाओ का पूर्ण उपयोग कर सकते है और अपनी लागत घटा सकते है। इससे प्रत्येक देश का भला होता है।

(३) कुछ वस्तुएँ ऐसी है जिनके उपभोग से हम विहीन रह जाते क्योकि उनका उत्पादन हमारे देश में नही होता और उनको हम अन्तर्राष्ट्रीय

व्यापार द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं। इसी प्रकार कुछ वस्तुओं का उत्पादन दूसरे देशों में हमारी अपेक्षा कम लागत पर होता है जिससे हम उन वस्तुओ को सस्ते भावो पर खरीद सकते हैं। पटसन पर भारतवर्ष का प्राकृतिक अधिकार है और अन्य देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा ही इस वस्तु को प्राप्त कर सकते हैं। इसी तरह हम रेडियो, मोटर, रेल के इन्जन, मशीने इत्यादि दूसरे देशो से मँगाते थे जब कि उनका उत्पादन हम स्वयं नहीं कर सकते थे। टिन, सोना चाँदी कुछ आवश्यक दवाइयाँ, मशीनें, टेक्नीकल कार्यक्षमता इत्यादि के लिये अब भी हम विदेशों पर निर्भर हैं। आधुनिक अनाज की कमी भी हम दूसरे देशों से नाज मँगाकर ही पूरी कर सकते हैं अन्यथा हमारे लाखो भाई भूखों मर जायँ।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा हम दूसरे देशो के वैज्ञानिक आविष्कारों का लाभ उठा सकते हैं। इन आविष्कारों द्वारा वह नयी और अच्छी वस्तुएँ बनाते हैं जिनको हम व्यापार द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। अन्य देशों के वैज्ञानिक आविष्कारों के ज्ञान के कारण ही हमने मोटर, रेल के इन्जन रेडियो, बिजली का पंखा इत्यादि बनाना प्रारम्भ किया है।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से अन्य राष्ट्रो में मित्रता के सम्बन्ध स्थापित होते हैं। व्यापारी सम्बन्ध से हम एक दूसरे को समझने लगते है और दूसरे देशों की समस्याओं का ज्ञान प्राप्त करते है जिससे उनके सुलझाने में सहायक हो सकते हैं।

भारतवर्ष में उक्त लाभो के अतिरिक्त आजकल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अधिक महत्त्व है। हमारे औद्योगिक विकास के लिये हम विदेशों पर टेकनिकल कार्यक्षमता, मशीनें और आवश्यक कच्चे माल पर निर्भर हैं। हम अभी तक मशीने नहीं बनाते हैं और न उनके बनाने का टेकनिकल ज्ञान हमारे पास है। इस कारण हम विदेशों पर अधिक निर्भर है। परन्तु ये वस्तुएँ हम तभी मँगा सकते हैं जब हम विदेशों को वस्तुओं का निर्यात करें और उसके द्वारा प्राप्त किये धन से उक्तलिखित वस्तुओं को मँगाये।

भारतवर्ष का विदेशी व्यापार*
(India's Foreign Trade)

हम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अत्यन्त प्राचीन काल से करते आये हैं। यह व्यापार प्राचीनकाल में भी हम जल व स्थल मार्गों से करते थे और दूर दूर के देशों जैसे चीन, बेबिलोन, यूनान, रोम इत्यादि से माल मँगाते और भेजते थे। ढाका की मलमल दूर दूर प्रसिद्ध थी और इसके अतिरिक्त

* इस विषय पर पूर्ण परिचय प्राप्त करने के लिए मेरा निबन्ध श्री पी. सी. जैन द्वारा सम्पादित पुस्तक Industrial Problems of India में देखिए।

हम हीरे, मोती, हाथी दाँत, मसाला इत्यादि भेजते थे। हम टीन, शीशा, ताँबा, पीतल, सोना, चाँदी और घोड़े इत्यादि विदेशों से मँगाते थे। भारतवर्ष की अन्य वस्तुएँ बहुत प्रसिद्ध थीं जिन्हें केप अफ गुड होप के मार्ग की खोज के उपरान्त अन्य पाश्चात्य देशों ने भारतवर्ष से व्यापार बढ़ाने का प्रयत्न किया। १८६९ में स्वेज कैनाल के बनने से व्यापार में और भी उन्नति हुई और साथ ही साथ हमारे देश में भी यातायात के साधनों में उन्नति हुई और मुगल साम्राज्य के पतन के बाद जो उथल-पुथल हुई वह रोक दी गई और शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित हुई। प्रारम्भ में हमारे विदेशी व्यापार में अधिकतम भाग ब्रिटेन का था परन्तु १९वीं शताब्दी के अन्त में हमारा व्यापार जर्मनी, जापान और अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र से भी होने लगा। प्रथम महायुद्ध से जापान और अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र (यू० एस० ए० U. S A.) से व्यापार की मात्रा अधिक बढ गई और उसके उपरान्त हमारा व्यापारिक सम्बन्ध इन देशों से बढता ही रहा। परन्तु तब भी हमारे विदेशी व्यापार में ब्रिटेन का मुख्य भाग है।

गत वर्षों में द्वितीय महायुद्ध, स्वतन्त्रता और देश-विभाजन का हमारे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर महत्वपूर्ण प्रभाव पडा है। द्वितीय महायुद्ध के समय हमारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार जर्मनी, इटली, जापान व उन देशो से जिन पर इन राष्ट्रों का अधिकार हो गया था बन्द हो गया। मित्रराष्ट्रो से भी आयात की मात्रा बहुत घट गई जिस कारण भारतीय उद्योगो को उन्नति करने का अवसर मिला। जो सफलता स्वदेशी आन्दोलन कई वर्षों मे प्राप्त न कर सका था वह युद्ध के कारण थोडे समय मे ही प्राप्त हो गई। विदेशी निर्यात मे कमी होने के कारण देश के अन्दर अनेक वस्तुओं का उत्पादन होने लगा और जनता को विवश होकर स्वदेशी वस्तुएँ ही खरीदनी पडी चाहे वह विदेशी वस्तुओ से घटिया और महँगी थी। इस प्रकार युद्ध के कारण भारतीय उद्योगो को अधिक सहायता मिली परन्तु मशीनों और आवश्यक कच्चे माल के आयात पर बाधाएँ पडने के कारण भारतीय उद्योगो की उन्नति मे रुकावट पडी। युद्ध के समय में देश का मुख्य लक्ष्य विजय प्राप्त करना था और इस कारण देश के उत्पादन के सामने भी यहीं मुख्य समस्या थी और निर्यात के बढाने का प्रश्न गौण रहा। युद्ध के समय मे हमने ब्रिटेन का ऋण ही नही चुकाया बल्कि वह हमारा ऋणी हो गया जिस कारण इस बात की आवश्यकता न रही कि हमारे आयात-निर्यात का अन्तर ब्रिटेन के साथ अनुकूल ही हो। स्वतन्त्रता के उपरान्त अपनी आयात-निर्यात की नीति स्वतन्त्रता-पूर्वक निश्चित कर सकते है और हम अपने व्यापारिक सम्बन्ध नये देशो से बना सकते है और उन देशो से बढा सकते है जिनसे व्यापार करने

में हमारे देश को अधिक लाभ हो। परन्तु देश का विभाजन हो जाने से कुछ नई समस्याओं का सामना करना पड़ा। हमारा और पाकिस्तान का व्यापार देशान्तर्गत व्यापार की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार हो गया और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दृष्टि से हमारे देश में कुछ वस्तुओं, जैसे बीज और लम्बे रेशे की रूई (Medium and Long Staple Cotton) व कच्चे पटसन की कमी हो गई और कुछ वस्तुओं, जैसे सन, की निर्यात बहुलता में कमी हो गई और कुछ अन्य वस्तुओं, जैसे अनाज में हमारा घाटा बढ़ गया। कुछ वस्तुओं जैसे साबुन, वनस्पति घी इत्यादि में हमारे देश के कारखानो की उत्पादन-शक्ति देश की आवश्यकता से अधिक हो गई जिससे इन वस्तुओं के निर्यात का प्रयत्न करना आवश्यक हो गया। सारांश यह है कि देश के विभाजन के कारण एक ओर हम पाकिस्तान पर बीज व लम्बे रेशे की रूई, कच्चा पटसन और अनाज पर निर्भर हो गये और दूसरी ओर पाकिस्तान हमारे देश पर कोयला, पटसन का तय्यार माल, सूती कपड़ा, चीनी, माचिस, लोहा और इस्पात के लिये निर्भर हो गया। इन कारणो से हमारे व पाकिस्तान के व्यापार का अधिक महत्व है।

सितम्बर १९४९ में स्टर्लिंग के साथ हमने भी रुपये का अवमूल्यन (Devaluation) किया।* हमारे द्वारा निर्यात की गई वस्तुएँ अमेरिका में अधिक नही बिकती थी और हमारे अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान का अन्तर भी अमेरीका के सयुक्त राष्ट्र से हमारे प्रतिकूल था। इस कारण ब्रिटेन के साथ हमे भी अवमूल्यन करना पड़ा। अवमूल्यन के उपरान्त यू० एस० ए० से आयात कम हो गया और हमारा निर्यात उस देश को बढ़ गया जिस कारण उस देश से हमारी भुगतान की समस्या कुछ सीमा तक सुलझ गई। परन्तु पाकिस्तान ने अपने रुपये का अवमूल्यन न किया जिससे १०० पाकिस्तानी रुपयो की विनिमय की दर १४४ भारतीय रुपयो के बराबर हो गई। हमारी सरकार ने यह दर स्वीकार नही की और हमारा व पाकिस्तान का व्यापार स्थगित हो गया। इस कारण हमारे पटसन के तैयार माल और सूती कपडो के उत्पादन में कमी हुई क्योंकि वे बहुत कुछ कच्चे माल के लिए पाकिस्तान पर निर्भर थे। कुछ समय के लिए हमारी सरकार ने पाकिस्तान से अदल-बदल का समझौता किया परन्तु उसके अन्तर्गत बहुत कम व्यापार हुआ। अत मे २६ फरवरी १९५१ को हमारी सरकार ने पाकिस्तान से एक व्यापारिक समझौता किया जो ३० जून १९५२ तक लागू है और जिसके अन्तर्गत पाकिस्तान के रुपये की नई दर भारत सरकार ने मान ली।

---

* पृष्ठ ११६ भी देखिये।

गत वर्षों में हमारे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा बहुत बढ गई है जैसा कि निम्न सूची से स्पष्ट है —

भारतवर्ष का विदेशी व्यापार

(करोडो रुपयो में)

वर्ष	आयात	निर्यात	कुल वस्तुओ का व्यापार।
१९३८–३९	१५२	१६३	३१५
१९३९–४०	१६५	२०४	३६९
१९४०–४१	१५७	१८७	३४४
१९४१–४२	१७३	२३८	४११
१९४२–४३	११०	१८८	२९८
१९४३–४४	११९	१९९	३१८
१९४४–४५	२०४	२१०	४१४
१९४५–४६	२४६	२४२	४८८
१९४६–४७	२८८	२९८	५८६
१९४७–४८	३९९	३९५	७९४
१९४८–४९	५४२	४१६	९५८
१९४९–५०	५६०	४७०	१०३०

उक्त सूची से पता लगता है कि पूर्व १० वर्षों में हमारा विदेशी व्यापार लगभग तीन गुना हो गया है परन्तु आयात व निर्यात की वस्तुओ की मात्रा (Volume) में इतनी वृद्धि नही हुई है। वास्तव में आयात की वस्तुओ की मात्रा में तो कुछ वृद्धि हुई है परन्तु निर्यात की वस्तुओ की मात्रा में पहले की अपेक्षा कमी हो गई है। तब भी वस्तुओ के मूल्यो में अधिक वृद्धि होने से विदेशी व्यापार द्रव्य के रूप में अधिक बढ गया है।

निम्न सूची में हमने दर्शाया है कि हमारे आयात निर्यात में कच्चे व तैयार माल का कितना भाग है —

	कुल आयात का प्रतिशत			कुल निर्यात का प्रतिशत		
	१९३८–३९	१९४८–४९	१९४९–५०	१९३८–३९	१९४८–४९	१९४९–५०
खाद्य और पेय पदार्थ व तम्बाकू	१५ ७	१७ ८	२१ ४	२३ ३	२० ७	२४ ५
कच्चा माल	२१ ७	२४ ५	२५ ५	४५ १	२३ ३	२२ २
तैयार माल	६० ८	५६ ९	५१ ३	३० ०	५५ ५	५३ ०

उक्त सूची से स्पष्ट है कि हमारे निर्यात में कच्चे माल का प्रतिशत कम हो गया है और आयात में कच्चे माल का प्रतिशत बढ गया है। दूसरी ओर तैयार माल का प्रतिशत आयात मे कम हो गया है और निर्यात में बढ गया है अर्थात् हम पहले की अपेक्षा कच्चा माल अधिक मँगाते है और तैयार माल का अधिक निर्यात करते है। इससे स्पष्ट है कि हमारे उद्योगो में उन्नति हुई है क्योकि अब हम अपने कच्चे माल को कुछ तैयार रूप मे भेजते है।

निम्न सूची मे हमने भारतवर्ष की मुख्य आयात की वस्तुएँ व उनके मूल्य दर्शाये है (करोड रुपयो में) —

	१९३८–३९	१९४८–४९	१९४९–५०
नाज, दाल व आटा	१३ ८	७३ २	९९·४
तेल	१५ ६	३८ १	५९ २
कपास	८ ५	६४ २	६३ ३
रसायन व दवा	५ ६	२८ ९	१६ १
रग	४ ०	१५ ७	११ १
मशीन	१९·७	८० ६	१०५·५
मोटर गाडियां इत्यादि	६ ७	३२ ७	२३ ५
सूत व सूती कपडा	१४ २	१७ १	१८ ४

नाज, दाल और आटा—उक्त सूची मे जो अक दिये गये है वे बिल्कुल ठीक नही है क्योकि उनमें बहुत-सा सरकार द्वारा मँगाया नाज सम्मिलित नही है और उनमें केवल जलमार्ग द्वारा आया नाज ही सम्मिलित है। १९४७-४८, १९४८-४९, १९४९-५० में हमने कुल २७ लाख टन, ३८ लाख टन और २९ लाख टन अनाज मँगाया जिसका मूल्य १०९ करोड रुपये, १३१ करोड रुपये और १०८ करोड रुपये था। यह नाज हमने यू० एस० ए०, कैनाडा, आस्ट्रेलिया, आर्जेन्टाइन, बर्मा, ईराक, रूस व पाकिस्तान से मँगाया।

तेल —इसमे मिट्टी का तेल, पेट्रोल, जलाने का तेल, मशीन का तेल सम्मिलित है। यह तेल मुख्य ईरान और बहरिन टापू से आते है। मशीन का तेल यू० एस० ए० से आता है। लडाई के पूर्व बर्मा से भी मिट्टी का तेल आता था।

कपास —द्वितीय महायुद्ध के पूर्व हम बहुत थोडा कपास विदेशो से मँगाते थे परन्तु देश के विभाजन के कारण रूई पैदा करने वाला बहुत सा भाग पाकिस्तान में चला गया जिससे हमारे देश में बीच और लम्बे रेशेवाली रूई की कमी हो गई। अब हम कपास मिश्र, केनिया, पाकिस्तान और यू० एस्० ए० से मँगाते है।

रसायन और दवा —अधिकतर ब्रिटेन और यू० एस० ए० से आती है।

रंग —ब्रिटेन, जर्मनी, यू० एस० ए० और स्विट्जरलैण्ड से आता है।

मशीन —अधिकतर ब्रिटेन, यू० एस० ए० व जेकोस्लोवेकिया से आती है। हम अभी तक मशीनों के लिए विदेशों पर ही निर्भर हैं।

मोटर गाड़ियाँ —ब्रिटेन, यू० एस० ए० और कनाडा से आती हैं।

सूत व सूती कपड़ा —अधिकतर ब्रिटेन से आता है।

उक्त वस्तुओं के अतिरिक्त हम कागज, काँटा-छुरी इत्यादि, कब्जे, पेच इत्यादि, ऊन व ऊनी कपड़ा, बिजली की वस्तुएँ, काँच का सामान, धातुएं, इत्यादि भी मँगाते हैं। उक्त विवरण मे हमने उन्ही देशो के नाम दिये हैं जहाँ से वे वस्तुएँ अधिक मात्रा मे आती हैं। विभिन्न वस्तुओं के सामने उन देशो के नाम पहले दिये गये हैं जहाँ से अधिक मात्रा में वे वस्तुएँ आती हैं और उनके पश्चात् उन देशो के नाम दिये गये हैं जहाँ से उनकी अपेक्षा कम मात्रा मे वे वस्तुएँ आती हैं।

निम्न सूची में हमने यह दर्शाया है कि हमारे आयात मे किन देशो का अधिक भाग है।

आयात (करोड रुपयो मे)

	१९३८-३९	१९४८-४९	१९४९-५०
ब्रिटेन	४६ ५	१५२ ४	१४९ ३
वर्मा	२४ ४	१९ २	१२ ९
आस्ट्रेलिया	२ ४	२२ ६	३४ ०
पाकिस्तान	—	२२ ४	१२ ४
यू० एस० ए०	९ ८	१०६·७	८८ ०
जापान	१५ ४	६ ४	२१ ४
मिश्र	२ २	३१ ९	३९ ५
ईरान	३ ५	२०·५	३२ ५
आयात की प्रतिशत —			
कामनवैल्थ राष्ट्रो (Empire Countries) से	५८ १	४७ ५	४६ २
अन्य राष्ट्रो से	४१ ९	५२ ५	५३ ८

उक्त सूची से स्पष्ट है कि अब भी ब्रिटेन का हमारे आयात में मुख्य भाग है। यू० एस० ए० से हमारा व्यापार बहुत बढ गया है और अब हमारे आयात में उस देश का द्वितीय नम्बर है। जापान और वर्मा से लडाई के कारण निर्यात बन्द हो गया था परन्तु अब हमारा व्यापर उनसे

फिर बढने लगा है। बर्मा में आन्तरिक झगडो के कारण उस देश से व्यापार में अधिक वृद्धि नही हुई है। दक्षिणी अफ्रीका से हमने व्यापार बिल्कुल बन्द कर दिया है क्योकि उस देश में भारतवासियो के साथ अच्छा वर्ताव नही होता है। हमारा आयात आस्ट्रेलिया, मिश्र और ईरान से बहुत बढ गया है। हमारे आयात में कॉमिनवैल्थ राष्ट्रो की अपेक्षा अन्य राष्ट्रो का भाग बढ गया है।

निम्न सूची में हमने भारतवर्ष के निर्यात की मुख्य वस्तुओ को दर्शाया है।

(करोड रुपयो में)

	१९३८-३९	१९४८-४९	१९४९-५०
पटसन का तैयार माल	२६ ३	१४६ ६	१२७ ०
कच्चा पटसन	१३·४	२४ ०	१५·८
सूती कपडा	४ ८	३६ २	५७ ६
कपास	२४ ७	१९ १	१९·३
खाल (कच्ची व पक्की)	८ ६	१८ ३	२४ ६
बीज	१५ २	७ १	१४·८
तेल	० ७	१० ९	६ ९
अबरक	१ १	५ ९	६·७
मैंनगनीज	१ १	१ ८	५ ३
चाय	२३ ३	६३ ७	७२ १
तम्बाकू	३ ३	८ ३	१० ८

पटसन का तैयार माल—यू० एस० ए०, आस्ट्रेलिया, ब्रिटेन, अर्जेन्टाइना, मिश्र, क्यूबा, हागकाग, कैनाडा, बर्मा, पाकिस्तान इत्यादि को जाता है।

कच्चा पटसन—बैल्जियम, ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रान्स, इटली व यू० एस० ए० इत्यादि को जाता है।

सूती कपड़ा—मलाया, लका, अदन, आस्ट्रेलिया, केनिया, सूडान, नाइगेरिया, अरेबिया, टैंगैनिका, ईराक, अफगानिस्तान, पाकिस्तान इत्यादि देशो को जाता है। इन देशो से हमारे सूती कपडे की अधिक माँग है परन्तु देश में सूती कपडे की कमी होने के कारण पर्याप्त मात्रा में सूती कपडे का निर्यात नही हो सकता।

कपास—हमारे देश में बीच व लम्बे रेशे की रूई की कमी है परन्तु छोटे रेशे की रूई हमारे कारखानो की आवश्यकता से अधिक पैदा होती है जिससे उसका हम निर्यात करते है। हमारा मुख्य ग्राहक जापान है। इसके अतिरिक्त हम बैल्जियम, यू० एस० ए०, आस्ट्रेलिया इत्यादि को भी कुछ कपास भेजते है।

खाल (कच्ची व पक्की) —ब्रिटेन, यू० एस० ए०, नीदरलैण्ड्स, आस्ट्रेलिया, पाकिस्तान इत्यादि को भेजी जाती है।

वीज —पहले की अपेक्षा बीज का निर्यात कम हो गया है और तेल का निर्यात वढ गया है। यह देश के लिए लाभदायक है क्योंकि अव खली इत्यादि देश में ही रह जाती है जो पशुओ के खाने के काम मे आती है। बीज का निर्यात ब्रिटेन, नीदरलैण्ड्स, स्विट्जरलैण्ड, आस्ट्रेलिया, कैनाडा इत्यादि को होता है।

तेल :— हम वनस्पति के तेलो का निर्यात करते है जो बर्मा, ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, इटली इत्यादि को भेजे जाते है।

अबरक —यू० एस० ए०, ब्रिटेन फ्रान्स, इत्यादि को जाती है।

मैंगनीज —यू० एस० ए०, ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रान्स इत्यादि को भेजी जाती है।

चाय —इसका मुख्य ग्राहक ब्रिटेन है और लगभग ६०% चाय ब्रिटेन को ही जाती है। यू० एस० ए० कैनाडा, ईरान, आस्ट्रेलिया, आयरलैण्ड, रूस, ईराक, मिश्र इत्यादि को भी चाय भेजी जाती है। यू० एस० ए० को चाय की निर्यात बढाया जा सकता है और इस कारण उस देश मे भारतीय चाय का प्रयोग वढाने का प्रचार किया जाता है।

तम्बाकू —ब्रिटेन, पाकिस्तान, लका इत्यादि को भेजा जाता है।

इन वस्तुओ के अतिरिक्त हम सूती धागा, मसाले, कोयला, गोद, लाख, धातुएँ, ऊन व ऊनी कपडे इत्यादि का भी निर्यात करते है।

निम्न सूची में मुख्य देशो को किये गये निर्यात की मात्रा दर्शायी गई है :—

(करोड रुपयो मे)

	१९३८-३९	१९४८-४९	१९४९-५०
ब्रिटेन	५५ ५	९७ ७	१११ २
वर्मा	१० ०	१० ०	१३ ५
लका	५ १	११ ९	१५ ६
आस्ट्रेलिया	३ ०	२० ६	२६ ०
पाकिस्तान	—	४४ ३	१३ ९
य० एस० ए०	१३ ९	७० १	७७ ६
जापान	१४ ६	४·६	१६·१
निर्यात की प्रतिशत —			
कॉमनवेल्थ राष्ट्रो			
(Empire Countries) को	५२·४	५१ ६	५३ ४
अन्य राष्ट्रो को	४७ ६	४८ ४	४६ ६

हमारे निर्यात में अव भी ब्रिटेन का मुख्य भाग है और अव यू० एस० ए० का द्वितीय स्थान हो गया है। हमारा निर्यात आस्ट्रेलिया, लका व मिश्र, कनाडा इत्यादि को बढ़ गया है। परन्तु जापान को निर्यात की मात्रा घट

गई है। दक्षिणी अफ्रीका को निर्यात बिल्कुल बन्द है। अब भी अधिकतर निर्यात हम कॉमनवैल्थ राष्ट्रों को ही करते हैं।

हमारे विदेशी व्यापार के मुख्य लक्षण निम्नलिखित है :—

(१) हमारे विदेशी व्यापार में ब्रिटेन और यू० एस० ए० का बहुत बडा भाग है। हमारा विदेशी व्यापार अधिकतर जलमार्गों द्वारा ही होता है क्योंकि जो देश हमसे स्थल-मार्गों से जुडे हैं वे निर्धन और पिछडे हुए है। स्थल-मार्गो से हमारा अधिकतर व्यापार नैपाल, अफगानिस्तान, तिब्बत और शान राज्य से होता है। नैपाल से चावल, तिल, घी, चाय और पशु, अफगानिस्तान से ऊन और फल, तिब्बत से पशम और ऊन, शान राज्य से घोडे, खच्चर, लकडी इत्यादि आते है। भारतवर्ष से इन देशो को सूती कपडा, चाय, चीनी, नमक व अन्य मसाले, पीतल के वर्त्तन इत्यादि भेजे जाते हैं।

(२) लडाई के पूर्व हमें प्रतिवर्ष लगभग ४० करोड रुपये ब्रिटेन को होम चार्जेज (Home Charges) का भुगतान करने के लिए भेजने पडते थे। इस कारण यह आवश्यक था कि आयात निर्यात का अन्तर हमारे अनुकूल हो। द्वितीय महायुद्ध में भी यह अन्तर हमारे अनुकूल ही रहा जिस कारण हमने करोडो रुपयो के स्टर्लिंग पावने एकत्र कर लिए। अब यह आवश्यक है कि हम इन पावनो को मशीने व आवश्यक कच्चा माल मँगाने मे व्यय करें जिससे देश की औद्योगिक उन्नति हो।

(३) हमारे आयात में अब कच्चे माल की प्रतिशत बढ गई है और निर्यात में इसकी प्रतिशत घट गई है। यह देश की औद्योगिक उन्नति का चिह्न है और जैसे जैसे हमारे देश की औद्योगिक उन्नति होगी वैसे वैसे ही हमारे देश से कच्चे माल का निर्यात घटता जायेगा।

(४) भारतवर्ष एक कृषिप्रधान देश होते हुए भी दूसरे देशो पर अनाज के लिए निर्भर है। हम लगभग ३० लाख टन अनाज विदेशो से मँगाते हैं जिसपर लगभग १३० करोड रुपया व्यय करना पडता है। यह हमारे राष्ट्र की आर्थिक स्थिति में दुर्बलता का चिह्न है क्योंकि लडाई के समय यदि विदेशो से अनाज का आयात रुक जाय तो हमें अधिक कठिनाइयों का सामना करना होगा।

(५) हम मशीन और अनेक आवश्यक कच्चे माल और रसायनो के लिए विदेशो पर निर्भर हैं। यह भी निर्बलता का चिह्न है और इन वस्तुओ का उत्पादन देश में ही बढाने का प्रयत्न करना चाहिए।

(६) हमारा विदेशी व्यापार अधिकतर बम्बई, कलकत्ता और मद्रास के बन्दरगाहों से ही होता है। इतने बडे देश के लिए यह आवश्यक है कि नये बन्दरगाहो का विकास किया जाय।

(७) हमारा विदेशी व्यापार अधिकतर विदेशी जहाजो द्वारा होता है और अधिकतर भाग विदेशी बीमा कम्पनियो और बैंको का है। हमारी सरकार को यह प्रयत्न करना चाहिये कि भारतीय जहाजो की सख्या बढे और भारतीय बीमा कम्पनियो व बैंको द्वारा ही अधिकतर विदेशी व्यापार हो।

आधुनिक आर्थिक स्थिति को देखते हुए हमे अपने विदेशी व्यापार मे परिवर्तन करने की अनेक योजनाएँ बनानी होगी जिससे हम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा अधिकतम लाभ उठा सकें। द्वितीय महायुद्ध के बाद स्टर्लिंग प्रत्येक विदेशी सिक्को मे परिवर्तित नही हो सकता है। इस कारण केवल यही आवश्यक नही है कि हमारे निर्यात की मात्रा आयात की मात्रा के बराबर हो और हमारे विदेशी भुगतान का लेन-देन बराबर हो जाय। अब यह भी आवश्यक है कि हमारे निर्यात की मात्रा यू० एस० ए० व अन्य डॉलर-प्रदेशो को कम से कम उन देशो के द्वारा हमारे देश को आयात की मात्रा के बराबर हो जिससे उन देशो से हमारे भुगतान का लेन-देन बराबर हो सके। इसके अतिरिक्त भी हमें यू० एस० ए० को निर्यात की मात्रा बढानी चाहिये क्योकि उस देश के पास वह मशीनें व अन्य वस्तुएँ है जिनपर हमारी औद्योगिक उन्नति निर्भर है।

देश के विभाजन होने के कारण हम पटसन का कच्चा माल और बीच व लम्बे रेशे की रूई के लिए पाकिस्तान पर निर्भर है इसलिए यह आवश्यक है कि हम इन वस्तुओ व अनाज का उत्पादन अपने देश में बढाये जिससे हम इन आवश्यक वस्तुओ के लिए विदेशो पर निर्भर न रहे। इन वस्तुओ का उत्पादन बढाने से इनकी खपत देश में ही हो जायेगी और उनके बेचने के लिए हमे विदेशी ग्राहक नही खोजने पडेगे।

साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि हम अपने विदेशी व्यापार की नीति को ऐसा बनाए जिससे हमारे औद्योगिक विकास में सहायता मिले। इस कारण हमको अनावश्यक वस्तुओ का आयात रोकना होगा और उत्पादन में वृद्धि करके निर्यात की मात्रा बढानी होगी जिससे हम आवश्यक मशीनें, कच्चा माल, रसायन व चतुर टैकनिशियन विदेशो से मँगा सके।

आयात-निर्यात और भुगतान का अन्तर

जब हम केवल वस्तुओ के आयात व निर्यात का ही अनुमान लगाते है तो उस आँकडे को आयात निर्यात का अन्तर (Balance of Trade) कहते है। जब आयात की मात्रा निर्यात से कम होती है तो यह अन्तर अनुकूल (Favourable) होता है। और जब आयात की मात्रा निर्यात से अधिक होती है तो यह अन्तर प्रतिकूल (Unfavourable) होता है। केवल वस्तुओ के आयात निर्यात को दृश्य (Visible) आयात निर्यात कहते है। इसके

अतिरिक्त देशों में अदृश्य (Invisible) आयात-निर्यात भी होता है जैसे यदि एक देश दूसरे देश को ऋण देता है तो यह ऋण देनेवाले देश के लिये अदृश्य आयात हुआ और ऋण लेनेवाले देश के लिये अदृश्य निर्यात। इसी प्रकार जब हम विदेशों को ऋण पर ब्याज चुकाते हैं या हमारे विद्यार्थी दूसरे देशों में पढ़ते हैं या हमारे देशनिवासी दूसरे देशों में भ्रमणार्थ जाते हैं तो उनके व्यय के लिए हमको रुपया बाहर भेजना पड़ता है तो यह हमारे लिए अदृश्य आयात है और उन देशों के लिए अदृश्य निर्यात। जो विदेशी व्यक्ति अपने बचत या नफा हमारे देश से अपने देशों को भेजते हैं या जो विदेशी बैंक बीमा या जहाज की कम्पनियाँ अपनी कमाई हमसे लेकर अपने देशों को भेजती हैं वह भी हमारे देश के लिए अदृश्य आयात है और उन देशों के लिए अदृश्य निर्यात। इसके विपरीत जब हम विदेशों से ब्याज वसूल करते हैं या विदेशी यात्री यहाँ आकर व्यय करते हैं तो यह हमारे लिए अदृश्य निर्यात है और उन विदेशों के के लिए अदृश्य आयात है।

जब हम वस्तुओं के आयात-निर्यात के अन्तर में अदृश्य आयात निर्यातों की मात्रा भी सम्मिलित कर देते हैं और उन दोनों का अन्तर निकालते हैं तो उसको भुगतान का अन्तर (Balance of Payment) कहते हैं। यदि इस अन्तर के अनुसार हमें विदेशों से कुछ रुपया लेना है तो यह भुगतान का अनुकूल अन्तर कहलाता है और जब इस अन्तर के अनुसार हमको कुछ रुपया दूसरे देशों को देना होता है तो यह भुगतान का प्रतिकूल अन्तर कहलाता है।

अभ्यास के प्रश्न

१. देशान्तर्गत व्यापार, तटीय व्यापार और विदेशी व्यापार में अन्तर समझाइये। भारत के तटीय व्यापार पर संक्षिप्त में प्रकाश डालिये।
२. भारत के देशान्तर्गत व्यापार पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये।
३. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से आप क्या समझते हैं? इसके मुख्य लाभ समझाइये।
४. भारतवर्ष के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मुख्य लक्षण समझाइये।
५. भारतवर्ष में आयात की मुख्य वस्तुएँ क्या हैं और वे कहाँ से आती हैं?
६. भारतवर्ष से किन वस्तुओं का निर्यात होता है? ये वस्तुएँ किन देशों को भेजी जाती हैं?
७. "आयात-निर्यात का अन्तर" और "भुगतान के अन्तर" में अन्तर समझाइये।

अध्याय ३६

यातायात (Transport)

यातायात के साधनो से मनुष्य अत्यन्त प्राचीनकाल मे भी परिचित था। इसके विकास की ओर उन्होने सदा प्रयत्न किये जिसका प्रमाण मोहन-जोदेडो और हडप्पा की खुदाई करने से मिले है। इतिहास के उस प्राचीन-काल में भी पक्की सडक और नाली इत्यादि की योजनाएँ थी और उन्हें नगरो की शोभा और यातायात की सरलता के लिये इतनी सफलता से कार्यान्वित किया गया था। यदि इस दृष्टि से सभ्यता के उत्तरोत्तर विकास को ध्यान में रखकर भारतवर्ष के सात लाख गाँवो की ओर देखे तो विदित होगा कि उनमें अभी मोहनजोदेडो और हडप्पा की सभ्यता तक पहुँचने की भी क्षमता नही आ पाई है। यातायात के विचार से भी वे वहुत पिछडे हुए है। यातायात के साधनो में विज्ञान की सहायता से काफी उन्नति हुई है। गधे, घोडे, ऊँट इत्यादि जानवरो के व्यापारी-काफिलो या इनके साथ-साथ तीर्थयात्रियो के दलो की गति से विकास करते-करते मोटर, रेल, जलयान और हवाई जहाज की गति पर आज मनुष्य ने नियन्त्रण कर लिया है, ससार के अजेय प्रसार की यात्रा कुछ सप्ताहो मे करने में वह सफल हुआ है, यातायात के इन साधनो से हिमालय प्रदेश का गाँव अमेरिका और यूरोप के देशो के उत्पादन का उपभोग करता है।

सास्कृतिक पक्ष के साथ ही ससार के आर्थिक पक्ष पर यातायात के साधनो का पूरा और गहरा प्रभाव पडा है। यातायात के साधनो के द्वारा वस्तुओ की उपयोगिता में वृद्धि की जाती है, अधिक उपज वाले देशो से अभावग्रस्त देशो तक विभिन्न प्रकार की वस्तुओ को शीघ्र और कम व्यय पर पहुँचाया जाता है। वगाल का जूट, जमशेदपुर का इस्पात और लोहा, वम्वई व अहमदावाद के कपडो की गाँठे भारतवर्ष के उन शहरो और गाँवो के उपभोग के काम में लाये जाते है जहाँ न ये वस्तुएँ उपजाई जा सकती है और न इनका खानो से निकालकर उत्पादन ही किया जा सकता है। इसी प्रकार काश्मीर के केसर, काढे हुए शौल का उपभोग विदेश करते है और विदेश की वस्तुओ का भारतवर्ष।

यातायात के साधनो से शीघ्र नष्ट हो जानेवाली वस्तुओ को शीघ्र ही आवश्यक केन्द्रो में पहुँचाया जा सकता है। फल, अण्डे, घी, दूध

इत्यादि देश के एक कोने से दूसरे कोने तक नष्ट होने से पहले ही पहुँचाये जाते है। देश का औद्योगीकरण करने में और उत्पादन के प्राकृतिक साधनो का पूरा उपयोग करने मे यातायात के साधनो से ही सफलता मिल सकती है। उद्योग-धन्धो के स्थानीयकरण का महत्त्व, बडे पैमाने मे उत्पादन करने के उद्देश्य की पूर्ति, उत्पादन के अनेक साधनो को बहुत कम समय मे एक स्थल पर एकत्रित करने की आवश्यकता की पूर्ति एकमात्र यातायात के साधनो की व्यवस्था पर और उनकी शक्ति पर निर्भर होती है।

दो-तीन गाँवो के बीच में प्रति सप्ताह होनेवाली 'पैठ' ने अब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का रूप ले लिया है। भारतवर्ष अपने जूट तथा अन्य खनिज पदार्थो की पैदावार को इन यातायात के साधनो से ससार के अन्य देशो में भेजकर खाद्य-सामग्री, मशीनें इत्यादि प्राप्त कर सकता है। इग्लैण्ड अपने उद्योग-धन्धो की विशेष योग्यता से व्यापार में लाभ उठाकर अपने देशवासियो की खाद्यान्न की आवश्यकता की पूर्ति करता है। यदि यातायात के साधन न होते तो प्रत्येक देश को अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ स्वय ही बनानी पडती और इस प्रकार उत्पादन को गहरी हानि होती, दुर्भिक्ष से लाखो प्राणी मर जाते, कही लोहे की खानें बेकार पडी रहती और कही खाद्यान्न खलिहानो में सडता रहता।

यातायात की सुगमता से देश की उत्पादन-शक्ति तो अवश्य बढ़ती है, साथ ही बेकारी की समस्या भी हल हो जाती है, श्रम की गतिशीलता का लाभ उठाया जा सकता है, कार्यक्षमता और कार्यकुशलता मे वृद्धि की जा सकती है जिससे देश की सम्पत्ति मे वृद्धि होती है। उद्योगो की स्थापना से अनेक कारोबार आरम्भ हो जाते है, द्रव्य-बाजार (Money Market) चालू होते है, भूमि का मूल्य बढ जाता है। जमशेदपुर में लोहे और इस्पात के उद्योग की स्थापना से पहले जमीन का मूल्य अधिक नही था, वहाँ की जनसख्या अधिक नही थी परन्तु उद्योग की स्थापना के पश्चात् वहाँ की भूमि का मूल्य कई गुना बढ गया है, जनसख्या में वृद्धि हो गयी है। वहाँ की बनी वस्तु शीघ्र ही कम मूल्य पर अनेक स्थानो पर पहुँचायी जा सकती है। यही स्थिति उद्योग के अन्य केन्द्रो की भी है। इसमे एक विशेष बात ध्यान देने योग्य है कि यातायात के साधनो की सहायता से वस्तुओ के मूल्य एक बडे क्षेत्र में समान रखे जा सकते है। जो वस्तु इलाहाबाद में चार रुपये में प्राप्त होगी वही वस्तु अन्य बडे शहरो मे इसी मूल्य पर प्राप्त हो सकती है।

भारतवर्ष एक निर्धन देश है। इसके निवासी अधिक मूल्य देकर वस्तुओ का उपभोग नही कर सकते है परन्तु यातायात की सुगमता से

अनेक वस्तुओं के मूल्य कम होते हैं। अमेरिका की बनी पेन्सिलो, मिल के बने कपडो इत्यादि का मूल्य कम होने से लोग इन्ही का प्रयोग करते हैं। यातायात के साधनो से शीघ्र एक वस्तु को दूसरे अन्य स्थानो में पहुँचाया जा सकता है जिससे उनका प्रयोग जनता मे बढता है। उत्पादन बडे पैमाने पर होता है, कच्चे माल के लाने और पक्के माल को सुविधा-पूर्वक बाजारो में पहुँचाने में यातायात-व्यय कम होता है जिससे प्रति इकाई उत्पादन व्यय भी कम होता है और इस कारण मूल्य कम होने से अधिक उपभोक्ताओ तक उसकी पहुँच भी हो जाती है। यदि यातायात के साधन न होते तो यह सुविधा प्राप्त न हो सकती।

देश की आर्थिक उन्नति करने के लिये, उसके निवासियो के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाने के लिये और उनमें शिक्षा का प्रसार करने के लिये यातायात के साधनो का विस्तार करना अत्यन्त आवश्यक है। यातायात के साधनो से समय में बहुत बचत होती है, लम्बी और खतरनाक यात्रा को सुगम और सुरक्षित बनाया जा सकता है, देश के ग्रामो का उत्पादन के तथा वितरण के केन्द्रो से सम्बन्ध जोडा जा सकता है जिससे उनकी अवस्था में काफी सुधार हो सकता है। भारतवर्ष में यातायात के साधनो की स्थिति सन्तोषजनक नही कही जा सकती है, इसी कारण यह देश पिछड़ा हुआ है, उद्योग-धन्धो मे वाछित उन्नति नही कर सका है, कृषिप्रधान देश होते हुए भी कृषि की दशा शोचनीय ही बनी है। भारतवर्ष मे निम्नलिखित यातायात के साधन है —

(१) स्थल-मार्ग (Road Transport)
(२) रेलें (Rail Transport)
(३) जल-मार्ग (Water-ways)
(४) वायु-मार्ग (Air-ways)

स्थल-मार्ग (Road Transport)

यह पहले कहा जा चुका है कि भारतवर्ष में यातायात के साधनो का निश्चित योजना के अनुसार निर्माण किया गया था। धर्म की भावना से भी भारत मे सडकें और कुएँ इत्यादि बनाये गये। हिन्दू राजाओ और मुसलमानी राज्य-काल में शासन और सुरक्षा के विचार से अनेक सडकें बनायी गयी। मुसलमानी राज्य-काल मे बनी ग्रैण्ड ट्रक रोड अपनी लम्बाई के लिये प्रसिद्ध है। परन्तु अधिकतर सड़कें आवागमन से स्वय बन गयी और नष्ट होती रही। योजना अधिकतर राजधानी की सीमा के अन्दर ही कार्यान्वित की गयी, राजधानी के बाहर गाँवो की इस आवश्यकता की ओर ध्यान नही दिया गया जब कि भारत शहरो का नही वरन् गाँवों का देश है।

भारत का आन्तरिक व्यापार अधिकतर बैलगाड़ियों, घोड़ो, खच्चरों, चँवर-गायो, ऊँट इत्यादि पर हुआ करता था। सड़कें तग और ऊँची-नीची थी। बरसात में सड़को में कीचड़ और दलदल होने से बैलगाड़ी से सामान ढोने में बड़ी कठिनाई पड़ती थी। यही स्थिति अब भी है।

सुरक्षा के विचार से अंग्रेजी शासन-काल मे कुछ सड़को का निर्माण किया गया परन्तु उनका प्रयोग अधिकतर सेना की आवश्यकताओं के लिये ही किया जाता था। लार्ड डलहौजी जब भारतवर्ष का गवर्नर जनरल होकर आया तब उसने १८५५ में सड़कों का निर्माण करने की योजना बनायी। उसने एक सार्वजनिक-निर्माण-विभाग (Public Works Department) स्थापित किया जिसका काम सड़कों का निर्माण करना और मरम्मत इत्यादि करना था। १८४६ में भारत मे रेलें भी चलने लगी थी। उनके प्रभाव से आवश्यकतानुसार सड़को का निर्माण हुआ। स्वायत्त शासन (Local Self-Government) से सड़कों के निर्माण का कार्य स्थानीय जिला-बोर्डो और म्युनिसिपिल-बोर्डो को सौंप दिया गया। इससे सड़को के निर्माण की सख्या बढी। सड़कों के निर्माण की आवश्यकता का प्रमुख कारण मोटर द्वारा व्यापार इत्यादि की सुविधा प्राप्त करना था। सड़को के निर्माण मे उन्नति करने के लिये सरकार ने १९२७ में एक सड़क-सुधार कमेटी (India Road Development Committee) बनायी। इस कमेटी का काम निर्माण-विषयक सुझाव देना था। इसने यह माँग की कि मोटर-स्प्रिट पर कर चार आना प्रति गैलन से बढाकर छ आना प्रति गैलन कर दिया जाय। इससे होनेवाली दो आना प्रति गैलन से जो अतिरिक्त आमदनी केन्द्रीय सरकार को होगी उससे एक कोष का निर्माण किया जाय। केन्द्रीय सरकार इस कोष का १५% खोज, कोष के प्रबन्ध करने, आवश्यक योजनाओ पर विचार करने और पिछड़े क्षेत्रो तथा प्रान्तो को सहायता देने के लिये दिया जाय। शेष आमदनी प्रत्येक प्रान्त को उनके पेट्रोल के उपभोग के अनुपात मे सड़क-सुधार के निमित्त दे दी जाय। इससे प्रान्तीय सरकारो को इस विषय में काफी सुविधा मिली। १९३४ मे अर्ध सरकारी रूप से इण्डियन रोड्स काँग्रेस (Indian Roads Congress) का आयोजन किया गया था जिसका प्रथम अधिवेशन १९३५ में दिल्ली में हुआ। इसके द्वारा भी सड़क-निर्माण के कार्य में प्रगति हुई है। १९४३ मे इसी विषय की एक योजना नागपुर में बनायी गयी जो नागपुर-प्लान के नाम से प्रसिद्ध है। इस योजना के अनुसार यह सुझाव रखा गया है कि भारतवर्ष में ४००,००० मील सड़क के निर्माण की आवश्यकता है जिसका निम्नलिखित वर्गीकरण किया गया है :—

(१) राष्ट्रीय-मार्ग (२) प्रान्तीय-मार्ग (३) जिले की वडी और छोटी सडके (४) ग्राम्य-मार्ग। यह अनुमान लगाया गया है कि इस निर्माण मे ४५० करोड रुपयो का व्यय होगा जिसमे निर्माण के लिये ३५० करोड़ रुपये, भूमि प्राप्त करने के लिये ५० करोड रुपये और पुलो का निर्माण करने के लिये ५० करोड रुपये लगेगे।

वर्तमान मे भारतवर्ष में चार प्रमुख सडके है—(१) ग्रैण्ड-ट्रक-रोड। यह सड़क कलकत्ता से खैवर तक जाती है। यह भारत के सडको के इतिहास मे सवसे पहली लम्वी और टिकाऊ सडक है। (२) मद्रास से कलकत्ता तक। (३) मद्रास से वम्वई तक। (४) वम्वई से दिल्ली तक। इन चार वडी सड़को के चारो ओर अन्य सडको का जाल वना हुआ है। पक्की सड़को की कुल लम्वाई ९८,००० मील है जिसमें से उक्त चार वडी सडको की लम्वाई ५,००० मील है।

भारत में सडको को तीन भागो में विभाजित किया गया है—
१. प्रान्तीय सडकें—ये वड़ी सडकें होती है और एक प्रान्त को दूसरे प्रान्त से मिलाती है। इनका प्रवन्ध प्रान्तीय सरकार करती है।

२ (अ) जिला-वोर्ड की सडकें—लार्ड रिपन के समय जव भारत में स्वायत्त शासन की नीव पड़ी थी तव से जिले की वडी सडको का प्रवन्ध जिला-वोर्ड स्वय करते है। अव उनके अन्तर्गत सडको की सख्या वढ गयी है।

(व) म्युनिसिपिल-वोर्ड की सडकें—ये नगर की प्रधान सड़के होती है जिनमें टूट-फूट एव सफाई का प्रवन्ध म्युनिसिपिल-वोर्ड करती है। वास्तव मे ये और जिला-वोर्ड की सडके एक ही श्रेणी में आती है।
३. कच्ची सडकें—ये सड़कें एक गाँव को दूसरे गाँव से या शहर से मिलाती है। इनका प्रवन्ध उचित रीति से नही होता है जिस कारण इनकी दशा वहुत वुरी है।

भारत के पिछडे होने का कारण यहाँ की सडकें भी है। वर्तमान व्यापार इत्यादि कार्य मोटरो के द्वारा किया जा सकता है जिससे समय कम लगेगा और व्यय भी कम होगा। परन्तु भारत में मोटर की ऐसी सडकें कम है जो गाँवो से निकट पडती है। अधिकतर ग्रामीण वैल-गाड़ियो का प्रयोग करते है। इसमें व्यय अधिक होता है और काम अधिक नही हो सकता है। कच्ची सडको पर वैलगाडियो के चलने से वडे-वड़े गढे हो गये है, कही वालू अधिक है और वरसात में तो इन पर चलना एक समस्या हो जाती है। इसलिये ग्रामीण शीघ्र नष्ट हो जाते-

वाली वस्तुओ का उत्पादन नही करते हैं। उनका अधिकतर सम्बन्ध अपने निकट की मण्डियो से होता है जिससे वे एक सीमित क्षेत्र में घूमते रहते हैं और चतुर व्यापारियो से प्राय. ठगे जाते हैं। उनका रहन-सहन का स्तर गिरा हुआ है। यातायात की इन असुविधा से उनकी मनोवृत्ति पर भी प्रभाव पडता है। बाह्य-वातावरण से अधिक सम्पर्क न रहने से वे अंध-विश्वासी और रूढिवादी (Conservative) हो जाते हैं जिसका प्रभाव भारत के सारे निवासियो पर पडता है क्योंकि भारत के अधिकाश ग्राम इसी प्रकार के है।

अधिकाश ग्राम्य-सडको मे पुल नही हैं। यद्यपि किसी-किसी सडक में बरसात मे अस्थायी पुल बना दिये जाते हैं परन्तु अधिकतर सडको से यातायात बन्द रहता है। नदी पार करने में ही भारत में बहुत से ग्रामीणों की मृत्यु हो जाती है; उनकी पशु-सम्पत्ति बह जाती है।

यातायात की इस असुविधा से शहरो की जनसंख्या मे भी अवाछित वृद्धि हो गयी है। शहरो मे स्थापित उद्योगो इत्यादि में काम करने के लिये अधिकतर श्रमिक निकट के ग्रामो से ही आते है। यदि कारखानो, मिलो, छापेखानो इत्यादि में काम करनेवाले ये सैकड़ो श्रमिक संख्या को अपने निकट के ग्रामो में जाना चाहे तो मोटर-सर्विस न होने से उन्हें शहरो मे ही बस जाना पडता है। इससे शहर के वातावरण मे वे अपने पारिश्रमिक मे से जो बचत ग्राम मे हो सकती है वह नही कर पाते है। यदि शहर के निकट के ग्रामो में मोटर-सर्विस चालू हो जाय तो शहर की बसी श्रमिक सख्या तो कम होगी ही, ताजी तरकारियाँ और फल इत्यादि भी शहर मे पर्याप्त मात्रा मे मिल सकेंगे और ग्रामीणो को इससे लाभ भी होगा और दलालो (Middle-men) के चगुल से छूट जायेंगे।

भारत मे अभी अनेक ऐसे ग्राम है जिनके निवासी अपने ग्राम की सीमा से बाहर नही जा सके है, विज्ञान के आविष्कारो से वे अपरिचित हैं और आर्थिक दृष्टि से शोचनीय अवस्था में है। अतएव भारतवर्ष की उन्नति के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक ग्राम मे यातायात की सुविधाएँ हो। जिला-बोर्ड प्राय. दो-एक विशेष सडको को छोडकर अन्य का प्रबन्ध नही करती हैं; ऐसी सडको को ग्राम-पचायत के अधिकार मे दिया जाय तो अच्छे परिणाम की आशा हो सकती है। सडको की योजना ऐसी बनायी जाय जिससे प्रत्येक ग्राम सडक के निकट पडे और मोटर-बस, रेल इत्यादि का पूरा लाभ उठा सके। उसके रहन-सहन के स्तर मे इससे परिवर्तन आयेगा, उसकी उत्पादन-शक्ति बढेगी और देश की आर्थिक समृद्धि में वह अपनी पूरी शक्ति लगा सकेगा।

रेलें (Rail Transport)

यातायात के साधनों में रेल का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसकी शक्ति बहुत अधिक होती है। यह युद्ध के समय बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है। भारी से भारी मशीनें, पेडो के वडे-वडे तने, कच्चे माल की अपार राशि, कोयले की वहुत वडी मात्रा इत्यादि अनेक वस्तुएँ वडी सरलता से काफी लम्बी यात्रा करके निश्चित स्थान पर पहुँचाती है। लम्बी यात्रा प्राय रेलो के द्वारा ही की जाती है। ससार के अन्य देशो मे तो रेलो की वहुत अच्छी व्यवस्था की गयी है परन्तु भारतवर्ष में इसमे अधिक उन्नति नही हो सकी है।

सर्वप्रथम १८४८ में भारतवर्ष के गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी ने भारत में सुरक्षा और अग्रेजी व्यापार को वढाने के निमित्त रेल-निर्माण का प्रस्ताव अपनी कम्पनी के डायरैक्टरो के सम्मुख रखा। भारत के कच्चे माल की इगलैण्ड में वहुत माँग थी। वह प्रस्ताव स्वीकृत हो गया और ईस्ट इण्डिया रेलवे कम्पनी और ग्रेट इण्डियन पैनिनसुलर रेलवे कम्पनी मे भारत में रेल-निर्माण का समझौता हुआ। ये कम्पनियाँ अग्रेजी थी। इस समझौते के अनुसार कम्पनियो की पूंजी पर सरकार ने ५% सूद की गारन्टी देने का निश्चय किया जिसके परिणामस्वरूप सरकार को लगभग १०० करोड रुपयो की हानि उठानी पडी। रेलवे कम्पनी के कार्य-कर्त्ताओ ने खूब रुपया व्यय किया था क्योकि सूद की दर अधिक थी। १८४९ से १८६९ तक सरकार ने आठ अन्य कम्पनियो से इसी प्रकार का समझौता किया था। परन्तु १८६९ मे सरकार ने अपनी पूंजी से रेलो का निर्माण करने का निश्चय किया। परन्तु लगभग १० वर्ष तक इस निश्चय के अनुसार काम करके, अकाल इत्यादि मे अधिक व्यय हो जाने से, सरकार ने कम्पनियो से फिर एक समझौता किया जिसमें सूद की दर घटाकर ३½% कर दी और यह भी निश्चय किया कि एक निश्चित समय के वाद यदि सरकार चाहेगी तो कम्पनी का यह अधिकार खरीद लेगी।

प्रथम महायुद्ध मे भारतीय रेल-निर्माण कार्य में वडी वाधाएँ पडी और कम्पनियो को गहरी हानि उठानी पडी। कम्पनियो की व्यवस्था विगड़ गयी।

जनता के असन्तोष का कारण यह था कि रेलवे कम्पनियाँ भारतीय उद्योगो के प्रति उदासीन थी और उन्हें सुविधाएँ न देकर केवल अग्रेजी उद्योग के लाभ की दृष्टि से कार्य करती थी। उनका मुख्य उद्देश्य था कि भारत का कच्चा माल कम व्यय में वन्दरगाहो तक पहुँच जाय और अग्रेजी तैयार माल कम मूल्य पर भारत मे विक सके। इसके साथ ही रेलवे-विभाग में अधिकतर अग्रेज और एग्लो-इण्डियनो को ही नियुक्त किया जाता था और भारतीय कर्मचारी को कुछ सुविधा नही दी जाती

थी। जब यह असन्तोप अधिक बढा और कम्पनियो की हानि से सरकार की आय कम हो गयी तव १९२० में सरकार की ओर से इस विपय मे छानबीन करने के लिये एक कमेटी बैठाई गई' जिसे एकवर्थ कमेटी (Acworth Committee) के नाम से प्रसिद्धि मिली। कमेटी के सुझाव के अनुसार सरकार ने १९२४ में ईस्ट इण्डिया रेलवे और ग्रेट इण्डियन पैनिनसुलर रेलवे को अपने अधिकार में ले लिया। एकवर्थ कमेटी के सुझाव के अनुसार अपने पूर्व समझौते के आधार पर सरकार ने धीरे-धीरे सभी रेलो को अपने अधिकार में कर लिया है। भारतवर्ष में इस समय मुख्य निम्नलिखित रेलें चलती हे —

पहले कहा जा चुका है कि रेलो की व्यवस्था विगडने के फलस्वरूप सरकार ने उन्हें अपने अधिकार में कर लिया था। निम्नलिखित तालिका द्वारा मुख्य रेलें, उनकी लम्बाई, सरकार के अधिकार में लेने का समय इत्यादि दिखाया गया है।

नाम	लम्बाई मीलो में (१९४५-४६) में	कुल लगी पूंजी (१९४५–४६) में	सरकार के अधिकार में लेने का समय
नार्थ वेस्टर्न रेलवे	६,८८१ २७	१,५३,०४,७०,००० रु०	१८८६
ईस्ट इण्डियन रेलवे	४,०६३ ५५	१,५६,८८,००० ,,	१९२४
जी. आई. पी. रेलवे	३,५३१ २६	१,१८,५०,९९,००० ,,	१९२५
बी. बी एण्ड सी. आई रेलवे	३,४०४ २३	७७,४५,६५,००० ,,	१९४१
बगाल-आसाम रेलवे	३,५५४ ८१	८७,३४,३५,००० ,,	१९४१
अवध-तिरहुत रेलवे	२,६७९ ६७	३०,५४,७५,००० ,,	१९४२
साउथ इण्डियन रेलवे	२,३४९ २५	४६,९२,९४,००० ,,	१९४४
मद्रास एण्ड सदर्न मरहठा रेलवे	२,९४० ३१	५६,१७,३१,००० ,,	१९४४
बंगाल नागपुर रेलवे	३,३८८ १४	८१,९१,२६,००० ,,	१९४४

उक्त विवरण के साथ ही यह भी जान लेना आवश्यक है कि सरकार ने सन् १८८४ में ईस्टर्न बंगाल रेलवे को और रुहेलखण्ड कुमाऊँ रेलवे को १९४२ में अपने अधिकार में कर लिया था। इसके साथ ही भारतवर्ष में कुछ छोटी रेलें भी चलती है जिनकी लम्बाई का विवरण निम्नलिखित है :—

नाम	लम्बाई मीलो में (१९४५–४६) में
बीकानेर	८८३ ०५
जोधपुर	१,१२५·६९
मैसूर	७३८ २७
हैदराबाद	१,३५९ ९८

भारतवर्ष मे रेलवे लाइनो का विस्तार सन् १९४६ में देश विभाजन से पहले निम्नलिखित था —

		मील
चौडी रेले (Broad Gauge)	.	२०,६८६ ६०
मध्यम चौडी रेलें (Metre Gauge)	.	१६,००४ २३ /
सँकरी रेले (Narrow Gauge)	...	३,८२७·०८

चौडी रेलो की चौडाई ५ फी० ६ इ० होती है। भारतवर्ष मे पहले यही लाइनें बिछायी गयी थीं। मध्यम चौडी रेलो की चौडाई ३ फी० ३$\frac{3}{8}$ इ० होती है और सँकरी रेलो की चौडाई २ फी० ७ इ० होती है।

लाभ —रेलो से अनेक लाभ हुए है। रेले देश के अनेक भागो से होकर जाती है जिनकी जातियाँ तथा रहन-सहन विभिन्न होते है। भारत के वडे तीर्थ भी रेलो के मार्ग मे पडते है। अतएव भ्रमण के लिये या व्यापार, तीर्थयात्रा इत्यादि के लिये दूर-दूर के स्थानो में जाने के लिये रेल ही यातायात की सुगम साधन है। विभिन्न प्रकृति, जाति-पाँति के लोग रेल द्वारा की गयी यात्रा मे परस्पर मिलते रहते है। व्यापारिक सम्बन्ध होने से एक दूसरे स्थानो में रहना पडता है। अत प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से रेल मनुष्यो में एकता की भावना लाती है। भारतवासी, जिन्हें प्राय रेल इत्यादि साधनो के द्वारा घूमने का अवसर मिला है, वाह्य-वातावरण के सम्पर्क में आने के कारण, अपने जाति-पाँति, छूत-छात की सकीर्णता को त्याग रहे है। भारतवर्ष की प्रगति मे इस सकीर्णता से वहुत वाधा पडी है। अन्तर्प्रान्तीय सम्वन्ध होने से राष्ट्रीयता की भावना को पर्याप्त वल मिला और स्वतन्त्रता के आन्दोलन मे इससे वडी सहायता मिली है। भारत के विभिन्न भागो की विचारधाराएँ, रीति-रिवाज इत्यादि के अच्छे प्रभाव ने भारतीय रूढिवादी समाज को परिवर्तनशील वना दिया है।

सुरक्षा और शाति के दृष्टिकोण से भी शासन को रेलो के द्वारा वडी सहायता मिली है। भारत में अभाग्यवश साम्प्रदायिक दगो से जान-माल की वडी हानि हुई है। इस द्वेष भावना का दमन करने मे और शान्ति स्थापित करने में रेलो का काफी प्रयोग किया गया।

रेलो के द्वारा देश के आन्तरिक व्यापार में वडी उन्नति हुई है। देश की प्राकृतिक सम्पत्ति का उपयोग करके देश का उत्पादन वढा है। नये उद्योगो की स्थापना सभव हो सकी है। छोटे-छोटे शहर रेलो की सहायता से भारत के व्यापार एवं उत्पादन के व्रडे-वडे केन्द्रो के रूप में वदल गये है। वहाँ की जनसख्या में काफी वृद्धि हो गयी है। उद्योगो के प्रसार से तथा नवीन उद्योगो की स्थापना से वेकारो को काम मिल सका है।

श्रम की गतिशीलता पर अच्छा प्रभाव पडा है। कृषि-कार्य मे इससे विशेष लाभ हुआ है। पहले एक सकीर्ण क्षेत्र में कृपक का जीवन बीतता था परन्तु अब वह अपने को एक विस्तृत क्षेत्र में पाने लगा है। उसकी उत्पादित वस्तुएँ देश के विभिन्न भागो में पहुँचती है और विदेश की उत्पादित वस्तु का वह उपभोग कर सकता है। इसीलिये व्यापारिक-कृषि भी चल पडी है। किसान इस बात को जानता है कि अमुक वस्तु की माँग बढनेवाली है और लाभ की दृष्टि से वह उसी का उत्पादन करना अधिक उपयुक्त समझता है। इस लाभ से वह अपने लिये भोजन इत्यादि की सामग्री खरीद सकता है। वैज्ञानिक विधियो से उत्पादन करने की शिक्षा भी परोक्ष रूप से उसे मिलती है और वैज्ञानिक यन्त्रो तथा खाद का प्रयोग अधिक सरलता से कर सकता है।

युद्ध और दुर्भिक्ष इत्यादि के समय तुरन्त आवश्यक सहायता पहुँचाने में रेलो को अपूर्व सफलता मिली है। महामारी के समय जब कि कुछ देर में बहुत जन-हानि हो सकती है इसके द्वारा डाक्टरी सहायता तुरन्त भेजी जा सकती है। रेलो ने सबसे बडी सहायता देश विभाजन के पश्चात् हुए साम्प्रदायिक दगो में की। लाखो आदमियों को कुछ सप्ताहो में एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाया। शरणार्थियो की बिगडी दशा को सुधारने में, उनको सुरक्षित लाने-ले जाने में अन्य साधन इतने सफल नही हो सकते थे।

रेल-विभाग बहुत बडा विभाग है। इसके अनेक कारखाने चलते है। इसमें हजारो श्रमिक और कर्मचारी काम करते है जिससे बेकारी की समस्या बिगड़ने नही पाती है।

हानियाँ —रेलो की स्थापना का मुख्य उद्देश्य भारत के कच्चे माल को विदेश भेजकर वहाँ के तैयार माल को कम मूल्य में भारत मे बेचना था। उसका उद्देश्य शुद्ध व्यापारिक था और एकागी लाभ से प्रेरित। भारत का अधिकाश कच्चा माल जिसके उत्पादन से भारत में कई कारखाने चल सकते थे सस्ते मूल्य पर विदेश भेजने में रेलो से सहायता ली गयी।

विदेशी माल सस्ता होने से घरेलू उद्योग-धन्धो को गहरी हानि पहुँची, क्योकि मशीन के बने माल से हाथ का बना माल अच्छा नही था और अधिक मूल्य का भी।

यातायात की इस सुविधा से नये उद्योगो की स्थापना होने से शहरो तथा उत्पादन-केन्द्रो की जनसख्या अधिक बढ गयी है, वहाँ स्वच्छता नही है और इससे बीमारियाँ अधिक होती है और मृत्यु भी। इसके साथ ही रेल में यात्रा करने से विभिन्न व्यक्तियो के सम्पर्क मे आना पडता है जिसका स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पडता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि रेलो की स्थापना विदेशी कम्पनियों के हाथ में थी जिनके पास कोई निश्चित योजना नही थी जिसके आधार पर देश की आर्थिक उन्नति की जा सकती। उनकी दृष्टि मे सैनिक महत्व के स्थान और कच्चे माल की प्राप्ति के सिवाय और कुछ न था जिसका परिणाम यह हुआ कि बहुत से मुख्य व्यापारी और उत्पादक नगर रेल-मार्ग से दूर पड गये, अनुपयुक्त स्थानो को महत्व मिला जिससे देश के उत्पादन और व्यापार में हानि हुई है।

यदि उक्त हानियो पर विचार करें तो विदित होगा कि प्राय वे सब रेल-व्यवस्था की हानियाँ है, स्वय रेलो की नही। स्वतत्र भारत मे रेलो के प्रसार की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। यात्रियो की बढती सख्या, यात्रा-कष्ट इत्यादि को सुधारने के प्रयत्न किये जा रहे है। भारत को रेल के इन्जन अमेरिका इत्यादि देशो से मँगाने पडते थे और आवश्यकता अधिक होने पर अनुचित शर्तों तक को मानने के लिये विवश होना पडता था। परन्तु अब इन्जन बनाने के एक नवीन कारखाने की स्थापना हो चुकी है और आशा की जाती है कि निकट भविष्य मे भारत का बहुत-सा धन विदेश न जाकर स्वदेश के उद्योग को बढाने में सहायक होगा।

रेल-स्थल-मार्ग प्रतिस्पर्धा (Rail-Road Competition)—यदि भारत के यातायात की ओर दृष्टिपात करें तो विदित होगा कि न स्थल-मार्ग के यातायात का विकास हो पाया है और न रेल-मार्ग के यातायात का। परन्तु दोनो यातायात के साधनो में अपनी प्रारम्भिक स्थिति मे ही प्रतिस्पर्धा आरम्भ हो गयी है।

प्रतिस्पर्धा एकदम बुरी नही कही जा सकती है परन्तु रेल और स्थल-मार्ग की प्रतिस्पर्धा अवश्य हानिकारक थी। भारत सरकार ने रेल की पटरियाँ बिछाने और सडके बनाने में किसी निश्चित योजना को ध्यान मे नही रखा था जिसका उद्देश्य देश की आर्थिक समृद्धि होती। भारत का स्थल-मार्ग का यातायात अधिकतर मोटरो के द्वारा होता है। ऐसे प्रदेशो में जहाँ रेलें नही जा सकी है मोटर सडको का निर्माण हो रहा है। पहले मोटर की पक्की सडकें प्राय रेलवे लाइन के बराबर बनी थी। रेल को निश्चित स्थानो पर निश्चित समय में पहुँचना पडता है। वह स्थान-स्थान पर यात्रियो की सुविधा के लिये नही रुक सकती है वरन् यात्रियो को उसके कार्यक्रम (Time Table) के अनुसार अपनी सुविधाएँ बनानी पडती है। मोटरें यात्रियो की इच्छानुसार रोकी जा सकती है। यहाँ तक कि यात्रियो के घर तक पहुँचाया जा सकता है। अतएव किसानो तथा अन्य व्यापारियो ने अपनी अधिक सुविधा मोटर के यातायात में समझी। यदि मोटर सडक गाँव के पास से जाती है तो ग्रामीण-जन

अपने सामान के साथ सडक पर रुके रहते है और मोटर आने पर अपने सामान का मण्डियो या अन्य बाजारो में क्रय-विक्रय करके उसी सुविधा से लौट सकते है। यह सुविधा रेल से नही मिल सकती है।

मोटर-बस का कार्यक्रम स्थिर नही होता है। वह सुविधानुसार बदला जा सकता है। इसलिये लम्बी यात्रा भी बिना रुके की जा सकती है और कम दूरी की यात्रा तो रेलो से अवश्य शीघ्र की जा सकती है। व्यापारियो को इससे सुविधा रहती है और आसानी से कम मात्रा में सामान ला और ले जा सकते है, रेलो मे सामान के चुरा जाने और टूट-फूट जाने का भय बना रहता है परन्तु मोटरो मे यह आशका कम रहती है क्योकि इसमें एक व्यक्ति—ड्राइवर—पर पूरा उत्तरदायित्व आ जाता है।

ग्रामो और शहरो के लिये मोटर ही उपयुक्त साधन है। इतने विभिन्न स्थानो पर मोटर की अपेक्षा रेलो को नही चलाया जा सकता है। शहर के सभी मार्गों पर और गाँवो के पक्के मार्गों पर मोटरें सदा चलती रहती है। इससे जनता के अधिक निकट होने से इनका प्रयोग भी खूब होता है।

व्यय के दृष्टिकोण से रेलो के बनाने, लाइनें बिछाने, स्टेशन, स्टाफ इत्यादि का पूरा प्रबन्ध करने में बहुत अधिक व्यय होता है और समय भी काफी लगता है। परन्तु स्थल-मार्गों के निर्माण में व्यय कम होता है और समय भी कम लगता है। मोटर गाड़ियो के दाम भी रेल की अपेक्षा बहुत ही कम होते है। इस कारण मोटरो का प्रचार अधिक हुआ है।

स्थलमार्ग के यातायात के साधन मोटर की इन्ही सुविधाओ से रेलो को गहरी हानि उठानी पडी। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त सारे ससार के व्यापार में एक मन्दी (Depression) सी छा गयी थी। आन्तरिक अव्यवस्था और मोटरो की लोकप्रियता से रेलो को १९२९ में बहुत हानि हुई। इस हानि को रोकने में रेलो को असमर्थ देखकर १९३२ मे सरकार ने एक कमेटी इस विषय में छानबीन करने के लिये नियुक्त की। १९३३ में उसने अपनी रिपोर्ट पेश की और यह सुझाव दिया कि मोटर-बसो पर कठोर नियन्त्रण रखा जाय। इसके उपरान्त इसी समस्या के कारण सरकार ने केन्द्र में एक नये विभाग का—यातायात विभाग (Department of Communication) का—निर्माण किया और एक मन्त्री को इसका अध्यक्ष नियुक्त किया। रेलें, सड़कें, जल-मार्ग, स्थल और हवाई-मार्ग तथा डाक व तार विभागो को इस विभाग के अधीन कर दिया गया जिससे सबकी उचित व्यवस्था की जा सके और यह प्रतिस्पर्धा समाप्त हो जाय। १९३७ में एक अन्य कमेटी ने इसी विषय पर विचार करके सरकार को यह सलाह दी कि रेलो को सुरक्षा (Protection) देने के लिये मोटरो पर नियन्त्रण लगाया

जाय, लाइसेन्स प्रथा आरम्भ की जाय और उसके कार्यों का निरीक्षण किया जाय। इन्ही से प्रभावित होकर सन् १६३६ में एक मोटर एक्ट बना जिसके अनुसार मोटर यातायात पर नियन्त्रण रखने के लिये प्रादेशिक यातायात अधिकारी (Regional Transport Authority) नियुक्त किये गये। मोटरो को परमिट दिया जाने लगा, यात्रियो की सख्या तथा सामान की मात्रा निश्चित कर दिये गये, मोटरो की अधिकतम गति (Speed) और कार्य के घटो को स्थिर कर दिया गया, साथ ही यह भी निश्चित कर दिया गया कि प्रति सप्ताह एक मोटर केवल ४५ घटे काम कर सकेगी। इनके साथ ही अन्य बातें भी निर्धारित की गयी जिनमे रेल-स्थलमार्ग की प्रतिस्पर्धा मे विशेष प्रभाव पडा। इस प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप रेलो की व्यवस्था मे विशेष परिवर्तन हो गया है और यात्रियो को अधिक सुविधा देने का प्रयत्न किया जा रहा है।

रेल-मोटर के यातायात की पारस्परिक कठिनाइयो को दूर करने के लिये अनेक सुझाव दिये गये है। भारत के ग्रामीणो का अधिकतर सम्बन्ध व्यापारिक मण्डियो से रहता है। ग्रामो के मार्गों की अवस्था शोचनीय है और ग्रामीणो को उपज मण्डियो तक पहुँचाने में तथा आवश्यक सामान ग्रामो मे ले जाने मे काफी व्यय करना पडता है जो उनके लिये कष्टकर होता है। अतएव यह आवश्यक है कि मण्डियो के चारो ओर के ग्रामो को पक्की सडको से परस्पर मिला दिया जाय। उनके अन्दर की अन्य सडको की अवस्था सुधार दी जाय और इन ग्रामो को पक्की सडक द्वारा व्यापारिक मण्डियो से मिला दिया जाय और इन मण्डियो को शहर और रेल के स्टेशनो से। इससे किसान अपनी उपज मोटर के द्वारा मण्डियो मे लाकर बेच सकता है, यात्री सरलता से रेल के स्टेशन तक पहुँच सकते है और उसी प्रकार सामान तथा यात्री सरलता से ग्रामो मे आ सकते है। इससे प्रतिस्पर्धा समाप्त ही हो जायगी और इनके पारस्परिक सहयोग से भारत के ग्रामो की उन्नति होगी, उनमें चेतना फैलेगी और वे समय के साथ चल सकेंगे।

यदि सरकार मोटर और रेल के यातायात के क्षेत्र निश्चित कर दे तो दोनो को लाभ हो सकता है। रेलो की शक्ति और उसकी अन्य जटिल कार्यवाही को ध्यान में रखते हुए रेलो का उपयोग लम्बे मार्गों में किया जाय। रेलो को अन्तर्प्रान्तीय व्यापार करने, बन्दरगाहो से बडी-बडी मिलो तथा खानों से सम्बन्ध रखने के काम में लाया जाय। यात्री अपनी सुविधानुसार इसका प्रयोग कर सकते है। लम्बी यात्राएँ प्राय रेल द्वारा ही की जाती है। शहर और ग्रामो के क्षेत्र में मोटर-बसो का उपयोग किया जाय। इससे दोनो साधनो को अधिक व्यस्त भी रहना पडेगा और लाभ भी होगा।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् रेलों का काम अधिक बढ गया है और यह आवश्यक हो गया है कि मोटर की सड़कों का विस्तार किया जाय। मोटर के द्वारा यातायात भी कई प्रान्तो की सरकारो ने अपने हाथ में ले लिया है जिससे रेल और मोटर दोनो क्षेत्रो में क्रमश स्थिति में सुधार हुआ है।

जल-मार्ग से यातायात (Water Transport)

भारत के लिये जल-मार्ग से यातायात कोई नवीन बात नहीं है। जहाँ एक ओर प्राचीन भारत के व्यापारियो के ऊँट, घोड़े इत्यादि के काफिले स्थल की बडी-बड़ी दूरियाँ तय करते थे वहाँ भारतीय नावो से समुद्र के पार अनेक देशो में व्यापार करते थे। परन्तु दुःख इस बात का है कि जब संसार के अन्य देश विज्ञान की सहायता से इस ओर निरन्तर विकास करते गये भारत मे आन्तरिक अशान्ति और दासत्व से इस ओर पतन होता रहा।

समुद्र के मार्ग से आकर अंग्रेजो ने भारत में विजय पायी थी और अपने साम्राज्य की स्थापना की थी। उन्होने भारत के सारे समुद्री व्यापार पर अधिकार कर लिया था। अग्रेजी जहाज भारतीय बन्दरगाहो से भारत का कच्चा माल विदेशो मे ले जाते थे और विदेशो का तैयार माल सस्ते मूल्य में भारत के व्यापारियों से बेचते थे। भारत के व्यापारियों के हाथ में बहुत थोड़ा तटीय-व्यापार रहा और उनमे इस कला का ह्रास होने लगा।

भारतवर्ष की प्राकृतिक स्थिति और इसको नदियो के दृष्टिकोण से यह कहना अनुचित न होगा कि जल-मार्गो की इतनी अच्छी सुविधा प्रकृति ने संसार के बहुत कम देशों को दी है। जल-मार्गो को बनाने का व्यय नही होता है। समुद्र में बन्दरगाहो के निर्माण और नदियो मे नहरो इत्यादि के निर्माण में व्यय यातायात के अन्य साधनो से कम ही होता है। यातायात के अन्य साधनो, मोटर, रेल इत्यादि की अपेक्षा जहाज अधिक मात्रा और परिमाण में वस्तुएँ ले जा सकता है। परन्तु भारतवर्ष में स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले इन सुविधाओ का लाभ ब्रिटिश जहाजी-कम्पनियाँ उठाती थी।

भारतवर्ष में जल-मार्ग से यातायात करने के दो साधन है, (१) आन्तरिक और (२) बाह्य। आन्तरिक साधनों के अन्तर्गत भारत की नदियो और नहरों को ले सकते है और बाह्य के अन्तर्गत समुद्री तट।

नदियों के दृष्टिकोण से उत्तरी भारत की नदियाँ इस कार्य के लिये अधिक उपयुक्त है। प्राचीनकाल में भी इन नदियो मे भारतीय मल्लाहो

को व्यापारी नावे चली थी। रेलो के आरम्भ होने से पहले तक उत्तरी भारत मे नावों तथा छोटे जहाजों से व्यापार होता था। परन्तु इस ओर विशेष प्रगति न कर सकने से और सरकार का ध्यान रेलो की ओर अधिक होने से इस यातायात के साधन की उन्नति न हो सकी।

उत्तरी भारत में जल-मार्ग से व्यापार किया जाता है। यहाँ की मुख्य नदियाँ गगा, सिन्ध, हुगली और ब्रह्मपुत्र द्वारा प्राचीनकाल से व्यापार होता रहा है। दक्षिणी भारत की केवल दो नदियों कृष्णा और गोदावरी से वर्ष मे अधिक समय तक व्यापार किया जा सकता है। दक्षिण की अन्य नदियो में गर्मी और बरसात का प्रभाव शीघ्र पडता है—बरसात में उनमे बाढ आती है जिनसे यातायात सभव नही हो सकता और गर्मियो मे उनका जल सूख जाता है या इतना कम हो जाता है कि नावो से याता-यात नही हो सकता।

नदियो के साथ ही जल-यातायात के आन्तरिक साधनो मे नहरो को सम्मिलित किया जाता है। भारतवर्ष मे नहरे सिचाई के उद्देश्य से बनायी गयी है। उनका प्रसार अधिकतर ऐसे स्थानो में है जो व्यापारिक केन्द्र नही कहे जा सकते। इसलिये इनका प्रयोग व्यापार के लिये अधिक नही किया जा सकता है। सिचाई का उद्देश्य होने से इनका निर्माण भी इस प्रकार किया गया है कि इनका उपयोग यातायात के साधनो—नाव, मोटर, बोट इत्यादि के द्वारा नही हो सकता है।

रेल, मोटर से तीव्र गति के साधनो के सामने नहरो के यातायात की गति की तुलना नही की जा सकती है। इसके यातायात की गति मन्द होती है और एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचने मे काफी समय लग जाता है। वर्तमान व्यापारिक प्रतिस्पर्धा की दृष्टि से यह गति सन्तोष-प्रद नही कही जा सकती है। आज व्यापार में "पूर्ति का समय" व्यापारियो के लिये बडे महत्त्व का है। परन्तु बगाल प्रदेश में व्यापार तथा यातायात अधिकतर जल-मार्गों द्वारा ही किया जाता है और उडीसा में भी यह रीति अधिक लोकप्रिय है। वहाँ के स्थल-मार्गों की स्थिति से भी इसमे काफी सफलता मिली है। वहाँ बहुत-सी नहरें व्यापारिक दृष्टिकोण से ही बनायी गयी है।

देश विभाजन से पहले के आँकडो के अनुसार कलकत्ते मे अधिकतर व्यापारी सामग्री जल-मार्ग के द्वारा ही आती थी और सामग्री को शहर व देश के अन्य भागो मे जल-मार्ग से भेजी जाती थी। यद्यपि देश विभाजन से इस स्थिति में अतर पड गया है परन्तु यह कहा जा सकता है कि यातायात मे अब भी जल-मार्गो का विशेष महत्त्व है।

इण्डिया एण्ड पाकिस्तान रिपोर्टर १९४९ में दिये गये आँकडो के

अनुसार कलकत्ते मे आनेवाले कुल व्यापारी सामान का २५% जल-मार्ग से आता है जिसका ६३% केवल आसाम से आता है। और कलकत्ते से बाहर भेजी जानेवाली सामग्री का ३२% जल-मार्ग से भेजा जाता है जिसका ७२% केवल आसाम को जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि कलकत्ते और आसाम के बीच व्यापार अधिकतर जलमार्गो के द्वारा ही होता है। इस यातायात के लिये स्टीमरो और नावों का प्रयोग किया जाता है। कलकत्ते में आनेवाले कुल ४५,००,००० टन व्यापारी सामान का ३४% नदियो मे चलनेवाले स्टीमरो और ६६% देशी नावो से आता है। सन् १९४५ मे पूर्वी और पश्चिमी बगाल में स्टीमरो द्वारा १,०४,००,००० यात्रियो ने यात्रा की। इससे स्पष्ट है कि बगाल के क्षेत्र में जल-यातायात बहुत लोकप्रिय है। देश मे नहरो का अधिकतर प्रयोग सिंचाई के लिये किया जाता है परन्तु यदि उचित व्यवस्था की जाय तो इनसे ४,००० मील लम्बी जल-यातायात की सुविधा प्राप्त की जा सकती है। इसमें बिजली की शक्ति से चलाई जा सकनेवाली नावो (Power-driven Craft) का प्रयोग किया जा सकता है और ११,००० मील का यातायात साधारण नावों के द्वारा किया जा सकता है। उक्त रिपोर्टर में दिये गये आँकडो के अनुसार भारत और पाकिस्तान मे २५,००० मील का जल-यातायात सम्भव है जिसमे से १०,००० मील नदियो से और १५,००० मील नहरो से किया जा सकता है।

राष्ट्रीय सरकार की दामोदर घाटी की योजना में दामोदर नदी को यातायात के योग्य बनाने की योजना भी सम्मिलित है। सरकार को नहरों की एक ऐसी योजना बनानी चाहिये जिससे नदी के किनारे या दूर बसे औद्योगिक नगरो और व्यापारिक केन्द्रों को परस्पर मिलाया जा सके। जल-मार्ग के यातायात की इस सुविधा से अनेक नाविको का कारोबार चल पडेगा, कम व्यय में कम दामो की स्थूल वस्तुओं को उपयुक्त स्थानो मे सरलता से पहुँचाया जा सकेगा।

जल-मार्ग से यातायात का वाह्य साधन समुद्र-तट है। भारत का समुद्र-तट बहुत कटा-फटा हुआ नही है जिस कारण उसका अधिकतर भाग अच्छे बन्दरगाहो के उपयुक्त नही हैं। अंग्रेजी साम्राज्य के स्थापित होने से पहले तटीय-व्यापार भारत के व्यापारियो के ही हाथ मे था परन्तु अंग्रेजो के आने पर उन्हें इससे लगभग हाथ धोना पडा। भारतीय जहाजी कम्पनियो ने कई वार व्यापार को अपने अधिकार में करने का प्रयत्न किया पर अंग्रेजी जहाजी-कम्पनियो की तीव्र प्रतिस्पर्धा के सामने उनका स्थिर रहना असम्भव था। परन्तु फिर भी कुछ कम्पनियाँ काम करती रही। मि० एस० एन० हाजी (Mr S. N. Hazi) ने काफी प्रयत्नो के पश्चात्

भारत की व्यवस्थापिका-सभा में इस आशय का एक प्रस्ताव रखा कि भारत का तटीय-व्यापार और उसका प्रबन्ध इत्यादि भारतीय कम्पनियों के हाथ में दे दिया जाय परन्तु ब्रिटिश जहाजी-कम्पनियों के कड़े विरोध के कारण वह ठुकरा दिया गया। १९३७ में पुन एक बार इसी प्रकार का प्रयत्न किया गया और वह भी असफल रहा। परन्तु द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् यह आवश्यकता अनुभव हुई कि भारत में जहाजो का कारोबार आरम्भ किया जाय और विजगापट्टम् में श्री वालचन्द हीराचन्द के प्रयत्नों से एक जहाज वनाने का कारखाना खुल गया। सरकार ने भी इसमें सहायता दी है।

स्वतन्त्रता मिलने के बाद भारतीय सरकार का ध्यान इस ओर गया और सफल प्रयत्न भी किये गये। "जल-उषा" और "जल-प्रभा" नाम के दो जहाजो का निर्माण किया जा चुका है और भविष्य में अनेक जहाजो के निर्माण की आशा है। अभी भारत का व्यापार—आयात-निर्यात—विदेशी जहाजो के द्वारा ही होता है, इससे कभी वडी असुविधा का सामना करना पडता है। देश की तुरन्त पूरी की जानेवाली आवश्यकताएँ, अधिक समय तक अपूर्ण ही रहती हैं जिससे देश की हानि होती है। देश-विभाजन से भी भारतीय समुद्री व्यापार को हानि पहुँची है। करांची का सुन्दर बन्दरगाह पाकिस्तान के अन्तर्गत है जो कभी भारत के आयात-निर्यात का केन्द्र था।

वायु-मार्ग से यातायात (Air Transport)

हवाई जहाजो के द्वारा यातायात भारत में अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही है। पश्चिमी देशो में वायुयान द्वारा यातायात अधिक होता है। युद्ध के समय इस रीति से सैनिको को आवश्यक सामग्री तुरन्त पहुँचाई जा सकती है। द्वितीय महायुद्ध मे तो हवाई यातायात की ही प्रधानता रही थी।

भारतवर्ष में यातायात के इस साधन की प्रगति मुख्यत द्वितीय विश्व-युद्ध के कारण ही हुई। यद्यपि १९११ में सबसे प्रथम बार भारत मे जहाजो का प्रयोग किया गया परन्तु वास्तविक प्रगति १९२७ से आरम्भ होती है जब इस कार्य को आगे बढाने के लिये एक विभाग 'सिविल एविएशन डिपार्टमैन्ट' की स्थापना की गयी। भारत और इगलैण्ड के वीच हवाई-यातायात १९२९ मे आरम्भ हुआ और इसके पश्चात् आन्तरिक क्षेत्र में वायु-मार्गो को निर्धारित किया गया। द्वितीय महायुद्ध की आवश्यकताओ के कारण बगलौर में हवाई जहाज बनाने का एक बडा कारखाना स्थापित किया गया है।

भारत की राष्ट्रीय सरकार ने हवाई जहाजों की ओर विशेष ध्यान दिया है। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद से हवाई जहाजो की लोकप्रियता काफी बढ गयी है। कई स्थानो पर इनकी सहायता से जनता के प्राणो की रक्षा की जा सकी है। जब स्थल-मार्ग बन्द हो जाते है, बाढ़-ग्रस्त प्रदेशो, भूकम्प से नष्ट शहरों, दुर्भिक्ष से पीडित प्राणियो को इससे प्रशसनीय सहायता दी जा सकी है। अनेक उद्योगपतियो ने इस ओर रुख किया है और कई हवाई-कम्पनियाँ स्थापित की है जिससे आन्तरिक प्रदेशों में यातायात की सुविधा हो गयी है, साथ ही इंगलैण्ड, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, अमेरिका तथा यूरोप के अन्य देशो से भी सम्बन्ध स्थापित किया जा चुका है। भारत सरकार को यातायात और सवाद सम्बन्धी नयी योजना के अनुसार "नाइट एयर मेल सर्विस" आरम्भ कर दी गयी है जिससे जनता को काफी लाभ पहुँचा है।

भारतवर्ष में इस समय निम्नलिखित हवाई-कम्पनियाँ कार्य कर रही है —

नाम	सर्विस का कार्यक्रम (१९४८ में)
१ भारत एयरवेज लिमिटेड :—	पटना—बनारस—इलाहाबाद—कलकत्ता—दिल्ली—कलकत्ता
	दिल्ली—अमृतसर—दिल्ली
	कलकत्ता—चिटागोंग—कलकत्ता
	कलकत्ता—गया—बनारस—इलाहाबाद—दिल्ली—कलकत्ता
२ इण्डियन नेशनल एयरवेज लिमिटेड :—	कलकत्ता—रंगून—कलकत्ता
	दिल्ली—कलकत्ता—दिल्ली
	दिल्ली—करांची—दिल्ली
	दिल्ली—लाहौर—दिल्ली
३. जुपिटर एयरवेज लिमिटेड :—	मद्रास—दिल्ली—मद्रास
	बम्बई—इन्दौर—ग्वालियर—बम्बई
४. अम्बिका एयरलाइन्स लिमिटेड :—	बम्बई—जोधपुर—अमृतसर—बम्बई
	बम्बई—अहमदाबाद—बम्बई
	बम्बई—बैंगलौर—बम्बई
५ डालमिया जैन एयरवेज —	दिल्ली—श्रीनगर—दिल्ली
	श्रीनगर—अमृतसर—श्रीनगर
६ एयरवेज (इण्डिया) लिमिटेड —	कलकत्ता—बैंगलौर—कलकत्ता
	कलकत्ता—ढाका—कलकत्ता

सदा यह प्रयत्न करते रहते हैं कि दुर्घटनाओं को जहाँ तक सम्भव हो रोका जाय परन्तु पूर्ण सफलता एकदम प्राप्त नहीं हो सकती। उसके लिये काफी समय की आवश्यकता है। यदि जनता के हृदय से यह भय दूर हो जाय तो इसका अधिक उपयोग होने लगेगा। वर्तमान में अधिकतर सरकारी कर्मचारी, डाक तथा अन्य कीमती वस्तुओं को ले जाने के लिये इसका प्रयोग किया जाता है। व्यय कम हो जाने पर अधिक सख्या में जनता इस मार्ग को अपनायेगी क्योंकि इससे निश्चित स्थान में अन्य साधनों की अपेक्षा बहुत शीघ्र पहुँचा जा सकता है।

यातायात के उक्त साधनो का परिचय पाने के पश्चात् यह जानना आवश्यक है कि यातायात के साधनो से तब तक पूरा लाभ नही उठाया जा सकता है जब तक कि इनका निर्माण एक निश्चित योजना के अनुसार न किया जाय। यदि रेल-मार्ग के साथ-साथ मोटर की भी सडकें हों या दोनो साधनो का एक ही क्षेत्र में एक ही प्रकार के काम मे प्रयोग किया जा रहा हो तो लाभ की अपेक्षा हानि की अधिक सम्भावना है। उसी प्रकार जल और वायु-मार्ग की भी समस्या है। अतएव सरकार को इनमे उचित सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये। इनके कार्यक्षेत्रो का महत्त्व के अनुसार वर्गीकरण करना चाहिये। इनकी गति, कार्य के घण्टे तथा यातायात की सामग्री का वर्गीकरण निश्चित करके इन्हे पारस्परिक प्रतिस्पर्धा से मुक्त कर पारस्परिक सहयोग की ओर प्रवृत्त करना चाहिये। इससे व्यापार में सुविधा होगी, प्रत्येक के अधिकारो की सुरक्षा होगी और यात्रियों को आराम मिल सकेगा।

अभ्यास के प्रश्न

१ देश की आर्थिक उन्नति मे यातायात के साधनो का क्या महत्त्व है?

२ भारत में रेलो के विकास पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिये और यह बताइये कि देश की आर्थिक उन्नति में वे किस प्रकार सहायक हुई है?

३ रेल-स्थलमार्ग की प्रतिस्पर्धा को किस प्रकार दूर किया गया है और उसका स्थल मार्गों के विकास में क्या प्रभाव पडा?

४ भारत के आन्तरिक और बाह्य व्यापार मे जलमार्गो के यातायात की क्या विशेषता है? देश की आर्थिक उन्नति में उन्हे किस प्रकार सहायक बनाया जा सकता है?

५ वायुमार्ग के यातायात का क्या महत्व है? भारत में इसका अधिक प्रचार क्यो नही हुआ है?

अध्याय ३७

उत्पादन का अर्थ

मनुष्य की अनेक आवश्यकताएँ होती है जिनकी तृप्ति करने का वह सदा प्रयत्न करता है। वह इसके लिये पृथ्वी मे विद्यमान पदार्थों, जैसे हवा, पानी, धरती के अन्दर का कोयला, धरती की उपज शक्ति इत्यादि का उपयोग करता है। वह आवश्यकता की तृप्ति के लिये कोई नया पदार्थ या तत्व उत्पन्न नही करता है क्योकि वह उसकी शक्ति के वाहर है। वह इन पदार्थों या तत्वो की उपयोगिता मे, इनके पारस्परिक सम्वन्ध में अथवा इनके रूप में परिवर्तन करके एक नई वाछित उपयोगिता उत्पन्न कर देता है जिससे उसकी आवश्यकता की तृप्ति होती है। उपयोगिता उत्पन्न करने की इस क्रिया को ही उत्पादन कहते है। उदाहरण के लिये यदि कोई वढई लकडी के तख्तो को चीर कर मेज वनाता है जिससे एक आवश्यकता की पूर्ति होती है तो यह कहना अनुचित होगा कि वढई ने लकडी के तख्तो को नष्ट किया क्योकि पदार्थ अविनाशी है, वह नष्ट नही किया जा सकता। वास्तव में यह मेज उन लकडी के तख्तो से अधिक उपयोगी है जिनसे वह वनी। यद्यपि लकडी के तख्तो की कुछ उपयोगिता अवश्य थी परन्तु वढई ने उनके रूप में परिवर्तन करके उस उपयोगिता में वृद्धि की, अर्थात् एक नई उपयोगिता उत्पन्न की जिससे आवश्यकता की पूर्ति होती है। इस नई उपयोगिता उत्पन्न करने का नाम ही उत्पादन है। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि यह नई उपयोगिता मेज की कुल उपयोगिता और तख्तो की पूर्व उपयोगिता के अन्तर के वरावर होगी।

उत्पादन से वस्तु अथवा पदार्थ में आवश्यकता पूर्ति का गुण आ जाता है जिसे अर्थशास्त्र में नई उपयोगिता कहते है। इस नई उपयोगिता की मात्रा चाहे कम हो या अधिक इसको उत्पन्न करने की क्रिया उत्पादन क्रिया ही कहलायेगी। एक कुम्हार मिट्टी, चाक, पानी, आवा इत्यादि की सहायता से घडे, कुल्हड इत्यादि का निर्माण करता है। वह इस क्रिया से कोई नया पदार्थ उत्पन्न नही करता है वरन् मिट्टी की प्रारम्भिक उपयोगिता में उसका रूप वदलकर एक नई उपयोगिता की वृद्धि करता है। जिससे मनुष्य की कई आवश्यकताओ की तृप्ति होती है। इसमें चाहे मिट्टी के एक परिवर्तित रूप की उपयोगिता दूसरे रूप से कम हो या अधिक, क्रिया को उत्पादन ही कहा जायेगा। इसी प्रकार यदि एक व्यक्ति कुछ पदार्थों के मिश्रण से मादक द्रव्य का उत्पादन करे तो इस रूप परिवर्तन

की क्रिया को उत्पादन ही कहा जायेगा। उत्पादित वस्तु से किसी व्यक्ति का लाभ होता है, अथवा हानि इससे उत्पादन-क्रिया का कोई सम्बन्ध नही है। समाज के लिये क्या अच्छा है अथवा क्या बुरा है यह समाज-सुधारको का विचारणीय विषय है। अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से वह प्रत्येक क्रिया उत्पादन-क्रिया कही जायेगी जिससे उपयोगिता मे वृद्धि होती है। यदि किसी वस्तु की माँग है (चाहे उस वस्तु का समाज-सुधारको, नीतिज्ञो इत्यादि की दृष्टि मे कुछ भी स्थान क्यो न हो) और कोई व्यक्ति उसका उत्पादन करता है तो वह क्रिया उत्पादन-क्रिया कहलायेगी। यदि कोई व्यक्ति केवल अपने उपभोग अथवा अपने मनोरजन के लिये कुछ कार्य स्वय करे और ऐसा करने से उस व्यक्ति को सन्तोष प्राप्त हो तो उसे भी उत्पादन-क्रिया ही कहेंगे। उदाहरणार्थ यदि एक व्यक्ति अपने उद्यान की भूमि खोदकर क्यारियाँ बनाये, बीज बोये या पेड-पौधे लगाये और इस क्रिया से उसे सन्तोष प्राप्त होता हो तो इस क्रिया को उत्पादन-क्रिया कहेगे। यदि एक मनुष्य कुछ वेतन के बदले में दूसरे व्यक्ति का काम करे और भिन्न-भिन्न वस्तुओ में आवश्यकता पूर्ति की उपयोगिता उत्पन्न करने मे उस व्यक्ति की सहायता करे तो यह क्रिया भी उत्पादन-क्रिया कहलायेगी।

जिस प्रकार सब व्यक्ति परस्पर योग्यता, शक्ति और विद्वत्ता मे समान नही हैं उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति की उत्पादन-शक्ति भी समान नही होती। यह भिन्नता व्यक्ति के अपने व्यक्तिगत गुणो पर ही निर्भर नही होती परन्तु उस व्यक्ति के उत्पादन के साधनो पर भी निर्भर होती है। ये साधन हैं, औजार, वैज्ञानिक आविष्कार, यातायात की सुविधाएँ, व्यक्ति की कार्यक्षमता इत्यादि। हाथ या अन्य प्राचीन यन्त्रो की सहायता से एक निश्चित समय में किया गया उत्पादन, वैज्ञानिक आविष्कारो की सहायता से किये गये उत्पादन से अत्यन्त न्यून होगा। अतएव यह स्वाभाविक है कि जो व्यक्ति वैज्ञानिक आविष्कारो का प्रयोग उत्पादन-क्रिया में करेगा उसकी उत्पादन-शक्ति दूसरे उत्पादको से जो इनका प्रयोग नही कर सकते अवश्य अधिक होगी। यदि एक व्यक्ति के पास उत्पादन के पर्याप्त साधन हो पर वह उनका उचित प्रयोग नही जानता है तब भी वह कुशल उत्पादक से जिसके पास पर्याप्त साधन न हो कम उत्पादन कर सकेगा।

उत्पादन कई प्रकार से किया जाता है जिसमें मशीन का प्रयोग, मनुष्य के शारीरिक व मानसिक वल अर्थात् मनुष्य के श्रम का प्रयोग, प्रकृति के अनेक पदार्थों इत्यादि का प्रयोग किया जाता है। उत्पादन मे उत्पादक की रुचि और उसके विवेक का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह मनुष्य-जाति को अत्यन्त लाभ की वस्तुओ का उत्पादन भी कर सकता

द्वारा बम्बई में लाकर वहाँ के ग्राहको मे बेचा जाता है तो उस कपड़े की उपयोगिता लकाशायर की अपेक्षा अधिक बढ जाती है। हिमालय की पहाडियों मे अनेक प्रकार की जडी-बूटियां प्राप्त होती है जो मनुष्य के अनेक रोगो के लिये बहुत लाभदायक है। यदि उन जडी-बूटियो को वहाँ से प्रयाग, काशी, मद्रास इत्यादि-स्थानो में ले जाया जाय तो उनकी उपयोगिता में बहुत अधिक वृद्धि होती है और हिमालय से दूर रहनेवाले मनुष्यो को आसानी से प्राप्त हो सकती है।

(३) निश्चित समय में उत्पन्न हुई उपयोगिता (Time Utility) —कई वस्तुएँ ऐसी होती है जो जितनी पुरानी पडती जाती है उतनी अधिक उपयोगी होती है, जैसे शराब, चावल इत्यादि। इस प्रकार से प्राप्त हुई नई उपयोगिता को निश्चित समय में उत्पन्न हुई उपयोगिता कहते है। परन्तु यह आवश्यकीय नही है कि प्रत्येक वस्तु शराब की तरह पुरानी होने पर अधिक गुणकारी हो। यदि उन वस्तुओं को वर्तमान में सचय करके भविष्य की आवश्यकता पूर्ति के उपयोग मे लाया जाय तब भी यह उपयोगिता निश्चित समय में उत्पन्न हुई उपयोगिता कही जायेगी। यदि अकाल की आशका से पहले ही अनाज इत्यादि एकत्र करके घर में रख लिया जाय और अकाल पडने पर उसका उपयोग चाहे नफा उठाने के लिये किया जाय (जैसा बगाल के अकाल मे व्यापारियो ने किया) या परिवार को भूख से बचाने के लिये किया जाय या अकाल-पीडितो की सहायता के लिये किया जाय तो उस अनाज इत्यादि की उपयोगिता मे पूर्व की अपेक्षा अवश्य वृद्धि होगी। इसी प्रकार यदि कोई पिता कुछ धन सचित करके रखता है और भविष्य में, परिवार के किसी सदस्य की चिकित्सा मे या शादी-व्याह मे उसे व्यय कर देता है तो उस सचित धन की तब पहले की अपेक्षा अवश्य अधिक उपयोगिता होगी।

अभ्यास के प्रश्न

१ 'उत्पादन' से आप क्या समझते है? उत्पादन के भेदो की विशेषता बतलाइये।

२ उपभोग तथा उत्पादन मे अन्तर समझाइये।

अध्याय ३८

उत्पादन के साधन

आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उत्पादन करना आवश्यक है। उत्पादन स्वय नही हो जाता वरन् उसके लिए कुछ साधनो-पदार्थों की, प्रयत्न व इच्छा इत्यादि की आवश्यकता होती है। तात्पर्य यह है कि उत्पादन कुछ साधनो पर निर्भर है। प्राय अर्थशास्त्री उत्पादन के इन साधनो को पाँच भागो में विभाजित करते हैं —(१) भूमि, (२) श्रम, (३) पूंजी, (४) सगठन और (५) साहस।

प्रारम्भ में अर्थशास्त्री उत्पादन के केवल तीन साधन मानते थे। उनके अनुसार भूमि, श्रम और पूंजी ही उत्पादन के लिए पर्याप्त साधन थे। यह उस समय के लिए स्वाभाविक था क्योकि तब उत्पादन में व आवश्यकताओ में इतनी वृद्धि व जटिलता नही आयी थी। परन्तु अर्थशास्त्र के विकास के साथ-साथ नई आवश्यकताएँ अनुभव हुई, उनकी पूर्ति के लिए नये प्रयत्न आरम्भ हुए। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री मार्शल ने उक्त तीन साधनो मे एक अन्य साधन 'सगठन' सम्मिलित कर लिया। मार्शल के पश्चात् कुछ अन्य अर्थशास्त्रियो ने उत्पादन का एक और साधन खोज निकाला जिसे 'साहस' कहा जाता है। प्रारम्भ के अर्थशास्त्री 'सगठन' और 'साहस' को उत्पादन के उक्त तीन साधनो के अन्तर्गत ही मानते थे परन्तु क्रमशः उत्पादन के साधन के रूप में उनके अलग अस्तित्व पर विचार किया जाने लगा था और आज उन्हें अलग साधनो के रूप में माना जाता है, यद्यपि कुछ अर्थशास्त्री आज भी 'सगठन' और 'साहस' को एक ही साधन 'सगठन' (Organisation) के नाम से ही जानते हैं।

भूमि (Land) —प्राय साधारण बोलचाल की भाषा में भूमि का अर्थ जमीन होता है। परन्तु अर्थशास्त्र मे 'भूमि' का प्रयोग इस अर्थ में नही किया जाता। अर्थशास्त्र मे भूमि से हमारा तात्पर्य प्रकृति के उन साधनों से होता है जो उत्पादन में सहायक होते हैं, जैसे भूमि की सतह, हवा, पानी, गरमी, सरदी, धूप और वर्षा इत्यादि। ये साधन मनुष्य को 'प्रकृति की देन' हैं। मनुष्य इनका निर्माण कर सकने मे असमर्थ है और प्रकृति द्वारा इनके निर्माण को वह प्रभावित भी नही कर सकता है।

श्रम (Labour) मे हमारा तात्पर्य शारीरिक श्रम से होता है। उत्पादन मे प्राय मनुष्य को अपनी शारीरिक शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है।

पूँजी (Capital) —आधुनिक उत्पादन प्रणाली में पूँजी ही एक प्रकार से सब कुछ है। एक लकड़हारे, मोची अथवा खोमचेवाले को भी पूँजी की आवश्यकता होती है परन्तु उनकी मात्रा कम होती है। दूसरी ओर कपड़े, लोहे, इस्पात के बड़े-बड़े कारखानों को चलाने के लिये भी पूँजी की आवश्यकता होती है। तात्पर्य यह है कि उत्पादन के प्रत्येक कार्य के लिये पूँजी अत्यावश्यक है चाहे उसकी मात्रा न्यून हो या अधिक। जिस पैमाने पर उत्पादन किया जाता है उसीके अनुसार पूँजी की मात्रा की आवश्यकता होती है। पूँजी के अन्तर्गत हल, बैल, मशीन, उत्पादित वस्तुएँ इत्यादि आते हैं।

संगठन (Organisation) से प्राय मनुष्य के मानसिक श्रम से तात्पर्य होता है। इसका महत्व आधुनिक उत्पादन-प्रणाली के कारण अधिक बढ़ गया है। एक कारीगर अपने कार्यभार का स्वय निरीक्षण व प्रबन्ध कर लेता है परन्तु एक कपड़े के कारखाने, लोहे या इस्पात के कारखाने का प्रबन्ध इतना आसान नहीं होता है और वहाँ उत्पादन इस साधन 'संगठन' के निरीक्षण और आदेशानुसार किया जाता है। यह भी एक प्रकार का श्रम ही है परन्तु कार्य-प्रणाली में दोनो में विशेष अन्तर है जिसका वर्णन अन्यत्र किया गया है।

साहस (Enterprise) —साहस का विशेषकर उत्पादन के पैमाने से सम्बन्ध होता है। छोटे-मोटे उत्पादन-कार्यों के लिये, जैसे कुम्हार मोची या दर्जी के कार्यों में कुछ विशेष जोखिम नहीं उठानी पड़ती है (परन्तु यदि कुम्हार, मोची, दर्जी के दृष्टिकोण से देखा जाय तो उनकी स्थिति के लिये यह अवश्य जोखिम है) परन्तु बड़े पैमाने के उत्पादन-कार्य मे पूँजी लगाना अवश्य एक बड़े जोखिम का काम है जिसमें लाभ के साथ-साथ हानि की भी बड़ी सम्भावना रहती है। इस 'सम्भावना' के लिये तैयार रहना ही 'साहस' है।

अभ्यास के प्रश्न

१ उत्पादन के साधन कौन कौन से हैं? प्रत्येक का संक्षिप्त परिचय दीजिये।

अध्याय ३८

भूमि (Land)

उत्पादन के [illegible] साधन [illegible] भूमि [illegible] । भूमि के [illegible] है। [illegible] आवश्यकताओं [illegible] प्रकाश में [illegible] है [illegible] । यदि [illegible] [illegible] की आवश्यकता [illegible] करते हुए कृषक की [illegible] होती है। [illegible] के लिये [illegible] की आवश्यकता होती है। इसके साथ ही [illegible] व वस्तुओं की आवश्यकता होती है। [illegible] भूमि का [illegible] । [illegible] से मिलता है, [illegible] की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार की आवश्यकताएँ उत्पादन के सभी साधनों के लिये पड़ती है जिनकी पूर्ति भी भूमि से ही होती है। अतः स्पष्ट है कि भूमि उत्पादन का एक महत्वपूर्ण साधन है।

प्राचीन अर्थशास्त्रियों के अनुसार भूमि प्रकृति का ही दूसरा नाम है। वे समस्त चीजें जो मनुष्य को प्रकृति की देन कही जाती हैं, जैसे हवा, पानी, जलवायु, पेड़, खनिज-पदार्थ इत्यादि, सब भूमि ही हैं। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री मार्शल के अनुसार भूमि का तात्पर्य केवल भूमि की ऊपरी सतह ही नहीं है वरन् प्रकाश, गर्मी एवं मनुष्य की सहायता के लिये प्रकृति द्वारा भूमि में, जल में और वायु में दी गई समस्त शक्तियाँ भी भूमि ही है। भूमि की इस परिभाषा के अनुसार भूमि और प्रकृति में बहुत कम अन्तर रह जाता है। प्रायः भूमि के स्थान पर कई अर्थशास्त्री 'प्रकृति की देन' वाक्यांश का ही प्रयोग करते हैं जिसका प्रचलन अब कम होता जा रहा है।

यहाँ एक बात पर ध्यान देना आवश्यक है। भूमि की सतह के ऊपर तथा भूमि के गर्भ में जितने पदार्थ होते है, जितनी शक्तियाँ होती है सब भूमि है। परन्तु जब मनुष्य अपनी आवश्यकता की पूर्ति के हेतु उनकी प्राप्ति में अपने श्रम का प्रयोग करता है तो वे पदार्थ फिर भूमि नहीं रह जाते है। वे उत्पादन के अन्य साधन 'पूंजी' का रूप ले लेते है।

अर्थात् यदि कोई फर्नीचर बनानेवाला जगल से लकडी लाकर उससे अपने श्रम के प्रयोग से मेज, कुर्सी इत्यादि बनायेगा तो वह मेज, कुर्सी भूमि नही होगे वरन् फर्नीचर वाले की पूंजी बन जायेंगे।

भूमि के लक्षण (Characteristic Features of Land)

(१) भूमि का परिमाण स्थिर है। जब से मनुष्य उत्पन्न हुआ उसके सामने भूमि का विस्तार फैला हुआ था, तब से आज तक मनुष्य उसके परिमाण में कुछ भी वृद्धि नही कर सका है न ह्रास ही उसकी सामर्थ्य मे है। वह अपने विज्ञान की समस्त शक्ति का प्रयोग करके भी भूमि के स्थिर परिमाण को नही बदल सकता है। भूमि के साथ ही उसके गर्भ में पाये जानेवाले पदार्थ, धातु व अन्य शक्तियाँ सभी एक निश्चित परिमाण में है। बहुत सी कोयले की खानें अब अधिक कोयला दे सकने मे असमर्थ है यही बात तेल के कूओ तथा अन्य धातुओ की खानो के विषय में भी सच है। समुद्र की लहरें अपने तट को लगातार काटती रहती है, नदियाँ अपने साथ बहुत सी मिट्टी समुद्र मे बहा ले जाती है पर इससे भूमि के परिमाण में कुछ अन्तर नही आता है क्योकि भूमि की परिभाषा के अनुसार समुद्र व नदी अपनी समस्त शक्तियो के साथ भूमि ही है, कुछ और नही। उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भूमि का परिमाण स्थिर है।

(२) भूमि का उत्पादन नही किया जा सकता। यह पहले बताया जा चुका है कि भूमि का अस्तित्व अनादिकाल से है। मनुष्य इसका निर्माण या उत्पादन नही कर सकता है। भूमि का जन्म प्रकृति से हुआ। अतएव इसके उत्पादन में कुछ व्यय नही हुआ, न मनुष्य को इसके लिए कुछ परिश्रम करना पडा। परन्तु व्यावहारिक जगत् में सत्य यह है कि कुछ मनुष्यो ने भूमि पर अपना अधिकार जमा लिया है और अधिकारी होने के नाते अन्य मनुष्यो से वे उसका क्रय-विक्रय करते है। आधुनिक प्रगतिशील विचार-धाराएँ इस स्वामित्व को अनुचित समझती है और भूमि पर सब मनुष्यो के बराबर अधिकार का प्रचार करती है।

(३) उत्पादन की दृष्टि से भूमि निष्क्रिय होती है। मनुष्य भूमि की सहायता से अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति करने के हेतु उत्पादन करता है। इस उत्पादन-क्रिया में भूमि स्वय क्रियाशील होकर भाग नही लेती परन्तु भूमि में वे समस्त गुण वर्तमान रहते है जैसे, खनिज पदार्थ, विद्युत् शक्ति इत्यादि, जिनमें मनुष्य अपने परिश्रम और कौशल का प्रयोग करके उत्पादन करता है। भूमि के अभाव में उत्पादन हो सकना असम्भव है।

(४) भूमि सर्वत्र समान नही होती। खनिज पदार्थों, जलवायु और नदी इत्यादि के दृष्टिकोण से भूमि की उपयोगिता विभिन्न होती है।

उत्पादन के हेतु भूमि के इस पक्ष से पूर्ण परिचित होना आवश्यक है। यदि किसी स्थान पर खनिज पदार्थ बहुतायत से पाये जाते है तो उस स्थान पर उद्योग-धन्धो का स्थापित करना हितकर होता है और जहाँ की भूमि उपजाऊ होती है वहाँ खेती करना हितकर होता है। यही कारण है कि देश के कुछ भागो मे उद्योग-धन्धो के कारखानो का समूह होता है, कही चावल की ही और कही गेहूँ, कपास इत्यादि की ही पैदावार होती है। परन्तु यह आवश्यक नही कि भूमि सर्वत्र उपयोगी ही हो, वह अनुपयोगी भी होती है और उसकी उपयोगिता की भी श्रेणियाँ होती है।

(५) भूमि स्थिर होती है और उसकी स्थिति का भी विशेष महत्त्व होता है। भूमि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर नही ले जाया जा सकता न किसी स्थान पर उसका नाश ही किया जा सकता है। मनुष्य को उत्पादन की आवश्यकता होती है जिसके लिए उसे उत्पादन सम्बन्धी स्रोतो के समीप जाना पडता है अथवा उन स्रोतो को किसी तरह अपने पास तक लाना पडता है। इस सम्बन्ध मे स्थिति के महत्त्व की ओर ध्यान देना आवश्यक है। उत्पादन-कार्य में भूमि की स्थिति उसकी उपादेयता में वृद्धि भी कर सकती है और कमी भी। उत्पादन के केन्द्रो, पदार्थो के स्रोतो और बाजारो की स्थिति के महत्त्व को बढाने के लिए यातायात के साधनो की ओर भी ध्यान देना विशेष आवश्यकीय है।

(६) भूमि का मूल्य उसकी उर्वरता पर निर्भर है। यह बात भूमि के उक्त लक्षणो में स्पष्ट कर दी गई है कि उत्पादन के हेतु भूमि की स्थिति विशेष महत्त्वपूर्ण है। बाजार और यातायात-केन्द्रो के निकट यदि उत्पादन के केन्द्र स्थापित हो तो भूमि के उस भाग की उर्वरता की वृद्धि हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप उस भूमि के मूल्य में भी वृद्धि होती है। यही कारण है कि भूमि कही पर अधिक मूल्य की और कही कम मूल्य की होती है। प्राय इसी कारण शहर के निकट की भूमि अधिक मूल्यवान् होती है और गाँवो की कम मूल्यवान्।

अभ्यास के प्रश्न

१ अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से भूमि का अर्थ समझाइये।
२ भूमि के मुख्य लक्षण बतलाइये। भूमि उत्पादन के अन्य साधनो से किस प्रकार भिन्न है?

अध्याय ४०

श्रम

श्रम उत्पादन का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। सृष्टि के आरम्भ से ही मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए श्रम का प्रयोग किया। मानसिक और सामाजिक विकास के साथ-साथ आवश्यकताओ मे व उनके प्रकारो मे वृद्धि होती गयी। इसी क्रम से इनकी पूर्ति के ढगो मे भी परिवर्तन और विकास होता गया। श्रम के कई रूप हो गये। आज एक साधारण सी लोहार की दुकान मे श्रम का एक रूप है और टाटा के लोहे के कारखाने मे श्रम के अनेक रूप दिखलायी पडते हैं।

साधारणतया 'श्रम' का अर्थ 'काम करना' समझा जाता है, जैसे खेत खोदना, बढई, राज इत्यादि का काम करना। परन्तु अर्थशास्त्रियों की दृष्टि मे श्रम के विशेष अर्थ होते हैं। प्राचीन अर्थशास्त्रियो का कहना है कि मनुष्य के मानसिक व शारीरिक वे सभी प्रयत्न जो धन की उपलब्धि के लिये किये जाते हैं श्रम कहलाते हैं। उनके मत मे वे सभी कार्य जिनको करने से धन की प्राप्ति नही होती या जिनका उद्देश्य धन प्राप्त करना नही होता, श्रम की कोटि मे नही आ सकते हैं। जैसे यदि कोई सगीतज्ञ या चित्रकार अनेक वर्षो की कठिन तपस्या के पश्चात् अपनी कला मे कुछ विशेषता प्राप्त करके उसका उपयोग कला-प्रदर्शनी इत्यादि के द्वारा धन-प्राप्ति के लिए नही करता है तो उसकी कठिन मेहनत को आर्थिक दृष्टि से श्रम नही कहा जा सकता।

इस दृष्टिकोण को यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो 'श्रम' का क्षेत्र सकुचित सा प्रतीत होता है। मनुष्य के प्रयत्नो के मूल में आवश्यकता की पूर्ति की समस्या होती है। उसकी आवश्यकताएँ बहुत अधिक होती हैं और पूर्ति के साधन उस अनुपात मे बहुत ही कम होते हैं। वह इन्ही सीमित साधनो की सहायता से आवश्यकता पूर्ति के प्रयत्न करता है। अतएव ज्यो ही सीमित साधन उसकी आवश्यकता पूर्ति के प्रयत्नों को प्रभावित करते हैं उसकी क्रिया का क्षेत्र अर्थशास्त्र के अध्ययन का विषय बन जाता है। दूसरी ओर हम किसी भी व्यक्ति के प्रयत्नो को आर्थिक या अनार्थिक कोटि में आसानी से नही रख सकते क्योंकि उसके प्रयत्नो का क्षेत्र विस्तृत होता है।

श्रम के लक्षण —श्रम के मुख्य लक्षण निम्नलिखित हैं —

(१) श्रम की उत्पत्ति कर सकना सम्भव है। श्रम व्यक्ति के साथ

ही आता है, उससे विच्छिन्न होकर श्रम का कोई रूप शेष नहीं रहता है। अतएव यह स्पष्ट है कि श्रम का जनसंख्या से सीधा सम्बन्ध है। जनसंख्या की वृद्धि के साथ ही श्रम की वृद्धि होना और उसके ह्रास के साथ ही श्रम का ह्रास होना अनिवार्य और अवश्यम्भावी है। दूसरी ओर श्रमिक का मानसिक विकास होने से, या ट्रेनिंग देकर उसकी कुशलता मे वृद्धि करके हम श्रम की एक निश्चित मात्रा को बढ़ा सकते हैं अर्थात् श्रम की अधिक मात्रा की उत्पत्ति कर सकते हैं। यही कारण है कि श्रम सदा विकासशील रहता है।

(२) श्रम व्यक्ति से सम्बन्धित होने के कारण गतिशील है। यह तो निर्विवाद सत्य है कि श्रम को श्रमिक से अलग नहीं किया जा सकता है। श्रमिक को कार्य करने के लिये विभिन्न स्थानों पर जाना पड़ता है, यह सदा सम्भव नहीं है कि उसे घर बैठे काम मिल जाय। अतएव श्रमिक को उस स्थान पर जाना अनिवार्य होता है जहाँ श्रम की आवश्यकता हो; इससे श्रम गतिशील रहता है। परन्तु उसे हम पूर्ण गतिशील नहीं कह सकते हैं क्योंकि प्रायः श्रमिक अनेक स्थानों पर जहाँ श्रम की आवश्यकता होती है कई कारणों से नहीं जाना चाहता है और नहीं भी जाता है और उसकी अपेक्षा घर में ही रहना पसन्द करता है। इस कारण श्रम की गतिशीलता में बाधा पड़ती है।

(३) श्रम अस्थायी है। मनुष्य पूंजी इत्यादि को भविष्य के उपयोग के हेतु एकत्रित करके रखता है परन्तु उसी रीति से वह श्रम को एकत्रित नहीं कर सकता है। यह सम्भव नहीं है कि आज का श्रम कल के उपयोग के लिए सचित किया जा सके। श्रमिक यदि आज अपने श्रम का उपयोग नहीं करता है तो उसका एक दिन का श्रम व्यर्थ नष्ट हो जायेगा।

श्रम का यह लक्षण श्रमिक के लिये बड़ा घातक सिद्ध हुआ है। मिलमालिक या उद्योगपति इसका सदा अनुचित लाभ उठाते हैं। श्रमिक का जीवन उसके 'श्रम' पर निर्भर है और आर्थिक दृष्टि से वह इस योग्य नहीं है कि कुछ दिनो तक बिना श्रम का उपयोग किये कुटुम्ब का पालन-पोषण कर सके। दूसरी ओर श्रमिकों की सख्या भी अधिक है। इससे मिलमालिक या उद्योगपति इत्यादि उसकी इस कठिनाई के आधार पर उसके 'श्रम' को बहुत सस्ते दामो मे खरीद लेते हैं। श्रम की माँग कम होती है और उसकी पूर्ति अधिक है इस कारण श्रमिक जो कुछ मूल्य मिल जाय उसी पर काम करने को तैयार हो जाता है। इससे श्रमिक समुदाय के रहन-सहन का स्तर बहुत गिर जाता है। कभी-कभी वेतन आवश्यकता से बहुत ही कम होता है इससे श्रमिक के स्वास्थ्य तथा उसकी कार्यक्षमता व कार्यकुशलता पर बुरा प्रभाव पड़ता है जिससे उत्पादन की सम्पूर्ण क्रिया प्रभावित हुए बिना नहीं रहती।

(४) श्रम का प्रयोग मुख्यतया उत्पत्ति के लिये किया जाता है। मनुष्य की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये बहुत से पदार्थो व वस्तुओ के रूप मे परिवर्तन करना पडता है जिससे उनके गुणो में भी परिवर्तन आ जाता है। विना श्रम के इसकी कल्पना भी नही की जा सकती है। दूसरी ओर भूमि के गर्भ में अनेक खनिज पदार्थ है जिनके प्रयोग से बहुत सी आवश्यकताओ की पूर्ति हो सकती है। यदि इन खनिज पदार्थो को भूमि के गर्भ से निकालने तथा उसका उपयोग करने में श्रम का प्रयोग न किया जाय तो वस्तुओ का उत्पादन असम्भव हो जायेगा। अर्थात् श्रम के प्रयोग से ही सम्पत्ति का उत्पादन किया जा सकता है जिससे देश के गौरव के साथ ही रहन-सहन के दर्जे को भी ऊँचा उठाया जा सकता है।

श्रम में भेद—अर्थशास्त्र के अनुसार श्रम से हमारा तात्पर्य मनुष्य के उन प्रयत्नो से होता है जो वह किसी वस्तु के उत्पादन के हेतु करता है। इस प्रकार के प्रयत्नो में वुद्धि और शरीर दोनो का सहयोग रहता है। परन्तु दोनो के अधिक या कम प्रयोग से श्रम में भेद उत्पन्न हो जाता है। इस दृष्टि से श्रम के निम्न भेद किये जा सकते है —

(१) **मानसिक और शारीरिक श्रम**:—किसी भी श्रम को हम पूरी निश्चितता से मानसिक श्रम ही या शारीरिक श्रम ही नही कह सकते है। कोई भी व्यक्ति श्रम करते समय वुद्धि व शरीर दोनो से सहायता लेता है। प्राय. वुद्धिप्रधान श्रम जिसमे शारीरिक शक्ति का बहुत कम प्रयोग करना पडता है मानसिक श्रम कहलाता है। एक इन्जीनियर का कार्य शरीर की शक्ति से अधिक वुद्धि की शक्ति का कार्य है, अतएव उसके कार्य को मानसिक श्रम कहेंगे। शारीरिक शक्तिप्रधान श्रम जिसमें बुद्धि का कम प्रयोग करना पडता है शारीरिक श्रम कहलाता है। एक रेलवे कुली का मुख्य कार्य बोझा ढोना है; परन्तु वह प्लेटफार्म, गाडी के छूटने के समय इत्यादि का भी ध्यान रखा करता है। इसमे उसे बुद्धि का प्रयोग कम करना पडता है और बोझा ढोने मे शारीरिक शक्ति का प्रयोग अधिक। अतएव वुद्धि का प्रयोग करते हुए भी उसका श्रम शारीरिक ही कहा जायेगा। इससे स्पष्ट है कि मानसिक और शारीरिक श्रम का भेद दोनो के प्रयोग मे लाई गयी मात्रा पर निर्भर है।

(२) **कुशल और अकुशल श्रम**:—प्रत्येक प्रकार के श्रम मे अपनी एक विशेषता होती है। जिसमें जितनी अधिक विशेषता होगी वह उतना ही कुशल श्रम समझा जाता है, परन्तु अर्थशास्त्र मे इन शब्दो के विशेष अर्थ होते है। कुशल श्रम प्राय मानसिक श्रम का पर्यायवाची शब्द है। वह श्रम जिसमे सोच-विचार व अध्ययन की आवश्यकता होती है, जैसे इन्जीनियरी, डाक्टरी इत्यादि, उसे कुशल श्रम कहते है। इसके विपरीत

अकुशल श्रम शारीरिक श्रम का ही दूसरा नाम है। इसमें अधिक मानसिक व्यायाम की व अध्ययन की आवश्यकता नही होती। कुली, बैरे, चपरासी इत्यादि का श्रम अकुशल श्रम कहलाता है।

(२) उत्पादक और अनुत्पादक श्रम —श्रम के इस भेद पर काफी वाद-विवाद होता रहा है। १८वी शताब्दी के फिजियोक्रेट्स ने सबसे प्रथम इस प्रश्न को उठाया था। उनके मतानुसार केवल कृषक का श्रम ही उत्पादक श्रम था और अन्य सब अनुत्पादक। इसकी प्रतिक्रिया हुई और फिर दूसरे पक्ष ने केवल दुकानदारो या व्यापारियो का श्रम ही एकमात्र उत्पादक श्रम माना। एडम स्मिथ व उनके साथियो के मत से उत्पादक श्रम में कुछ भौतिक पदार्थ की उत्पत्ति आवश्यक थी। अध्यापको, सगीतज्ञो इत्यादि का श्रम उनकी दृष्टि में अनुत्पादक श्रम था।

उत्पादक और अनुत्पादक शब्द श्रम के परिणाम की ओर सकेत करते है। प्राय: प्रत्येक प्रकार के श्रम का उद्देश्य 'उत्पत्ति' होता है। इस दृष्टि से प्राय सभी श्रम उत्पादक श्रम कहे जायेंगे। परन्तु यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि श्रम के उद्देश्य की पूर्ति न हुई तो क्या श्रम उत्पादक कहा जायेगा? आचार्य मार्शल उस श्रम को उत्पादक श्रम नही कहते है जिसके उद्देश्य की पूर्ति न हुई हो। यदि १०० मजूरो से एक इमारत बनाने का काम लिया जाय परन्तु प्रयोग में आने से पहले ही इमारत टूट जाय तो मार्शल के मत से उन १०० मजूरो का श्रम अनुत्पादक श्रम है। परन्तु आधुनिक मत इससे भिन्न है।

आधुनिक अर्थशास्त्रियो का कथन है कि उन १०० मजूरो को उनके श्रम के बदले में मजूरी दी गई जिससे उनकी आवश्यकताओ की तृप्ति होती है, उससे उनकी क्रय-शक्ति बढती है अर्थात् वस्तुओ की माँग बढती है जिसके फलस्वरूप उत्पादन केन्द्रो में उत्पादन की मात्रा बढती है। तात्पर्य यह है कि १०० मजूरो के श्रम के परिणामस्वरूप उत्पादन मे अवश्य वृद्धि हुई है, अतएव उनका श्रम अवश्य उत्पादक श्रम है। यदि श्रम के अन्त में कुछ पुरस्कार मिलता है या किसी अन्य रूप में धन की प्राप्ति होती है जिससे आवश्यकता की पूर्ति और सन्तोष होता है तो वह श्रम उत्पादक श्रम है अन्यथा वह श्रम की कोटि में आ ही नही सकता। इसके अनुसार समाज को हानि पहुँचानेवाले चोर, डाकुओ, ठगो इत्यादि का श्रम भी उत्पादक श्रम है और अर्थशास्त्र उसका भी अध्ययन करता है क्योकि वह रीति या आचार का नही वरन् परिणाम या फल का अध्ययन करता है।

दूसरी ओर ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से विदित होगा कि वह क्रिया जिसके करने से उत्पत्ति नही होती वरन् उसमें ह्रास होता है उत्पादन

न होकर उपभोग की क्रिया कहलाती है। अतएव वह श्रम जिससे उपयोगिता मे ह्रास होता है उपभोग क्रिया हुई, न कि अनुत्पादक श्रम।

श्रम और भूमि —श्रम और भूमि दोनो ही उत्पादन के महत्त्वपूर्ण अग है। उत्पादन तभी सम्भव हो सकता है जब दोनो अगो का प्रयोग किया जाय। 'श्रम' और 'भूमि' दोनो का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। परन्तु दोनो मे विशेष अन्तर भी है।

भूमि 'प्राकृतिक देन' कही गयी है। अतएव भूमि को उत्पन्न नही किया जा सकता और इस कारण उस पर उत्पादन व्यय भी कुछ नही होता है। श्रम की उत्पत्ति सम्भव है और उसके उत्पादन में व्यय भी होता है। भूमि स्थायी वस्तु है। उसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर नही ले जाया जा सकता। इसके विपरीत श्रम गतिशील है। उसे अनावश्यक स्थानो से उन स्थानो पर ले जाया जा सकता है जहाँ उसकी आवश्यकता हो। इससे उसका महत्त्व वढ जाता है और उत्पादन पर पर्याप्त प्रभाव पडता है। भूमि अविनाशी है। मनुष्य उसका नाश नही कर सकता है। वह केवल उसका रूप बदलकर उसकी उपयोगिता में वृद्धि कर सकता है परन्तु श्रम नाशवान् है। इसे भविष्य के प्रयोग के हेतु सचित नही किया जा सकता। भूमि की उपयोगिता में तो मनुष्य परिवर्तन कर सकता है परन्तु उसको घटाना-बढाना उसकी शक्ति के बाहर है। श्रम को घटाया-बढाया जा सकता है। प्राय अकुशल श्रमिक को ट्रेनिंग देकर कुशल श्रमिक बनाया जाता है जिसका तात्पर्य श्रमिक के पूर्व श्रम मे वृद्धि है। 'भूमि' के अध्याय में यह बताया गया है कि भूमि उत्पादन कार्य में सक्रिय भाग नही लेती है वरन् एक साधन मात्र बनी रहती है। परन्तु श्रम इसके विपरीत उत्पादन में सक्रिय भाग लेता है। भूमि पर जब श्रम का प्रयोग किया जाता है तभी उत्पादन सम्भव होता है, पृथक् करने से श्रम और भूमि दोनो निष्क्रिय रहते है।

उक्त विवेचन से यह विदित होता है कि श्रम और भूमि में उत्पादन की दृष्टि से गहरा सम्बन्ध होते हुए भी दोनो के लक्षणो में पर्याप्त असमानता है।

श्रम और पूंजी —'पूँजी' के अध्याय में यह बताया जायेगा कि पूंजी के मूल में श्रम ही है। मनुष्य अपने श्रम और भूमि का प्रयोग करके सम्पत्ति उत्पन्न करता है। जब यह सम्पत्ति और अधिक उत्पादन में लगायी जाती है तो पूंजी कहलाती है। परन्तु हम नीचे श्रम और पूंजी के मुख्य अन्तर का संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

श्रम गतिशील है पर पूर्णतया नही। यद्यपि श्रमिक से अविच्छिन्न सम्बन्ध होने से श्रम उत्पादन के केन्द्रो के प्रति आकर्षित होता है परन्तु

श्रमिक की इच्छा का प्रभाव भी उस पर कम नहीं होता। पूंजी श्रम से कहीं अधिक गतिशील है। जहां पूंजी होगी वहां उत्पादन होगा और जहां उत्पादन होगा वहां श्रम का होना आवश्यक है। यदि केवल श्रम ही हो, पूंजी नहीं, तो उत्पादन नहीं हो सकता; जैसे भारतवर्ष के अनेक भागों में श्रम की अधिकता है परन्तु पूंजी न होने से श्रम व्यर्थ नष्ट होता है। यह श्रम की अपूर्ण गतिशीलता का परिणाम है जब कि उसी प्रकार एक स्थान पर श्रम की अपेक्षा पूंजी अधिक हो तो पूंजी का पूर्ण उपयोग करने के हेतु उसे देश के किसी भी कोने में भेज सकते हैं। भारतवर्ष का श्रम इंगलैण्ड के उद्योग-धन्धों में प्रयुक्त नहीं हो सकता है जब कि वहां की पूंजी भारत के अनेक भागों में रेल, जलयान, खानों तथा बड़े उद्योगों व बैंकों के हिस्सों (Shares) में लगी है। यह उसकी गतिशीलता का फल है।

श्रम अतिशीघ्र नष्ट हो जाता है। यदि श्रमिक एक घण्टे अपने श्रम का प्रयोग न करके चुपचाप बैठा रहे तो मनुष्य की कोई शक्ति उस एक घण्टे के नष्ट हुए श्रम को लौटा नहीं सकती है। मनुष्य अपने श्रम को संचित करके सुरक्षित भी नहीं रख सकता है। श्रम का संचय उसके प्रयोग के द्वारा ही किया जा सकता है जिसका रूप सम्पत्ति होता है। पूंजी शीघ्र नष्ट नहीं होती है क्योंकि उसका संचय किया जा सकता है। अपने संचित रूप में पूंजी सम्पत्ति कहलाती है जिसका समयानुसार तथा इच्छानुसार प्रयोग किया जा सकता है। जुलाहे का कर्घा कपास के अभाव में कुछ समय तक सम्पत्ति अथवा निष्क्रिय पूंजी के रूप में रह सकता है परन्तु कपास मिलते ही वर्ष के किसी भी भाग में जुलाहा उससे कपड़ा बुनता दिखायी देगा। समयानुसार पूंजी की कार्यक्षमता अपने संचित हो सकने के कारण भी बढ़ जाती है।

दीर्घकालीन दृष्टिकोण से श्रम और पूंजी दोनों नष्ट हो जाते हैं अथवा दोनों सम्पत्ति के रूप में अपनी निष्क्रिय अवस्था में पड़े रहते हैं। परन्तु यदि श्रमिक की बीमारी के कारण या मृत्यु से श्रम में कमी आ जाती है तो इसकी पूर्ति शीघ्र नये श्रमिक की नियुक्ति करके की जा सकती है। यदि किसी कारखाने की मुख्य मशीन जो पूंजी है आग लगने या किसी अन्य कारण से नष्ट हो जाती है तो उसकी क्षति-पूर्ति में अधिक समय लग सकता है या संभव हो वह पूंजी उपलब्ध ही न हो सके और इस प्रकार पूंजी नष्ट हो सकती है।

यह कहा जा चुका है कि पूंजी अपने क्रियाशील रूप में उत्पादन करती है और श्रम भी। परन्तु यदि किसी उद्योग-धन्धे में कई हिस्सेदारों की पूंजी लगी है और वह उद्योग-धन्धा किन्हीं कारणों से असफल हो जाय

तो पूंजी की अधिकांश मात्रा वापस प्राप्त की जा सकती है। बीमा कम्पनियों ने इस पक्ष को और भी जान दे दी है। यदि आग लगने या जहाज डूबने से किसी व्यापारी या पूंजीपति की बडी हानि हो जाती है तो बीमा कम्पनियो से उस हानि की बहुत कुछ पूर्ति भी हो जाती है। परन्तु श्रम असफल होकर या श्रम नष्ट होकर फिर वापस नही किया जा सकता। बैंक की आर्थिक स्थिति आशाजनक न होने से मनुष्य अपनी पूंजी को वहाँ से निकालकर किसी दूसरे बैंक में या व्यापार इत्यादि में लगा सकते हैं परन्तु यदि कोई श्रमिक अपने श्रम से एक दीवाल खडी करे पर वह दीवाल किसी कारण से ढहने लगे तो श्रमिक उसके निर्माण में लगाये अपने श्रम को वापस नही ले सकता है। श्रमिक की मृत्यु या उसके अपगु हो जाने के कारण भी श्रम की प्राप्ति हो सकना असम्भव है।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया होगा कि श्रम और पूंजी में आन्तरिक समानता होते हुए भी पर्याप्त अन्तर है जिसका अनुमान भारत की आर्थिक दशा को देखकर लगाया जा सकता है। भारत में श्रम की अधिकता है और पूंजी की कमी है जिसका परिणाम श्रमिको की असह्य निर्धनता और भारत की आर्थिक स्थिति की दुर्बलता है। किसी भी देश की उन्नति के लिये पूंजी और श्रम का पर्याप्त मात्रा में होना अत्यन्त आवश्यक है।

अभ्यास के प्रश्न

१. उत्पादन में श्रम का क्या महत्त्व है? 'श्रम की पूर्ति' का अर्थ समझाइये।
२ उत्पादक और अनुत्पादक श्रम में अन्तर समझाइये। क्या यह अन्तर उत्पादन-क्रिया के लिये महत्त्वपूर्ण है?
३. श्रम के मुख्य लक्षणो को समझाइये और भूमि तथा पूंजी से श्रम की तुलना कीजिये।

अध्याय ४१

जनसंख्या के सिद्धान्त

जनसंख्या की घटती-बढती का समाज के आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और नैतिक वातावरण पर बहुत प्रभाव पड़ता है। जनसंख्या किसी भी देश की महत्त्वपूर्ण सम्पत्ति है। जनसंख्या का घटना-बढ़ना एक प्राकृतिक क्रिया है और मनुष्य दूसरे मनुष्य के जन्म का विरोध नही कर सकता है। परन्तु बहुत से विद्वानो ने समाज के इस पक्ष का अध्ययन किया है और समाज की उन्नति का जनसख्या की घटती-बढती से सम्बन्ध खोज निकाला है। उनमें से विशेषकर माल्थस का सिद्धान्त अधिक प्रसिद्ध है।

माल्थस अपने समय का अर्थशास्त्र और राजनीति का प्रसिद्ध विद्वान् था। उससे पहले नेपोलियन की शक्ति से टक्कर ले-लेकर योरोप का आर्थिक ढाँचा ही बदल गया था। उसके बाद औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) ने विशेषकर इगलैण्ड में एक हलचल सी मचा दी थी। बेकारी और भुखमरी की सख्या बढती जा रही थी परन्तु उसके साथ ही जनसख्या में भी निरन्तर वृद्धि हो रही थी। मनुष्य को जीवित रहने के लिये भोजन की आवश्यकता होती है परन्तु तब बढती जनसख्या को जीवित रखने के लिये खाद्य-पदार्थों इत्यादि का उत्पादन आवश्यकता से बहुत कम था। माल्थस ने इस स्थिति पर विचार किया और इतिहास से अपने विचारो की पुष्टि करने के लिये प्रमाण खोज निकाले। वह इगलैण्ड की बढती हुई जनसख्या के भयंकर परिणामो से जनता को सावधान कर उसकी रक्षा करना चाहता था। सन् १७९८ में इसी विचार से प्रेरित होकर उसने जनसख्या सम्बन्धी अपने मत को "जनसख्या के सिद्धान्त" (Principles of Population) नामक एक निबन्ध के रूप में प्रकाशित किया।

माल्थस का सिद्धान्त —माल्थस के अनुसार जनसख्या जीवित रहने के साधनो की अपेक्षा अधिक शीघ्र बढती है। इसको स्पष्ट करने के लिये उन्होने कहा कि जनसख्या की वृद्धि ज्यामितिक वृद्धि (Geometrical Progression) के अनुसार बढती है अर्थात् २, ४, ८, १६, ३२ की गति से, और जीवित रहने के साधन मुख्यत खाद्यान्न में वृद्धि अकगणित वृद्धि (Arithmetical Progression) के अनुसार होती है अर्थात् १, २, ३, ४, ५, ६ की गति से। उन्होने इतिहास से इस कथन को

प्रमाणित किया। यदि किसी देश की जनसंख्या को दुर्भिक्ष, क्रान्ति या युद्ध इत्यादि से हानि न पहुँची और उसकी वृद्धि में किसी प्रकार की बाधा न पड़ी तो अवश्य ही कुछ समय में उस देश की जनसख्या का एक बडा भाग ऐसा हो जायेगा जिसके जीवित रहने के लिये खाद्यान्न इत्यादि सामग्री पर्याप्त न होगी। खेतो की उत्पादन-शक्ति निश्चित होती है और वे उससे अधिक एक समय में नही उपजा सकते है। साथ ही नयी भूमि में खेती करके या अन्य विधियो से उसमे कुछ वृद्धि भी की गयी तो वह जनसख्या की वृद्धि के अनुपात में बहुत कम होती है। अतएव बढती हुई जनसख्या का वह भाग उपयुक्त भोजन इत्यादि न मिलने से—अकाल पडने से—दुर्बल और रोगी होकर नष्ट हो जाता है।

इसके साथ ही उनका यह भी मत था कि यद्यपि किसी सामान्य स्थिति में तो जनसख्या में वृद्धि होती ही है परन्तु यदि मनुष्य की उस सामान्य स्थिति में अधिक वेतन और अधिक सुविधाएँ देकर कुछ सुधार किया जायेगा तो उसकी जनसख्या में वृद्धि पहले से अधिक और शीघ्र होगी। अपने रहन-सहन के स्तर में उन्नति होने से मनुष्यो मे भविष्य के प्रति विश्वास जगेगा और इस आशावाद के कारण उनको बढती हुई बच्चो की सख्या का भरण-पोषण करने की कठिनाइयो का अधिक अनुभव न होगा।

तीसरी मुख्य बात माल्थस ने जनसख्या की इस अवाछित वृद्धि को रोकने के विषय में कही। उनका मत था कि यदि मनुष्य अपनी जनसख्या को अबाध रूप से बढ़ाते चलेगे तो अवश्य जनसख्या का एक बड़ा भाग भोजन न मिलने से, पर्याप्त देखभाल न होने से और विभिन्न रोगो से नष्ट हो जायेगा। उनका विचार था कि जब मनुष्य स्वय कुछ न करेगा तो प्रकृति स्वय यह कार्य करने लगेगी। बाढ, महामारी, युद्ध, क्रान्ति, भूकम्प और दुर्भिक्ष इत्यादि से अवाछित जनसख्या का भाग स्वय समाप्त हो जायेगा। समय-समय पर जो ये घटनाएँ होती है प्राकृतिक रूप से अनिवार्य होती है और इनका उद्देश्य जनसख्या में कमी करना होता है। माल्थस ने इन्हें 'नैसर्गिक-रोक' (Positive Checks) कहा है। जनसख्या की वृद्धि को रोकने की दूसरी विधि को 'प्रतिबन्धक-रोक' (Negative Checks) कहते है। इसके अन्तर्गत आत्मसयम, औषधियाँ इत्यादि आती है। यदि मनुष्य इतना विचारवान् हो जाय कि जनसख्या की वृद्धि से अपने परिवार या समाज का लाभ नही वरन् हानि समझ सके तो वह सयम से जीवन व्यतीत कर सकता है जिसका प्रभाव उसके स्वास्थ्य और रहन-सहन के दर्जे पर अच्छा पडेगा। भारतवर्ष में बाल-विवाह की प्रथा अब भी प्रचलित है। यद्यपि शारदा ऐक्ट के बन

आगे के उनके युग तक ही आती है परन्तु [illegible] नहीं। [illegible]
होने से व्यक्तियों को छोटी आयु में ही [illegible] है; क्योंकि
विवाह से प्रभावित होकर भी [illegible]
जनसंख्या की वृद्धि में बड़ी सहायता मिलती है। भारत [illegible]
के अनुसार छोटी आयु में विवाह करके और [illegible]
मुक्त होकर भी जनसंख्या की [illegible] वृद्धि की [illegible]।
भारतवर्ष में जन्मसंख्या और मृत्युसंख्या दोनों अधिक है। इसका कारण
यह है कि भारतवर्ष में बढ़ी हुई जनसंख्या को पोषित करने के साधन
अपर्याप्त हैं। भारतवर्ष में अनेक सामाजिक कुरीतियाँ भी फैली हुई हैं
और अंधविश्वास भी बहुत है। भारतवर्ष में इस [illegible] को दूर करने
का सबसे प्रमुख उपाय समाज को प्रतिबन्धात्मक रोक से [illegible] है।
यदि ऐसा न किया जायेगा तो [illegible] से बढ़ी हुई जनसंख्या नष्ट
हो ही जायेगी। परन्तु यहाँ हम यह ध्यान देना चाहते हैं कि माल्थस ने
अपने निबन्ध में प्रतिबन्धात्मक-रोक में [illegible] की कृत्रिम उपाय का
उल्लेख नहीं किया है। वह आत्मसंयम पर अधिक जोर देता था।
भारतवर्ष में महात्मा गांधीजी ने भी संयम का प्रचार किया था क्योंकि
उससे मनुष्य के आत्मिक बल का विकास होता है, उक्त विचारों को प्रश्रय
मिलता है और जनसंख्या पर नियन्त्रण होने के साथ ही समाज की
बहुमुखी उन्नति होती है।

यद्यपि माल्थस ने अपने सिद्धान्त को जीव-विज्ञान की सहायता से वैज्ञानिक रूप देने का प्रयत्न किया था पर वह पूर्ण तरह से सफल न हो सका। उसके अध्ययन की छाप उस सिद्धान्त में अवश्य है पर वह अपने युग से आगे की बातें, उसके परिवर्तन और मनुष्य की बदली हुई परिस्थितियो के विषय में नही सोच सका। तात्पर्य यह है कि उनकी अदूरदर्शिता के कारण उसका सिद्धान्त सकीर्ण हो गया है।

माल्थस के सिद्धान्त में जनसंख्या की वृद्धि और उसके ह्रास का सम्बन्ध जीवित रहने के साधनो अर्थात् खाद्यान्नो के अनुपात से स्थिर किया गया है। दूसरी ओर उसने यह भी बताया है कि रहन-सहन के दर्जे में थोडी सी उन्नति होने पर जनसंख्या में वृद्धि होने की प्रवृत्ति आ जाती है। माल्थस की उक्त दोनों भूलो का स्पष्टीकरण निम्नलिखित अवतरणो में किया गया है।

माल्थस के जीवनकाल मे विज्ञान की उन्नति आरम्भ ही हो रही थी। मनुष्यो का दृष्टिकोण भी सकीर्ग राष्ट्रीयता से प्रभावित था। यातायात की असुविधाओ, सम्वाद की अव्यवस्था और शिक्षा के अभाव से मनुष्य की सहिष्णुता और उसकी ग्राह्यशक्ति अविकसित रूप में थी। इन्ही सब

परिस्थितियो के बीच माल्थस स्वाभाविक ही आज के अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण की बात नही कह सकता था। उसने यह मान लिया था कि राष्ट्र अपनी सभी आवश्यकताओ की पूर्ति स्वयं अपने साधनो से करता है और राष्ट्र के सभी साधन सीमित होते है केवल जनसख्या को एक निश्चित सख्या में स्थिर नही किया जा सकता है। अतएव इसी दृष्टिकोण से अध्ययन करके माल्थस इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जनसख्या में वृद्धि खाद्यान्न की वृद्धि से अधिक और शीघ्र होती है। परन्तु आधुनिक युग विज्ञान का युग है। विज्ञान के नवीन और आश्चर्यजनक आविष्कारो से ससार का प्रत्येक देश प्रभावित है। उत्पादन की दृष्टि से प्रत्येक राष्ट्र की उत्पादन विधि, विशिष्टता (Specialisation) की ओर वढ रही है। यदि एक देश में खाद्यान्न की कमी होती है तो ठीक समय में आवश्यक खाद्यान्न का दूसरे देशो से आयात किया जा सकता है। यातायात और सवाद के साधनो से एक स्थान की कमी को शीघ्रातिशीघ्र पूरा करके अवांछित परिणाम को रोका जा सकता है। खाद्यान्न की मात्रा निश्चित नही है। उसे वढाया जा सकता है। विज्ञान की सहायता से कई सहस्र एकड बजर भूमि को उपजाऊ वनाया जा चुका है। नयी विधियो से, वैज्ञानिक खाद के प्रयोग से और सिंचाई के उचित प्रवन्ध से खेतो की उत्पादन-शक्ति को भी काफी वढाया गया है। गहरी और विस्तृत खेती करके अधिक से अधिक अन्न उगा सकने मे कई देश सफल हुए है। अमेरिका में प्रतिवर्ष कई लाख टन अनाज शराव वनानें के प्रयोग में लाया जाता है और कई लाख टन जला दिया जाता है। आलू की अधिक पैदावार को समुद्र में डुवाकर नष्ट कर दिया जाता है। इससे विदित होता है कि ससार मे अनाज की कमी नही है। उससे वढती हुई जनसख्या की पूर्ति की जा सकती है। परन्तु माल्थस ने वैज्ञानिक रीति से उत्पादन की ओर ध्यान नही दिया। उन्होने जनसख्या की समस्या को राष्ट्र की सीमा के अन्दर ही देखने का प्रयत्न किया और समाज के अन्य पक्षो के विकास की ओर ध्यान न देकर केवल जनसख्या मे वृद्धि और उत्पादन के तत्कालीन साधनो की कार्यक्षमता तक ही अपने अध्ययन को सीमित रखा। उन्होने देश की अन्य सम्पत्ति पर विचार नही किया केवल जिनकी शक्ति पर आज ससार के कुछ देश अपनी वढती जनसंख्या का निर्वाह कर रहे है। उन्होने समाज की स्थिरता पर अपनी खोज को आधारित किया, न कि हर पल परिवर्तन होनेवाले समाज पर। वर्तमान समय में यदि कोई देश अन्य उद्योग-धन्धो से पर्याप्त सम्पत्ति का अर्जन कर लेता है तो, वह अन्य देशों से अपनी जनसख्या के लिये पर्याप्त मात्रा में खाद्यान्न प्राप्त कर सकता है, जैसे इगलैण्ड। परन्तु माल्थस की दृष्टि इतनी दूर तक नही गयी।

लोगो के रहन-सहन का स्तर सदा परिवर्तित होता रहा है। समय और परिस्थिति के अनुसार उसमें परिवर्तन होता है। परन्तु माल्थस के दृष्टि-कोण से लोगो के रहन-सहन के स्तर पर शीघ्र परिवर्तित परिस्थितियो का प्रभाव नही पडता है। इसी कारण उनका मत था कि यदि एक विशेष रहन-सहन के स्तर मे मनुष्यो के वेतन में वृद्धि कर दी जाय तो उससे जनसख्या में भी वृद्धि की प्रवृत्ति होगी। पर वात वास्तव में इसके विपरीत है।

देश मे ज्ञान-विज्ञान और सम्पति की वृद्धि के साथ-साथ सभ्यता का विकास हुआ है। अधिकतर शिक्षित समाज में पुत्र का विवाह तव तक नही किया जाता है जव तक वह कुछ द्रव्य न कमा ले या उसका भविष्य उज्ज्वल न हो। प्रत्येक शिक्षित स्त्री को सुख और आनन्द का जीवन अधिक पसन्द होता है। ऐसे समाज में विवाह के पश्चात् यह प्रश्न उठता है कि उनकी गोद में वालक हो या घूमने के लिये कार। प्राय. यदि आर्थिक स्थिति अच्छी है तो कार का पक्ष जीत जाता है। मध्यवर्ग के परिवारो मे भी यही विचारधारा अपना प्रभाव जमाती जा रही है। आर्थिक स्थिति में सुधार होते ही उनकी रेडियो, कपडे इत्यादि की माँग वढ जाती है और अपने दो, तीन वच्चो को उच्च शिक्षा का विचार आता है। तात्पर्य यह है कि सम्पत्ति में वृद्धि के साथ ही सभ्य समाज सुख और आनन्द में वृद्धि चाहता है, न कि परिवार की सख्या में। पाश्चात्य देशो में इस ओर विशेष प्रगति हुई है। यहाँ तक कि कुछ देशो में जनसख्या में वृद्धि की आवश्यकता का अनुभव हुआ है। पाश्चात्य देशो के रहन-सहन का स्तर काफी ऊँचा है और माल्थस के सिद्धान्तानुसार वहाँ की जनसख्या में पर्याप्त वृद्धि होनी चाहिये थी, पर नही हुई।

आधुनिक काल में राष्ट्रो का ध्यान जनता को शिक्षित वनाने की ओर है। यदि यह योजना सफल हो जायेगी तो निकट भविष्य में वे निर्धन परिवार जिन पर अधिक सन्तानोत्पत्ति करने का आरोप लगाया जाता है सभ्य समाज के उक्त दृष्टिकोण को शीघ्र अपना लेंगे इसमें किंचित् मात्र भी सन्देह नही है। उनमें जनसख्या की वृद्धि का कारण उनकी गिरी हुई आर्थिक अवस्था है जिसने उन्हे जीवन की आशाओ के प्रति निराशावादी वना दिया है। इसीलिये उनका प्रधान तर्क यह होता है कि "भगवान् की देन कौन रोक सकता है, जिसने पेट दिया है वह उसका प्रवन्ध भी करेगा।" समाज के एक वडे भाग की आत्मसम्मानहीन इस भावना को दूर करने का ससार के अनेक देशो ने प्रयत्न किया है और समाज को वर्ग-विहीन वनाने और सम-वितरण करने की ओर उनके प्रयत्न सफल हो रहे हैं। तात्पर्य यह है कि सभ्यता और शिक्षा के प्रसार से,

उच्चाभिलाषाओ और आत्मसम्मान की भावना से निकट भविष्य में 'छोटा और सुखी परिवार' के आदर्श को ये स्वय अपनाने लगेंगे।

अधिकतम जनसंख्या का सिद्धान्त

(Optimum Theory of Population)

जनसख्या के आधुनिक सिद्धान्त को 'अधिकतम जनसख्या का सिद्धान्त' कहते है। माल्थस ने अपने सिद्धान्त में जनसख्या का सीधा सम्बन्ध खाद्यान्न की मात्रा से स्थापित किया था। देश की सम्पत्ति के अन्य स्रोतो को त्याग देने से उनका सिद्धान्त सकीर्ण हो गया। परन्तु आधुनिक जनसख्या के सिद्धान्त के अनुसार देश की अधिकतम जनसख्या उस देश की आय के कुल स्रोतो पर निर्भर है। इसके अनुसार मनुष्य के उपभोग की वस्तुओ के परिमाण इत्यादि का अध्ययन नही किया जाता है वरन् मनुष्य की कुल उत्पादन शक्ति (Total Productivity) का अध्ययन किया जाता है। किसी भी देश की वास्तविक आय उस देश के श्रम-कौशल पर और उसकी क्षमता पर निर्भर होती है। यह सिद्धान्त माल्थस के सिद्धान्त से अधिक वैज्ञानिक और आशावादी सिद्धान्त है।

आधुनिक अर्थशास्त्रियो के मत से अधिकतम जनसख्या उसे कहते है जो किसी देश के सम्पूर्ण प्राकृतिक साधनो का अधिकतम उपयोग कर सके। प्रत्येक देश के प्राकृतिक साधनो का परिमाण, उनकी अधिकतम उपयोगिता, उनकी स्थिति इत्यादि विभिन्न होते है। इसलिये यह नही कहा जा सकता है कि अधिकतम जनसख्या कितनी होनी चाहिये वरन् यह कहना अधिक उचित होगा कि किसी देश की एक जनसख्या अपने आर्थिक विकास के विशेष स्तर पर अपने ज्ञान-विज्ञान की सहायता से यदि उस देश के प्राकृतिक साधनो का अधिकतम उपयोग कर सकती है तो वह उस देश की अधिकतम जनसख्या होगी। यदि जनसख्या इससे कम है तो प्राकृतिक साधनो का पूर्ण उपयोग नही किया जा सकेगा और यदि जनसख्या इससे अधिक होगी तो प्राकृतिक साधनो की कमी पड जायेगी। केवल अधिकतम जनसख्या की स्थिति में ही प्रतिव्यक्ति आमदनी भी अधिकतम होती है।

जब जनसख्या अधिकतम जनसख्या से कम होती है तब उसे 'कम जनसख्या' (Under Population) कहते है। ऐसी स्थिति में देश के अधिकाश प्राकृतिक साधन व्यर्थ पड़े रहते है। उनका उपयोग नही किया जा सकता है। यदि एक कम जनसख्या वाले देश में अनेक लोहे और कोयले की खानें हो तो वह उनकी उपयोगिता का लाभ नही

उठा सकते है। उनके देश को इनसे हो सकनेवाली आय से वचित रहना पडेगा और इससे उस देश मे निर्धनता होगी। प्राय नये वसनेवाले स्थानो में द्वीपो और महाद्वीपो में उक्त स्थिति होती है। आस्ट्रेलिया इत्यादि देशो में प्राकृतिक साधन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है परन्तु उनका पूरा उपयोग करने योग्य जनसख्या वहाँ नही है। वहाँ वेकारी (Unemployment) नही है परन्तु प्रतिव्यक्ति आमदनी उतनी अधिक नही है जितनी होनी चाहिये थी, क्योकि कुल आय कम है।

जब जनसख्या अधिकतम जनसख्या से अधिक होती है तव उसे 'अधिक जनसख्या' (Over-population) कहते है। इस स्थिति में प्राकृतिक साधनो की कमी हो जायेगी। जनसख्या के अनुपात मे भूमि इत्यादि न होगी। इससे वेकारी भी होगी और अनेक प्रत्येक साधन की उत्पादन-शक्ति भी कम होगी। अतएव देश की कुल आय कम होगी और प्रति-व्यक्ति की आमदनी भी कम होगी। ऐसी स्थिति मे देश में निर्धनता फैलती है। इससे समाज में ईर्ष्या, असन्तोष फैलते है। युद्ध और रोग-व्याधि के साथ ही मृत्युसख्या भी वढती है।

परन्तु इनके आधार पर किसी देश को कम जनसख्या या अधिक जनसख्या वाला एकदम नही कह सकते है। किसी भी देश की जन-सख्या की स्थिति का परीक्षण करने के लिये कोई निश्चित सिद्धान्त नही है। जब हम किसी देश के उत्पादन के सभी प्राकृतिक साधनो की उप-योगिता का अनुमान लगा लें, श्रमिको की सीमान्त उत्पादन-शक्ति और उनके पारिश्रमिक इत्यादि अनेक वातो का पता लगा ले तव कही उसकी जनसख्या के विषय में अपना मत प्रकट कर सकते है। इसके साथ ही यह ध्यान देने योग्य वात है कि किसी भी देश मे उक्त दोनो में से कोई भी स्थिति स्थिर नही रहती है। अधिक और कम जनसख्या पर विचार करने के लिये साधनो पर भी विचार करना आवश्यक है। यदि आस्ट्रेलिया में ससार भर से वेकारो में से कुछ श्रमिक चले जायँ और वहाँ के प्राकृतिक साधनो की कुल उत्पादन शक्ति वढती ही जाय तो जनसख्या में वृद्धि हो जाने से उसे अधिक जनसख्या वाला (Over-populated) देश नही कहेंगे। और यदि प्राकृतिक साधनो की उत्पादन-शक्ति में कमी हुई तो वहाँ की जनसख्या अवश्य अधिक कही जायेगी। पहली स्थिति में वेकारी नही होगी पर कुल आय कम होने से प्रतिव्यक्ति आमदनी कम होगी। दूसरी स्थिति में वेकारी होगी और प्रतिव्यक्ति आमदनी भी कम होगी। युद्ध के दिनो मे भारतवर्ष को कम जनसख्या वाला देश कहा जाता था क्योकि इसके सिपाहियो की माँग अधिक थी और साधनो का पूर्ण उपयोग नही हो पाता था। परन्तु युद्ध के पश्चात् भारतवर्ष

अधिक जनसख्या वाला देश कहा जाता है। अतएव यह निश्चित करना कठिन है कि भारतवर्ष की जनसख्या की स्थिति क्या है।

भारतवर्ष की जनसंख्या और माल्थस का सिद्धान्त :—भारतवर्ष में कुछ घटनाएँ ऐसी घटी हैं जिनके आधार पर कुछ अर्थशास्त्रियो का यह मत है कि भारतवर्ष मे माल्थस का सिद्धान्त लागू होता है। इसके निम्नलिखित कारण हैं :—

भारतवर्ष एक कृषिप्रधान देश है। परन्तु वैज्ञानिक सभ्यता का इसके कृषिक्षेत्र मे बहुत कम प्रभाव पडा है। अपनी पुरानी प्रथा के अनुसार जोतने-बोने से वे पर्याप्त खाद्यान्न की पैदावार नही कर सकते हैं। इसी कारण यहाँ की भूमि की उत्पादन-शक्ति भी बहुत कम है। भारतवर्ष में जन्मसख्या और मृत्युसंख्या दोनो अधिक हैं। अधिकाश परिवार बडे हैं। सामाजिक कुरीतियो और अधविश्वास से यहाँ बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित है जिससे कम आयु मे बालक उत्पन्न होने से बहुत दुर्बल होता है। माँ का स्वास्थ्य किसी भी प्रकार अच्छा नही कहा जा सकता है। वह अपनी कुल आयु १०, ११ बच्चो को सँभालने में ही बिता देती है। आर्थिक स्थिति शोचनीय होने से अधिकतर बाल-मृत्यु होती है, बाल-विधवाओ की सख्या भी बहुत है। इसके साथ ही बगाल का दुर्भिक्ष, आपसी झगडे, साम्प्रदायिक दगे, विभिन्न प्रकार की बीमारियाँ इत्यादि को देखने से विदित होता है कि माल्थस का जनसख्या का सिद्धान्त पूर्णतया गलत नही था। उसमें अवश्य कुछ सच्चाई थी जिसके प्रमाण भारतवर्ष की घटनाओ से मिल सकते हैं।

भारतवर्ष में शिक्षा का बहुत कम प्रचार हो सका है। अधिकतर जनता प्राचीन परम्परा के अनुसार ही जीवन बिताती है। उसके रहन-सहन के स्तर में परिवर्तन बहुत देर में होता है। बहुत कम शिक्षित परिवारो का रहन-सहन का दर्जा ऊँचा उठा है अन्यथा आर्थिक स्थिति मे पर्याप्त सुधार हो जाने के पश्चात् भी भारतवासी अपनी प्राचीन रीति से रहना ही उचित समझता है। वह जीवन का बहुमुखी विकास करने मे अपने द्रव्य को व्यय न करके धार्मिक और सामाजिक रीति-रिवाजो मे व्यय करता है। इससे उसका वातावरण और दृष्टिकोण सकीर्ण होता जाता है। नये आदर्शों के प्रति उसे घृणा होती है और सन्तान को भगवान् की देन समझकर प्रसन्न रहता है। सामाजिक कुरीतियो को जीवित रखकर अधिकतर बेकारी, भुखमरी इत्यादि मे जीवन व्यतीत करता ह। इन्ही सब कारणो से माल्थस के सिद्धान्त की अधिकतर बातें भारत में लागू होती है।

परन्तु अब यह भी विश्वास किया जाने लगा है कि माल्थस का सिद्धान्त सारे ससार पर भी लागू हो सकता है। ससार भर की सारी

खाद्यान्न मात्रा सारे प्राणियो के लिये पर्याप्त नही होगी। इस ओर यू० एन० ओ० के Population Inquiry Committee ने खोज की है और दो विचार विश्व के सामने रखे हैं।

पहली विचारधारा के अनुसार उनका मत है कि यदि ससार के लोग एशिया के रहन-सहन के स्तर से जीवन व्यतीत करें तो भी माल्थस का सिद्धान्त कुछ समय बाद अवश्य लागू होगा। ससार भर मे जितना अन्न पैदा होता है वह केवल २८० करोड आदमियो के लिये ही पर्याप्त होगा। परन्तु ससार में इस समय २४० करोड व्यक्ति हैं और २ करोड व्यक्ति प्रतिवर्ष बढ रहे हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि बहुत शीघ्र ससार की जनसख्या खाद्यान्न की कुल मात्रा से कही अधिक बढ जायेगी और सारे ससार में माल्थस का निराशावादी सिद्धान्त लागू हो जायेगा।

दूसरी विचारधारा के अनुसार उनका मत है कि यदि मनुष्य वैज्ञानिक विधियो से भूमि की उत्पादन-शक्ति में पर्याप्त वृद्धि कर ले तो ससार भर में कुल इतना खाद्यान्न उत्पन्न हो सकता है जिससे न्यूनतम ७७० करोड व्यक्तियो और अधिकतम ६,००० करोड व्यक्तियो की आवश्यकता की पूर्ति की जा सकती है। यदि यह विचार मान लिया जाय तो माल्थस का निराशावादी सिद्धान्त लागू नही हो सकता है।

अभ्यास के प्रश्न

१ जनसख्या का श्रम के दृष्टिकोण से क्या महत्त्व है ? सक्षेप में समझाइये।

२. माल्थस के जनसख्या के सिद्धान्त का वर्णन कीजिये। आधुनिक दृष्टिकोण से यह सिद्धान्त किस सीमा तक मान्य है ?

३ यह बतलाइये कि माल्थस का जनसख्या का सिद्धान्त भारतवर्ष में कहाँ तक लागू होता है ? उदाहरण देकर समझाइये।

४ अधिकतम जनसख्या के सिद्धान्त को समझाइये और यह बतलाइये कि यह माल्थस के सिद्धान्त से किस प्रकार श्रेष्ठ है ?

अध्याय ४२

जनसंख्या

अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से जनसंख्या की घटती-बढती का विशेष महत्त्व है। प्रत्येक देश की जनसख्या उसकी प्राकृतिक स्थिति, उसके क्षेत्रफल और उसकी उत्पादन-शक्ति के अनुसार विभिन्न है, परन्तु वह स्थिर नही है। प्राकृतिक और अप्राकृतिक रीतियो से उसमे सदा वृद्धि और ह्रास होता रहता है। युद्ध, विश्व-युद्ध, महामारी, भूकम्प, बाढ और दुर्भिक्ष इत्यादि से प्रतिवर्ष ससार की कुल जनसख्या का एक बडा भाग नष्ट हो जाता है परन्तु उसमें दूसरी ओर जन्मसख्या के बढने से उतनी ही या उससे अधिक वृद्धि हो जाती है। प्रकृति का यह नियम है कि किसी भी वस्तु या शक्ति को पूर्णतया नष्ट नही किया जा सकता है। विनाश की कोख से ही निर्माण का जन्म होता है। अतएव हमें यह जानना आवश्यक है कि किसी भी देश की जनसख्या किन बातो पर निर्भर करती है। स्थूल रूप से जनसख्या चार बातो पर निर्भर है :—(१) जन्मसख्या (२) मृत्युसख्या (३) आवास (४) प्रवास। इन चारो बातो को भी अनेक कारण प्रभावित करते है जिनका निम्नलिखित वर्णन किया गया है —

जलवायु —किसी भी स्थान की जलवायु का वहाँ के सम्पूर्ण वातावरण पर प्रभाव होता है। समाज के बहुत से नियम और परम्पराएँ इसी पर आधारित होती है। इसका सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव देश की उत्पादन-शक्ति पर पडता है। अत्यन्त गर्म प्रदेश में मनुष्य के उपयुक्त परिस्थितियाँ नही होती है, वह अधिक समय तक रेगिस्तान या अफ्रीका के घने वन-प्रदेश में जीवित नही रह सकता है और न उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव प्रदेशो की हिम से ढकी भूमि पर ही बस सकता है। अतएव जिस प्रदेश की जलवायु अधिक गर्म या अधिक ठडी होगी वहाँ मनुष्यो की सख्या न्यूनतम होगी। उसकी सख्या उन्ही प्रदेशो में अधिक होती है जहाँ न अधिक गर्म है न अधिक शीत वरन् ऋतुएँ अपने क्रम से आती-जाती रहती है। ऐसे प्रदेशो के मनुष्यो मे स्फूर्ति की मात्रा अधिक होती है, वे अधिक काम कर सकते है, दिन के अधिकाश भाग को उत्पादन कार्यों में ही व्यतीत कर अपनी कार्यक्षमता और कार्यकुशलता में पर्याप्त वृद्धि कर सकते है और जीवित रहने के साधनो का सग्रह भी सरलता से कर सकते है। अन्य अनुपयुक्त प्रदेशो से मनुष्य सदा ऐसे भागो में ही आकर बसने का प्रयत्न करते है, इससे जनसख्या में वृद्धि होती है और साथ ही जन्मसख्या में।

धार्मिक तथा सामाजिक रीति रिवाज :—जनसंख्या की वृद्धि होने के पर्याप्त कारण उस प्रदेश के धर्म और सामाजिक रीतियों में भी पाये जाते हैं। धर्म और रूढ़ि अति प्राचीन हैं जब न आधुनिक रूप में मानसिक प्रगति हो सकी थी, न वैज्ञानिक। उनकी आवश्यकताएँ इनसे भिन्न थीं। धर्म और सामाजिक रीतियाँ उन्होंने अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप निर्धारित की थीं। परन्तु आधुनिक समाज अब भी बिल्कुल भिन्न परिस्थितियों में उन्हीं के अनुसार जीवन व्यतीत करने का प्रयत्न करता है। भारतवर्ष मे बड़े परिवार को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। जिस व्यक्ति के अधिक पुत्र हों वह भूखा रहने पर भी अत्यन्त भाग्यशाली माना जाता है और प्रत्येक व्यक्ति का कम से कम एक पुत्र होना आवश्यक है अन्यथा धार्मिक दृष्टिकोण से उसकी आत्मा को शान्ति नहीं मिल सकती है और वह धार्मिक क्रियाओ के पूर्ण न होने से मोक्ष का अधिकारी नही होता है। तात्पर्य यह है कि उसको सन्तानोत्पत्ति करना आवश्यक होता है और पुत्र प्राप्ति के लिये दो, तीन विवाह तक किये जा सकते हैं। मुसलमानो मे चार विवाह तक करने धार्मिक दृष्टि से अनुचित नही माने जाते हैं। प्राय. इस विश्वास और रीति का मुख्य अर्थ सन्तानोत्पत्ति करके जनसख्या बढाना होता है। इसीके साथ बाल-विवाह भारतवर्ष की अपनी विशेषता है। कानून का भय भी इस प्रथा में कुछ अन्तर नही डाल सका है। चौदह से सोलह वर्ष के अन्दर ही भारतवर्ष की अनेक लड़कियाँ माँ बन जाती हैं और अपने जीवनकाल मे कई बच्चो की माँ बन जाना उनके लिये साधारण सी बात है। आर्थिक अभाव से मनुष्यो का जीवन के प्रति एक निराशावादी दृष्टिकोण पनपने लगता है, सघर्ष और बारम्बार प्रताडित होते रहकर भी उनमें साहसी-प्रवृत्ति जाग जाती है, वे परिणाम सोचे बिना कार्य करने लगते हैं। इस प्रवृत्ति का प्रभाव जन्मसख्या बढाने में विशेष सहायक हुआ है। 'भगवान् की देन' और 'भाग्य का लिखा' यह दो वाक्याश बढती हुई जनसख्या के दुष्परिणामो की ओर से उनका ध्यान हटा देते है।

रहन-सहन का स्तर—योरोप केअधिकाश देशो मे रहन-सहन के स्तर का विशेष ध्यान रखा जाता है। वहाँ के मनुष्य प्राय अपने आराम की, वैभव-विलास की और प्रतिष्ठा को बढानेवाली वस्तुओ को प्राप्त करने और उनका अधिक उत्पादन करने का प्रयत्न करते रहते है। शारीरिक सौन्दर्य और शारीरिक सुख उनकी दृष्टि में प्रधान होते हैं जिससे उनकी सभ्यता का विकास एक विशेष प्रकार से होता है जिसे भौतिक-वादी सभ्यता कहकर भारतीय समाज उससे पृथक् रहना चाहता है। रहन-सहन के स्तर को निरन्तर बढाने की प्रवृत्ति से स्वभावत परिवार को

छोटा और सुखी बनाने का आदर्श सामने रहता है। विवाह के पश्चात् सबसे पहला प्रश्न समाज में अपनी आर्थिक स्थिति को दृढ और सम्माननीय बनाने का होता है, सुन्दर बगला, कारें और बैंक-बैलैन्स की चिन्ता होती है और बच्चे का ध्यान सदैव गौण रहता है। इससे वहाँ जन्मसख्या सीमित होती है। परन्तु भारत और एशिया के अन्य देशो में स्थिति बिल्कुल इसके विपरीत है। इन प्रदेशों में रहन-सहन के स्तर की ओर विशेष ध्यान नही दिया जाता है। अधिक सम्पत्ति का अर्जन करने के पश्चात् भी उनके जीवन के भौतिकवादी पक्ष में प्रभावोत्पादक परिवर्तन नही होने पाता। इन प्रदेशो की धार्मिक और सामाजिक रूढियो की कट्टरता से जन्मसख्या में वृद्धि होती रहती है। विवाह के बाद परिवार के अन्य सदस्य बालक को देखने को लालायित रहते है, आशीर्वाद में स्त्री को 'पुत्रवती' ही कहा जाता है। सामाजिक आदर्शों में यद्यपि स्त्री को अत्यन्त सम्माननीय स्थान दिया गया है परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उसका कार्य अधिक बच्चो की माँ बनने के सिवाय अधिक कुछ नही है। समाज उस स्त्री को जिससे सन्तान उत्पन्न नही होती है स्त्री होते हुए भी आदर की दृष्टि से नही देखता है और प्राय उसके सुख-दुख की भी विशेष चिन्ता नही की जाती है। इस प्रकार भी जन्मसख्या की निरन्तर वृद्धि को प्रोत्साहन मिलता है।

राजनैतिक कारण:—देश की सुरक्षा वहाँ के निवासियो की सख्या पर भी निर्भर होती है। आधुनिक युद्धो मे मनुष्यसख्या का विशेष महत्त्व होता है। इन्ही युद्धो की आवश्यकता के लिये जर्मनी, इटली इत्यादि देशो ने अपनी जनसख्या को बढाने के लिये आन्दोलन किया; बडे परिवारो को सरकारी सहायता इत्यादि देकर विशेष प्रोत्साहन दिया। कुछ प्रदेशो में वहाँ के उत्पादन के प्राकृतिक साधनो का अधिक उपयोग करने के लिये, युद्ध सामग्री का अधिक उत्पादन करने के लिये जन्मसख्या को बढाने में उन राज्यो ने काफी व्यय भी किया।

औद्योगिक विकास—प्राय उत्पादन केन्द्रो में पर्याप्त श्रमिक न मिलने से यह आवश्यक हो जाता है कि श्रमिको को सन्तानोत्पत्ति के लिये प्रोत्साहन दिया जाय। बहुत से ऐसे उत्पादन केन्द्र होते है जहाँ श्रमिक नहीं जाना चाहते है। श्रम पूर्णतया गतिशील नही है परन्तु औद्योगिक विकास के हेतु श्रमिको की सख्या मे वृद्धि होना आवश्यक है; इसी प्रकार कम बसे हुए प्रदेशो मे जहाँ उत्पादन के प्राकृतिक साधनो की बहुतायत है, वहाँ के निवासियो को सन्तानोत्पत्ति के लिये प्रोत्साहन दिया जाता है।

आर्थिक स्थिति:—निर्धनो पर यह आरोप लगाया जाता है कि जनसख्या में वृद्धि करने की सारी प्रवृत्तियाँ उन्ही में पाई जाती है। परन्तु

यदि निर्धनो की इस प्रवृत्ति का विश्लेषण किया जाय तो यह भी विदित होता है कि सन्तानोत्पत्ति अधिक करने का प्रमुख कारण उनकी शोचनीय आर्थिक स्थिति होती है। अपने श्रम से भरण-पोषण न कर सकने पर उन्हें अपने छोटे-छोटे बच्चो तक को मजूरी करने भेजना पडता है। वे सदा यह चाहते हैं कि यदि एक लडका और होता तो वह द्रव्य की अमुक मात्रा की सहायता कर सकता। इसके साथ ही बुढापे के सहारे की इच्छा भी इस ओर प्रवृत्त करती है। भगी वर्ग मे अधिक सन्तानोत्पत्ति के लिये प्रोत्साहन दिया जाता है। काम न कर सकनेवाले बच्चो को भी थोडी मात्रा में आर्थिक सहायता दी जाती है जिससे भगी-वर्ग की आय बढती है। अपनी अशिक्षित अवस्था के कारण वे अपने भविष्य की बात नही सोच सकते हैं और न अपनी स्थिति से ऊपर उठ सकने की ही उन्हे आशा होती है। इस प्रकार आर्थिक अभाव भी सन्तानोत्पत्ति में सहायक होकर जन्मसख्या में वृद्धि करता है।

शिक्षा का अभाव:—इसका सम्बन्ध रहन-सहन के स्तर से है। प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति छोटा और सुखी परिवार चाहता है, धार्मिक और सामाजिक कुरीतियो से वह अधिक दूर रहकर अपने रहन-सहन के स्तर को सदैव ऊँचा उठाकर सम्मान और प्रतिष्ठा पाने का प्रयत्न करता है। अशिक्षित व्यक्ति शीघ्र धार्मिक और सामाजिक कुरीतियो, रूढियो का शिकार बन जाता है, अन्धविश्वास उसके प्रत्येक कार्य को प्रभावित करता है और उसके रहन-सहन के स्तर में आर्थिक समृद्धि होने पर भी अधिक परिवर्तन नही होता है। यही कारण है कि भारत की जन्मसख्या ससार में सबसे अधिक है और इसी प्रकार एशिया के अन्य प्रदेशो की भी यही स्थिति है।

जनसख्या में सदैव वृद्धि ही नही होती रहती वरन् मृत्यु से उसमें ह्रास भी होता है। अतएव किसी देश की जनसख्या जानने के लिये उसकी मृत्युसख्या को जानना भी आवश्यक है जो निम्नलिखित कारणो पर निर्भर है —

सामाजिक कुरीतियाँ:—जन्मसख्या के अन्तर्गत धार्मिक तथा सामाजिक रीति-रिवाजो का वर्णन किया जा चुका है। मृत्युसख्या भी उन्ही रीति-रिवाजो पर निर्भर होती है। प्राय बाल-विवाह के परिणाम समाज के विकास के लिये बहुत हानिकारक होते है। छोटी आयु में विवाह करने से बच्चे भी शीघ्र उत्पन्न होते हैं। उनका स्वास्थ्य खराब होता है। दुर्बल होने से वे सदा किसी न किसी रोग से पीडित रहते है और अधिकतर माँ की गोद में ही मृत्यु के ग्रास बन जाते है। अशिक्षित अवस्था का भी इस स्थिति में विशेष प्रभाव पडता है। दाइयाँ प्राय अशिक्षित होती है, केवल अनुमान और अभ्यास के बल पर कार्य करती है। उनकी सख्या

भी अत्यन्त कम है। वे प्राय. गन्दे और अनुपयुक्त उपकरण सन्तानोत्पत्ति के समय व्यवहार में लाती है। सारी क्रिया अवैज्ञानिक होने से माँ और वच्चे का जीवन सदा मृत्यु के चगुल में फँसा रहता है। माँ कम आयु और अवैज्ञानिक रीतियो के व्यवहार के कारण सैप्टिक (विष फैलने) से मर जाती है। इसके साथ ही धार्मिक और सामाजिक रीतियो के अनुसार होनेवाली माँ के स्वास्थ्य तथा उसकी आवश्यकताओ की अधिक चिन्ता नही की जाती है। वह अँधेरी कोठरी में पडी कराहती रहती है परन्तु छूत इत्यादि के भय से परिवार के अन्य सदस्य दूर से ही उसका समाचार पूछते रहते हैं। भावी माँ पर इन कठोर और मूर्खता के व्यवहारो का वहुत वुरा प्रभाव पड़ता है और साथ ही वालक पर भी। इससे अधिक मृत्यु होती है।

आर्थिक स्थिति—आर्थिक स्थिति शोचनीय होने से माँ और वच्चे के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पडता है। सन्तान उत्पन्न होने के पश्चात् माँ को अनेक प्रकार के पौष्टिक भोजन की आवश्यकता होती है जिसके न मिलने से वह अनेक रोगो से पीडित होकर शीघ्र मर जाती है। वालको को पौष्टिक भोजन नही मिल पाता। माँ की दुर्वलता से वालक अधिक समय तक माँ का दूध भी नही पी पाता है वरन् माँ के रोगो के कीटाणु उसके शरीर में भी प्रवेश पा जाते है। वालको की देखभाल अच्छी प्रकार नही की जाती है जिससे उनका विकास ठीक प्रकार से नही हो पाता है, उनमे शक्ति नही होती और किसी भी रोग से शीघ्र पीड़ित हो जाते है। इनसे उत्पन्न हुई सन्तान की अवस्था का सहज मे ही अनुमान लगाया जा सकता है। आवश्यकता से कम खाने के कारण तथा पौष्टिक पदार्थ न मिलने से शारीरिक और मानसिक दुर्वलताएँ घेर लेती है, शरीर के पौष्टिक तत्वो के अभाव में वह रोगो के आक्रमण से वच नही सकते है। आर्थिक अभाव के कारण छोटे-छोटे छप्परो मे, गन्दगी और कूडे के ढेरो के बीच मे, पशुओ के साथ एक ही कमरे में रहने से मृत्युसख्या काफी रहती है। इसी आर्थिक अभाव के कारण श्रमिक अपनी स्त्री को पर्याप्त विश्राम नही दे पाता है। उसे माँ वनने के कुछ दिन पहले और माँ बनने के कुछ दिन वाद एक, डेढ सप्ताह मे मिलो, कारखानो तथा खानो मे काम करने जाना पडता है जिससे मृत्यु समीप आती जाती है।

परदा प्रथा—इस प्रथा का धार्मिक और सामाजिक महत्त्व चाहे कुछ भी हो परन्तु स्वास्थ्य के लिये यह बहुत हानिकारक प्रथा है। स्त्री के प्रति यह पुरुष का धर्म या रूढि का अनाचार कहा जा सकता है। परदे के अन्दर वन्द स्त्री की शक्ति क्षीण होती जाती है। उसे प्रायः तपेदिक इत्यादि भयकर रोग हो जाते है जिससे उसके साथ ही सारे परिवार पर,

उनका बुरा प्रभाव पडता है। यद्यपि इसका वर्णन सामाजिक कुरीतियो के अन्तर्गत किया जा सकता है परन्तु इसका पृथक् वर्णन करने का मुख्य कारण इसका प्रभाव-क्षेत्र है। यदि स्त्री समुदाय की रुग्णता का कारण खोजा जाय तो मुख्य कारण यह परदा-प्रथा है। समस्त रोगो का स्रोत यही है क्योकि स्वास्थ्य पर सबसे पहले इसी का घातक प्रहार होता है। यदि पौष्टिक भोजन न भी मिलें तो भी स्वच्छ वायु और खुले वातावरण मे मनुष्य का जीवन अधिक स्वस्थ हो सकता है, उसकी आयु बढ सकती है। स्त्री अपने इस बन्धन के साथ ही जननी भी है। माँ स्वय रोग, दुर्बलता तथा अनेको मानसिक कष्टो से घुल-घुलकर जिस पुत्र या पुत्री को जन्म देती है उनके भविष्य को भी अन्धकारमय समझना चाहिये। यद्यपि शिक्षित समाज में और श्रमिक समाज में यह प्रथा निरन्तर कम होती जा रही है परन्तु मध्यम श्रेणी के अशिक्षित परिवारो में इसका काफी प्रभाव है। यह प्रथा बुर्के के रूप में मुसलमानी-समाज में अधिक है। उनके शिक्षित परिवारो में से भी अत्यन्त न्यून सख्या में इस प्रथा का पालन नही करते है। इसके फलस्वरूप दिक इत्यादि प्रकार के रोगो से अधिकतर परिवार पीडित रहते है। मृत्युसख्या को बढाने में इस प्रथा का विशेष हाथ है।

प्राकृतिक कारण.—जनसख्या की वृद्धि को प्राय आकस्मिक प्राकृतिक कारण रोक देते है परन्तु ऐसे प्राकृतिक प्रहार थोडे समय में बहुत से प्राणियो को काल का ग्रास बना देते है। दुर्भिक्ष से मनुष्यो की एक बडी सख्या नष्ट हो जाती है । भूकम्प के कुछ मिनटो में शहर के शहर ध्वस्त खण्डहर हो जाते है। अतिवृष्टि से बाढ गाँव के गाँव वहाकर काफी सख्या में मनुष्य के प्राणो की हानि कर देती है। महामारी, हैजा, प्लेग इत्यादि प्रकार के भीषण रोगो से भी बहुत मृत्यु होती है। आधुनिक युद्ध प्रणाली से बहुत अधिक सख्या में मनुष्य मारे जाते है, मीलो तक की आबादी नष्ट हो जाती है जिसके प्रमाण प्रथम और द्वितीय महायुद्ध दे चुके है और कोरिया का युद्ध भी इसी का एक प्रमाण है। साम्प्रदायिक दगो और राजनैतिक क्रान्तियो से भी जनसख्या का काफी सहार होता है।

आवास —आवास, एक देश के निवासियो के दूसरे देश में बस जाने को कहते है। यह अत्यन्त प्राचीन प्रथा है। अनेक देशो और अनेक समुदाय के सहस्रो व्यक्ति भारत में आकर बस गये। अमेरिका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, अफ्रीका इत्यादि देशो में भी प्राय दूसरे देशो के व्यक्ति आकर बस गये है। प्रथम तीन देशो में तो अधिकाश जनता पहले अन्य देशो की थी। आज भी आर्थिक अभाव को दूर करने के लिये, व्यापार के लिए या श्रमिको की पूर्ति करने के लिए व्यक्ति एक देश से दूसरे

देशो में जाकर वसते हैं। कुछ व्यक्ति जलवायु की सुन्दरता या अध्ययन की इच्छा से भी दूसरे देशो में बस जाते हैं। इससे जनसख्या में वृद्धि होती है।

प्रवास —यदि एक देश के निवासी दूसरे देशो में जाकर वस जाते है तो इस क्रिया को प्रवास करना कहते हैं। जैसे भारत के बहुत से श्रमिक अफ्रीका, अमेरिका मे जाकर वस गये हैं उन्हे प्रवासी भारतीय कहेंगे।

भारतवर्ष प्राचीनकाल में सदा प्रवासियो का शरण-स्थल रहा। भारतवर्ष की सम्पत्ति, इसके प्राकृतिक-शक्ति-स्रोतो ने उन्हें अपनी ओर आकृष्ट किया। परन्तु अव स्थिति बदल चुकी है। सम्पत्ति और वैभव का देश भारतवर्ष अब दुर्भिक्ष, महामारी, वेकारी और रूढियो का देश हो चुका है। यहाँ के अनेक व्यक्ति रोटी की खोज में, अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने तथा व्यापार करने के लिये ससार के अन्य देशो में गये है। आस्ट्रेलिया, कनाडा, दक्षिणी-अमेरिका, अफ्रीका, न्यूजीलैण्ड इत्यादि देशो में खानो मे काम करनेवाले तथा अन्य प्रकार के श्रम करनेवाले वहुत से भारतीय है। विदेश मे इनके साथ अच्छा व्यवहार नही किया जाता है। वहाँ की सरकारो ने इनके विरुद्ध कानून तक बना दिये हैं। अफ्रीका में भारतीयो के साथ अधिक बुरा बर्ताव किया जाता है। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद से भारतीय सरकार प्रवासी भारतीयो के अधिकारो के लिये काफी प्रयत्न कर रही है।

भारतवर्ष मे आवास के दृष्टिकोण से वहुत कम व्यक्ति आते है कुछ ईसाई मिशनरी अपने धर्म का प्रचार करने के लिये स्थायी रूप से यही वस गये है और कुछ कला और सस्कृति का अध्ययन करने के लिये परन्तु इसका भारतीय जनसख्या पर विशेष प्रभाव नही पडता है।

देश-विभाजन और पाकिस्तान वन जाने के वाद जन-सख्या में काफी परिवर्तन आ गया है। भारत के वहुत से मुसलमान पाकिस्तान में चले गये है और पाकिस्तानी क्षेत्र के हिन्दू, सिख इत्यादि भारत में आकर बस गये है। दोनो देशो में अभी स्थिति सुधरी नही है और पाकिस्तान से शेष हिन्दू और मुसलमान भारतवर्ष मे थोडी-थोड़ी सख्या मे आते जा रहे है। भारत सरकार ने इस आवास-प्रवास पर कडे प्रतिवन्ध लगा दिये है।

भारतीय जनसंख्या और उसकी समस्याएँ

भारतवर्ष में जनसख्या बढती जा रही है। उक्त विवरण मे इस इस वृद्धि की ओर सकेत किया जा चुका है। भारतवर्ष की जलवायु का भी इस वृद्धि में प्रभाव पडता है। ठडे प्रदेशो की अपेक्षा यहाँ के निवासी शीघ्र विवाह के योग्य हो जाते हैं। धार्मिक और सामाजिक रीति-रिवाजो

के प्रति यहाँ विशेष अनुराग है। वे इन रीतियो के विरुद्ध कार्य करने से भयभीत होते है। मुल्ला और पडितो का भारतवर्ष के अधिकाश अशिक्षित समाज मे पूरा नियन्त्रण है और शारदा एक्ट के लागू हो जाने के पश्चात् भी वाल-विवाह नही रुक सका है। सामाजिक प्रथाओ को नियमो से नही वदला जा सकता है। उसके लिये शिक्षा के प्रसार की आवश्यकता है परन्तु भारतवर्ष की अधिकाश अशिक्षित जनता को उचित शिक्षा देने के प्रवन्ध अव तक व्यवस्थित नही हो पाये है। इसी कारण उनमें, उनके रहन-सहन और विचारो तथा कार्यों में अपरिवर्तनशीलता की गभीर छाप है। वे भाग्यवादी दृष्टिकोण से अपने जीवन को समझने का प्रयत्न करते है, अवैज्ञानिक वातावरण के कारण परिवर्तन से घृणा करते है, नवीन विधियो के प्रयोग से घवराते है, यहाँ तक कि हल के स्थान में ट्रैक्टर का प्रयोग करने से उन्हें अनेक प्रकार की धार्मिक-आशकाएँ घेर लेती है। वे प्रतिवन्धक-रोक—जन्म-निरोध के साधनो से अपरिचित होने से तथा सयम का अभाव होने से निरन्तर जन्मसख्या में वृद्धि करते जाते है।

शिक्षा का प्रसार धीरे-धीरे हो रहा है। इससे शिक्षित समाज में अधिक आयु में विवाह और 'छोटे परिवार' की भावना काम कर रही है। उनके रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठ रहा है और वे प्रतिवन्धक-रोक के साधनो का भी प्रयोग करते है। इसका जन्मसख्या पर काफी प्रभाव पड रहा है। १९०१ से १९१० तक जन्मसख्या प्रति हजार ३८ थी, १९११ से १९२० तक ३७, १९२१ से १९३० तक ३५, १९३१ से १९४० तक ३४ थी, १९४१ में ३२ और १९४७ में यह घटकर २६ ६ हो गई। इससे स्पष्ट होता है कि जैसे-जैसे देश विज्ञान के प्रभाव में आता जाता है और उसमें शिक्षा का प्रसार हो रहा है उसकी जन्मसख्या में निरन्तर कमी हो रही है। यद्यपि १० वर्ष के अन्तर में होनेवाली इस कमी की गति शिथिल है परन्तु भविष्य के प्रति आशाजनक सकेत करती है। हम इस क्रमश घटती को पूर्णतया विज्ञान और शिक्षा का प्रभाव ही नही कह सकते है क्योकि इस वीच में अनेक घटनाएँ घटी है जिन्हें प्राकृतिक रोक भी कहा जा सकता है जैसे, साम्प्रदायिक दगे, दुर्भिक्ष और विभिन्न प्रकार के रोग।

यदि भारतवर्ष की मृत्युसख्या की ओर दृष्टिपात करें तो यह विदित होगा कि वह ससार के अन्य देशो से कही अधिक है। मृत्युसख्या के विभिन्न कारणो के अन्तर्गत हम भारतवर्ष की स्थिति की ओर भी सकेत कर चुके है। भारतवर्ष में निर्धनता और वेकारी अधिक है, शिक्षा का अभाव है, सामाजिक और धार्मिक वन्धनो के वीच अपने ह्रास के कार्यों को करके एक अद्भुत सन्तोष प्राप्त करती है। वाल-विवाह, माता

और बच्चो के स्वास्थ्य की ओर से उदासीनता और विवशता, गाँवों में औषधालयो की अत्यन्त कमी, ट्रेनिंग न पाई हुई दाइयाँ, पर्दे की प्रथा, विभिन्न रोगो इत्यादि कारणो से मृत्युसख्या अधिक होती है। भारतवर्ष मे जन्म लेनेवाले प्रति हजार बालको में १६४२ में १६३, '४३ में १६५, '४४ मे १५१, '४५ में १५१, '४६ मे १३६ और '४७ में १४६ बालक मृत्यु के ग्रास हो जाते हैं। भारतवर्ष के निवासियो की औसत आयु २२ वर्ष है जब कि जापान की ४८ वर्ष, अमेरिका की ५८ वर्ष, इगलैण्ड की ४९ वर्ष और न्यूजीलैण्ड की ६५ वर्ष हैं। भारतवर्ष की इस शोचनीय अवस्था से उसकी आधुनिक स्थिति का, उसकी उत्पादन-शक्ति का, उसकी सभ्यता एवम् सस्कृति के विकास का सरलता से अनुमान लगाया जा सकता है। भारतवर्ष की मृत्युसख्या प्रति हजार १६०१ से १९१० में ३४, १६११ से १६२० तक ३४, १६२१ से १६३० तक २६, १९३१ से १६४० तक २३ थी और १९४१ में २२ और १६४७ में यह घटकर १६ ७ हो गयी है। यद्यपि इस सख्या मे क्रमश कमी होती जा रही है परन्तु अन्य देशो की अपेक्षा यह बहुत अधिक है। इगलैण्ड की मृत्युसख्या प्रति हजार १२·० है, जर्मनी की १२·३, फ्रान्स की १५ ३, जापान की १७ ६ और अमेरिका की १० ६ है। इस दृष्टि से भारतवर्ष अभी जापान से भी बहुत पीछे है।

भारतवर्ष की इस स्थिति में सुधार करने के लिये बहुत बडे प्रयत्न की आवश्यकता है। जिस गति से अभी सुधार की व्यवस्था की जा रही है उसे सन्तोषजनक नही कहा जा सकता है। स्थिति मे सुधार केवल माह में एक बार औषधि बाँटने या स्वास्थ्य-निरीक्षक के दौरे से नही किया जा सकता है। इसके लिये सच्ची लगन और सच्ची सेवा का भाव होना आवश्यकीय है। देश की अन्य सब स्थितियाँ आर्थिक स्थिति पर निर्भर होती हैं। भारतवर्ष दुनिया का सबसे अधिक निर्धन देश है। यदि वैज्ञानिक आविष्कारो की सहायता से यहाँ के प्राकृतिक-शक्ति-स्रोतो का उपयोग किया जाय, नये उद्योग-धन्धो का आरम्भ और पुराने उद्योग-धधो की उचित व्यवस्था की जाय, कृषि इत्यादि में वैज्ञानिक विधियो से उत्पादन किया जाय, शोषण को रोककर वितरण की उचित व्यवस्था की जाय, यातायात और सवाद के साधनो मे सुधार तथा उनके प्रसार की योजनाओ को कार्यान्वित करने के साथ ही देश मे उपयुक्त शिक्षा के प्रसार का दृढ निश्चय किया जाय तो अवश्य देश की उत्पादन शक्ति बढ सकती है। जीवित रहने के साधनो में अवश्य वृद्धि हो सकती है। लोगो को काम मिल सकता है और उनमे उनके भविष्य के प्रति विश्वास पैदा करके आत्मसम्मान और स्वावलम्बन का भाव भरा जा सकता है।

उनकी कार्यकुशलता और कार्यक्षमता में वृद्धि की जा सकती है जिससे उनकी आर्थिक स्थिति सुधर सके। उनके रहन-सहन के स्तर में परिवर्तन होने से उनके जीवन में सुधार हो सकता है।

भारतवर्ष के गावों में चिकित्सा का उचित प्रबन्ध नहीं है, वैद्य, नर्स और डाक्टर नही है, आयुर्वेदिक तथा यूनानी वैद्यों की आर्थिक स्थिति बिगडी होने से उनकी सहायता की अधिक आशा नहीं की जा सकती है। अतएव इस ओर विशेष ध्यान देकर मृत्युसंख्या में कमी की जा सकती है। आयुर्वेदिक और यूनानी औषधालयों को आर्थिक सहायता देकर जनता के स्वास्थ्य को लाभ पहुँचाया जा सकता है।

शिक्षा का प्रचार अत्यन्त आवश्यक है। बिना उसके बाल-विवाह, पर्दे की प्रथा, छुआछूत का घातक भाव इत्यादि दूर नहीं किये जा सकते। इन सुधारो को कानूनो से दूर नहीं किया जा सकता है वरन् जब समाज को स्वय इन्हें करने की प्रेरणा प्राप्त होगी तभी यह सफल हो सकते है। अतएव सरकार को अन्य सामाजिक संस्थाओं के सहयोग से ऐसी स्थिति का निर्माण करना आवश्यक है और उसका एकमात्र साधन शिक्षा है।

स्त्रियो के प्रति जो व्यावहारिक दृष्टिकोण समाज में व्याप्त है उसमें परिवर्तन करना अनिवार्य है। स्त्री के स्वास्थ्य, उसकी उचित शिक्षा का प्रबन्ध, उसके शारीरिक और मानसिक विकास की उचित व्यवस्था के प्रति जब तक समाज एकमत होकर कार्य नही करेगा देश की मृत्युसख्या को नही रोका जा सकता है। होनेवाली सन्तान के पूर्ण विकास की आशा नही की जा सकती है। समाज की दशा को सुधारनेवाले पुत्रो और पुत्रियो की कर्मशक्ति और विचार-शक्ति माँ के विचारो से प्रभावित होती है। उसीसे उन्हें प्रेरणा मिलती है।

मृत्युसख्या और जन्मसख्या पर नियन्त्रण रखने के लिये श्रमिक वर्ग का विशेष ध्यान रखना अनिवार्य है। उत्पादन की कुजी वास्तव में श्रमिक ही है। उनके निवासस्थानो की शोचनीय अवस्था में सुधार, सफाई इत्यादि का प्रबन्ध तथा उनके विश्राम के समय का सदुपयोग करने के लिये मनोरजन के साधन तथा उनके योग्य पुस्तकालयो का होना आवश्यक है। उनकी स्त्री एव बच्चो को उक्त सभी सुविधाएँ मिलनी चाहिये। एक कोयला ढोनेवाले मजूर का पुत्र अच्छे वातावरण में रखकर योग्य व्यवस्थापक बनाया जा सकता है। उनके वर्ग से महान् व्यक्ति पैदा हो सकते है। यदि उनकी अभावग्रस्त अवस्था में सुधार कर आवश्यक शिक्षा दी जायेगी तो इसमें कुछ सन्देह नही है कि उनको अधिक जन्मसख्या और मृत्युसख्या वाले वर्ग के होने का लाछन न सहना पडेगा।

अभ्यास के प्रश्न

१ जनसख्या की वृद्धि किन बातो पर निर्भर है ? प्रत्येक का संक्षिप्त विवरण दीजिये।

२ भारतवर्ष की जनसख्या पर जन्मसख्या और मृत्युसख्या का क्या प्रभाव पडा है ?

३ जनसख्या की वृद्धि को रोकने के साधनो का वर्णन कीजिये। इसमें प्रतिबन्धक रोक का महत्त्व समझाइये।

अध्याय ४३

भारत की जनसंख्या पर एक दृष्टि

भारतवर्ष संसार का एक विशाल देश है। इसकी जनसंख्या विभाजन से पहले संसार की जनसंख्या का पांचवां भाग थी। विभाजन के पश्चात् जनसंख्या में काफी परिवर्तन हो गया है।

देश की उन्नति की योजनाओं की सफलता उसकी आर्थिक स्थिति के पूर्ण ज्ञान पर निर्भर होती है। आज स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद देश के उज्ज्वल भविष्य की नींव के रूप में अनेक योजनाएँ बनायी जा रही हैं। अतएव देश में जनसंख्या के श्रम, पेशे, धर्म इत्यादि के रूप में विभाजित संख्या का ज्ञान होना आवश्यक है। अब तक किसी भी वस्तु का, उद्योग का वितरण किसी ठोस योजना के अनुसार नहीं किया गया था। उत्पादन का मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना और अधिकतम श्रम करवाना था; देश की अधिकांश प्राकृतिक सम्पत्ति का पूरा उपयोग नहीं किया जा सका, इससे निर्धनता फैली और उसकी स्थिति का वर्णन पहले किया जा चुका है। यद्यपि देश की जन्मसंख्या और मृत्युसंख्या में क्रमशः कमी हो रही है परन्तु फिर भी जो वृद्धि वास्तविक जनसंख्या में हो रही है वह जीवित रहने के साधनों की वृद्धि की अपेक्षा कहीं अधिक है। उत्पादन बहुत कम है, उत्पादन-शक्ति को बढ़ाने के लिये अधिक प्रयत्न नहीं किये गये हैं। भारत की ३/४ से अधिक जनता कृषि पर निर्भर रहती है परन्तु उत्पादन में अधिक वृद्धि न करने से उसमें निर्धनता फैली हुई है।

सन् १९४१ में भारत में जनगणना की गयी। इसमें बर्मा का क्षेत्र सम्मिलित नहीं था। उस समय कुल जनसंख्या ३८८,९९७,९९५ थी। भारत के विभाजन के पश्चात् भारतवर्ष में हुई जनगणना के अनुसार जिसमें जम्मू और काश्मीर की रियासतों को सम्मिलित नहीं किया गया कुल जनसंख्या ३५,६८,९१,६२४ है। अप्रेल १९५१ में प्रकाशित रिपोर्ट के अनुसार इनमें से १८,३३,८४,८०७ पुरुष और १७,३५,०६,८१७ स्त्रियां हैं। इस जनगणना में आसाम के एक भाग को (Part B, Tribal Areas) को सम्मिलित नहीं किया गया था परन्तु सिक्किम (Sikkim) को इस जनगणना में सम्मिलित किया गया है। यदि जम्मू, काश्मीर और आसाम की अनुमानित जनसंख्या को भी मिला लिया जाय तो भारतवर्ष की कुल जनसंख्या ३६ करोड से अधिक हो जायेगी। सन् १९४१ की जनसंख्या

से इसमें १३·४% की वृद्धि हुई है। यह जनगणना भारतवर्ष के कुल १,१३८,८१४ वर्ग मील मे हुई।

इस जनगणना से कुछ विशेष बातें मालूम हुयी है। ट्रावनकोर-कोचीन, मद्रास, उडीसा, कच्छ और मनीपुर में स्त्रियो की सख्या पुरुषो से अधिक है जिसको निम्न तालिका मे स्पष्ट किया गया है —

	स्त्रियां	प्रति १,००० पुरुषो में
ट्रावनकोर-कोचीन	१,००७	,,
मद्रास	१,००४	,,
उडीसा	१,०२३	,,
कच्छ	१,०७७	,,
मनीपुर	१,०३४	,,

यदि उक्त पाँचो प्रदेशो की पुरुष-स्त्रियो के इस अनुपात का १९४१ की जनगणना से प्राप्त अको से मिलान करें तो विदित होगा कि ट्रावनकोर-कोचीन मे स्त्रियो की सख्या मे पुरुषो की सख्या के अनुपात में अधिक वृद्धि हुई है। १९४१ में ट्रावनकोर-कोचीन मे पुरुषो की प्रति हजार सख्या के पीछे १,००२ स्त्रियाँ थी और १९५१ में पुरुषो की प्रति हजार सख्या के पीछे १,००७ स्त्रियाँ है, परन्तु मद्रास, उडीसा, कुच्छ और मनीपुर मे स्त्रियो की सख्या में कमी हुई है।

१९४१ की जनगणना से १९५१ की जनगणना का मिलान करने से ज्ञात हुआ है कि इन १० वर्षों में निम्न प्रदेशों की जनसख्या मे वृद्धि हुई है —

पजाव, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी वगाल, हैदरावाद, पैप्सू (PEPSU), राजस्थान, सौराष्ट्र, ट्रावनकोर-कोचीन, अजमेर, विलासपुर कुर्ग, दिल्ली, हिमाँचल प्रदेश, त्रिपुरा और अण्डमान-निकोबार द्वीपसमूह।

परन्तु विहार की जनसख्या में विशेष अन्तर नही आया है और अन्य प्रदेशो की जनसख्या मे कमी हुई है। इस मिलान से यह भी ज्ञात हुआ है कि दिल्ली की जनसख्या मे इन १० वर्षों मे ९०% की वृद्धि हुई है जो सबसे अधिक है और सबसे कम वृद्धि पजाव में ०४% हुई है। अण्डमान-निकोबार द्वीप समूह की जनसख्या में ८·३% की कमी हुई है।

देश-विभाजन के पश्चात् पाकिस्तान से वहुत अधिक सख्या मे लोग भारतवर्ष में आये। ये शरणार्थी भारत के अनेक प्रदेशो मे वस गये हैं जिसका विवरण निम्न तालिका में दिया गया है।

प्रदेश	शरणार्थी सख्या	प्रदेश	शरणार्थी सख्या
आसाम	२,७६,८२४	सौराष्ट्र	६०,५२५
विहार	७८,६४१	ट्रावनकोर-कोचीन	३५४
वम्वई	३,४१,०८१	अजमेर	७१,८२४
मध्य प्रदेश	१,२०,८८६	भूपाल	१७,९३३
मद्रास	९,९२६	विलासपुर	१८७
उडीसा	२०,९२६	कुर्ग	११
पजाव	२४,६८,४९१	दिल्ली	५,०९,७६७
उत्तर प्रदेश	४,७५,८२२	हिमाचल प्रदेश	५,२४८
पश्चिमी वगाल	२१,१७,८९५	कच्छ	११,९९१
हैदरावाद	४,०३५	मनीपुर	१,२००
मध्य भारत	६१,४५७	त्रिपुरा	१,००,२५१
मैसूर	७,८९१	विंध्य प्रदेश	१४,६२६
पेप्सू (PEPSU)	३,८० १५९	अण्डमान और निकोवार द्वीपसमूह	१,५४५
राजस्थान	३,१२,७४२	सिक्किम (SIKKIM)	३९

जनसख्या का पूरा विवरण निम्न तालिका में दिया गया है :—

प्रदेश	पुरुष	स्त्री	कुल जनसख्या	वृद्धि का प्रतिशत
आसाम	४८,६९,८७८	४२,५९,५६४	९१,२९,४४२	२० २
विहार	२,०१,७२,५६७	२,००,४६,३४९	४,०२,१८,९१६	१० १
वम्वई	१,८६,३१,८८३	१,७३,११,६७६	३,५९,४३,५५९	२१ ८
मध्य प्रदेश	१,०६,८८,८११	१,०६,३९,०८७	२,१३,२७,८९८	८ ६
मद्रास	२,८४,१३,६६१	२,८५,३८,६७१	५,६९,५२,३२२	१४ ३
उडीसा	७२,४०,००८	७३,९८,६०३	१,४६,४४,२९३	६ ४
पजाव	६७,८०,७७०	५८,५७,९४१	१,२६,३८,६११	० ४
उत्तर प्रदेश	३,३१,४२,४५७	३,०१,११,६६१	६,३२,५४,११८	११ ९
पश्चिमी वगाल	१,३३,१९,९४१	९४,६६,७४२	२,४७,८६,६८३	१३ ५
हैदरावाद	९४,६४,४९५	९१,८८,४६९	१,८६,५२,९६४	१४ २
मध्य भारत	४१,२८,३०८	३८,१३,३३४	७९,४१,६४२	११ १
मैसूर	४६,६३,८५८	४४,०७,८२५	९०,७१,६७८	२३ ८
पेप्सू (PEPSU)	१८,७३,२०५	१५,९५,४२६	३४,६८,६३१	१ ३
राजस्थान	७९,६६,२०८	७३,३१,७७१	१,५२,९७,९७९	१५ २
सौराष्ट्र	२०,९४,९६८	२०,४१,०३७	४१,३६,००५	२० ५

प्रदेश	पुरुष	स्त्री	कुल जनसंख्या	वृद्धि का प्रतिशत
ट्रावनकोर-कोचीन	४६,१५,३३५	४६,४९,८२२	९२,६५,१५७	२३ ०६
दिल्ली	९,९०,४४३	७,५३,५४९	१७,४३,९९२	९०'०
अजमेर	३,५९,५७२	३,३२,९३४	६,९२,५०६	१७ ०५
विलासपुर	६५,३३२	६२,२३४	१,२७,५६६	१६ ४
कुर्ग	१,२५,३३३	१,०३,९२२	२,२९,२५५	३५ ५
हिमाचल प्रदेश	५,१६,३१७	४,७३,१२०	९,८९,४३७	५ ८
कुच्छ	२,७३,३६३	२,९४,४६२	५,६७,८२५	१३ ४
मनीपुर	२,८४,७४७	२,९४,३११	५,७९,०५८	१३ १
त्रिपुरा	३,३९,९६२	३,०९,९६८	६,४९,९३०	२६ ७
विन्ध्य प्रदेश	१८,३४,६१०	१७,४२,८२१	३५,७७,४३१	६ ७
भूपाल	४,३८,७७८	३,९९,३२९	८,३८,१०७	६ ८
				घटती की प्रतिशत
अण्डमान और निकोबार	१९,०३६	११,९२७	३०,९६३	८ ३
सिक्किम (SIKKIM)	७०,९६१	६४,६८५	१,३५,६४६	११ ५

जन-संख्या का घनत्व (Density of Population).—किसी देश के १ वर्ग मील के अन्दर जितनी जन-सख्या होती है उसे उस देश की जनसख्या का घनत्व कहते है। किसी भी देश मे प्रति वर्ग मील में समान सख्या में लोग नही रहते है। उनकी इस विभिन्नता के अनेक कारण है जिनका सक्षेप में निम्नलिखित वर्णन किया गया है —

वर्षा और जलवायु —जिस प्रकार जलवायु जन्मसख्या को प्रभावित करती है उसी प्रकार जनसख्या को भी प्रभावित करती है। जिस स्थान की जलवायु अच्छी होगी वहाँ अधिक लोग बसना चाहेगे। मनुष्य केवल जलवायु से ही जीवित नही रह सकता है। उसे भोजन इत्यादि की आवश्यकता होती है। अतएव अच्छी जलवायु और उचित समय पर वर्षा होने के साथ ही उपजाऊ भूमि होना भी आवश्यक है। पर्वतीय प्रदेश की जलवायु भी सुन्दर होती है और वर्षा भी पर्याप्त हो जाती है परन्तु पहाड़ी, पथरीली भूमि होने से लोग अधिकतर गंगा-जमुना के मैदानो में बसना उचित समझते है। इसीलिये उपजाऊ भूमि की जनसंख्या अधिक होती है और उसका घनत्व भी अधिक होगा। भूमि की उत्पादन-शक्ति प्रकृति से ही होती है परन्तु उसको बढाया भी जा सकता है।

सिचाई के साधन :—यदि भूमि पहाड़ी है तो उसमे सिचाई का प्रबन्ध सरलता से नही हो सकता है और कही मिट्टी टिकाऊ नही होती है

और वर्षा से धुल जाती है। अतएव सिंचाई के लिये अधिकतर समतल भूमि ही चाहिये। कृत्रिम साधनों, जैसे, वैज्ञानिक खाद, ट्रैक्टर से जुताई इत्यादि से भी भूमि की उत्पादन-शक्ति बढ़ायी जा सकती है। भारत में जहाँ-जहाँ सिंचाई के साधनों की उन्नत व्यवस्था की जा सकी है वहाँ की जनसंख्या में वृद्धि हुई है।

यातायात और संवाद-साधन:—किसी भूमि में खनिज पदार्थों की बहुतायत होती है और आधुनिक उत्पादन प्रणाली के अनुसार प्रत्येक उत्पादक अपने कारखाने कच्चे माल के स्रोत के समीप ही बनाना चाहता है। स्थानीयकरण की प्रवृत्ति को यातायात और संवाद-साधनों से काफी सहायता मिलती है। श्रम गतिशील होता है और उसकी प्रवृत्ति सदा उत्पादन के केन्द्रों की ओर ही होती है। उद्योग-धन्धों की स्थापना होते ही उस प्रदेश में श्रमिकों की संख्या बढ़ने लगती है, छोटे-छोटे अन्य कई कारोबार और चालू हो जाते हैं। जमशेदपुर, बम्बई, कानपुर इत्यादि स्थानों में इसी कारण जनसंख्या का घनत्व अधिक है। इसी प्रकार व्यापारिक नगरों की जनसंख्या भी अधिक होती है। भारत एक कृषिप्रधान देश है और किसान वर्ष में कुछ माह बेकार रहते हैं और कृषि-मजूरों की भी संख्या काफी है। अतएव भारत में जिन-जिन प्रदेशों में कृषि की अच्छी सुविधाएँ हैं और जहाँ-जहाँ उद्योग-धन्धों की स्थापना हो चुकी है वहीं अधिक जनसंख्या है, पहाड़ी प्रदेशों और अर्ध-रेगिस्तानों में नहीं।

सुरक्षा:—प्रत्येक मनुष्य जीवन को बनाये रखना चाहता है और श्रम से अर्जित सम्पत्ति की सुरक्षा चाहता है। अतएव वह ऐसे स्थानों में रहना पसन्द करेगा जहाँ उसे सुरक्षा मिल सके। जनता प्राय ऐसे स्थानों का निर्जन छोड़ देती है जहाँ लूट-मार, डाके इत्यादि का भय होता है।

इन सब कारणों के साथ ही जन्मभूमि का प्रेम भी महत्त्वपूर्ण कारण हो सकता है। मनुष्य शीघ्र अपने पूर्वजों के स्थान को छोड़कर दूर जाना पसन्द नहीं करता है। विभिन्न प्रदेशों के रीति-रिवाजों में विभिन्नता होने से भी जन्मस्थान छोड़ने से कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अतएव ऐसे स्थान जहाँ पूर्वज किन्हीं कारणों से बस गये थे परिस्थितियाँ अनुकूल न होने पर भी वे उसी स्थान पर बसे रहते हैं। इसे प्रान्तीयता की भावना भी कह सकते हैं।

सन् १९४१ की जनगणना के अनुसार भारत की जनसंख्या का घनत्व २४६ है।

यदि प्रत्येक प्रान्त के अनुसार देखे तो जनसंख्या का घनत्व निम्न प्रकार से है —

प्रान्त	जनसख्या का घनत्व	प्रान्त	जनसख्या का घनत्व
बंगाल	७७९	सिन्ध	९४
विहार	५२१	मध्य प्रान्त और वरार	१७०
उडीसा	२७१		
उत्तर प्रदेश	५१८	आसाम	१८६
सीमाप्रान्त	२१३	राजपूताना	९१
मद्रास	३९१	मध्य भारत	१०० से ऊपर
पजाव	२८७		
वम्बई	२७२		

पेशो के अनुसार सवसे अधिक जनसख्या खेती करती है। इसके पश्चात् उन श्रमिको की सख्या है जो विभिन्न उद्योग-धन्धो मे कार्य करते है। परन्तु देश के विभाजन और नवीन उद्योगो के खुलने से जनसख्या के इस विभाजन में भी काफी अन्तर आ गया है परन्तु कृषि पर काम करने-वालो की सख्या मे कमी सभव नही है।

अभ्यास के प्रश्न

१. पिछले दस वर्षों में भारतवर्ष की जनसख्या में क्या-क्या परिवर्तन हुए है ? इसका सक्षेप में वर्णन कीजिये।

२. जनसख्या के घनत्व से आप क्या समझते है ? जनसख्या का घनत्व किन वातो पर निर्भर होता है ?

अध्याय ४४

श्रम-विभाजन

श्रम-विभाजन मनुष्य की सहयोग भावना का फल है। मनुष्य के आर्थिक जीवन के आरम्भ मे अति न्यून आवश्यकताएँ थी जिनकी पूर्ति वह अपने ढग से कर लेता था। परन्तु समय के साथ-साथ उसका गति-शील जीवन प्रगति करता गया और नयी समस्याओ, नयी रीतियो का उसकी उत्पादन प्रणाली पर पूर्ण प्रभाव पडता रहा। क्रमश उसका सह-योगी जीवन आरम्भ हुआ और अपने जीवन की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उसने सामूहिक प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये। समूह के सदस्यो को विभिन्न कार्यो या कार्यों के अग-उपागो की व्यवस्था करने के लिये विभा-जित किया जाने लगा। यह श्रम-विभाजन का पूर्व रूप था। इसका विकास तव एक सीमा पर पहुँच गया था जब समाज के स्तम्भो ने उचित व्यवस्था के हेतु समाज मे चार वर्णों को जन्म दिया। नीति, रक्षा, वाणिज्य और सेवा के चार रूप समाज-शासन के चार अग बने जिनका महत्त्व श्रम-विभाजन पर आधारित था।

वर्तमान युग विज्ञान का युग है। मनुष्य ने अपनी आवश्यकता के अनुसार अनेक मशीनो का आविष्कार कर लिया है जो उसके लिए श्रम करती है। जनसख्या मे वृद्धि, आवश्यकताओ में वृद्धि और मनुष्य के अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण ने श्रम-विभाजन के प्राचीन रूप को पूर्णतया तिला-जलि दे दी है। वह आज उत्पादन केवल वर्तमान की पूर्ति के लिये ही नही वरन् भविष्य की पूर्ति के लिये भी करता है। तात्पर्य यह है कि उत्पादन अधिक परिमाण में किया जाता है। इस प्रवृत्ति के अनुसार एक छोटी सी वस्तु के उत्पादन-श्रम को कई भागो में विभाजित कर दिया गया है जिससे सरलता, परिमाण और गुणो में पर्याप्त वृद्धि हुई है। उदाहरण के लिये पहले कपडे का उत्पादन एक-एक व्यक्ति या उनका एक समूह करता था। वह रूई पैदा करने से लेकर चर्खे-कर्घे मे कपडा बुनने तक का काम स्वय करता था। परन्तु आज उत्पादन का यह ढग कदापि सफल नही हो सकता है। वर्तमान में रूई का उत्पादन, उसका धुनना, कतना और उससे विभिन्न प्रकार के कपडो का बुना जाना कई भिन्न-भिन्न भागो में बँटा हुआ है, केवल एक कपडे की मिल में यदि इस प्रणाली का अध्य-यन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्पादन के ये अग-उपाग विभिन्न प्रकार के होते हुए भी एक सूत्र में बँधे होते है। एक कोने में रूई धुनी जाती है और मशीनो के द्वारा दूसरे कोने मे तैयार कपडे

के लिपटे थान निकाले जाते हैं। इसी प्रकार जूते के कारखाने में जूते बनाने का काम भी इसी प्रणाली से होता है। एक-एक मोची को एक-एक जोडा जूता बनाने के लिये नियुक्त नही किया जाता है। इससे ज्ञात होता है कि वर्तमान उत्पादन प्रणाली के अनुसार एक वस्तु का उत्पादन अनेक छोटे-छोटे भागो मे बाँटा जाता है और इन विभिन्न भागों अथवा क्रियाओ मे मजदूरो के अनेक समूह श्रम करते हैं। एक वस्तु के उत्पादन में श्रम को इस प्रकार विभाजित करना ही श्रम-विभाजन कहलाता है।

श्रम-विभाजन प्राय तीन मुख्य भागो मे बाँटा जाता है। साधारण श्रम-विभाजन श्रम के उस रूप की ओर सकेत करता है जहाँ कई मनुष्य मिलकर किसी कार्य को करते हैं। इस सहयोग में मनुष्यो अथवा समूहों की सम्मिलित शक्ति का प्रयोग किया जाता है। यदि वह कार्य केवल एक व्यक्ति को सौप दिया जाय तो वह उसे सम्पन्न कर सकने में असमर्थ रहेगा। उदाहरण के लिये सडक कूटनेवाले रोलर को ढकेलकर सडक बराबर करने का काम एक व्यक्ति को दे दिया जाय तो वह उसे नही कर सकता है। परन्तु यदि श्रमिको का एक समूह केवल इस बात के लिये नियुक्त कर दिया जाय तो सड़क कूटने व बराबर करने का कार्य अधिक सरलता से सम्पन्न हो सकेगा। यह साधारण श्रम-विभाजन का रूप है।

परन्तु मशीनो के प्रयोग से उत्पादन-कार्य का विभाजन अनिवार्य हो गया है। अब किसी कार्य को पूरा करने के लिए कई प्रकार की मशीनें व मनुष्य लगाये जाते हैं और प्रत्येक को कार्य का एक भाग सौप दिया जाता है। श्रम-विभाजन का यह वास्तविक रूप है। उदाहरणार्थ एक कपडे की मिल में श्रमिको को कई समूहो में विभक्त किया जाता है जो कार्य के एक भाग को पूर्ण रूप से करने के लिये बने होते हैं। एक समूह केवल रूई धुनने का कार्य, दूसरा धुनी रूई से मशीनो की सहायता से सूत कातने का कार्य, तीसरा बुनने का कार्य इत्यादि पूर्ण रूप से सम्पन्न करता है। इसे श्रम-विभाजन का विषम रूप कहते हैं।

श्रम प्राय गतिशील होता है और उसकी प्रवत्ति सदा उत्पादन केन्द्रो की ओर ही आकृष्ट होती है। उत्पादन केन्द्र उद्योगपति साधारणतया ऐसे स्थानो पर स्थापित करते हैं जहाँ उत्पादन की जानेवाली वस्तु के उपयुक्त सामग्री—जैसे खनिज पदार्थ, श्रम, पूंजी, यातायात की सुविधाएँ इत्यादि सरलता से उपलब्ध हो सकें। इसका विस्तृत वर्णन 'उद्योग-धन्धो का स्थानीय-करण' शीर्षक अध्याय में किया गया है। इस उत्पादन-प्रवृत्ति में जलवायु का भी प्रमुख स्थान होता है। ऐसी स्थिति में अनेक स्थानो पर अनेक प्रकार के उद्योग-धन्धे स्थापित किये जाते हैं और उद्योग-धन्धो के इस प्रकार

के विभाजन के फलस्वरूप श्रम का भी उसी आधार पर ही विभाजन हो जाता है जैसे, दार्जिलिंग में केवल चाय का उत्पादन होता है और वहाँ के श्रमिक इस उत्पादन-प्रणाली में चतुर होते हैं। जमशेदपुर में लोहे व इस्पात का उत्पादन करनेवाले चतुर श्रमिक होते हैं। श्रम के इस विभाजन को, जो प्राय स्थानीयकरण का ही दूसरा रूप है प्रादेशिक अथवा भौगोलिक श्रम-विभाजन कहते हैं।

जैसा पहले कहा जा चुका है कि श्रम-विभाजन का विचार अत्यन्त प्राचीन मनुष्य जाति में भी था और मनुष्य के मानसिक व सामाजिक विकास के साथ इसका भी विकास हुआ। आधुनिक काल म मशीनों के आविष्कार और मनुष्य के व्यवहार का व्यापक क्षेत्र होने से श्रम-विभाजन अपनी अच्छाइयो और बुराइयो के साथ पूर्ण विकास को प्राप्त हुआ है। इन क्रमिक विकास की श्रेणियो पर विचार करना अनुपयुक्त न होगा।

(१) आर्थिक जीवन का इतिहास इस तथ्य की स्थापना करता है कि जब समाज साधारण से विषम की ओर बढ रहा था तब श्रम का विभाजन जो समाज व शासन की उचित व्यवस्था के लिये उचित था पेशो के आधार पर निश्चित किया गया। समाज के चार प्रधान पेशे चार जातियो के रूप में आज भी अपने उस विभाजन का स्थूल परिचय देते हैं। यह पेशेवार श्रम-विभाजन आज भी वर्तमान है। इस पेशेवार श्रम-विभाजन का महत्त्व अदल-बदल (Barter) की प्रणाली में अधिक लाभकर सिद्ध हुआ। मनुष्यो के विभिन्न समूहो ने साधारणतया उन पेशो को अपना प्रधान कार्य समझा जिनको वे सुगमता और अच्छी तरह से कर सकते थे। इस प्रकार किसी वस्तु-विशेष के उत्पादन में दक्षता प्राप्त करना सरल भी था। जूते बनाने का श्रम करनेवाला समूह चमार, कपडे बनानेवाला जुलाहा, कपडा धोनेवाला धोबी इत्यादि पेशेवार नामकरण भी हो गया। आज समाज में ये विभिन्न नाम के श्रमिक-समूह वर्तमान हैं और केवल नाम ही से जो इनके पेशो का द्योतक है हम श्रम के प्रकारो का अनुमान लगा सकते हैं। पेशेवार श्रम-विभाजन का देश के आर्थिक व सामाजिक इतिहास में बडा महत्व है। पेशेवार श्रम-विभाजन का जातियो का रूप लेना व इनमें परस्पर आन्तरिक संघर्ष होना सभ्यता के इतिहास का महत्वपूर्ण अंग है जिसका प्रभाव आज भी यथावत् वर्तमान है।

(२) दूसरे प्रकार का श्रम-विभाजन उद्योग-धन्धो के अनुसार किया गया है। जनसंख्या की वृद्धि के साथ लोगो की माँग भी बढने लगी जिसकी पूर्ति एक पेशेवर या उनका एक बिखरा समूह नही कर सकता था। अतएव धनी व्यक्तियो ने इस अवसर का लाभ उठाया। उन्होने इन पेशेवर श्रमिको को कुछ वेतन पर अपने कारखानो में नियुक्त कर दिया।

इस प्रकार कई बगते से कारखाने खुल गये जिनमें काफी संख्या में चमड़े के काम में दक्ष मजूर कार्य करने लगे। इनसे पहले मजूर को एक छोटी कील से लेकर बड़े से बड़ा सामान स्वयं खरीदना पड़ता था और सामान तैयार करके स्वयं बेचना भी पड़ता था। परन्तु अब कारखानों में उन्हें केवल अपना काम करना पड़ता है और अन्य आवश्यक सामान कारखाने का मालिक दिया करता है। एक मोची यदि दिन भर कारखाने में दो जोड़ा जूता बनाता है या एक बढ़ई चार मेज बनाता है तो उनका वेतन उनके इस काम के अनुसार घटता-बढ़ता नहीं है वरन् वह निश्चित है। कारखाने का स्वामी इनसे अधिक से अधिक काम लेना चाहता है और कम से कम वेतन देना। वह तैयार माल को जब उनकी माँग बढ़ेगी ऊँचे दामो पर बेच सकता है या कुछ दिनों न बेचकर माँग को और बढ़ने दे सकता है परन्तु मजूरों का इससे कुछ सम्बन्ध नही होता है और न वे कारखाने के मालिक के हानि-लाभ में हिस्सेदार ही होते हैं।

पूर्व विभाजन में मजूर अपने श्रम से तैयार वस्तु का विक्रय करते थे परन्तु अब अपने समय और श्रम का विक्रय करते हैं। पहले वे स्वतन्त्रता से उत्पादन कर सकते थे परन्तु अब उनकी वह स्वतन्त्रता नहीं रही क्योंकि वे मजूरी करते हैं। इससे हानि और लाभ दोनों हैं। स्वतंत्र रूप से उत्पादन करने में यह सभव हो सकता है कि श्रमिक अपना काम पूरा करने के लिये पूँजी एकत्र न कर सके या तैयार माल को उचित मूल्य से कम में बेचने को विवश हो जाय। इससे उसे हानि होती। परन्तु कारखाने मे जब तक वह कार्य करेगा उसका वेतन निश्चित होगा। इससे उसके तथा उसके परिवार के जीवन मे कुछ स्थिरता आ जायेगी तथा अनेक श्रमिको से मिलकर उसको अपने श्रम की नयी विशेषताओ का भी अनुभव होगा।

(३) तीसरे प्रकार का श्रम-विभाजन, श्रम-विभाजन की आधुनिक प्रणाली कही जा सकती है। आज पहले से कई गुना उत्पादन बढाने की आवश्यकता है। विज्ञान के नवीन आविष्कारो ने जहाँ मनुष्य को एक नवीन अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण दिया है वहाँ उत्पादन के क्षेत्र में बड़े-बडे परिवर्तन कर दिये हैं। सभ्यता के विकास के साथ लोगों की रुचियो में भी विशेष अन्तर आ गया है। इससे अनेक प्रकार के उद्योग-धन्धे चल पड़े हैं। कपड़े के विभिन्न प्रकारो का उत्पादन करने के लिये अनेक कारखाने हैं। उत्पादन-प्रणाली में मशीनो का अधिक प्रयोग किया जाता है और प्रत्येक उत्पादक न्यूनतम व्यय मे अधिकतम उत्पादन करना चाहता है। इसलिये इस उत्पादन-प्रणाली में श्रम-विभाजन भी विशेष प्रकार से किया गया है।

आज देश में अनेक प्रकार के उद्योग-धन्धे स्थापित हैं जैसे, कपड़े

धोनी और इत्यादि के। प्रत्येक उद्योग-धन्धे में [illegible] भाग बनाये हैं जिनमे एक विशिष्ट भाग मिलता है। श्रमिकों से उत्पादन की किसी सम्पूर्ण क्रिया में काम नही किया जाता है परन्तु उस क्रिया के कई भाग कर दिये जाते है और प्रत्येक भाग में मजदूरों का एक समूह मशीनों की सहायता से अपना काम करता है। कपड़े के कारखानों में कुछ मजदूर केवल रुई को धोने उठाने-धरने के, कोई रुई मशीन में धरते है, कुछ उसको विभिन्न प्रकार का सूत कातनेवाली मशीनों में काम करते है, कुछ केवल रंग की व्यवस्था करते है, तथा कुछ श्रमिक कपड़े के थानों को गांठों की बाँध-बाँधकर रखते है इत्यादि। ये अनेक मजदूर दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करते है और इस प्रकार एक उद्योग के लिये अलग-अलग विभिन्न उत्पादन-क्रियाओं में विशेषता प्राप्त कर लेते है। इन विभिन्न विभागों का निरीक्षण भी सरलता से किया जा सकता है। इसी प्रकार लोहे और इस्पात के कारखानों में, चाय और चीनी के कारखानों में मजदूरों का अलग श्रम का विभाजन किया जाता है। इनसे काम शीघ्र होता है।

(४) चौथे प्रकार का श्रम-विभाजन उप श्रम-विभाजन या विशिष्ट रूप है। बड़े-बड़े कारखानों में इसका प्रयोग किया गया है। श्रमिक या अधिकांश कार्य तो केवल मशीनें ही कर लेती है तथापि उत्पादन की इस सम्पूर्ण क्रिया के कई भागों में श्रमिक एक छोटी पूर्ण क्रिया को करते हैं जैसे पूर्व के श्रम-विभाजन मे बताया गया है। एक मजदूर केवल रुई धुनने, दूसरा कातने, तीसरा बिनने का कार्य करता है। परन्तु इस नवीन श्रम-विभाजन के अनुसार उन छोटी पूर्ण क्रियाओं को भी अनेक छोटी अपूर्ण क्रियाओ मे विभाजित कर दिया गया है। इसका प्रयोग विशेषकर इस्पात के कारखानो में किया जाता है तथा बड़ी-बड़ी मशीनो में। तात्पर्य यह है कि उत्पादन की छोटी से छोटी क्रिया को एक-दूसरे से बिल्कुल अलग रखने की चेष्टा की जा रही है जिससे काम सुचारू रूप से चल सके और मशीनो मे थोडी सी भी गडबडी होते ही एकदम ठीक की जा सके। यह श्रम-विभाजन औरो से अधिक वैज्ञानिक है और श्रमिक को अधिक काम नही करना पडता है।

श्रम-विभाजन से लाभ और हानियाँ

उत्पादन के दृष्टिकोण से आधुनिक उत्पादन-प्रणाली की श्रम-विभाजन एक अत्यावश्यक क्रिया है। श्रम-विभाजन की क्रिया मे हुई लाभ और हानियो पर एकदम मत प्रकट करने से पहले उस क्रिया के विकास के इतिहास पर एक दृष्टि डालना अधिक उपयुक्त होगा। श्रम-विभाजन का भाव आर्थिक इतिहास के आरम्भ में अवश्य था, मनुष्य की आर्थिक,

सामाजिक एव राजनैतिक प्रगति हुई; परिस्थितियो और साधनो के अनुकूल सभ्यता का विकास हुआ, जनसंख्या में वृद्धि हुई और मनुष्य गाँव से देश एवं देश से अन्तर्देशीय दृष्टिकोण को अपनाने लगा। इस विकास के साथ-साथ समाज के हर पक्ष को प्रभावित करता हुआ श्रम-विभाजन का पूर्व-भाव विकसित हुआ, आवश्यकतानुसार इसमें गभीर परिवर्तन हुए, औद्योगिक क्रान्ति से श्रम की महत्ता बढी और, साथ ही इसके आधुनिक रूप की नीव पडी। अतएव जो क्रिया इस प्रकार समाज के प्रत्येक पक्ष को प्रभावित करती आई हो और स्वय समयानुसार प्रभावित और परिवर्तित होती रही हो एकदम लाभदायक या हानिकारक नही कही जा सकती है। गभीरतापूर्वक अध्ययन करने से विदित होगा कि विशेषकर श्रम-विभाजन की हानियो को लाभ में बदला जा सकता है। ये हानियाँ समाज के पूर्ण विकास के अभाव पर टिकी है; जिस दिन समाज उन अभावो को दूर कर देगा ये हानियाँ लाभ में बदल जायेंगी। परन्तु अल्पकालीन दृष्टिकोण से ये हानियाँ समाज के हेतु अहितकर प्रतीत होती है। यह इसलिये होता है कि हम उत्पादन-क्रिया को समाज से पृथक् करके देखते है जो अनुचित है। श्रम-विभाजन से लाभ और हानियो का सक्षेप में निम्नलिखित वर्णन किया गया है :—

आवश्यकता आविष्कारो की जननी है। मनुष्य ने अपनी बढ़ती हुई आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये सदा प्रयत्न किया और विज्ञान की सहायता से नवीन आविष्कार किये। उत्पादन के क्षेत्र में श्रम-विभाजन का इन आविष्कारो से विशेष महत्व बढ़ा। इन आविष्कारो का सारा श्रेय श्रम-विभाजन की क्रिया को दिया जाना चाहिये। उत्पादन की सम्पूर्ण क्रिया के अनेक उपविभागो में काम करनेवाले चतुर श्रमिक सदा इस प्रयत्न मे रहे है कि उनके काम मे सरलता किस प्रकार आ सकती है। वे प्राय. जिस मशीन पर कार्य करते है उसमें सुधार करते रहते है। प्रत्येक श्रमिक यही चाहता है कि उसे शारीरिक श्रम अधिक न करना पडे और इसके लिये उसे मशीनों की सहायता लेनी पडती है। श्रम-विभाजन के कारण श्रमिक किसी न किसी प्रकार के श्रम में दक्ष होता है, उसकी छोटी से छोटी कठिनाइयो और जटिलताओ को समझता है। इनको सुलझाने में ही वह नवीन मशीन का आविष्कार कर लेता है।

बढ़ती हुई माँग की पूर्ति उत्पादन की पुरानी रीति से नही की जा सकती है। उत्पादन के क्षेत्र मे सबसे बड़ी समस्या अधिक उत्पादन करने की है। श्रम-विभाजन से अधिक उत्पादन करने मे काफी सहायता मिली है। प्रत्येक उत्पादक आधुनिक वैज्ञानिक यन्त्रो का, मशीनो तथा विधियो का प्रयोग करने का प्रयत्न करता है। आधुनिक वैज्ञानिक प्रणालियाँ श्रम-

विभाजन के सिद्धान्त पर ही आधारित हैं। श्रम की पूर्ण क्रिया के अनेक उपविभागो का कार्य करने के लिये अनेक छोटी-छोटी मशीने बनी हैं जिनकी उत्पादन-शक्ति बहुत होती है और कम समय में प्रति इकाई कम व्यय करने पर अधिक उत्पादन किया जा सकता है। अतएव बड़े पैमाने पर उत्पादन करने के लिये, जो आधुनिक माँग की वृद्धि के अनुकूल पूर्ति कर सकने के लिये उपयुक्त विधि है, प्रत्येक उत्पादक अनेक प्रकार की मशीनो का अधिक से अधिक प्रयोग करता है जिससे श्रम-विभाजन का सिद्धान्त कारखानो में स्वय लागू हो जाता है। दियासलाई के कारखानों में पहले बहुत बड़ी सख्या में मजूर काम करते थे। कुछ तख्ते चीरते, कुछ मशीन की सहायता से छोटी सींकें तैयार करते, कुछ उनमें मसाला लगाते और कुछ उनको रखने के लिये डब्बे बनाकर उनमें कागज़ इत्यादि लगाते थे। यद्यपि श्रम-विभाजन इस प्रकार की क्रिया में भी था परन्तु उसे पूर्ण-क्रियावार श्रम-विभाजन कह सकते हैं। इसमे उत्पादन शीघ्र और बड़ी मात्रा में नहीं हो पाता था साथ ही उत्पादन व्यय भी अधिक होता था। परन्तु नवीन मशीनो की सहायता से यह कार्य अतिशीघ्र हो जाता है। श्रमिको की सख्या घट गयी है परन्तु जो श्रमिक कार्य करते हैं उनकी शारीरिक-श्रम की मात्रा पहले से घट गयी है। वे केवल मशीन के कार्य का निरीक्षण करते रहते हैं तथा मशीन में कच्चे माल की पूर्ति में सहायता देते हैं।

उक्त क्रिया से यह स्पष्ट हो गया है कि श्रमिक उत्पादन-क्रिया के उपविभागो में बिना अधिक परिश्रम किये उत्पादन कार्य करते हैं। इस प्रकार के विभाजन से समय की बड़ी बचत होती है। जिस कार्य को करने के लिये ६ घण्टे की आवश्यकता थी, श्रम-विभाजन से वह कार्य १ घण्टे मे बड़ी सरलता और सुन्दरता से हो जाता है। आधुनिक काल में समय का विशेष मूल्य है। प्रत्येक उत्पादक कम से कम समय में अधिक से अधिक उत्पादन करना चाहता है जिससे उपभोक्ताओ की आवश्यकताओ की पूर्ति होती रहे और उसके बाजार पर दूसरा उत्पादक अपना प्रभाव न जमा ले। इससे श्रमिको को भी लाभ पहुँचता है। पहले उन्हे जितने घण्टे काम करना पड़ता था उसी वेतन पर वे अब उसके आधे समय काम करते हैं और खाली समय को अपने स्वास्थ्य, सम्पत्ति इत्यादि को बढाने में लगा सकते हैं। इस खाली समय में उचित व्यवस्था की जाने पर उनका मानसिक विकास भी हो सकता है तथा उनकी कार्यक्षमता भी बढ सकती है।

श्रमिक को उत्पादन की सम्पूर्ण क्रिया को पूरी तरह से समझना नहीं पड़ता है। वह थोडे ही समय में अपने उपविभाग के काम में दक्षता

प्राप्त कर लेता है। उन उपविभाग में प्रयोग की जानेवाली मशीनों का उसे पूरा ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार थोड़े ही समय में वह अकुशल श्रमिक से कुशल श्रमिक बन जाता है और श्रम की मांग के दृष्टिकोण से उसका मूल्य भी बढ़ जाता है। यदि श्रम-विभाजन की यह सुविधा न होती तो श्रमिक जीवन भर मशीन के विशाल घेरे में चक्कर काटता रहता, उसकी अनेक क्रियाओं का थोड़ा-थोड़ा ज्ञान प्राप्त कर भी लेता परन्तु उसे कुशल श्रमिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर वह किसी भी उपविभाग को संभालने में असमर्थ रहता। श्रम-विभाजन से अकुशल श्रमिक इस प्रकार चाहे वह अनेक क्रियाओं से भलीभाँति परिचित न हो पर एक विशेष कार्य में दक्ष हो सकता है और अपनी चतुरता से उसमें सुधार करके अपने श्रम के महत्त्व को बढ़ा सकता है।

उत्पादक के दृष्टिकोण से श्रम-विभाजन से उत्पादन व्यय न्यूनतम किया जा सकता है। श्रम-विभाजन की पूर्व स्थिति में उसे श्रमिकों की अधिक संख्या नियुक्त करनी पड़ती थी, अधिक घण्टे काम कराना पड़ता था जिससे निरीक्षण इत्यादि का अतिरिक्त व्यय बढ़ता था। इसके साथ ही प्रत्येक श्रमिक एक पूर्ण-क्रिया को करता था इससे प्रत्येक श्रमिक के पास आवश्यक यन्त्रों और औजारों का होना आवश्यक था। परन्तु श्रम-विभाजन की आधुनिक प्रणाली में यह अतिरिक्त व्यय कम हो गया है। यन्त्रों और औजारों के एक सेट से श्रमिकों का एक समूह काम कर सकता है।

श्रम-विभाजन से बड़ी मात्रा में उत्पादन करने में बड़ी सहायता मिली है आन्तरिक और बाह्य मितव्ययता (Internal and External Economics) का पूरा लाभ उत्पादक के नियन्त्रण में है जिसका वर्णन उत्पादन के क्रमागत-उत्पत्ति-वृद्धि-नियम (Law of Increasing Returns) के अन्तर्गत किया गया है।

यदि उत्पादन क्षेत्र में श्रम-विभाजन का सिद्धान्त लागू न किया जाता तो उपभोक्ताओं को आवश्यक वस्तुएँ सस्ते दामों पर न मिल पातीं। द्रव्य के अभाव में उपभोक्ता अपनी बहुत सी आवश्यकताएँ अतृप्त ही रखते; माँग घटने से उन वस्तुओं का उत्पादन भी कम होता और श्रमिकों की एक बड़ी संख्या बेकार हो जाती। इन अभावग्रस्त प्राणियों का समाज के जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ता। आर्थिक अभाव से रहन-सहन का दर्जा गिरता जाता जिससे लोगों का मानसिक विकास एक सीमा तक रुक जाता। परन्तु श्रम-विभाजन के विकास ने इन समस्याओं को बहुत कुछ हल कर दिया है। वस्तुएँ पर्याप्त मात्रा में, सस्ते मूल्य पर और अधिक अच्छे गुण (Quality) वाली प्राप्त हो सकती हैं। उपभोक्ता अपनी निर्वाचन-शक्ति (Choice) का प्रयोग कर सकता है और न्यूनतम व्यय

से अधिकतम उपयोगिता ग्रहण कर सकता है। वस्तुओं के सरलता से प्राप्त हो सकने से, श्रमिकों और उपभोक्ताओं के समय में बचत होने से और समाज की आर्थिक सम्पत्ति में वृद्धि होने से सारे समाज के रहन-सहन का दर्जा ऊँचा उठा है और मानसिक विकास में पर्याप्त सहायता मिली है। इससे श्रमिकों में सहयोग-भावना का प्रचार भी सम्भव हो सका है। यदि उचित व्यवस्था की जाय तो उनकी इन सुविधाओं से उनके जीवन के प्रत्येक पक्ष का विकास किया जा सकता है। सामाजिक दृष्टिकोण से इसकी अत्यन्त आवश्यकता है।

लाभ के साथ ही श्रम-विभाजन से अनेक हानियाँ भी बतलायी गयी है जिनका विवरण नीचे दिया जाता है।

श्रम-विभाजन की प्रणाली में श्रमिक को उत्पादन-क्रिया के एक उप-विभाग में निरन्तर काम करना पड़ता है। उसकी कार्य-प्रणाली में किसी प्रकार का परिवर्तन शीघ्र नही होता है। परिवर्तन तभी सम्भव होता है जब श्रमिक उस कारखाने में काम करना छोड़कर अन्य किसी दूसरी वस्तु के कारखाने में काम करने लगे या अपनी विशेष कुशलता का परिचय देकर उसी कारखाने के किसी अन्य अच्छे विभाग में नियुक्त कर दिया जाय। परन्तु साधारण रूप से ऐसा कम होता है। श्रमिक निरन्तर एक ही प्रकार का काम करने से ऊब जाता है, उसकी गति में शिथिलता आ जाती है और उसका जीवन नीरस एवं शुष्क हो जाता है। मनुष्य जीवन में एकरसता नही चाहता है। उसे परिवर्तन प्रिय है। जीवन की इसी विभिन्नता-प्रिय प्रवृत्ति के बल पर मनुष्य उन्नति करता है। परन्तु श्रम-विभाजन जीवन के इस प्राकृतिक विकास को रोक देता है।

परिवर्तन से ही मनुष्य की मानसिक शक्ति बढती है। वह वाता-वरण के उपयुक्त अपना जीवन बनाने का प्रयत्न करता है। इस प्रयत्न मे ही वह नवीन आविष्कार करता है, नये विचारो को जन्म देता है और नये वातावरण से बहुत कुछ सीखकर अपने ज्ञान में वृद्धि करता है। परन्तु श्रम-विभाजन से परिवर्तन का अभाव हो जाता है। श्रमिक नित्य एक ही प्रकार मे काम करने के कारण अपने कर्तव्य के प्रति सजग न रहकर उदासीन हो जाता है। उसी जानी-पहिचानी मशीन से अधिक कुछ नही सीख सकता है वरन् स्वय मशीन के एक पुर्जे की तरह काम करने लगता है। इस प्रकार के निरन्तर अभ्यास से उसकी प्रकृति भी इसी प्रकार की उदासीन, अपरिवर्तनशील हो जाती है। उसका मानसिक विकास रुक जाता है। यह श्रमिक और समाज के लिये बहुत हानिकारक बात है।

यदि श्रमिक वस्तुओ का उत्पादन स्वय करता तो वह उसमें इच्छा-

नुसार परिवर्तन कर सकता था। अपनी कार्यक्षमता और कार्यकुशलता का परिचय देकर वह श्रम के महत्व को बढ़ा सकता था। प्राचीन कारीगर अपने कौशल का विकास इसी कारण कर सके क्योंकि वे स्वतन्त्र रूप से अपनी वस्तु का उत्पादन करते थे। नित्य नये प्रयोग करके वस्तु को अधिक आकर्षक बनाने का प्रयत्न करते थे इससे उनका मानसिक विकास भी होता था और उनकी निरीक्षण-शक्ति भी बढ़ती थी। श्रम-विभाजन से श्रमिक के जीवन का यह पक्ष एक प्रकार से नष्ट ही हो गया है। उसे विज्ञान के आविष्कारों के सहारे नियमित रूप से एक विशेष प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन करना पड़ता है जिनमें वह स्वयं कुछ परिवर्तन नहीं कर सकता है। अपनी इच्छा के अनुरूप उसे सुन्दर (Artistic) नहीं बना पाता है। एक क्रिया के उपविभाग करके श्रमिक की शेष कुशलता भी नष्ट हो गयी है। वह पूर्ण क्रिया से अपरिचित होता है। केवल अपने विभाग के कार्य को जानता है। उदाहरणार्थ एक कपड़े की मिल का मजूर यदि वह सूत कातने के विभाग में काम करता है तो कपड़ा बुनने की क्रिया से अपरिचित रहता है या एक जूते के कारखाने का मजूर यदि टाँका लगाने में दक्ष है तो जूते की कटाई व डिजाइन के विषय में पर्याप्त नहीं जानता है। श्रम-विभाजन की आधुनिक प्रणाली से श्रमिक की कुशलता एकांगी हो गई है जो उसके लिये हानिकारक है।

श्रमिक की एकांगी कुशलता का उसके रोजगार पर भी प्रभाव पड़ता है। उसे एक कारखाने से अलग होने पर शीघ्र दूसरे कारखाने में काम मिलना सम्भव नहीं है। यह हो सकता है कि जिस क्रिया में वह दक्ष हो दूसरे कारखानों के उस विभाग में कोई रिक्त स्थान न हो। इस कारण श्रम की गतिशीलता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। श्रमिक की स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है और उसे विवश होकर अपने एक ही स्थान पर कार्य करना पड़ता है।

श्रम-विभाजन से उत्पादन की पूर्ण क्रिया के कई ऐसे उपविभाग भी कर दिये जाते हैं जहाँ काम विशेष जटिल नहीं होता है। ऐसे उपविभागों में उत्पादक सदा बच्चों और स्त्रियों को कम वेतन पर नियुक्त करते हैं और श्रम अधिक करवाते हैं। इससे बच्चों और स्त्रियों का स्वास्थ्य बिगड़ जाता है, उनका शारीरिक और मानसिक विकास रुक जाता है। श्रमिकों में इससे भ्रष्टाचार फैलता है। ऐसे स्थानों में विशेषकर श्रमिक अपनी स्त्री और बच्चों की नियुक्ति करवाते हैं जिससे परिवार के भरण-पोषण के लिये अधिक द्रव्य कमाया जा सके। परन्तु इससे श्रमिक के गृह-जीवन में अशान्ति फैलती है जिसमें लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है। भारतवर्ष के श्रमिक-समाज का गृह-जीवन इसी कारण बहुत गिरा हुआ है।

आधुनिक उत्पादन-प्रणाली मे उद्योग-धन्धों के स्थानीयकरण का विशेष महत्त्व है। बडे पैमाने पर उत्पादन करने के लिये उत्पादक अपने कारखानो को ऐसे स्थानो पर स्थापित करते हैं जहाँ, श्रम, पूंजी, कच्चा माल, खनिज-पदार्थ इत्यादि सरलता से मिल सके और जहाँ सवाद और यातायात की सुविधा से उत्पादन के अतिरिक्त-व्यय कम किये जा सके तथा आन्तरिक और वाह्य मितव्ययता (Internal & External Economics) का पूरा लाभ उठाया जा सके। इससे प्राय उस स्थान के श्रमिक एक ही प्रकार के कारखानो की विभिन्न क्रियाओ मे अभ्यस्त हो जाते हैं और उन्ही पर पूर्णतया निर्भर भी रहते हैं। यदि किसी कारण उद्योग-धन्धे की योजना असफल हो जाय तो उस क्षेत्र के सारे श्रमिक वेकार हो जाते हैं। एकागी ज्ञान के कारण दूसरे अन्य कारखानो में उनकी नियुक्ति शीघ्र नही हो सकती है। कम पारिश्रमिक पर उन्हें दूसरा काम एक अकुशल श्रमिक की तरह करना पडता है। तात्पर्य यह है कि श्रम-विभाजन की इस प्रणाली से श्रमिक की आत्मनिर्भरता समाप्त हो गई है। उसका जीवन उत्पादक की दया पर निर्भर हो गया है। श्रमिक मे काम करने का उत्साह नही रहा है।

श्रम-विभाजन से हुई हानियो का विवेचन कर चुकने के उपरान्त इस वात पर भी विचार कर लेना अनुचित न होगा कि क्या उक्त हानियो का कारण श्रम-विभाजन है? यदि गभीरतापूर्वक उक्त हानियो पर विचार करें तो विदित होगा कि उनका कारण श्रम-विभाजन नही वरन् कुछ और है।

श्रम-विभाजन के अनुसार काम करने से प्रत्येक श्रमिक अपने कार्य में थोडे ही समय मे दक्षता प्राप्त कर लेता है। इससे उसे अवश्य अकुशल मजूर से अधिक पारिश्रमिक मिलता है। यदि उसकी नियुक्ति नये-नये कामो में कर दी जाय तो सव क्रियाओ को पूरा-पूरा समझ सकना उसके लिये दुष्कर हो जायेगा। यदि वह किसी कारणवश कारखाने से अलग हो जाय तो उसकी स्थिति एक अकुशल श्रमिक के समान ही होगी। उसे वेतन कम मिलेगा जिससे उसके जीवन में अनेक नयी समस्याएँ उत्पन्न हो जायेंगी। परन्तु एक कुशल श्रमिक यदि वेकार है तो अकुशल श्रमिक के वरावर अवश्य अर्जन कर सकता है परन्तु अपनी कुशलता के कारण उसकी नियुक्ति शीघ्र हो सकती है और उसे वेतन भी अधिक मिलेगा। किसी कार्य मे, चाहे वह पूर्ण क्रिया का एक उपविभाग ही क्यो न हो, विशेष योग्यता (Specialisation) प्राप्त करना सदा लाभदायक सिद्ध होगा और इसीसे वह सफल-श्रमिक भी हो सकता है। जहाँ तक जीवन में परिवर्तन और भिन्नता (Variety) होने का प्रश्न है यह कहा जा सकता है कि परिवर्तन और भिन्नता वाह्य-जीवन की आवश्यकताएँ है

जिनकी पूर्ति तब तक नही की जा सकती है जब तक जीवन का आधार अर्थात् आर्थिक स्थिति दृढ न हो। यदि श्रमिक को द्रव्य का अभाव है, परिवार की समस्या उसके सामने है तो उसको दूर करने के लिये जीवन की परिवर्तनशीलता और भिन्नता सहायक नही होती है। एक कुशल श्रमिक अपनी विशेष योग्यता के बल पर अधिक पारिश्रमिक लेकर इन समस्याओ को एक अकुशल और भिन्नता-प्रिय श्रमिक से शीघ्र सुलझा लेगा। तात्पर्य यह है कि परिवर्तन और भिन्नता का श्रमिक के कार्य से कुछ विशेष सम्बन्ध नही है। ये श्रमिक के कार्य की सफलता पर निर्भर होते हैं।

यदि श्रमिक को शीघ्र नये काम में नियुक्त किया जाय तो अधिकाश मे श्रमिक अपने कार्य के प्रति सजग नही रहेगा, उसकी पूर्ण क्रियाओ को समझने का कष्ट नही करेगा, क्योकि उसे मालूम है कि शीघ्र ही उसकी नियुक्ति किसी अन्य विभाग मे होगी। इससे उत्पादक की और स्वयं श्रमिक की कार्यक्षमता की हानि होगी। श्रम-विभाजन का मुख्य उद्देश्य है कि उत्पादन अधिक हो, प्रति इकाई उत्पादन-व्यय कम हो और श्रमिको को अधिक वेतन तथा विश्राम मिल सके। अधिक वेतन और अधिक विश्राम श्रमिक की कार्यकुशलता पर निर्भर है और इन्हीके आधार पर वह अपने जीवन में नवीनता का समावेश कर सकता है।

श्रम-विभाजन से प्रत्येक श्रमिक अपने विभाग के कार्य मे दक्ष होता है जिससे उस विभाग द्वारा उत्पादित वस्तु में आकार-प्रकार की सुन्दरता तथा सुडौलता आ जाती है। पूर्ण-क्रिया के उपरान्त जो पूर्ण वस्तु प्राप्त होती है वह काफी आकर्षक होती है। उसके आकार-प्रकार और रग इत्यादि का निर्माण करने मे श्रमिक अपनी बुद्धि का प्रयोग करते है, उनकी दृष्टि सध जाती है और थोडी सी भी भूल उन्हे एकदम खटकने लगती है। उनकी विचार-शक्ति और निरीक्षण-शक्ति की यह तीव्रता उनके मानसिक विकास का फल है। नित्य एक प्रकार का काम करने से श्रमिक के जीवन में अनुशासन (Discipline) और नियमितता (Regularity) का भाव आ जाता है। स्वभाव बन जाने से कार्य शीघ्र होता है जिससे उसे मानसिक अशान्ति नही सताती है। अतएव यह नही कहा जा सकता कि श्रम-विभाजन श्रमिक के मानसिक विकास को रोकता है बल्कि श्रम-विभाजन से श्रमिक का जीवन नियन्त्रित और सन्तुलित होता जाता है। इसके फलस्वरूप ही श्रमिक के कार्य के घण्टे कम हो गये है। इस खाली समय में यदि उसके मनोरजन की उचित व्यवस्था नही की गयी है, उसके ज्ञानवर्धन के लिये पुस्तकालय नही खोले गये है, खेल और व्यायाम का ठीक प्रबन्ध नही किया गया है तो अवश्य श्रमिक का मानसिक विकास एक सीमा पर रुक जायेगा और वह जीवन में वाछित

प्रगति नही कर सकेगा। उसके रहन-सहन के ढग मे उन्नति न हो सकेगी क्योकि उसकी उन्नति के लिये द्रव्य के साथ अन्य सुविधाओं की भी आवश्यकता होती है। परन्तु उसके लिये श्रम-विभाजन को दोष नही दिया जा सकता है। यह हमारे समाज की व्यवस्था का दोष है। ससार के प्रगतिशील देशो में श्रम की महत्ता को स्वीकार किया गया है और उनमें श्रमिक के जीवन के चतुर्मुखी विकास के लिये सफल प्रयत्न भी किये गये हैं।

श्रमिक की सूझ और उसके प्रयत्नो से ही वैज्ञानिक आविष्कार हुए हैं। विभिन्न प्रकार के यन्त्र बने हैं जिनकी सहायता से किया गया काम सुन्दर होता है। उनमे पर्याप्त कलात्मकता अपनी चमक के साथ होती है। विभिन्न प्रकार की कलात्मक वस्तुओं का उत्पादन करनेवाले श्रमिकों की रुचि पर इसका काफी प्रभाव पडता है। उनमें भी कला की भावना जागृत होती है। जितनी भी सुन्दर तथा कलापूर्ण वस्तुएँ आज ससार मे प्राप्त हैं सबके निर्माता श्रमिक ही हैं। जब हम यह कहते हैं कि श्रम-विभाजन मे श्रमिकों की स्वतन्त्र निर्माण-कला और उसकी रुचि का विकास रुक गया है तब हम 'कला' का उचित अर्थ में प्रयोग नही करते हैं। एक मूर्तिकार जब एक सुन्दर प्रतिमा का निर्माण करने के लिये अपनी छेनी और हथौडी का प्रयोग करता है और अपनी रुचि के अनुकूल पत्थर को विभिन्न सजीव से रूप देता है उस समय श्रम-विभाजन का सिद्धान्त वहाँ लागू नही होता है। इसी प्रकार काश्मीर का काढनेवाला अपनी इच्छा के अनुसार वेल-बूटे काढता है। इस प्रकार की कला का अपना निजी मूल्य (Personal Artistic Value) है, श्रम-विभाजन से उसका निर्माण नही होता है। परन्तु इसी प्रकार की कला का एक दूसरा रूप भी होता है जिसका सामूहिक मूल्य होता है। इसके निर्माण में श्रम-विभाजन का सिद्धान्त लागू होता है। एक या अनेक अत्यन्त कुशल (Highly skilled) कलाकार (Drafter) अपनी पूरी शक्ति से एक वस्तु-विशेष की डिजाइन बनाते है, उसी वस्तु के विभिन्न डिजाइन भी बनाये जाते है, जैसे मोटर, कारें इत्यादि। श्रम-विभाजन के द्वारा उन कलापूर्ण डिजाइनो को अनेक श्रमिक पूर्ण रूप देते हैं और अनेक समान, सुन्दर और सुडौल वस्तुओ का उत्पादन किया जाता है जैसे, मोटरकारो की अनेक एक-से-एक आकर्षक और कलापूर्ण डिजाइने देखने को मिलती है। प्रत्येक उत्पादक अधिक से अधिक कलापूर्ण वस्तुओ का निर्माण करना चाहता है और श्रम-विभाजन की प्रणाली से एक कला-कृति के अनेक प्रतिरूपो का सारे ससार में उपभोग किया जाता है । इसी प्रकार फाउन्टेनपेन का उदाहरण ले सकते हैं। कला की दृष्टि से उसकी विभिन्नता का सारा श्रेय श्रम-विभाजन की प्रणाली और उसके श्रमिको को दिया जाना चाहिये। यह तो निस्सन्देह

सच है कि श्रम-विभाजन द्वारा उत्कृष्ट कलापूर्ण वस्तु का ही उत्पादन किया जाता है। अनेक छोटे-छोटे कलाकारो से कुछ अत्यन्त कुशल कलाकार कही अधिक अच्छे और लाभदायक है। उनके परिश्रम से ही समाज की कला-भावना को जागृत किया जा सकता है। कला एव कलाकार का आज व्यक्तिगत नही सामूहिक महत्त्व अधिक है जिसे न समझने के कारण ही हम श्रम-विभाजन को श्रमिक की कला के ह्रास का कारण समझते है जब कि कला का विकास सदा श्रमिक की सूझ व उसके प्रयत्नो से हुआ है।

यह अवश्य सच है कि श्रमिक श्रम-विभाजन के कारण उत्पादन की क्रिया के एक छोटे भाग को ही जानता है परन्तु इसके साथ ही यह भी कहना चाहिये कि प्रत्येक श्रमिक अपने कार्य को बड़ी कुशलता से करता है। किसी भी वस्तु का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकना मनुष्य के लिये असम्भव है। वास्तव में सौन्दर्य तो वहाँ है जहाँ कार्य कुशलता से पूर्ण किया जाता है चाहे वह पूरे कार्य का छोटा अश ही क्यो न हो।

श्रम-विभाजन के विरुद्ध सबसे बडा आरोप यह लगाया जाता है कि इसमे श्रमिको के घरेलू-जीवन की शान्ति भंग हो जाती है, श्रमिको का स्वास्थ्य बिगड जाता है, भ्रष्टाचार फैलता है और स्त्री व बच्चो का उत्पादक शोषण करते हैं। परन्तु श्रम-विभाजन इसके प्रति उत्तरदायी नही है। वह समाज और उत्पादक दोनो के हित के लिये एक उत्पादन-क्रिया है। इसका उत्तरदायित्व समाज की वर्तमान व्यवस्था पर है, जिसके कारण स्त्री और बच्चो का शोषण संभव हो सका है तथा अन्य बुराइयाँ पैदा हुई हैं। यदि उत्पादन की श्रम-विभाजन की प्रणाली को समाप्त कर दिया जाय और सारे श्रमिको को एक साथ काम करने को कहा जाय तो क्या उक्त समस्याएँ सुलझाई जा सकती हैं? वर्तमान आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये श्रम-विभाजन-प्रणाली अत्यावश्यक है। श्रमिक-वर्ग को उक्त सकट से बचाने के लिये समाज-व्यवस्था को आवश्यकतानुसार बदलना आवश्यक है।

'स्थानीयकरण' से उत्पन्न हानियो को दूर करने का साधारण ढग यह है कि एक स्थान पर अनेक प्रकार के कारखानो की स्थापना की जाय जिससे विभिन्न कार्यों में कुशल श्रमिक उत्पन्न हो। परन्तु यदि कोई उद्योग-धन्धा असफल होता है तो फलस्वरूप कुशल और अकुशल दोनो प्रकार के श्रमिक बेकार हो जाते हैं। श्रम-विभाजन अथवा स्थानीयकरण को हटाकर नही वरन् नये उद्योग-धन्धे स्थापित करके बेकार श्रमिको को काम दिलाने की व्यवस्था की जा सकती है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि श्रम-विभाजन को इन कथित हानियो का उत्तरदायी नही बनाया जा सकता। श्रमिको के मानसिक तथा शारीरिक विकास, उनके घरेलू जीवन में सुख और शान्ति, उनके रहन-सहन के ढग में उन्नति और उनकी रुचि परिष्कृत करने के लिये समाज-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करने की आवश्यकता है जिससे श्रम-विभाजन के अनेक लाभो का श्रमिक एव समाज के अन्य वर्ग पूरा लाभ उठा सके।

अभ्यास के प्रश्न

१ श्रम-विभाजन का क्या अर्थ है? इसके लाभ और हानियो का विस्तृत विवेचन कीजिये।

२ श्रम-विभाजन का वस्तु के उत्पादन-व्यय पर क्या प्रभाव पडता है? उदाहरण सहित समझाइये।

३ श्रम-विभाजन की जिन हानियो का साधारणत वर्णन किया जाता है क्या वास्तव में उन्हें हानियाँ कहा जा सकता है?

अध्याय ४५

श्रमिक और मशीन

औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) के समय श्रमिको ने मशीन के विरुद्ध अपने रोष की तीव्रता को प्रकट किया था। उनकी दृष्टि में मशीन उनके जीवित रहने के सभी साधनो को छीनने और उन्हे भूखा मारने के लिये बनायी गयी थी। विज्ञान के अन्य आविष्कारो का प्रारम्भ में स्वागत और प्रयोग एक भयानक ढग से किया गया जिससे मनुष्य के विवेकी होने पर सन्देह होने लगता है। परन्तु आज पश्चिम में विज्ञान का हर क्षेत्र से स्वागत किया जाता है, मशीनो को बडे हर्ष के साथ प्रयोग में लाया जाता है, नवीन आविष्कारो के प्रति विशेष स्वागत का भाव समाज मे आ चुका है। परन्तु इसके साथ ही औद्योगिक क्रान्ति की वह मशीन-विरोधी-भावना समय-समय पर प्रकट होती रहती है। पूर्व मे विशेषकर भारतवर्ष मे तो मशीनो के प्रयोग के प्रति एक असन्तोष और विरोध की भावना काफी गहरी है। महात्मा गाधी के मशीन विरोधी होने के प्रमाण देकर उत्पादन के प्राचीन, अविकसित, अनुपयुक्त और पिछडे हुए साधनो का प्रयोग करने का आन्दोलन ही चल निकला है। यह कहा जाता है कि देश की जनता को आत्मनिर्भर, स्वावलम्बी और सुखी बनाने के लिये मशीनो का कम से कम प्रयोग करना चाहिये और देश के औद्योगीकरण (Industrialisation) को रोकना चाहिये। प्राय ऐसे व्यक्ति अपने पक्ष की पुष्टि के लिये ढाका की मलमल, काश्मीर की काढने की कला इत्यादि के विकास का रगीन चित्र जनता के सम्मुख रखकर मशीन के प्रयोग से उनके ह्रास के भयंकर परिणामो, मजूरो की दिन-प्रतिदिन बिगडती दशाओ और शोषण की करुण कहानियो का वर्णन करते रहते हैं। औद्योगिक क्रान्ति के समय पश्चिम में मशीनो के विरुद्ध आन्दोलन का प्रधान तर्क था जीवित रहने के साधनो का छीना जाना, बेकारी और भुखमरी। उनका दृष्टिकोण शुद्ध भौतिकवादी था। परन्तु वही भावना भारतवर्ष मे कला के ह्रास और श्रमिको तथा कलाकारो की विवशता का हृदयस्पर्शी तर्क प्रस्तुत करती है। यदि मशीन के विरुद्ध इस आन्दोलन का विश्लेपण किया जाय, भावुकता, जातीयता और वर्ग-भावना से रहित होकर इस समस्या पर सोचा जाय, तो विदित होगा कि इसके मूल मे दो बातें है—(१) अवैज्ञानिक दृष्टिकोण और (२) स्वार्थ।

इसमें किंचित् मात्र भी सन्देह नही है कि उत्पादन की प्रणाली

हुआ थोड़ा सा परिवर्तन समाज के जीवन और उसकी विचारधारा पर गंभीर प्रभाव डालता है। उत्पादन के लिये मशीनों का प्रयोग करके जनता को हानि अवश्य हुई पर उस हानि के मुख्य स्रोत को न जान केवल साधन को नष्ट कर देने का प्रयत्न जनता की बुद्धिमानी नहीं कही जा सकती है। उत्पादन कभी जनता के हाथ में नहीं था और वह कभी उसका प्रयोग अपने लाभ के लिये नहीं कर सकी है। उसे सदा उत्पादन-केन्द्रों पर निर्भर रहना पड़ता है और अपनी अदूरदर्शिता के कारण वह उन केन्द्रों के पीछे काम करनेवाली प्रबल शक्ति को नहीं देख सकी है। इस अवैज्ञानिक दृष्टिकोण से वह उत्पादन के स्वार्थ को नहीं समझ सकती है जिस कारण यदि कोई उसे उसके सुनहले अतीत की याद दिला देता है तो बिना उसकी परीक्षा किये मशीनों के विरुद्ध अपना प्रबल विरोध प्रकट करने में नहीं चूकती है। नीचे हम मशीनों के लाभ एवं हानियों का विवरण देते हैं।

मशीन आज के युग की अपनी विशेषता है जिस कारण उसे मशीन का युग कहा गया है। देश की जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है, उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती और बदलती जा रही हैं, वह अपने कार्यों में सरलता चाहता है। यदि ऐसी स्थिति में मशीनें न होतीं तो जुलाहों के चौबीस घण्टे परिश्रम करने पर भी मनुष्यों को पहनने के लिये, सजावट और अन्य प्रयोगों के लिये सैकड़ों प्रकार का करोड़ों गज कपड़ा प्राप्त नहीं हो सकता। मनुष्यों को यदि वे एक बार कपड़ा प्राप्त कर लेते तो महीनों उसी पर निर्भर रहना पड़ता। इससे उनके जीवन में आकर्षण और परिवर्तन का महत्त्व नहीं रहता जिसमें उत्साह और सुरुचि के बीज होते हैं। हजारों लोहार अपनी धौंकनी और हथौड़ों से समुद्र के समान फैली जनसंख्या के बर्तनों, हथियारों तथा निर्माण के अन्य साधनों की पूर्ति कर सकते इसमें सन्देह है। यदि मनुष्यों को अनेक प्रकार की वस्तुओं की आवश्यकता न रहती तो उसको प्रगतिशील प्राणी नहीं कहा जा सकता। उसमें पशु का सन्तोष होता जिसमें जिज्ञासा नहीं होती है। जिज्ञासा ही समाज के विकास और सभ्यता के विकास का मूल कारण है।

मनुष्य यह कभी नहीं चाहता है कि वह दिन और रात के हर घण्टे परिश्रम और चिन्ता में बिताये। वह स्वभाव से विश्राम चाहता है। शारीरिक परिश्रम की भी एक सीमा होती है। अधिक शारीरिक परिश्रम करने से मनुष्य का मानसिक विकास नहीं हो सकता है। उसमें और मशीन में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता है। परन्तु यदि मशीन के स्थान पर वह अपने अविकसित, अवैज्ञानिक औजारों से उत्पादन करेगा तो निश्चय ही उसे विश्राम करने के लिये समय कम मिलेगा साथ ही माँग पूरी न

कर सकने की चिन्ता में भी डूबा रहेगा। इससे उसका जीवन नीरस और दुखी रहेगा। परन्तु मशीनो के प्रयोग से मनुष्य के शारीरिक श्रम की मात्रा अत्यन्त कम हो गयी है। उनके काम के घण्टे कम कर दिये गये हैं। वह अपने विश्राम के समय अपने परिवार के साथ, अन्य सब समस्याओं से दूर होकर, कुछ क्षण आनन्द मना सकता है, पुस्तकालयों और अन्य अच्छे मनोरंजन के साधनो का उपयोग कर सकता है, क्लबो मे अपनी अन्य समस्याओं पर विचार-विमर्श करके उनको हल कर सकता है। वह कुछ घण्टे मशीन के साथ काम करने के बाद सभ्य समाज के बीच अपने लिये स्थान बना सकता है। भारत के किसान लू के थपेड़ो को सहते हुए दोपहर में नंगे बदन हल और बैलो के पीछे अपनी अधिकांश शक्ति का व्यय करके कुछ खेत जोत पाते हैं। इतने परिश्रम से भी जुताई अच्छी नही हो पाती। परन्तु यदि वही किसान ट्रैक्टर की सहायता से खेत जोते तो समय भी कम लगेगा और जुताई अच्छी होगी। कम समय मे कई एकड बंजर भूमि को जोतकर वह आबाद कर सकता है। भूगर्भ से तेल निकालने के लिये मशीनो का प्रयोग आवश्यक है। एक ही खनिज पदार्थ को निकालने, उसे साफ करने और उसका उत्पादन में प्रयोग करने मे मशीनों की सहायता अनिवार्य है क्योंकि इन क्रियाओं में प्राय ऐसी गैस या ऐसे अन्य पदार्थ (बाइ-प्रॉडक्ट) मिलते है जिनसे बहुत लाभ होता है। इसमे समय भी कम लगता है और नयी वस्तुओं की खोज भी हो जाती है। मशीनो के साथ श्रमिक को केवल निरीक्षण और नियन्त्रण का काम अधिक करना पड़ता है जिससे उसकी विचार-शक्ति तीव्र होती है और वह तुरन्त परिणाम पर पहुँच सकता है। उदाहरणार्थ नगर मे बिजली व पानी देनेवाली कम्पनियो में श्रमिक को मशीनों में शारीरिक परिश्रम कम और मानसिक परिश्रम अधिक करना पडता है।

मशीनो की सहायता के बिना बड़ी मात्रा मे उत्पादन नही किया जा सकता है जिसकी आधुनिक युग में परम आवश्यकता है। बड़ी मात्रा मे उत्पादन करने से स्थानीयकरण की एव आन्तरिक तथा बाह्य मितव्ययताओं की सुविधा मिलती है। प्राकृतिक शक्तियो और भू-गर्भ के खनिज पदार्थों का पूरा-पूरा उपयोग करके देश की सम्पत्ति को बढाया जा सकता है। उत्पादन-व्यय प्रति इकाई कम होता है जिससे उपभोक्ता को वे वस्तुएँ सस्ते मूल्य पर मिल जाती है। इसके साथ ही मशीनों के द्वारा एक वस्तु का उत्पादन चाहे उसकी मात्रा कितनी ही हो एक समान, सुडौल, आकर्षक और एक गुण का होता है जिससे उपभोक्ता को धोखे की आशंका नही होती है। यदि ये वस्तुएँ हाथ से बनाई जाती तो उनमें

इतनी सुडौलता, चिकनापन इत्यादि गुण नही हो सकते हैं क्योंकि सभी श्रमिक समान नही होते हैं और केवल एक श्रमिक सारी मांग की पूर्ति नही कर सकता है। पाश्चात्य देशो में भोजन बनाने, बर्तन धोने, कपड़े धोने, सफाई करने इत्यादि छोटे-छोटे काम मशीनो द्वारा किये जाते हैं। वहाँ मनुष्य का सारा काम मशीन से लिया जाता है परन्तु कमी इतनी ही है कि मशीन सोच नही सकती है।

विज्ञान के द्वारा मशीनो का आविष्कार करके मनुष्य ने क्रमश प्रकृति की बहुत सी शक्तियो पर अधिकार कर लिया है। यदि वह इन शक्तियो को अपने जीवन को सुखी और समृद्धिशाली बनाने के लिये प्रयोग नही करता है तो यह उसकी मूर्खता होगी। आकाश के विस्तार पर हवाई जहाजो के द्वारा और समुद्र के विस्तार पर जलयानो के द्वारा विजय प्राप्त कर ली है। रेडियो, टेलीविजन इत्यादि से ससार का एक कोना दूसरे कोने से जुडा हुआ है। मनुष्य समय पर नियन्त्रण रख सकता है और प्रति मिनट की अधिकतम उपयोगिता का लाभ उठा सकता है। व्यापार, शिक्षा, सस्कृति, साहित्य इत्यादि देश की सीमा कभी लाँघ चुके थे। आज उनको अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण के बिना समझा नही जा सकता है। इससे मनुष्य का दृष्टिकोण व्यापक होता जाता है। यदि मशीन की सहायता से यथार्थ मे विश्वबन्धुत्व की प्राप्ति हो सके और परस्पर सम्पर्क से जीवन का बहुमुखी विकास हो सके तो इससे अधिक लाभ और क्या हो सकता है? यही तो मनुष्यता का आदर्श रहा है।

मशीनो के प्रयोग से विभिन्न प्रकार के उद्योग चलाये जाते है और उनमें अनेक प्रकार की मशीनो का प्रयोग किया जाता है। इससे श्रमिक अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी प्रकार के उद्योग मे काम कर सकता है। अनेक प्रकार के उद्योग होने से बेकारी कम होती है। श्रमिक श्रम-विभाजन के अनुसार काम करते है जिससे बहुत शीघ्र वे अपने काम मे कुशल हो जाते हैं। कुशल श्रमिक की सभी जगह माँग रहती है और वह अधिक पारिश्रमिक पर दूसरे उद्योग में काम कर सकता है।

मशीनो के प्रयोग से यातायात और सवाद की बडी उन्नति हुई है। अनेक मील दूर से कच्चा माल कम व्यय पर रेलगाडियो द्वारा उत्पादन केन्द्रो तक पहुँचाया जा सकता है। तार, टेलीफोन के द्वारा एक व्यापारी दूसरे से कुछ क्षणो में समझौता कर सकता है तथा इनके द्वारा उत्पादको को वस्तुओ के चढते-गिरते भावो का भी शीघ्र पता चलता रहता है जिसके अनुसार वे अपने उत्पादन को घटा-बढा सकते है।

प्राय प्रत्येक उत्पादक देश की और अन्तर्देशीय राजनीति मे विशेष उत्सुकता दिखलाता है। रेडियो के द्वारा उसे सट्टे-बाजार की स्थिति तथा

युद्ध की सम्भावना पर समाचार आसानी से मिल जाते हैं। यदि संसार में किसी छोटे से भाग में भी युद्ध हुआ तो वह उत्पादन में घटती-बढती करके अधिकतम लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।

मशीन के द्वारा उत्कृष्ट कला का (जिसका उपभोग पहले कुछ गिने-चुने लोग कर सकते थे) अधिक प्रचार किया जा सकता है। सस्ते मूल्य में अधिक उपभोक्ता उसका क्रय करके कला के विकास में सहायता कर सकते हैं। दूर-दूर देशो के चित्रकारो, नक्काशी करनेवालो इत्यादि की कला का हम मशीनो और श्रम-विभाजन की सहायता से घर बैठे उपभोग कर सकते हैं। यदि मशीनो का प्रयोग न किया जाय तो कलाकार या तो अज्ञात ही मर जायेगा या उसकी कला कुछ व्यक्तियो तक ही सीमित रह जायेगी जो उसका शोषण भी कर सकते है। इससे सर्वसाधारण में कलाप्रियता का प्रचार एव प्रसार नही किया जा सकेगा। आज मशीनो की सहायता से ही विश्व के उच्चकोटि के सगीतज्ञो, नाटककारो, कवियो इत्यादि से हम अपने जीवन को प्रभावित पाते हैं। इनसे हमारे अन्दर भी कुछ करने का उत्साह जागता है, इनसे प्रेरणा पाकर हम अपने देश के सास्कृतिक जीवन का विकास कर सकते हैं।

हानियाँ—मशीन से अनेक हानियाँ भी बताई जाती हैं। भारतवर्ष में मशीन कलाकारो की दुश्मन मानी गयी है। बहुत से व्यक्तियो का विचार है कि यदि मशीन न होती तो भारतवर्ष की हस्तकला का विकास आज बहुत अधिक हो गया होता। ढाके की मलमल के कई गज का थान बाँस की छोटी सी नली के अन्दर आसानी से समा सकता था। मशीनो के प्रयोग से उनकी इस कला का ह्रास हो गया। प्राय: उपभोक्ता मशीन से बनी सस्ती वस्तुओ का उपभोग करने लगे।

पहले श्रमिक स्वावलम्बी था और अपने उत्पादन के विकास में लगा रहता था जिससे उसको भी लाभ होता था और समाज मे उसका आदर भी होता था। परन्तु मशीनो के प्रयोग से उसके उद्योग का पनप सकना असम्भव हो गया। वह पारिश्रमिक पर मशीन के पुर्जे की तरह कारखानो में काम करने के लिये विवश हो गया। मशीनो के प्रयोग से उसका स्वतन्त्र विकास रुक गया और व्यक्तिगत गुणो का कुछ महत्त्व शेष नही रहा।

मशीनो के प्रयोग से प्रति इकाई उत्पादन व्यय घटाया जा सकता है और बडी मात्रा में उत्पादन करके उपभोक्ताओं को सस्ते मूल्य मे वस्तु दी जा सकती हैं। इससे घरेलू उद्योग-धन्धो को गहरी हानि पहुँची है। जो गाँव पहले स्वावलम्बी थे अब उत्पादको पर निर्भर हो गये हैं।

मशीनो का प्रयोग होने से पहले कारखानो मे श्र[illegible]

थी और उन्हें पारिश्रमिक भी उचित मिलता था। परन्तु मशीनों के आ जाने से बहुत अधिक श्रमिक बेकार हो गये हैं। यंत्र-सम्बन्धी आविष्कारों से बेकारों की संख्या बढ़ती जा रही है। इस कारण समाज में गरीबी बढ़ती है जिससे श्रमिकों का शारीरिक और मानसिक पतन हो जाता है। इससे भ्रष्टाचार फैलता है। इसके साथ ही मशीनों से श्रम-विभाजन प्रणाली के अनेक दोष हैं जिनका वर्णन हम 'श्रम-विभाजन' शीर्षक में कर चुके हैं। उद्योग-धन्धों के स्थानीयकरण से भी जिसका मूल कारण मशीनों का प्रयोग है श्रमिकों को अनेक हानियां होती हैं। उनका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है, स्त्री, बच्चों से अत्यधिक परिश्रम कराया जाता है, अनेक मजदूरों के एक स्थान पर एकत्रित होने से उनमें विभिन्न बुराइयां फैलती हैं जिनसे सारे देश को हानि होती है।

मशीन के विरुद्ध सबसे बड़ा आरोप यह है कि इसके प्रयोग से विश्व की शान्ति भंग हुई है। मनुष्य में सन्तोष नहीं रहा है। स्वार्थ की प्रबलता से वह परस्पर युद्ध करता है। इसका अधिक प्रयोग करके पश्चिम की भौतिकवादी सभ्यता कई बार रक्त से नहा चुकी है और मनुष्य की आध्यात्मिक प्रवृत्ति लुप्त हो गयी है। यदि मशीनों का प्रयोग न होता तो समाज में ऐसी दुखद घटनाएँ न घटतीं और प्रत्येक गाँव स्वावलम्बन के तरीके पर चलकर शान्ति से जीवन व्यतीत करता। परस्पर उत्पादन सम्बन्धी संघर्ष न होते और मनुष्य की आवश्यकताएँ इतनी अधिक न बढ़तीं जिससे सुख और सन्तोष ही न रहे। यदि मनुष्य मशीन को त्याग कर परस्पर समझौता करके अपनी आवश्यकताओं को स्वयं ही पूरा कर लेंगे तो यह भूमि ही स्वर्ग बन जायेगी; मनुष्य की हिंसक प्रवृत्ति लुप्त हो जायेगी और परस्पर शोषण और शोषित का समुदाय न बनेगा।

उक्त सभी हानियाँ अपना विशेष महत्त्व रखती हैं। मशीन के प्रयोग से ये समाज में सर्वत्र फैल रही हैं। मनुष्य की विचारधारा को इन्होंने विषैला कर दिया है। परन्तु यह पहले कहा जा चुका है कि इस व्यावहारिक सत्य के पीछे जो वास्तविकता है उसकी ओर मनुष्यों का ध्यान बहुत कम गया है इसी कारण वे मशीन को हटाने की माँग करते हैं। अब यहाँ यह विचार करना आवश्यक है कि उक्त सभी बुराइयों को दूर किया जा सकता है या नहीं।

मशीन से पैदा हुई अधिकांश बुराइयों को समाप्त किया जा सकता है। मशीन स्वयं कुछ नहीं कर सकती है। मनुष्य उससे जैसा चाहे काम ले सकता है। यदि हम उत्पादन क्षेत्र में एक दृष्टि डालें तो यह विदित होगा कि उत्पादक का मुख्य ध्येय नफा कमाना है और वह सदा इसमें

वृद्धि चाहता है। अतएव वह विना श्रमिक की कठिनाइयो और उसके समाज पर प्रभाव पर ध्यान दिये उत्पादन के ढग मे परिवर्तन करता जाता है। श्रमिको के स्थान पर अधिक मशीनो के प्रयोग से उसका उत्पादन व्यय कम होता है और उपभोक्ता को वस्तु सस्ते मूल्य पर मिल सकती है। दूसरी ओर एकाधिकार और प्रतिस्पर्धा होने से प्रत्येक उत्पादक बाजार पर अपना प्रभाव अधिक चाहता है। इस सघर्ष मे छोटे उद्योग तथा कारखाने वन्द हो जाते हैं जिससे श्रमिको की वेकारी वढती है। वडे उत्पादक मशीनो की सहायता से कम समय में इतना अधिक उत्पादन कर देते हैं जितनी कि माँग नही होती है। इस कारण अधिक उत्पादन (Over-production) के फलस्वरूप उत्पादक को और उत्पादन वन्द कर देना पडता है। इससे वस्तु के मूल्य मे कमी आ जाती है पर उद्योग वन्द हो जाने से श्रमिको की अधिकाश सख्या वेकार हो जाती है। श्रमिको की माग कम और पूर्ति वहुत अधिक होने मे उनका पारिश्रमिक भी वहुत घट जाता है। एकाधिकारी जनता का शोषण करने में नही हिचकता। तात्पर्य यह है वर्तमान उत्पादन प्रणाली में जनता की क्रय-शक्ति घटती जाती है और उत्पादको के लाभ की पूंजी में निरन्तर वृद्धि होती रहती है। समाज की निर्धनता पर उनका पूर्ण नियन्त्रण रहता है। उनके लाभ से समाज की आर्थिक दशा सुधारने का कोई प्रयत्न नही किया जाता है।

यह सव दोष उत्पादन की पूंजीवादी व्यवस्था के हैं न कि मशीन के। यदि मशीन का प्रयोग न करने का आन्दोलन चलाया जायेगा तो इससे समाज को तो कुछ लाभ नही हो सकता परन्तु परोक्ष रूप से पंजीवादी व्यवस्था को लाभ पहुँचता है। क्योकि अव उत्पादन के लिये मशीनो का प्रयोग नही छोडा जा सकता है, परन्तु शोषित और पीडित जनता का ध्यान ठीक लक्ष्य—अर्थात् व्यवस्था में परिवर्तन करने—की ओर से हटाकर एक असम्भव क्रिया की ओर लगा दिया जाता है।

हमें उत्पादन प्रणाली का ऐसे सगठन करना होगा जिससे समाज का अधिकतम लाभ हो, राष्ट्र शक्तिशाली हो सके और व्यक्तिगत लाभ न्यूनतम हो। किसी एक व्यक्ति को पूंजी के वल पर समाज का शोषण करने का अधिकार न रहे। समाज स्वय अपने लिये उत्पादन करे, उसका वितरण और क्रय-विक्रय करे। इससे राष्ट्र की सभी खनिज पदार्थों की और प्राकृतिक शक्ति की सम्पत्ति का पूरा उपयोग किया जा सकेगा और श्रम की कार्यकुशलता और कार्यक्षमता में वृद्धि होगी। विशेष योग्यता और कुशलता का प्रयोग कुछ उत्पादको के लाभ के लिये न होकर सम्पूर्ण समाज के लिये होगा। लाभ से समाज के वहुमुखी विकास की योजनाओं को कार्यान्वित किया जा सकेगा।

उत्पादक प्राय राजनीति में उलझे रहते है। उनका मुख्य उद्देश्य राज्य की सरकार पर अपनी पूँजी का अनुचित प्रभाव जमाना होता है। ससार मे जितने भी छोटे-वडे युद्ध होते है इनसे जनता की जान और माल की अथाह हानि होती है परन्तु ससार के प्रथम श्रेणी के उत्पादको तथा पूँजीपतियो को उसी मात्रा मे लाभ होता है। अपने लाभ के लिये पूँजी-पति युद्ध की अधिक इच्छा करता है। यदि हम तटस्थ होकर देखें तो अणु की असीम शक्ति और अन्य मशीनो के योग से वडे-वडे रेगिस्तानो को उपजाऊ वनाया जा सकता है, वर्फीले भागो में खेती की जा सकती है, नदियो के प्रवाह को रोककर उसका मार्ग वदला जा सकता है और उससे अथाह विजली की शक्ति प्राप्त की जा सकती है जिससे गाँव के घर-घर में प्रकाश और सफाई की व्यवस्था की जा सकती है। कुछ ही समय में किसी भी विकास की योजना पर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे विचार-विमर्ष किया जा सकता है। परन्तु समाज की व्यवस्था कुछ ऐसी है कि अणु की तथा अन्य मशीनो की शक्ति से हरे-भरे लहलहाते खेतो, वसे हुए वडे-वडे शहरो, सहस्रो नर-नारी एव वच्चो का क्षण भर में विनाश किया जा रहा है। यह योजनाएँ वनायी जा रही है कि इस विनाश को और शीघ्र और अधिक क्षेत्र में कैसे किया जा सकता है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के लाभ को अपना वनाना चाहता है। परन्तु समाज या जनता इन योजनाओ की दोषी नही है और न मशीने। इसकी दोषी है पूँजी की व्यवस्था जिसे समाज को अपनी व्यवस्था में वदलना है।

ससार के कुछ प्रगतिशील देशो में मशीन और श्रमिक के इस सघर्ष को समाप्त कर दिया गया है। योजनानुसार उत्पादन करके अधिक उत्पादन और व्यापार की मदी की समस्याओ को हल कर लिया है। वहाँ का समाज अपने उत्पादन पर पूर्ण नियन्त्रण रखता है। अपने पूर्ण कौशल, योग्यता और अपनी नयी वैज्ञानिक खोजो का समाज के लाभ के लिये उपयोग करता है। रूस की पचवर्षीय योजना की अपूर्व सफलता ने उसके आलोचको को सोचने के लिये विवश कर दिया है। यदि मशीन और श्रम के सदुपयोग से ससार का एक भाग लाभान्वित हो सकता है तो इसमें कोई सन्देह नही कि अन्य भागो में भी इस उद्देश्य में पूर्ण सफलता प्राप्त की जा सकती है जिसके लिये हमें अपना दृष्टिकोण वैज्ञा-निक वनाना पडेगा क्योकि स्वार्थ की शक्ति को भावुकता से पराजित नही किया जा सकता है।

अभ्यास के प्रश्न

१. श्रमिक और मशीन का क्या सम्बन्ध है ? सक्षेप में समझाइये।
२. क्या यह कहा जा सकता है कि मशीनो के प्रयोग से श्रमिको की व्यक्तिगत कला मे ह्रास हुआ है ? उदाहरण देकर समझाइये।
३. श्रमिको की कार्यकुशलता पर मशीनो का क्या प्रभाव पड़ा ह ?

अध्याय ४६

पूँजी (Capital)

भूमि और श्रम के पश्चात् उत्पादन का तीसरा मुख्य साधन पूंजी है। यद्यपि पूंजी में भूमि और श्रम दोनो के तत्व विद्यमान है परन्तु इस पर भी पूंजी अपने महत्त्व के कारण उत्पादन का एक स्वतन्त्र साधन समझी जाती है।

भूमि या श्रम को स्वतन्त्र रूप से उत्पादन नही कर सकते है। उनकी निष्क्रियता दोनो के सयोग से ही दूर हो सकती है। प्राय मनुष्य अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के निमित्त इन दोनो साधनो का प्रयोग विभिन्न मात्राओ में करता है। जव केवल वर्तमान की आवश्यकता की पूर्ति वाछित है तो इनका प्रयोग कम मात्रा में किया जायेगा; परन्तु यदि वर्तमान के साथ ही भविष्य का भी ध्यान हो तो इनका प्रयोग अधिक मात्रा में होगा। उपभोग करने के पश्चात् जव सचय का भाव आता है तव उत्पादित-वस्तु की सचित की गई मात्रा सम्पत्ति कहलाती है। यदि इस सम्पत्ति को और अधिक उत्पादन करने के लिये प्रयोग में लाया जाय जिससे अधिक आवश्यकताओ की तृप्ति की जा सके तो यह सम्पत्ति पूंजी वन जाती है। इस सम्पत्ति में उत्पादन करने की शक्ति निहित रहती है और यह उत्पादन मनुष्य की आवश्यकताओ की सन्तुष्टि के लिये होता है।

इस दृष्टि से यदि पूंजी के विकास का अध्ययन करें तो यह प्रतीत होगा कि पूंजी एक विशेष प्रकार की वस्तु नही है और न वह एक प्रकार की वस्तुओ का समूह ही है। इसके विपरीत विश्व में श्रम और भूमि के सयोग से, चाहे वह किसी मात्रा में हो या किन्ही परिस्थितियो मे हो, उत्पादन होता है जिससे मनुष्य को अपनी उस स्थिति में लाभ होता है तो निश्चय ही उत्पादन का तीसरा मुख्य साधन पूंजी वहाँ विद्यमान है। श्रम के प्रकारो में परिवर्तन हुआ है और इसी परिवर्तन से कुम्हार का छोटा हथोडा टाटा की लोहे व इस्पात की विशालकाय मशीनो में परिवर्तित होकर अपनी पूर्व-शक्ति का हजारो गुना अधिक उत्पादन करने लगा है। घास काटने की छोटी हँसिया के स्थान पर वडे-वडे फार्मों में मशीनो का प्रयोग होने लगा है। इसी प्रकार जुलाहे के चर्खे-कर्घे का स्थान अहमदावाद, वम्वई इत्यादि स्थानो में कपडा वुनने की वडी-वडी मशीनो ने ले लिया है जिनमे सूत कातने से लेकर कपडे का थान लपेटने तक का सारा कार्य मशीन करती है। इसका अर्थ यह

है कि उत्पादन मे भूमि और श्रम का प्रयोग आदिकाल से होता आया है परन्तु उत्पादन का तीसरा साधन पूँजी का रूप सदा बदलता रहा है। पत्थर के हथियारो से लोहे और इस्पात की बडी-बड़ी मशीनो का काल पूँजी के विकास का काल रहा है।

यह कहा जा चुका है कि भूमि और श्रम के संयोग से पूँजी की उत्पत्ति होती है। जब खानों से मनुष्य अपने श्रम का प्रयोग करके लोहा निकालता है तब वह लोहा पूँजी का रूप ले लेता है। लोहार इसी लोहे को ठोक-पीटकर हथौड़े या अन्य औजार बना लेता है और वह लोहा इस नये रूप मे पूँजी बन जाता है। लोहार व बढ़ई इन्हीं हथौड़ो से व अन्य औजारो से पूँजी के अन्य रूपो का उत्पादन करते हैं और वे अन्य उत्पादित वस्तुएँ भी इस उत्पादन की शृंखला में पूँजी की एक कड़ी का रूप लेती रहती हैं। अपने इसी गुण के कारण पूँजी श्रम या भूमि से भिन्न है।

पूँजी एक महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली साधन है। मनुष्य के श्रम से उत्पादित होकर यह उसके सम्पूर्ण समाज के रहन-सहन, सोचने-विचारने और कार्य करने के ढंगो पर अपना पूर्ण प्रभाव डालती है। पूँजी का तथा समाज का विकास लगभग साथ-साथ होता है। पत्थर के युग की सभ्यता की विशेषता उसके नाम से ही स्पष्ट है। उस युग में मनुष्य के उत्पादन में पत्थर के हथियारो और औजारो का प्रयोग होता था जिन्हें उस युग के मनुष्यों की पूँजी कहा जा सकता है। इसके पश्चात् मनुष्य की पूँजी के अन्तर्गत पशुओ की गणना की जाने लगी और उससे प्रभावित एक नयी सभ्यता का जन्म हुआ। आज विज्ञान के विकास से उत्पादन की विधियो मे परिवर्तन आ गया है। हजारो मनुष्यो का कार्य अब कुछ मशीनें थोड़े से मनुष्यो की सहायता से बहुत कम समय में करने लगी हैं। पहले पूँजी पर अधिकांश मनुष्यो का अधिकार था जो अपने लिये या अपने परिवार के पालन-पोषण तथा कुछ लाभ कमाने के लिये उसका प्रयोग करते थे। परन्तु आवश्यकताओ में वृद्धि के साथ ही उत्पादन की मात्रा मे भी वृद्धि होना आवश्यक था जिसके फलस्वरूप पूँजी का अधिकतम रूप मशीनो में परिवर्तित हो गया, मनुष्य के श्रम की कम आवश्यकता पड़ने लगी और उत्पादन की विधियाँ जटिल होती गयी। इससे पूँजी पर कुछ सामर्थ्यवान कुशल और चतुर मनुष्यो का अधिकार हो गया जिसने एक नयी सभ्यता का प्रसार किया जो पूँजीवादी सभ्यता के नाम से प्रसिद्ध है। इसी पूँजी के वितरण व अधिकार की एक अन्य भिन्न प्रणाली से प्रभावित सभ्यता साम्यवादी सभ्यता के नाम से प्रसिद्ध है। अतएव हम कह सकते है कि पूँजी के आधार पर देश की समृद्धि नापी जा सकती है और सभ्यता

के विकास की दिशा जानी जा सकती है। जिस देश मे पर्याप्त पूंजी है वहाँ के मनुष्यो का रहन-सहन का स्तर ऊँचा होता है, देश की उन्नति की आर्थिक योजनाओ को कार्यरूप में परिणत किया जा सकता है और आन्तरिक शाति और व्यवस्था स्थापित की जा सकती है जिसका आज अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व है। जिस देश में पूंजी की कमी होगी वहाँ उत्पादन अवश्य आवश्यकता से कम होगा, उसमें आत्मनिर्भरता और आन्तरिक शान्ति नही होगी, वेकारी और अशान्ति के फलस्वरूप देश की सुरक्षा एक गभीर समस्या वन जायेगी। देश को विदेशो के अनुचित प्रभावो से नही वचाया जा सकेगा जिसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में देश का मान घट जायेगा।

भारतवर्ष एक निर्धन देश है। इसके पास पर्याप्त पूंजी नही है। इसका यह परिणाम है कि वह आज अन्न की कमी से देश के विकास की अन्य योजनाओ की ओर उचित ध्यान नही दे पाता है। देश की औद्योगिक उन्नति का तो प्रश्न ही नही उठता है। देश में वेकारी फैलती जा रही है और देशवासियो में असन्तोष की मात्रा वढ रही है। राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से यह स्थिति सन्तोषजनक नही कही जा सकती है।

अव प्रश्न उठता है कि पूंजी के अन्तर्गत हम किन-किन वस्तुओ का अध्ययन करते है? यह तो स्पष्ट है कि पूंजी उत्पादन का वह उत्पादित साधन है जिसके प्रयोग से मनुष्य को लाभ होता है। अतएव इसके अन्तर्गत वे अन्य सव वस्तुएँ आ जाती है जिनकी उत्पत्ति मनुष्य ने भूमि और अपने श्रम के सयोग से की है।

साधारण रूप से पूंजी का अर्थ सम्पत्ति समझा जाता है। यदि किसी मनुष्य के पास सोने की ईंटें हो, वहुत द्रव्य हो, पशु, मोटरें और कई वीघा भूमि हो तो प्राय इन सव वस्तुओ को उस मनुष्य की पूंजी कहा जाता है। अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से यह मत शुद्ध नही है। यद्यपि पूंजी सम्पत्ति है परन्तु निष्क्रिय नही है। वह पूंजी तभी होती है जब मनुष्य अपने श्रम का प्रयोग करके उससे अधिक उत्पादन करता है। यदि सोने की ईंटो की सहायता से वह मनुष्य अपने उद्योग-धन्धे का विस्तार करता है, द्रव्य से अपनी कई वीघा भूमि को जोतने के लिये ट्रैक्टर खरीद लेता है, पशुओ को मेले इत्यादि में लाभ लेकर वेच देता है और मोटरो का सामान ढोने या यात्रियो को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के कार्य में प्रयोग करता है तो यह सव वस्तुएँ सम्पत्ति होते हुए भी पूंजी वन जाती है क्योकि उनका प्रयोग करने से मनुष्य द्रव्य इत्यादि का अधिक उत्पादन कर लेता है। परन्तु यदि ये वस्तुएँ केवल अपनी आर्थिक समृद्धि के दिखावे या प्रचार के लिये रखी गयी हो तो उसके अभिमानी हृदय को सन्तोष अवश्य होता है पर इनकी

अपनी उपयोगिता मे कुछ भी वृद्धि नही होती है जो उत्पादन का विशेष गुण है। अतएव इन्हें पूंजी नही कहा जा सकता है, इनको सम्पत्ति ही कहा जा सकता है। यहाँ इस बात पर सक्षेप में विचार कर लेना लाभदायक होगा कि क्या भूमि को पूंजी कहा जा सकता है?

पूंजी मनुष्य अपने श्रम के प्रयोग से उत्पन्न करता है परन्तु भूमि को उत्पन्न कर सकना उसकी सामर्थ्य के बाहर है। वह 'प्रकृति की देन' कही जाती है। इस कारण इसके निर्माण में व्यय नही हुआ जब कि पूंजी को उत्पन्न करने में श्रम, भूमि इत्यादि की शक्तियो को व्यय करना पडता है। भूमि जितनी सृष्टि के आरम्भ में थी उतनी ही आज भी है और भविष्य मे भी रहेगी। मनुष्य अपनी समस्त ज्ञान-विज्ञान की शक्तियो का प्रयोग करके भी भूमि के परिमाण में किंचित् मात्र भी वृद्धि नही कर सकता है। परन्तु पूंजी का उत्पादन मनुष्य स्वय करता है और इच्छानुसार उसे घटा-बढा सकता है, उसको नष्ट कर सकता है तथा उसको केवल सम्पत्ति के रूप में ही रख सकता है। भूमि पर उसकी शक्तियाँ परिवर्तन-परिवर्धन करने में असमर्थ हैं। वह सदा सम्पत्ति के रूप मे रहती है। जब मनुष्य उसमें विभिन्न प्रकार से श्रम का उपयोग करके उसकी पैदा करने की शक्ति को (Fertility) बढाता है तो वह शक्ति परिभाषा के अनुसार पूंजी के अन्तर्गत आ जाती है परन्तु भूमि एक निष्क्रिय साधन के रूप में विद्यमान रहती है।

आधुनिक काल में भूमि का क्रय-विक्रय होने से वह कुछ मनुष्यो की आमदनी का एक माध्यम बन गयी है। यह अपनी स्थिति और परिमाण के अनुसार बेचनेवाले व्यक्ति को लाभ पहुँचाती है। इस दृष्टिकोण से इसे पूंजी कहा जा सकता है। परन्तु यदि इस ओर गभीरतापूर्वक देखे तो विदित होगा कि जो भी मूल्य खरीदनेवाला मनुष्य देता है वह भूमि का मूल्य नही होता है वरन् उसकी स्थिति और पैदावार की शक्ति का मूल्य होता है जो अन्य मनुष्यो के श्रम का परिणाम है अर्थात् पूंजी है। बेचनेवाला अप्रत्यक्ष रूप से उसी पूंजी को बेचता है जो अपने गुण के अनुसार उसे लाभ पहुँचाती है, उसकी पूर्व-योग्यता मे वृद्धि करती है अर्थात् उत्पादन करती है। समाजवादी, साम्यवादी और पूंजीवादी इत्यादि सभ्यताओ में भूमि का विशेष महत्त्व है। इसके वितरण व उपयोग की विभिन्न प्रणालियो पर ये सभ्यताएँ स्थिर हैं। समाजवादी तथा साम्यवादी भूमि के क्रय-विक्रय को अनुचित समझते है और पूंजीवादी सभ्यता में इसका क्रय-विक्रय साधारण सी बात है। परन्तु जैसे कहा जा चुका है क्रय-विक्रय परोक्ष रूप में भूमि की उपयोगिता का होता है जो मनुष्य के श्रम का परिणाम होती है। अर्थात् वे मनुष्य भूमि की उपयोगिता को

पूंजी के रूप में लेन-देन करते हैं परन्तु भूमि उस उत्पादिता वृद्धि में एक निष्क्रिय साधन के रूप में रहती है अतएव वह पूंजी नहीं हो सकती।

पूंजी का संचय—पूंजी, मनुष्य के भविष्य की रूप-रेखा की ओर संकेत करती है। मनुष्य वर्तमान की आवश्यकता किसी अस्थायी साधन से पूरी कर सकता है परन्तु विवेकी होने के कारण वह सदा भविष्य की समस्या पर विचारता रहता है। उसने सदा यह चाहा है कि भविष्य का जीवन सुन्दर हो, सुखदायक हो और उसमें अधिक श्रम न करना पड़े। इसी विचार से मनुष्य आविष्कार और खोज-कार्य करता है और वर्तमान के लाभ को भविष्य के उपयोग के हेतु सुरक्षित रखना चाहता है। यही भावना 'सचय' कहलाती है। मनुष्य की पूंजी उसके श्रम पर बहुत-कुछ निर्भर है। यदि पूंजी अर्थात् उत्पादित वस्तु के स्थान पर मूल उत्पादक को भविष्य के लिये सुरक्षित करना चाहे तो मनुष्य सफल नहीं हो सकता है क्योंकि श्रम नाशवान है। उसका सचय नहीं किया जा सकता है। परन्तु पूंजी का विश्लेपण करने पर मनुष्य का श्रम ही उसमें मुख्य रूप से मिलता है। अर्थात् मनुष्य पूंजी का सचय करने के साथ ही अपनी उत्पादक शक्ति श्रम का ही सचय करता है। इसमें उसे सुविधा रहती है।

उक्त विवेचन से विदित होता है कि मनुष्य के 'संचय' करने के मूल भाव निम्न हैं :—

१. भविष्य की सुखमय कल्पना या सचय करने की तीव्र इच्छा। २ संचय करने की शक्ति। ३. सचय करने की सुविधा।

(१) भविष्य की सुखमय कल्पना को हम सचय करने की तीव्र इच्छा भी कह सकते हैं। मनुष्य सदा से यह चाहता आया है कि जो कुछ कार्य वह करता है उसके सुख का दीर्घकाल तक उपभोग करे। पूंजी का मनुष्य के जीवन में बहुत बडा प्रभाव है। यही एक सुगम माध्यम है जिसके द्वारा वह अपने भविष्य को व अपने कुटुम्ब के भविष्य को सुखमय बना सकता है। आधुनिक सभ्यता में मनुष्य का मान और प्रभाव उसकी पूंजी पर निर्भर होता है। भारत के रूढिवादी पूंजी की बचत केवल इसलिये भी करते है कि बुढापे में तीर्थयात्रा करके आत्मा की शान्ति प्राप्त कर सके। वर्तमान युग औद्योगिक युग है। अतएव पूंजी का सचय करने की इच्छा को इससे काफी बल मिला है। मनुष्य मितव्ययता से भी धन का सचय करते हैं और उद्योग-धन्धों के हिस्से खरीदने में उनका उपयोग करते है या बैंको में जमा कर देते हैं या सरकार से लेकर योग्य व्यक्ति तक को ऋण में देते है। इन कार्यों से उसे व्याज मिलता है और उसकी धन-सम्पत्ति पूंजी बन जाती है। प्राय पूंजी में वृद्धि करने की ही इच्छा 'सचय' के मूल में निहित है। विदेशो में यह मनुष्यो का स्वभाव ही हो गया है कि वे अपनी अधिक

सम्पत्ति को बैंकों में, उद्योगों के हिस्सों में और अन्य प्रकार के व्यापार और लाभ के हिस्सों में लगा देते हैं। इस पूँजी से उनको तथा उनके देश को आर्थिक उन्नति में बहुत सहायता मिलती है। परन्तु भारतवर्ष के विशाल देश में पूँजी का संचय कुछ ही व्यक्तियों तक सीमित है। अधिकांश जनता की दृष्टि में उपभोग ही प्रधान है। इसका कारण उनकी अशिक्षितता के साथ ही देश की बढ़ती हुई निर्धनता है जिसने उन्हें अत्यन्त स्वार्थी बना दिया है। वे आनेवाले कल पर विचार नहीं करते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में भविष्य वर्तमान से अधिक अच्छा नहीं हो सकता है।

(२) पूँजी संचय करने की शक्ति ही वर्तमान परिस्थितियों में मुख्य है। धनी होकर सुखमय जीवन व्यतीत करना तथा समाज में अधिक से अधिक सम्मान प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति चाहता है परन्तु उसके सामने मुख्य प्रश्न यह उठता है कि क्या उसमें धन-सम्पत्ति का संचय कर सकने की शक्ति है? भारतवर्ष में कुछ गिने-चुने व्यक्ति इसका उत्तर 'हाँ' में दे सकते हैं। अधिकांश की ऐसी स्थिति नहीं है। वे प्रायः ऐसी परिस्थितियों में जीवित हैं जहाँ धन के संचय का प्रश्न ही नहीं उठता है वरन् प्रतिदिन की मुख्य आवश्यकताएँ भी अतृप्त ही रह जाती हैं। व्यक्ति की धन-संचय कर सकने की शक्ति उसकी आमदनी पर निर्भर है और सम्पूर्ण देश की इस शक्ति का अनुमान उसके उद्योग-धन्धों के विस्तार, यातायात के साधनों, आयात-निर्यात और प्राकृतिक शक्तियों के उपयोग करने की क्षमता से लगाया जा सकता है। भारतवर्ष यदि इस कसौटी पर कसा जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि वह कितना पिछड़ा हुआ देश है। ऐसे देश में पूँजी जो उत्पादन के साधनों का मुख्य अंग है, कुछ चतुर व्यवसायियों या अन्य उद्योगपतियों के हाथों में आ जाती है जिसका संचय सारे देश के लाभ के लिये नहीं हो सकता है।

(३) पूँजी-संचय करने की सुविधा का विशेष महत्त्व है। आधुनिक काल में इसकी सुविधा का विशेष ध्यान रखा गया है। बैंक-कम्पनी एवं डाक का निर्माण-कार्य इसी सुविधा के लिये स्थापित किये गये हैं। भारत की निर्धन जनता में भारतीय डाक बैंक अपना महत्त्व स्थापित कर रहे हैं जिनमें ४ आने की रकम भी जमा की जा सकती है। बीमा कम्पनियाँ भी इस कार्य में लगी हैं। परन्तु इन सबसे बढ़कर जो सुविधा आवश्यक है वह है भविष्य के प्रति विश्वास। भारत की स्थिति अभी जनता में यह विश्वास उत्पन्न नहीं कर सकी है। थोड़ी सी भी आशंका होने पर वह जमा पूँजी को बैंकों से निकालने लगती है। यह विश्वास उत्पन्न करने के लिये राजनीतिक शान्ति की व्यवस्था होना अत्यन्त आवश्यक है।

इस प्रवृत्ति से पूँजी संचय करने की अन्य सुविधाएँ जो उद्योग-धन्धे

दे सकते थे वह भी प्राप्त नही हो सकती है। उद्योग-धन्धो के लिये काफी पूंजी की आवश्यकता होती है जिसकी प्राप्ति हिस्से वेचने से प्राप्त होती है। परन्तु उद्योगो की अनिश्चित स्थिति के कारण मनुष्य हिस्से खरीदने से हिचकते है और उस द्रव्य से आभूषण इत्यादि अनुत्पादक वस्तुएँ वना लेते है या धन को पृथ्वी में गाड देते है जिसको किसी भी उपयोग में नही लाया जा सकता है।

पूंजी का वर्गीकरण—अर्थशास्त्रियो ने पूंजी का निम्न रीति से वर्गीकरण किया है —

(१) चल और अचल पूंजी (Circulating and Fixed Capital)—चल पूंजी उस पूंजी को कहते है जिससे एक मनुष्य केवल एक वार उत्पादन कर सकता है। इसके अन्तर्गत द्रव्य, उत्पादन के लिये आवश्यक कच्चा माल, रग इत्यादि वनाने के रासायनिक पदार्थ इत्यादि आते है। अचल पूंजी उस पूंजी को कहते है जिसका उपयोग उत्पादन में एक से अधिक वार किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत मशीनें, इमारतें इत्यादि आती है। इस पूंजी को वार-वार उत्पादन के कार्य में लाया जा सकता है। किसान एक जोडी वैल और हल से कई वार खेत जोतकर फसलें उगाता है परन्तु जुलाहा रूई को कातकर केवल एक वार कपडे का उत्पादन कर सकता है। दूसरी वार कातने के लिये उसे रूई की नई मात्रा चाहिये। इसमे स्पष्ट है कि किसान के हल-वैल अचल पूंजी है और जुलाहे की रूई चल पूंजी। द्रव्य का उपयोग आवश्यक सामग्री खरीदने में केवल एक वार किया जाता है। इसलिये वह भी चल पूंजी हुई। द्रव्य की इस मात्रा को Working Capital भी कहते है।

(२) वैयक्तिक पूंजी (Private or Individual Capital)—यह पूंजी केवल एक व्यक्ति की होती है। यदि किसी व्यक्ति के पास चार वडे कृषि-फार्म हो, कुछ द्रव्य हो, यातायात के लिये अपनी मोटरे इत्यादि हो तो ऐसी पूंजी को वैयक्तिक पूंजी कहेंगे। इसके अन्तर्गत व्यक्ति के वे समस्त गुण, शारीरिक एव मानसिक शक्ति, कलाप्रियता इत्यादि आते है जिनके प्रयोग मे वह अपने लिये उत्पादन कर सकता है। इन्हें Personal Capital भी कहते है। इनके द्वारा केवल एक ही व्यक्ति का लाभ हो सकता है।

(३) सामाजिक पूंजी (Social Capital)—यह पूंजी वैयक्तिक पूंजी के विपरीत है। इसमें सारी जनता अथवा समाज का अधिकार होता है। एक विद्युत्-उत्पादक यन्त्र या कोई उद्योग जिस पर समाज का अधिकार है, जिनके उत्पादन से सारे समाज को लाभ होता है सामाजिक पूंजी कही

जाती है। सामाजिक सस्थाओ द्वारा सचालित प्रत्येक उत्पादन के साधन सामाजिक पूंजी हैं।

(४) राष्ट्रीय पूंजी (National Capital) —जिस प्रकार राष्ट्र प्रत्येक व्यक्ति को मिलाकर बनता है उसी प्रकार राष्ट्र की कुल वैयक्तिक पूंजी और सामाजिक पूंजी का योग राष्ट्रीय पूंजी कहलाता है। वे उत्पादन के साधन जिन पर राष्ट्र की सरकार का अधिकार है तथा जो राष्ट्रीय सरकार के द्वारा ही सचालित होते है राष्ट्रीय पूंजी कहे जाते हैं। राष्ट्र द्वारा निर्मित बडी इमारतें, बडे बडे बांध और उनकी विद्युत् उत्पन्न करने की शक्ति व अन्य औद्योगिक सस्थायें राष्ट्रीय पूंजी कही जाती है। इनसे समस्त राष्ट्र का लाभ होता है।

पूंजी के उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पूंजी के बिना उत्पादन का कार्य हो सकना असम्भव है। आधुनिक सभ्यता की मांग की पूर्ति व्यक्तिगत रूप से उत्पादन करके कदापि पूरी नही की जा सकती है वरन् इसके लिये सामूहिक प्रयत्न की आवश्यकता है। मशीनो के द्वारा अधिक मात्रा में, कम समय में और सरलता से अधिक उत्पादन करके उक्त आवश्यकता की पूर्ति की जाती है। आज पूंजी ने मनुष्य के प्रायः सभी कार्यक्षेत्रो पर अपना अधिकार कर लिया है। अपने द्रव्य के रूप मे यह पर्याप्त लोकप्रिय है क्योकि इससे सभी वस्तुओ का क्रय सरलता से हो सकता है। पूंजी जीवन-निर्वाह का प्रधान साधन है। उद्योग-धन्धो की स्थापना करने के हेतु तथा आवश्यक मशीनें व कच्चा माल खरीदने व उत्पादित माल के आयात-निर्यात के लिये उचित साधनो का प्रबन्ध करने के लिये पूंजी की आवश्यकता होती है। उद्योग-धन्धो में कार्य करने से पूंजी वेतन के रूप में मिलती है जिससे जीवन-निर्वाह किया जाता है और बची हुई पूंजी का प्रयोग अन्य उत्पादक कार्यो मे किया जाता है।

अभ्यास के प्रश्न

१ 'पूंजी' का क्या अर्थ है? उत्पादन में पूंजी का क्या महत्त्व है? इसका सक्षिप्त वर्णन कीजिये।

२. पूंजी के सचय में किन बातो की आवश्यकता है? पूंजी के सचय के लिये उपयुक्त परिस्थिति का निर्माण किस प्रकार किया जा सकता है?

३ पूंजी के भेद समझाइये और निम्नलिखित की तुलना कीजिये —
(अ) चल और अचल पूंजी।
(ब) वैयक्तिक और सामाजिक पूंजी।

अध्याय ४७

साहस और संगठन

(Enterprise and Organisation)

उत्पादन करना एक क्रिया है जो न अकस्मात् होती है और न स्वय अपने आप ही। इसके लिये कर्त्ता की आवश्यकता होती है। भूमि, श्रम और पूंजी के अध्यायो मे हम सदा व्यक्तियो का इन तीनो साधनो से सम्बन्ध स्थापित करते आये है क्योकि उत्पादन का मूल व्यक्तियो की आवश्यकता और उसकी पूर्ति की माँग है जिसे स्वय मनुष्य वाह्य उपकरणो की सहायता से पूरी करता है। वाह्य उपकरणो का जब मनुष्य से सम्बन्ध स्थापित होता है तो वे विशेप नाम और गुण धारण कर लेते है जैसे भूमि, श्रम और पूँजी। इसके साथ ही जब हम मनुष्य को किसी आवश्यकता की पूर्ति में क्रियाशील पाते है तब उसकी दो शक्तियाँ स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है, जिनके अपने विशेप नाम है साहस और सगठन। ये शक्तियाँ पृथक् होते हुए भी साथ चलती है। उत्पादन की क्रिया में ये एक-दूसरे पर निर्भर रहती है।

यह तो सर्वविदित है कि मनुष्य की क्रियाशीलता का प्रमुख कारण किसी न किसी आवश्यकता की तृप्ति करना है। परन्तु इस क्रियाशीलता की विशेषता इस बात में है कि वह आवश्यकता पूर्ति के लिये किस प्रकार वाह्य उपकरणो को जुटाता है और किस प्रकार उनके पारस्परिक मेल से वाछित वस्तु का उत्पादन करता है। पहले प्रकार के कार्य का अध्ययन हम 'सगठन' के अन्तर्गत करते है और दूसरे प्रकार के काम का 'साहस' के अन्तर्गत।

'भूमि' के अध्याय में यह स्पष्ट बतलाया गया है कि वह उत्पादन की एक निष्क्रिय साधन है, 'श्रम' तभी महत्त्वपूर्ण होता है जब वह 'भूमि' के सम्पर्क में आता है। दोनो के सम्बन्ध से पूंजी का निर्माण होता है और तब उत्पादन होता है। अर्थात् उत्पादन के लिये उसके सम्पूर्ण साधनो को एकत्रित करना अत्यन्त आवश्यक होता है अन्यथा प्रत्येक साधन की उत्पादक शक्ति व्यर्थ हो जायेगी। इन साधनो को एकत्रित करने के कार्य को 'सगठन' और जो मनुष्य इस कार्य को करता है उसे 'साहसी' कहते है।

प्रारभ में प्राय प्रत्येक व्यक्ति उत्पादक था। वह अपनी एवं अपने परिवार की माँग स्वय सामग्री का प्रबन्ध करके तथा श्रम करके पूरी

कर लेता था। विज्ञान का प्रभाव कम था और उस समय उद्योगपति कुछ छोटी मशीनो और थोडे से श्रमिको की सहायता से उत्पादन करके जनता का माँग की पूर्ति कर लेते थे। इस प्रकार के उद्योग-धन्धों को चलाने के लिये उद्योगपति या तो अपनी बचत के द्रव्य का प्रयोग करते थे या महाजनो इत्यादि से ऋण लेकर। जनता की रुचि का पूर्ण विकास नही हुआ था और उद्योगपति उनके निकट सम्पर्क मे रहने के कारण उनकी रुचि को बहुत कुछ समझ सकता था। ऐसी स्थिति में यदि लाभ होता तो सब लाभ उसी उद्योगपति का था क्योंकि उसने ही उद्योग में द्रव्य लगाया था। यदि हानि होती तो उसे भी उसी उद्योगपति को सहना पडना था और वह दिवालिया भी हो जाता था। इस रूप मे उद्योगपति ही संगठन और सचालन करता था और उद्योग मे द्रव्य लगाकर पूंजी-पति का काम भी करता था।

यह स्थिति आज बदल चुकी है। विज्ञान के नवीन आविष्कारो से उद्योग-धन्धो की पहली रूप रेखा मे भी पर्याप्त परिवर्तन आ गया है। मनुष्यो की रुचियो मे विभिन्नता है और वह सदा नयी वस्तु की ओर आकर्षित होती है। उत्पादन के क्षेत्र मे अनेक उत्पादक क्रियाशील है और उनमे परस्पर स्पर्धा (Competition) है। रुचियो की विभिन्नता के कारण माँग का घटना-बढना स्वाभाविक है जिसका प्रभाव वस्तुओ की पूर्ति पर पडता है और अन्त में वस्तुओ के मूल्यो पर। माँग और पूर्ति के अनुसार वस्तुओ के मूल्य मे घटती-बढती के सफल निरीक्षण और उससे प्रभावित बाजार पर नियन्त्रण रख सकने की शक्ति पर ही आज उद्योगपति की सफलता निर्भर करती है। इसके साथ ही उत्पादन की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का विशेष महत्व है। देश के खनिज पदार्थों और श्रमिको की कार्यक्षमता का उद्योग पर प्रभाव पडता है। यदि भारत का एक उद्योगपति किसी ऐसी वस्तु का उत्पादन कर रहा है जिसका विक्रय-मूल्य अधिक है और विदेश से उसी वस्तु का आयात कम मूल्य पर किया जा सकता है तो उपभोक्ता विदेशी वस्तु को खरीदना अधिक पसन्द करेंगे जिसके परिणामस्वरूप देशी उत्पादन को गहरी हानि उठानी पडेगी। इन सब बातो को दृष्टि में रखते हुए कोई भी व्यक्ति अपने द्रव्य को उपयोग करके उत्पादक बनने में हिचक सकता है क्योंकि इस क्षेत्र मे अनिश्चितता अधिक है। परन्तु इसके भय से उत्पादन कार्य रुका नही है केवल उत्पादन मे पूर्व के उद्योगपति के स्थान मे परिवर्तन हो गया है। पूर्व के अनुसार अब एक ही व्यक्ति साहसी और द्रव्य लगाने वाला नही रहा।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उत्पादन का कार्य अत्यन्त जटिल हो

गया है। इस जटिल क्रिया को जो मनुष्य सगठित और सचालित करता है उसे साहसी (Entrepreneur) कहते हैं।

आधुनिक युग में उत्पादन बडे पैमाने में किया जाता है जिसके लिये नयी से नयी मशीनो का प्रयोग किया जाता है और इसके लिये बडे-बडे कारखानो की स्थापना करनी पडती है। यह तो स्पष्ट है कि एक व्यक्ति इतने बड़े उद्योग के लिये द्रव्य नही दे सकता है। परन्तु साहसी के लिये यह आवश्यक नही है कि वह धनवान् व्यक्ति हो। उसका कार्य केवल उत्पादन के साधनो को एकत्रित करना है। वह बाजार में जनता की माँग का अध्ययन करता है तथा उस माँग के सम्बन्ध की, जिसकी पूर्ति के लिये वह उत्पादन करना चाहता है, वह और सब बातो जैसे उसके अन्य उत्पादन करना, उनकी आर्थिक स्थिति, कच्चे माल के स्रोत यातायात के साधन, जनता की रुचि इत्यादि का सूक्ष्म निरीक्षण करके एक योजना बनाता है। इसके पश्चात् अपनी चतुराई और प्रभावपूर्ण ढग से पूंजीपतियो से रुपया ऋण लेता है। वह पूंजीपतियो को उस उद्योग की रूपरेखा समझाकर उनके हाथ हिस्से (Shares) बेचता है। इन शेयरो से इक्ट्ठा हुई पंजी से वह उस उद्योग के कारखाने स्थापित करता है। कारखानो की स्थापना से पहले स्थान का निर्वाचन करना विशेष महत्व का कार्य है। इसका वर्णन 'स्थानीयकरण' शीर्षक में किया गया है।

कारखानो की स्थापना के पश्चात् भी साहसी का एक विशेष कार्य उनका सचालन करना है। कारखानो में साहसी को श्रमिको, रासायनिको, डिजाइनरो, क्लर्कों, मैनेजरो इत्यादि की आवश्यकता पडती है। इनकी नियुक्ति के साथ ही उसे इनकी विशेष योग्यता के अनुसार कार्य में लगाना पड़ता है (मशीन चलाने में कुशल श्रमिक केवल मशीन चलाने का काम करे, मजूरो पर नियन्त्रण न रख सकने वाला व्यक्ति मैनेजर न बनाया जाय इत्यादि) साथ ही उत्पादन के अन्य साधनो का परस्पर उचित सम्बन्ध बनाये रखना पडता है। वह कारखाने के कार्य का निरीक्षण करता है, आवश्यकतानुसार सुझाव देता है और इस बात का सदा ध्यान रखता है कि उत्पादन का कार्य शिथिल न पड़े और कोई कर्मचारी अनुचित लाभ न उठाये।

साहसी के यह कार्य उसकी सगठन शक्ति के अनुसार होते है। साहसी इसके साथ ही एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य और करता है जिसे जोखिम उठाना (Risk taking) कहते हैं। साहसी नाम की विशेपता ही यह कार्य है।

यह पहले कहा जा चुका है कि साहसी सगठनकर्त्ता के रूप में पूंजीपतियो

को हिस्से (Shares) बेचकर उद्योग के लिये पूंजी एकत्रित करता है। यह कार्य प्रभावशाली व्यक्ति ही कर सकता है। परन्तु आधुनिक उत्पादन-प्रणाली का महत्व यही पर है। हिस्से खरीदकर हिस्सेदारो को हानि का भय होना अनिवार्य है। हानि-लाभ की यही द्विविधा साहसी को भी व्याकुल करती है। इसी हानि-लाभ की संभावना को जोखिम उठाना कहते है। प्राय जितने भी कार्य जोखिम उठाकर किये जाते है सब का उद्देश्य 'लाभ' कमाना है परन्तु उद्योग-धन्धो की सफलता निश्चित नहीं होती है। यह सगठनकर्ता की योग्यता और सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियो पर भी निर्भर होती है।

उत्पादन लगातार चलता रहता है परन्तु उत्पादित वस्तु एकदम नहीं बिक जाती। उसके विक्रय के लिये पर्याप्त समय की आवश्यकता होती है। इस समय में यह बहुत सभव है कि देश की आर्थिक स्थिति में गभीर परिवर्तन आ जाय, या ऐसे राजनीतिक या सामाजिक आन्दोलन आरम्भ हो जॉय जिनका प्रभाव उत्पादित वस्तु पर पडे, जैसा कि 'स्वदेशी-आन्दोलन' से मैनचेस्टर के कपडो की मिलो पर पडा। अतएव साहसी को यह अनुमान लगाना पडता है कि एक निश्चित समय में उसकी उत्पादित वस्तु की कितनी मॉग होगी। इसके साथ ही उसे अपने प्रतिस्पर्धी अन्य उत्पादको की स्थिति का भी गभीर अध्ययन करना पडता है। अर्थात् उसे यह अनुमान कर लेना आवश्यक है कि उस निश्चित समय में जनता की मॉग के कुल कितने भाग की वे पूर्ति कर सकेंगे और किस मूल्य पर। इसी अनुमान के आधार पर वह अपना उत्पादन घटा-बढा लेगा। उत्पादित माल का सीधा सम्बन्ध ग्राहको की रुचि से है। उतने समय मे इस बात की सभावना हो सकती है कि ग्राहको की रुचि में परिवर्तन आ जाय, उन्हें कोई नई वस्तु आकर्षित कर ले। इस प्रकार की सम्भावना राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक आन्दोलनो के कारण होती है परन्तु उद्योग पर उसका बड़ा गहरा प्रभाव पडता है। साहसी को उत्पादन करने वाले मजूरों व अन्य कर्मचारियो को वेतन अभी देना पडता है। प्रत्यक साहसी अपनी उत्पादित वस्तु का मूल्य पहले निश्चित करता है और उसके आधार पर वेतन की दरें निश्चित की जाती है। यदि भविष्य में होने वाली वस्तु की मॉग और मूल्य का अनुमान ठीक होगा तो साहसी हानि उठाने से बच सकता है। यदि वस्तु उसके अनुमानित मूल्य से अधिक में बिकेगी तो उसे अधिक लाभ होगा। वेतन को निर्धारित करने में मजूरो की मॉग और पूर्ति का बडा प्रभाव पडता है। प्रतिस्पर्धा मे यदि एक उत्पादक मजूरी या वेतन की दर बढा दे तो सभी मजूर उसी ओर आकर्षित हो जायेंगे और यदि वस्तु का विक्रय-मूल्य उसी अनुपात मे न बढा तो

उत्पादक को हानि हो जायेगी । यदि मूल्य बढ़ गया तो दूसरा उत्पादक अपनी क्षमता से कम उत्पादन करने के कारण हानि उठा सकता है। इसीलिये साहसी के लिये यह आवश्यक है कि वह भविष्य की स्थिति का ठीक अनुमान लगाये और प्रतिस्पर्धा का सामना कर सके। यदि अनुमान ठीक न हुआ तो हानि उठाने के लिये तैयार रहे।

इस विवरण से साहसी के कार्य की कठिनता का अनुमान किया जा सकता है। साहसी की संगठन शक्ति और जोखिम उठाने की शक्ति पर ही बड़े पैमाने के उत्पादन की सफलता निर्भर है। साहसी को प्रायः कठोर व्यक्ति समझा जाता है। वह मजूरों के व उनके परिवार के जीवन निर्वाह का ध्यान नहीं करता है । परन्तु यह स्पष्ट है कि साहसी का उद्देश्य लाभ कमाना है। इसके लिये वह मजूरों के स्थान पर मशीनें लगा देता है जिससे उत्पादन और शीघ्र हो और उसमें समानता रहे। उसका इस बात से कोई सरोकार नहीं कि एक नयी मशीन लगाने से कितने मजूर बेकार हो गये। वह अपने लाभ के लिये नयी से नयी मशीनें लगाने को तैयार रहता है और मजूरों की बढ़ती संख्या तथा मजूरी की गिरती दर का पूरा लाभ उठाता है ।

अभ्यास के प्रश्न

१. उद्योग-धन्धों के निर्माण में संगठन और साहस का महत्त्व समझाइये।
२. वर्तमान उद्योग-धन्धों में साहसी का क्या स्थान है ? इसका विस्तृत विवेचन कीजिये।
३. श्रम और साहस में अन्तर बतलाइये और उत्पादन में इसकी क्या विशेषता है, इसे समझाइये ।

अध्याय ४८

उत्पादन के साधनों की नयी परिभाषा

प्राचीन अर्थशास्त्री (Classical Economist) उत्पादन के पाँच सावन मानते है—भूमि, श्रम, पूंजी, साहस और सगठन। परन्तु कुछ आवुनिक अर्थशास्त्रियो का यह मत है कि उत्पादन के सावनो के उक्त वर्गीकरण से कुछ विशेष लाभ नही होता है। इसमें कोई सन्देह नही है कि इन पाँच सावनो में विशेष अन्तर है परन्तु वह मौलिक (Fundamental) अन्तर नही है। विशेष वात यह है कि ये पाँचों सावन उत्पादन को कार्य में सहायता देते है और विना इनके प्रयोग के उत्पादन हो सकना सम्भव नही ह। इसलिये यदि यह कहा जाय कि उत्पादन की दृष्टि से सव सावन एक सा कार्य करते है तो यह कुछ अनुचित न होगा। प्राचीन अर्थशास्त्रियो के अनुसार भूमि और श्रम में एक विशेष अन्तर है। 'भूमि' 'प्रकृति की देन' है। इसे ईश्वर ने वनाया है। उसकी एक निश्चित मात्रा है जिसे घटाया-वढाया नही जा सकता। परन्तु 'श्रम' मनुष्यकृत है इसलिये उसकी मात्रा को इच्छानुसार घटाया वढाया जा सकता है। परन्तु यह मत मान्य नही है। क्योकि यदि हम दीर्घकालीन दृष्टिकोण से देखें तो यह वात स्पष्ट हो जाती है कि 'श्रम' या 'श्रमिक' की पूर्ति भी ईश्वर की इच्छा पर निर्भर ह। जिस प्रकार ईश्वर की इच्छा के विना एक इन्च भूमि का निर्माण नही किया जा सकता है उसी प्रकार यह भी निश्चित है कि एक भी श्रमिक उसकी इच्छा के विरुद्ध उत्पन्न नही किया जा सकता है। इस दृष्टि से केवल ईश्वर ही निर्माणकर्ता है, अन्य नही। परन्तु यदि अल्पकालीन दृष्टिकोण से देखे तो विदित होगा कि जिस प्रकार मनुष्य अधिक श्रम करके—६ घण्टे की अपेक्षा १२ घण्टे मेहनत करके—श्रम की मात्रा वढा सकता है उसी प्रकार किसी भूमि के निश्चित भाग पर अधिक परिश्रम करके (Intensive Cultivation) उसकी उपज की मात्रा में भी वृद्धि की जा सकती है। इसी प्रकार मनुष्यो ने वैज्ञानिक यन्त्रो की सहायता से वम्वई के समुद्र-तट व विदेश के अन्य समुद्र-तटो में पानी पीछे हटाकर नयी भूमि को प्राप्त करने में अपूर्व सफलता पायी है। भूमि की पूर्ति की मात्रा को अमेरिका के गृह-निर्माण के ढंग से भी वढाया जा सकता है। अमेरिका में घरों का आसपास निर्माण करने की अपेक्षा घर के ऊपर मञ्जिलो का निर्माण किया जाता है। इस प्रकार किसी

घर की छत में ४८ नयी मञ्जिलों का निर्माण करके भूमि की पर्याप्त मात्रा बढ जाती जिसका अन्य कार्यों में प्रयोग किया जा सकता है। इस दृष्टि से भूमि और श्रम में कोई विशेष अन्तर नहीं था।

प्राचीन अर्थशास्त्रियों के अनुसार इनमें दूसरा अन्तर यह है कि भूमि निर्जीव है और मनुष्य, जो श्रम का स्रोत है, जीव है। परन्तु जहाँ तक उत्पादन का प्रश्न है दोनों जीव और निर्जीव उत्पादन करने में सहायक हैं। साधनों को उत्पादन करने के फलस्वरूप पारिश्रमिक मिलता है चाहे वह जीव हो या निर्जीव। इस अन्तर का यद्यपि सामाजिक शास्त्र की दृष्टि से विशेष महत्व है परन्तु इस क्षेत्र से उत्पादन का कोई सम्बन्ध नहीं है।

यदि प्राचीन अर्थशास्त्री उत्पादन के प्रत्येक साधन की कुल पूर्ति (Total Supply) का अध्ययन करने की अपेक्षा किसी एक विशेष कार्य के लिये (For one particular use) उनकी पूर्ति का अध्ययन करते तो अधिक उचित होता। उदाहरण के लिये यदि किसी एक कार्य के लिये चाहे गृह-निर्माण करने, नहरों की खुदाई करने, गेहूँ बोये या किसी अन्य कार्य को करने के लिये भूमि की आवश्यकता हो तो उसकी पर्याप्त मात्रा प्राप्त हो सकती है। यदि किसी सिमेंट के कारखाने के लिये या बोझा, कोयला इत्यादि ढोने के लिये या घरो का निर्माण करने के लिये श्रम की आवश्यकता हो तो अपरिमित मात्रा में श्रम प्राप्त हो सकता है। पूर्ति के इस दृष्टिकोण से उत्पादन के साधनों का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होगा कि उनमें कुछ अन्तर नही है।

प्राचीन अर्थशास्त्रियो के अनुसार पूंजी सचित श्रम (Stored labour) है। यदि इस दृष्टिकोण से श्रम, साहस और सगठन पर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ये तीनो भी श्रम ही है। इस कारण इनमें कुछ अन्तर नही। जो अन्तर उनमे प्रतीत होता है वह श्रम के प्रकारो का अन्तर है।

यदि उत्पादन के साधनो का वर्गीकरण भूमि, श्रम, पूंजी, साहस और सगठन—पाँच भागो में किया जाय तो यह नही कहा जा सकता है कि प्रत्येक साधन स्वय में समान है, अर्थात् किसी भी एक साधन की प्रत्येक इकाई परस्पर समान है। जिस प्रकार भूमि और श्रम में अन्तर बताया जाता है यदि उस दृष्टि से केवल भूमि की अनेक इकाइयो (Units) का निरीक्षण किया जाय तो ज्ञात होगा कि प्रत्येक इकाई दूसरी इकाई से भिन्न होती है। उसी प्रकार श्रम की प्रत्येक इकाई में पर्याप्त भिन्नता है। इस प्रकार श्रम की तथा भूमि की इन विभिन्न इकाइयो को समान श्रम या समान भूमि नही कहा जा सकता है। इसी प्रकार अन्य साधनो

की भी यही स्थिति है। यदि श्रम-श्रम में या भूमि-भूमि में अन्तर है अर्थात् उत्पादन के प्रत्येक साधन में अन्तर है तो प्रत्येक साधन की प्रत्येक इकाई को उत्पादन का साधन माना जाना चाहिये। इस रीति से उत्पादन के पाँच ही साधन नही वरन् असख्य साधन बन जायेंगे। इसलिये यह कहना अधिक उचित होगा कि उत्पादन के सब साधन उत्पादन की दृष्टि से समान है। उनका वर्गीकरण करना अनावश्यक है।

आधुनिक अर्थशास्त्रियो के मतानुसार उत्पादन के साधनो में परस्पर कोई अन्तर नही है। उन्होंने इन साधनो का निम्न आधार पर वर्गीकरण किया है—

(अ) उत्पादन के साधन की गतिशीलता—(Mobility of Factors of Production)।

(ब) साधन की सीमान्त-उपयोगिता के बराबर फल पाने की शक्ति—(Capacity to demand payment according to their marginal productivity)।

उक्त दो आधारो पर उत्पादन के साधनो को दो भागो में विभाजित किया गया है (१) विशिष्ट साधन (Specific Factor) और (२) अविशिष्ट साधन (Non-specific Factor)।

विशिष्ट साधन :—उत्पादन के वह साधन जो अपने उसी रूप में एक बार में केवल एक काम मे लाये जा सकते है विशिष्ट साधन कहलाते है। इस वर्ग के अन्तर्गत उत्पादन के सभी साधन आ सकते है। उदाहरण के लिये मान लीजिये कि किसी घर में घर का काम एक ८५ वर्ष का बूढा आदमी करता है जो अपने बचपन से उसी घर में काम करता रहा है। उस घर के कामो में वह पूर्ण दक्ष है। यदि उसे दूसरे घर में कुछ नया काम करने के लिये नियुक्त किया जाय तो वह काम बिल्कुल नही कर सकेगा क्योकि उसमें नया काम सीख सकने की शक्ति नही है। इसलिये इस बूढे आदमी को उत्पादन का विशिष्ट साधन कहा जायेगा। इसी प्रकार एक चतुर तथा दक्ष इञ्जीनियर अपने कार्य के सिवाय अन्य कार्य की क्षमता नही कर सकता है। इसलिये वह भी विशिष्ट साधन हुआ। यदि एक भूमिखण्ड मे गेहूँ उपजाया गया है तो जब तक उस गेहूँ को काटा नही जायेगा उस भूमि को अन्य प्रयोगो में नही लाया जा सकता है, या एक गन्ना पेलने की मशीन को जो पूँजी है किसी अन्य काम में नही लाया जा सकता है। अतएव वह भूमिखण्ड और यह मशीन दोनो उत्पादन के विशिष्ट साधन हुए। इनकी गतिशीलता नही के बराबर होती है इसी कारण अपनी विशिष्टता का त्याग नही कर सकते है।

अविशिष्ट साधन :—उत्पादन के वह साधन जो अपने उसी रूप में

एक दो बार में बहुत से कार्य कर सकते हैं अविशिष्ट साधन कहलाते हैं। इनमें पर्याप्त गतिशीलता होती है। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी आवश्यक है कि अविशिष्ट साधन सब कार्य एक ही समय में तुरन्त नही करता है। तात्पर्य यह है कि वह बहुत प्रकार के कार्यों में से किसी भी कार्य को करने के लिये तैयार हो जायेगा। उसमें निर्वाचन कर सकने (Choice) की शक्ति होती है। उदाहरण के लिये एक अकुशल श्रमिक (Unskilled Labourer) को ले लीजिये। यह अकुशल श्रमिक खेत खोद सकता है, बोझा ढोने और मशीन चलाने का काम कर सकता है। उसे जो काम मिल जायेगा वह उसे कर सकता है। यदि एक खेत खाली पडा है तो उसका अनेक प्रकार से उपयोग किया जा सकता है, उस पर खेती की जा सकती है, घर बनाया जा सकता है और केवल घास भी उगायी जा सकती है। उसका इच्छानुसार प्रयोग किया जा सकता है। अतएव इस प्रकार के सभी साधनो को उत्पादन के अविशिष्ट साधन कहते हैं।

अब विशिष्ट साधनों तथा अविशिष्ट साधनो में अन्तर जान लेना आवश्यक है। जैसा कहा जा चुका है विशिष्ट साधन केवल एक काम में लाया जा सकता है। अतएव वह अपने स्वामी की दया पर निर्भर होता है। यदि उक्त ८५ वर्ष के बूढे को अन्य नौकरो से कम वेतन भी दिया जाय तो वह कार्य छोडकर नही चला जायेगा। विशिष्ट साधन में गतिशीलता (Mobility) नही होती है। परन्तु अविशिष्ट साधन अपनी गतिशीलता के कारण अपनी सीमान्त उपयोगिता के अनुसार पारिश्रमिक लेंगे। यदि सीमान्त उपयोगिता से कम फल मिला तो वे तुरन्त उस कार्य को छोड देंगे। यदि एक अकुशल श्रमिक को गाडी हाँकने के लिये एक व्यक्ति दो रुपया प्रतिदिन देना चाहे और दूसरा व्यक्ति मिट्टी ढोने के लिये ढाई रुपया प्रतिदिन देना चाहे तो अविशिष्ट साधन होने के नाते वह मिट्टी ढोना स्वीकार कर लेगा। यदि एक मिल-मालिक कम मजूरी देता हो तो मजूर अवश्य दूसरे मिल-मालिक के कारखाने में कार्य करना स्वीकार करेंगे जो अधिक मजूरी दे या अन्य कोई ऐसा कार्य करेंगे जिससे अधिक मजूरी मिल सके। परन्तु विशिष्ट साधन केवल एक ही काम कर सकने के कारण इतने स्वतन्त्र नही होते हैं।

परन्तु इसके साथ ही यह जान लेना आवश्यक है कि कोई भी साधन पूर्णतया विशिष्ट या अविशिष्ट की श्रेणी में नही होते हैं। प्रत्येक साधन विशिष्ट हो सकता है और अविशिष्ट भी। किसी साधन की विशिष्टता या अविशिष्टता समय (Time Factor) पर निर्भर होती है।

सकता है परन्तु समय मिलने पर अविशिष्ट

भी हो सकता है और इनके विपरीत भी। यदि किसी खेत में गेहूँ बोया गया है तो गेहूँ न काटे जाने तक वह विशिष्ट साधन होगा परन्तु गेहूँ काटकर पुन. उसे अविशिष्ट साधन में बदला जा सकता है। समय परिवर्तनशील है और उसके साथ ही साधनों के विशिष्टता और अविशिष्टता का गुण भी परिवर्तित होता रहता है। यदि किसी भूमि पर सुन्दर मकान बना है तो वह भूमि भूकम्प से मकान के ढह जाने तक विशिष्ट रहेगी परन्तु उसके पश्चात् खण्डहर के स्थान पर सुन्दर उद्यान लगाकर या किसी की स्मृति मे प्रशस्तियुक्त स्तम्भ बनाकर उस भूमि को अविशिष्ट बनाया जा सकता है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि उत्पादन के प्रत्येक साधन पूर्णतया विशिष्ट या अविशिष्ट साधनो की श्रेणी में नही आते हैं। इसमें एक विशेष बात यह है कि प्रत्येक साधन आशिक रूप से विशिष्ट और अविशिष्ट होते है। एक दक्ष इञ्जीनियर अपने विशिष्ट रूप में १०,००० रुपया पारिश्रमिक पाता है। यदि उसे इञ्जीनियरी का कार्य न मिले तो वह अन्य कुछ न कुछ कार्य अवश्य कर सकता है। वह क्लर्क होकर १०० रुपया पारिश्रमिक पा सकता है। उसका यह कार्य उसकी आंशिक अविशिष्टता का लक्षण है। अतएव इस उदाहरण के अनुसार यह कहा जायगा कि उसकी विशिष्टता ९०० रुपयो और अविशिष्टता १०० रुपये के बराबर है।

यदि उत्पादन के साधनो के उक्त वर्गीकरण का अध्ययन किया जाय तो यह प्राचीन अर्थशास्त्रियो द्वारा किये गये वर्गीकरण से अधिक उचित और न्यायसंगत प्रतीत होता है। प्राय अधिकतर आधुनिक अर्थशास्त्री इसी वर्गीकरण के आधार पर उत्पादन का अध्ययन करते हैं।

अभ्यास के प्रश्न

१ क्या यह कहना ठीक है कि उत्पादन के विभिन्न साधनो में उत्पादन की दृष्टि से विशेष अन्तर नही है?

२. आधुनिक अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से भूमि का क्या अर्थ है? इस और प्राचीन परिभाषा में अन्तर बतलाइये।

३. विशिष्ट और अविशिष्ट साधनों से आप क्या समझते है? साधनों के इस भेद का उत्पादन-क्रिया में क्या महत्त्व है?

अध्याय ४९

उत्पादन के नियम

उत्पादक का मुख्य ध्येय सदा से नफ़ा कमाना रहा है। उत्पादक चाहे किसान हो या उद्योगपति, उसके इस ध्येय में कभी कुछ अन्तर नहीं नहो आया है। वह उत्पादन मे ऐसे साधनो का उपयोग करना चाहता है जिनकी कार्यक्षमता अधिक हो तथा जिनको प्राप्त करने में कम से कम व्यय करना पड़े। कम से कम व्यय करके अधिक से अधिक लाभ उठाने की इस प्रवृत्ति का उत्पादन के क्षेत्र में बड़ा महत्व है। उत्पादन किस मात्रा में किया जाय, उसके लिये आवश्यक कच्चा माल पर्याप्त मात्रा में प्राप्त किया जा सकता है या नही, किस साधन का कम और किसका अधिक प्रयोग किया जाय इत्यादि बातो का ध्यान प्रत्येक उत्पादक को रखना पडता है। इसके साथ ही प्रत्येक उत्पादक उत्पादन के साधनो के गुण (Quality) उनके यातायात-व्यय तथा उनके बदले उपयोग में लाये-जा-सकने वाले अन्य साधनो के गुण और उनपर किये जाने वाले व्यय के आधार पर यह भी निश्चित करता है कि उत्पादन किस पैमाने पर किया जाय। यदि उत्पादक के साधनो व उत्पादन के पैमाने का निर्वाचन सही होता है तो उत्पादक अपने अधिक से अधिक नफा कमाने के ध्येय मे सफलता प्राप्त कर सकता है अन्यथा नहीं। उत्पादक के लिये उत्पादन के विभिन्न साधनों को किस अनुपात मे मिलाया जाय, यह समस्या भी विशेष महत्व रखती है। यह उत्पादक की निर्वाचन-शक्ति है। यदि यह निर्वाचन-शक्ति न होती और प्रत्येक उत्पादक उत्पादन के साधनो को ठीक एक ही अनुपात मे मिलाकर उत्पादन कर सकते तो उनकी प्रतिस्पर्धा प्राय नष्ट हो जाती एक निश्चित मात्रा में व्यय और लाभ होने से उत्पादक उत्पादन करने के लिये विशेष उत्सुक नहीं रहते। उनकी उत्सुकता और क्रियाशीलता का मुख्य कारण अधिकतम नफा कमाना है जो उक्त स्थिति मे सम्भव नहीं है। इसी प्रवृत्ति के वशीभूत होकर वह उत्पादन के क्षेत्र में प्रयोग (Experiment) करता रहता है और सदा ऐसे साधनो एवं उत्पादन के ऐसे पैमाने की खोज में रहता है जहाँ कम से कम व्यय करके उनकी अधिकतम उपयोगिता का लाभ उठाया जा सके।

उत्पादक के इस उद्देश्य को तथा उत्पादन के साधनो के पारस्परिक सम्बन्ध के अनुपात को प्राय उत्पादन के ये तीन नियम प्रभावित करते

रहते है :—(१) क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम (Law of Increasing Returns), (२) क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम (Law of Decreasing Returns) और (३) क्रमागति-उत्पत्ति-समता नियम (Law of Constant Returns)।

उत्पादक उत्पादन करने के लिये उसके साधनो का परस्पर अनुपात स्थिर कर लेता है। वह प्रत्येक साधन की मात्रा को बारम्बार घटाता-बढाता रहता है। परन्तु हम उसकी उत्पादन-क्रिया को भली प्रकार समझने के लिये यह मान लेते है कि वह सब साधनो को स्थिर रखकर केवल एक साधन की मात्रा को घटाता-बढाता है। इस घटाये-बढाये जाने वाले साधन को परिवर्तनशील साधन (Variable factor) कहते है। यदि कोई उत्पादक केवल दो साधनो की सहायता से उत्पादन करता है तो उसके एक की मात्रा साधन स्थिर रहती है परन्तु दूसरे परिवर्तनशील साधन की एक एक इकाई को घटा-बढा कर दोनो साधनो के ऐसे अनुपात को स्थिर करता है जिससे उत्पादन मे व्यय कम से कम हो और लाभ अधिक से अधिक। यदि सभी साधनों की मात्राओ को प्रत्येक बार घटाया-बढाया जाता रहे तो उत्पादन के विषय में कुछ मत स्थिर कर सकना असम्भव हो जायेगा। इससे उत्पादक के लाभ के उद्देश्य को भी हानि पहुँचेगी।

एक किसान के पास कई बीघा जमीन है जिसमें कई मजूर कार्य करते है। किसान इन मजूरो को कुछ पारिश्रमिक देता है। यदि वह यह अनुभव करे कि अधिक मजूर लगाने से कुल उत्पादन बढ सकता है है तो वह यह निश्चय करेगा कि उस मजूर की सीमान्त-उत्पादन-शक्ति कितनी है। यदि बढ़ाये हुए मजूर का सीमान्त-उत्पादन ३ मन है और उसका पारिश्रमिक इससे अधिक है तो किसान और मजूर नही लगायेगा क्योकि इससे उसको हानि होती है। परन्तु यदि पारिश्रमिक सीमान्त-उत्पादन से कम देना पडता है तो वह मजूर की सख्या को अवश्य बढायेगा। मजूरो की सख्या को वह किसान उस समय तक बढाता रहेगा जब तक पारिश्रमिक सीमान्त-उत्पादन के बराबर न हो जाय।

उत्पादन-क्रिया में नियमो का यह सम्बन्ध तभी स्थिर किया जा सकता है जब उत्पादन का केवल एक साधन परिवर्तनशील साधन माना जाय। एक एक मजूर को बढाने से सीमान्त उत्पादन में वृद्धि, ह्रास और समता का बडी सरलता से स्पष्टीकरण किया जा सकता है। किसान इससे लाभ उठाकर अपने उत्पादन को उस स्थल पर रोक सकता है जहाँ पारिश्रमिक और सीमान्त-उत्पादन दोनो बराबर है क्योकि उसी स्थल पर अधिकतम उत्पादन किया जा सकता है और पारिश्रमिक न्यूनतम

होता है। परन्तु यदि मजूरों की इकाइयों में ह्रास या वृद्धि करने के साथ ही भूमि की मात्रा में भी ह्रास या वृद्धि की जाती तो प्रत्येक बार सम्पूर्ण क्रिया में साधनों का नया अनुपात होने से उत्पादन के नियमों का स्पष्टीकरण कर सकना नितान्त असम्भव होता। किसान को उत्पादन और पारिश्रमिक के सम्बन्ध की अनिश्चितता के कारण लाभ की अपेक्षा हानि की ही अधिक सम्भावना होती।

इससे पहले कि नियमों का पृथक् रूप से स्पष्टीकरण किया जाय एक अन्य स्थिति पर भी प्रकाश डालना उचित है। यह साधारण ज्ञान की बात है कि परिवर्तनशील साधन की इकाइयों में घटती-बढ़ती करने से सीमान्त उत्पादन में भी अवश्य घटती-बढ़ती दृष्टिगोचर होगी। परन्तु यदि परिवर्तनशील साधन की एक इकाई को बढ़ाकर सीमान्त उत्पादन में कुछ भी वृद्धि न हो तो इस साधन की वृद्धि उत्पादक के लिये हानिकारक होगी। क्योंकि उत्पादक को उसे पारिश्रमिक देना पड़ेगा जब कि उसका सीमान्त-उत्पादन कुछ नहीं है। उत्पादक उस इकाई को नहीं बढ़ायेगा। परन्तु व्यवहार में यह स्थिति बहुत कम आती है। परिवर्तनशील साधन की इकाइयों में वृद्धि करने से सीमान्त-उत्पादन में अवश्य वृद्धि होगी पर उत्पादन के दृष्टिकोण से यह जानना आवश्यक है कि यह वृद्धि साधन की बढ़ायी हुई मात्रा के अनुपात से अधिक हुई है, कम हुई है या बराबर हुई है। इसी समस्या के कारण उत्पादन के उक्त तीनों नियमों की खोज हुई।

क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम
(Law of Increasing Returns)

यदि कोई उत्पादक उत्पादन के साधनों भूमि, पूंजी इत्यादि की मात्रा स्थिर रखकर दूसरी वस्तुओं में बिना किसी परिवर्तन के उत्पादन के अन्य साधन अर्थात् 'श्रम' की मात्रा में १% की वृद्धि कर देता है तो उत्पादन की कुल मात्रा में जो वृद्धि होगी वह १% से अधिक होगी। इसे क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम कहते हैं।

निम्नलिखित उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी —

				कुल उत्पादन
मशीन	+	१०० श्रमिक	=	१,००० इकाइयाँ
"	+	१०१ "	=	१,०३० "

उक्त उदाहरण में मशीन उत्पादन का स्थिर साधन है और श्रमिक परिवर्तनशील साधन। मशीन की स्थिर मात्रा के साथ जब १०० श्रमिक उत्पादन कार्य करते हैं तो कुल उत्पादन १,००० इकाइयाँ होता है। परन्तु

जब अन्य वस्तुओ मे किसी प्रकार का परिवर्तन किये बिना श्रम की मात्रा में १% की वृद्धि की जाती है तो उत्पादन १,००० इकाइयो से बढकर १,०३० इकाइयाँ हो जाता है, अर्थात् कुल उत्पादन में यह वृद्धि १% से बढकर ३% हुई।

उत्पादन में क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम के अनुसार यह वृद्धि होने के अनेक कारण है। यह वृद्धि उद्योग-धन्धो तथा कृषि दोनो क्षेत्रो में होती है। आचार्य मार्शल ने दोनो क्षेत्रो की इस वृद्धि का गभीर अध्ययन किया। अन्त में वे इस परिणाम पर पहुँचे कि सीमान्त-उत्पादन में जो वृद्धि परिवर्तनशील साधन की बढ़ाई इकाई के अनुपात से अधिक होती है उसके दो मुख्य कारण है—(१) आन्तरिक मितव्ययता (Internal Economics) और (२) बाह्य मितव्ययता (External Economics)। इन दोनों प्रकार की मितव्ययताओ का उद्योगपति तथा किसान दोनो समान रूप से अनुभव करते है परन्तु उद्योग के विस्तार में इनका विशेष महत्व हो जाता है।

(१) आन्तरिक मितव्ययता (Internal Economics) उसको कहते है जिसका प्रयोग प्रत्येक कारखाने का मालिक कर सकता है। यदि कारखाने का मालिक योग्य और चतुर व्यक्ति है तो वह इस आन्तरिक मितव्ययता को अपने लाभ के लिये प्रयुक्त कर सकता है। उदाहरण के लिये वह इस बात का सदैव ध्यान रखे कि उत्पादन के कार्य में प्रयुक्त होने वाली मशीनें खाली न रहें। उनका अधिक से अधिक प्रयोग किया जाय। इससे वह मशीन की अधिकतम उत्पादन-शक्ति का लाभ उठा सकता है। इसके साथ ही उसे यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि उत्पादन के प्रत्येक साधन से उसकी योग्यतानुसार और उसके गुणो के अनुसार काम लिया जाय। कच्चे माल का पूरा पूरा उपयोग किया जाय। उसमें से कुछ भी व्यर्थ नष्ट न हो। उसके अवशेष से यदि कुछ ऐसी वस्तु बनायी जा सकती है जिसका विक्रय किया जा सकता है तो उसे अवश्य बनाया जाय। उदाहरणार्थ किसी भी चमडे के कारखाने में जूते या सूटकेस इत्यादि के बनाने के बाद कतरनें शेष रह जाती है। आन्तरिक मितव्ययता से परिचित कारखाने का मालिक उन कतरनों से चमडे की पेटियाँ, फीते, बटुए और वाशर इत्यादि वस्तुएँ बनवाकर उनका विक्रय कर देता है, जिससे चमडे के छोटे से टुकडे का भी पूरा उपयोग कर लाभ उठाता है। उसे इस बात की ओर भी ध्यान देना पडेगा कि उसके कारखाने में उत्पादन की रीतियाँ अवैज्ञानिक तो नही है। आन्तरिक मितव्ययता का पूरा लाभ उठाने के लिये उत्पादक को आधुनिक वैज्ञानिक रीतियो से उत्पादन करना चाहिये और पुरानी मशीनो के स्थान पर नयी अधिक उत्पादक मशीनो का प्रयोग करना चाहिए। ये आन्तरिक मितव्ययता की मुख्य बातें है

(२) वाह्य मितव्ययता (External Economics) का उपयोग एक अकेला उत्पादक नही कर सकता है। इसके लिये यह आवश्यक होता है कि अनेक कारखानो या उद्योग-धन्धो का साथ-साथ विकास हो। यदि किसी स्थान पर चीनी के अनेक कारखाने खुल जायँ तो यह स्वाभाविक है कि उस स्थान के श्रमिक चीनी की मशीनो एव उसके उत्पादन की रीतियो से भली प्रकार परिचित हो जायेंगे और आवश्यकता पडने पर कुशल श्रमिक प्राप्त हो सकेंगे। यदि चीनी का कोई नया कारखाना वहाँ पर खुलेगा तो वह इस सुविधा से बहुत लाभान्वित होगा। इसके विपरीत यदि उस स्थान पर केवल एक अकेला चीनी का कारखाना होता तो यह सुविधा मिल सकनी सम्भव नही होती। इसके साथ ही यदि कई चीनी के कारखानो के साथ ही वहाँ पर एक डाकखाना तथा छोटे रेल का स्टेशन भी बन जाय तो उत्पादको को वाह्य मितव्ययता की इस सुविधा से पर्याप्त लाभ उठाने का अवसर मिल जाता है। सस्ते सूद पर रुपया उधार भी मिलने लगता है जिससे पूँजी इकट्ठा करने मे बहुत कठिनाई नही पडती है। कानपुर में जब केवल एक दो मिलें ही थी तो इस प्रकार की कोई सुविधा वहाँ नही थी। परन्तु उद्योग-धन्धो के विकास के साथ ही वहाँ पर द्रव्य-बाजार (Money Market) का भी विकास हो गया। बडे बडे उद्योगो के स्थापित हो जाने से ऐसे स्थानो में छोटे छोटे धन्धे भी चालू हो जाते है जहाँ से बडे कारखानो को अनेक आवश्यक पुर्जे, बैल्ट, व लोहे इत्यादि की आधी तैयार (Semi-manufactured) वस्तुएँ प्राप्त हो जाती है। जैसे अहमदाबाद इत्यादि स्थानो में जहाँ कपडे की मिलें है, कपडे की गाँठ बाँधने के लोहे की पत्ती बनाने का धन्धा चल पडा है, ऐसे ही बोरे इत्यादि के धन्धे भी। इनका उत्पादन बडे पैमाने पर किया जाता है क्योकि इनकी माँग बहुत होती है। इसी प्रकार मोटर बनाने वाले भी कही से मोटर के आवश्यक पुर्जे व बिजली की तैयार वस्तुएँ खरीद लेते है। इस प्रकार वाह्य मितव्ययता से उत्पादन-व्यय (Cost of Production) घटाया जा सकता है।

आचार्य मार्शल के अनुसार इन दो मितव्ययताओ के कारण ही उत्पादन में वृद्धि का नियम लागू होता है। यदि दूसरे दृष्टिकोण से देखा जाय तो इस वृद्धि के निम्न पाँच विशेष कारण है :—

१. मशीनो की अविभाज्यता (Indivisibility of Machinery)

२. कार्यालय के व्यय में मितव्ययता (Economy of Office Expenses)

३. बडे पैमाने में क्रय-विक्रय की सुविधाएँ (Advantages of Large Scale Buying and Selling)

४. सहायक उद्योग-धन्धो की सुविधाएँ (Advantage of Subsidiary Industries)

५. श्रम, पूँजी इत्यादि सुविधाओं की सरलता से प्राप्ति (Availability of Labour, Capital and Other Facilities)

(१) मशीनों की अविभाज्यता (Indivisibility of Machinery) का सम्बन्ध उसके पुर्जों से नहीं वरन् उसकी उत्पादन-शक्ति से होता है। उद्योग-धन्धों में प्राय. बड़ी-बड़ी मशीनों का प्रयोग किया जाता है जिनकी उत्पादन-शक्ति बहुत अधिक होती है। उससे उत्पादन करना उत्पादक की इच्छा पर निर्भर रहता है चाहे वह वस्तु की केवल १ इकाई का उत्पादन करे या १०० इकाइयों का। परन्तु प्रत्येक स्थिति में उत्पादक को पूरी मशीन का तथा उसे चलाने इत्यादि के प्रबन्ध का व्यय देना पड़ता है, जिसे अतिरिक्त व्यय (Overhead Cost) कहते हैं। जैसे जैसे उत्पादक अधिक इकाइयों का उत्पादन करेगा यह अतिरिक्त-व्यय कम होता जायेगा क्योंकि मशीन अपनी पूरी उत्पादन-शक्ति से कार्य करेगी जिससे प्रत्येक उत्पादित इकाई का उत्पादन-व्यय कम होगा और यही उत्पादन के क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम का तात्पर्य है।

उदाहरण के लिये एक फाउन्टेनपेन बनाने के कारखाने को लीजिये। उस कारखाने की मशीन फाउन्टेनपेन की १०० इकाइयाँ बना सकती है परन्तु उत्पादक केवल ५ इकाइयों का ही उत्पादन करता है। मशीन को चलाने व उसका प्रबन्ध इत्यादि करने का कुल व्यय ५०० रुपया है जो, चाहे उत्पादक १ इकाई का उत्पादन करे या १०० इकाइयों का, प्रत्येक स्थिति में स्थिर रहेगा। यदि ५ इकाइयों का उत्पादन करने के लिये १०० रुपये के कच्चे माल की आवश्यकता हो तो इस प्रकार ५ इकाइयों का उत्पादन करने में उत्पादक को कुल ६०० रुपये व्यय करने पड़े जिससे प्रत्येक इकाई का मूल्य १२० रुपया हुआ। परन्तु यदि उत्पादक मशीन की पूरी उत्पादन-शक्ति का उपयोग करने के हेतु १०० इकाइयों का उत्पादन करना चाहता है तो उसे ५०० रुपया मशीन चलाने इत्यादि पर व्यय करना ही पड़ेगा। कुल १०० इकाइयों का परिवर्तनशील-व्यय (Variable Cost) उक्त उदाहरण के अनुसार २,००० रुपये हुआ। इस प्रकार १०० इकाइयों का उत्पादन करने के लिये उत्पादक को कुल २,५०० रुपये व्यय करने पड़े जिससे प्रति इकाई का मूल्य २५ रुपये हुआ। यही उत्पादन के वृद्धि के नियम का तात्पर्य है। जैसे-जैसे उत्पादक उत्पादन बढ़ाकर मशीन की अधिकतम उत्पादन-शक्ति का लाभ उठाता है वैसे-वैसे प्रत्येक उत्पादित इकाई का उत्पादन-व्यय घटता जाता है।

यह नियम इसी प्रकार कृषि-क्षेत्र में भी लागू होता है। किसान के पास उत्पादन के लिये भूमि का एक निश्चित भाग होता है जिसमें श्रम करके वह अन्न उगाता है। माना एक कृषक के पास ५ एकड़ भूमि है जिसकी एक निश्चित उत्पादन-शक्ति (Fertility) है। कृषक इस उत्पादन-शक्ति का अनुमान किये बिना ही उस भूमि में बीज कम और बो देता है इससे उपज भी कम होती है क्योंकि भूमि की उत्पादन-शक्ति का पूरा-पूरा उपयोग नहीं किया गया। किसान ने उस भूमि को जोतने और बोने में जो व्यय किया था वह उपज से पूरा नहीं हो सकता है अर्थात् हल-बैल इत्यादि के श्रम का पूरा लाभ नहीं उठाया गया। परन्तु यदि वह कृषक अधिक बीज बोता है तो स्वाभाविक रूप से भूमि की पूरी उत्पादन-शक्ति (Fertility) उपयोग में आ जायगी और मशीन की ही तरह उसकी उपज भी बढ़ेगी। उसको जोतने बोने में हल-बैलो की शक्ति भी पूरी तरह काम में आयेगी और कुल उपज की प्रति उत्पादित इकाई का उत्पादन-व्यय पहले की अपेक्षा कहीं अधिक गिर जायेगा। यही उत्पादन के वृद्धि के नियम का उद्देश्य है।

(२) कार्यालय के व्यय में मितव्ययता (Economy of Office Expenses) —प्रत्येक उद्योग-धन्धे या कारखाने को चलाने के लिये एक कार्यालय की अत्यन्त आवश्यकता होती है। कार्यालय के द्वारा ही उसका सगठन एवं सचालन सुचारु रूप से हो पाता है। उत्पादक को किसी भी स्थिति में इसमें एक निश्चित मात्रा में व्यय करना पड़ता है जो स्थिर व्यय (Fixed Cost) है। यदि कारखाने में उत्पादक कम इकाइयो का उत्पादन करेगा तो उक्त उदाहरण के अनुसार कार्यालय की प्रति इकाई पर व्यय की मात्रा बढ़ेगी और उत्पादक कार्यालय की अधिकतम उत्पादक शक्ति का लाभ नहीं उठा सकेगा। परन्तु यदि उत्पादन की मात्रा बढेगी तो कार्यालय की उत्पादन शक्ति का अधिकतम उपयोग हो सकेगा और प्रति इकाई व्यय भी घट जायेगा।

यही बात कृषि में भी होती है। किसान को अपने सहयोगियो या मजूरो पर एक निश्चित मात्रा में व्यय करना पडता है। यदि वह उनकी सहायता से उतना उत्पादन नही करता है जितना उत्पादन कर सकने की उनमें शक्ति है तो प्रति इकाई व्यय की मात्रा बढेगी। उनकी पूरी उत्पादन-शक्ति का उपयोग भी नही होगा। परन्तु इसके विपरीत यदि कृषक उनकी उत्पादन-शक्ति का पूरा उपयोग करके उत्पादन की मात्रा बढाता है तो नियमानुसार प्रति इकाई व्यय घट जायेगा जिससे कृषक को लाभ होगा और साथ ही उत्पादन भी बढेगा। यही क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम के अनुसार वाछित है।

(३) बड़े पैमाने में क्रय-विक्रय की सुविधाएँ (Advantages of Large Scale Buying and Selling) :—उत्पादन के लिये कच्चा माल ही मुख्य है। इसके बिना मशीनें और श्रमिक व्यर्थ हैं। कच्चा माल उत्पादन के पैमाने को और उत्पादित वस्तु पर व्यय एवं उसके मूल्य को प्रभावित करता है। क्योंकि यदि कोई उत्पादक कारणवश उत्पादन को छोटे पैमाने पर करेगा तो कच्चे माल की भी थोडी मात्रा ही खरीदेगा; और इसी थोडी उत्पादित मात्रा को बेचेगा भी। कच्चे माल की अधिक माँग न होने से उसका मूल्य बढेगा और अन्त में प्रत्येक उत्पादित इकाई पर उत्पादन व्यय भी बढेगा। मशीन तथा श्रमिको इत्यादि की पूरी उत्पादन-शक्ति का उपयोग न हो सकेगा और इससे स्थिर व्यय (Fixed Cost) मे किसी प्रकार की कमी नही होगी। इसी प्रकार यदि कोई किसान थोडी मात्रा में उत्पादन करेगा तो उसे बीज की कम मात्रा खरीदनी पडेगी। माँग कम होने से अच्छे प्रकार का बीज भी नही मिलेगा परन्तु बैलो की जोडी व अन्य काम करने वाले साथियो पर किये जाने वाले व्यय में किसी प्रकार का अन्तर नही आयेगा उनकी उत्पादन-शक्ति अव्यवहृत रहेगी और परिणामस्वरूप प्रत्येक उत्पादित इकाई पर उत्पादन-व्यय बढेगा।

इसके विपरीत यदि उत्पादक और किसान बड़े पैमाने पर उत्पादन करेंगे तो निश्चय ही उत्पादन के साधनो की पूरी शक्ति काम मे आयेगी। कच्चा माल अधिक मात्रा में खरीदा जायेगा जिससे वह सस्ते मूल्य मे और अच्छे प्रकार का सरलता से प्राप्त हो सकेगा। विक्रेता ग्राहक की इच्छानुसार माँग की पूर्ति शीघ्र करने का प्रयत्न करेगा। इससे उत्पादन में वृद्धि होगी और इसका प्रभाव उत्पादन-व्यय पर पड़ेगा। जैसे-जैसे उत्पादक और किसान उत्पादन की मात्रा बढ़ायेंगे उत्पादन-व्यय प्रति इकाई घटता जायेगा और दोनो इससे लाभान्वित होंगे।

(४) सहायक उद्योग-धन्धो की सुविधाएँ (Advantages of Subsidiary Industries) :—यदि उत्पादक छोटे पैमाने में उत्पादन करता है तो उसे उत्पादन की सारी क्रिया, उसके लिये आवश्यक सामग्री इत्यादि के लिये अपने कारखाने पर ही निर्भर रहना पडेगा। छोटे पैमाने में उत्पादन करके बाह्य सुविधाएँ कम मिलती है। मोटर बनाने के कारखाने पहले बिजली के तारो, नटों, स्क्रू इत्यादि से लेकर उसके समस्त पुर्जों का उत्पादन स्वय करते थे। इसी प्रकार साबुन बनाने के कारखानो को अपनी आवश्यकता की छोटी वस्तुएँ भी स्वय बनानी पड़ती थी जिसमें व्यय अधिक होता था। परन्तु अब उत्पादन बड़े पैमाने में करने से तथा एक ही उद्योग-धन्धे के अनेक कारखानो की

स्थापना हो जाने से कुछ सहायक उद्योग-धन्धो की भी स्थापना हो गयी है जिनमें बडे-बडे उद्योगो में आवश्यक छोटी-छोटी वस्तुओ का उत्पादन किया जाता है। मोटर बनाने वाले इन सहायक कारखानो से पुर्जे, मोटर की बिजली की फिटिंग इत्यादि सामान खरीद लेते है और बहुत कम समय में मोटरो का उत्पादन किया जाता है। इसी प्रकार कपडे के कारखानो में गाँठें बाँधने के लिये लोहे की पत्ती इत्यादि इन्ही सहायक कारखानो से प्राप्त हो जाती है। ये सहायक कारखाने इन आवश्यक वस्तुओ का बडे पैमाने में उत्पादन करते हैं। इस सुविधा से उत्पादन की मात्रा तो बढती ही है, साथ ही प्रति इकाई उत्पादन-व्यय भी कम हो जाता है।

आचार्य मार्शल इन सुविधाओ को बाह्य मितव्ययता के अन्तर्गत मानते हैं।

५ **श्रम, पूंजी इत्यादि सुविधाओ की सरलता से प्राप्ति** (Availability of Labour, Capital and Other Facilities) —यह पहले कहा जा चुका है कि बाह्य मितव्ययता की सुविधा प्राप्त करना एक उत्पादक की शक्ति के बाहर है। इसके लिये एक ही प्रकार के या अनेक प्रकार के उद्योगो का एक साथ विकास होना आवश्यक है। बडे पैमाने में उत्पादन करने से यह सुविधा सरलता से प्राप्त हो जाती है। प्राय उत्पादक ऐसे स्थलो पर उत्पादन-केन्द्र स्थापित करता है जहाँ उसे श्रम, पूंजी, कच्चा माल इत्यादि आसानी से मिल सकें तथा उद्योग के अनुकूल जलवायु हो। इससे एक ही स्थान पर एक उद्योग-धन्धे के अनेक कारखाने खुल जाते है जैसे अलीगढ में तालो, कानपूर और अहमदाबाद में कपडे, टाटानगर में लोहे के कारखाने स्थापित हो गये हैं। इससे उस क्षेत्र के श्रमिक इन उद्योगो में काफी कुशलता प्राप्त कर लेते हैं। अतएव श्रम आसानी से प्राप्त हो जाता है। कारखानो में समय समय पर द्रव्य की आवश्यकता पडती है जिससे इन स्थानो में द्रव्य-बाजार (Money Market) भी कार्य करने लगते है। सस्ते सूद में आवश्यकतानुसार द्रव्य ऋण मे मिल जाता है, रेलवे स्टेशन तथा डाकखानो की स्थापना से ऐसे केन्द्रो का महत्व और भी बढ जाता है क्योकि उत्पादक बाहर से आवश्यक कच्चा माल कम व्यय पर सुरक्षित रूप से अपने उत्पादन केन्द्रो तक पहुँचाते है और तैयार माल को बाजार तक। यातायात और सवाद की सुविधा से उत्पादक के व्यय मे बहुत कमी आ जाती है जिसका प्रभाव उत्पादन पर पडता है। अधिक मात्रा मे उत्पादन करने मे स्थिर-व्यय (Fixed Cost) प्रति इकाई कम हो जाता है और परिवर्तनशील-व्यय (Variable Cost) भी उक्त सुविधाओं से घट जाता है जिसका परिणाम यह होता है कि प्रति इकाई

उत्पादन-व्यय घट जाता है। इससे उत्पादक क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम का पूरा पूरा लाभ उठा सकता है।

उक्त पाँचो सुविधाएँ बडे पैमाने के उद्योग-धन्धों में तथा कृषि दोनों में उत्पादन आरम्भ करते ही बढने लगती है। परन्तु यह सदा बढ़ती ही नही रहती है। उत्पादन में प्राय एक ऐसी स्थिति आ जाती है जब उक्त सुविधाओ की वृद्धि से उस अनुपात से कम उत्पादन होता है जिसे हम क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम के अन्तर्गत समझायेंगे।

क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम
(Law of Decreasing Returns)

यदि उत्पादक उत्पादन के साधनो भूमि, पूँजी, इत्यादि की मात्रा स्थिर रखकर, दूसरी वस्तुओ में बिना किसी परिवर्तन के, उत्पादन के अन्य साधन अर्थात् श्रम की मात्रा में १% की वृद्धि कर देता है तो उत्पादन की कुल मात्रा में जो वृद्धि होगी वह १% से कम होगी। इस नियम को क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम कहते है।

निम्नलिखित उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

				कुल उत्पादन
मशीन	+	१०० श्रमिक	=	२,००० इकाइयाँ
,,	+	१०१ ,,	=	२,०१० ,,

उक्त उदाहरण में 'श्रम' उत्पादन का परिवर्तनशील साधन है और मशीन स्थिर साधन। मशीन के साथ जब १०० श्रमिकों ने उत्पादन किया तब कुल २,००० इकाइयो का उत्पादन किया जा सका। परन्तु उत्पादक ने 'श्रम' की मात्रा में १% की वृद्धि कर दी जिसके फलस्वरूप उत्पादन में वृद्धि होना आवश्यक था २,००० इकाइयो से बढकर २,०१० इकाइयो का उत्पादन हुआ। कुल उत्पादन में वृद्धि परिवर्तनशील साधन की मात्रा में की गयी वृद्धि से कम है अर्थात् कुल उत्पादन मे केवल ½% की वृद्धि हुई। इस नियम को निम्नलिखित विवरण में समझाया गया है।

उत्पादन की प्रत्येक क्रिया में यदि उत्पादन वृद्धि के लिये परिवर्तनशील साधन की मात्रा बढाते जायें तो एक सीमा के बाद क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम क्रियाशील होगा। क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम के अन्तर्गत यह बताया जा चुका है कि कृषि में या उद्योग मे जब पहले उत्पादन आरभ किया जाता है तो भूमि या मशीन की उत्पादन शक्ति का पूरा उपयोग नही किया जा सकता है जिसका परिणाम यह होता है कि उत्पादन मे कमी होती है और प्रति इकाई उत्पादन-व्यय भी अधिक

होता है। परन्तु जैसे-जैसे उत्पादक परिवर्तनशील साधन की एक एक इकाई बढाता जाता है वैसे ही वैसे प्रति इकाई उत्पादन-व्यय घटता जाता है और उत्पादन की मात्रा बढती जाती है। परन्तु यह स्थिति सदा नही रहती है। क्रमशः एक ऐसी स्थिति आ जाती है जब प्रति इकाई उत्पादन-व्यय न्यूनतम होता है और कुल उत्पादन में जो वृद्धि होती है वह परिवर्तनशील साधन में की गयी वृद्धि के बराबर होती है अर्थात् यदि परिवर्तनशील साधन की मात्रा में १% की वृद्धि की जाय तो कुल उत्पादन में भी १% की वृद्धि हो जाती है। उत्पादन के आरम्भ से इस स्थिति तक क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम लागू होता है और इस स्थिति विशेष मे उत्पादक उसका अधिकतम लाभ उठा सकता है। परन्तु इसके पश्चात् यदि उत्पादन में अधिक वृद्धि करने के लिये परिवर्तनशील साधन की एक इकाई और बढायी जाय तो परिणाम इस स्थिति से भिन्न होगा। कुल उत्पादन मे वृद्धि अवश्य होगी परन्तु बढाई हुई इकाई के अनुपात से कम अर्थात् यदि परिवर्तनशील साधन में १% की वृद्धि की जाय तो कुल उत्पादन की ह्रासोन्मुख वृद्धि ½% होगी। उत्पादन के कुल साधनो से वाछित उत्पादन मे इस कमी का प्रभाव उत्पादन-व्यय पर पडता है। प्रति इकाई उत्पादन-व्यय मे वृद्धि होती है जो उत्पादक के लिये लाभदायक नही कही जा सकती। प्रत्येक उत्पादक, चाहे वह किसान हो या इस्पात के उद्योग का स्वामी, इस स्थिति का अनुभव करते ही उत्पादन मे वृद्धि करने का विचार छोड देता है। उत्पादन क्षेत्र में कुल उत्पादन की इस ह्रासोन्मुख वृद्धि का ही क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम स्पष्टीकरण करता है।

यह नियम कृषि-उद्योग में अन्य उद्योगो की अपेक्षा अधिक शीघ्र लागू होता है। प्राय प्रत्येक-किसान की यही इच्छा रहती है कि वह अपनी निश्चित भूमि से अधिक से अधिक पैदावार करे परन्तु नियम की परिभाषा के अनुसार सदा एक स्थिति विशेष के पश्चात् उसकी अधिक पैदावार लाभ की अपेक्षा हानि मे बदल जाती है।

उक्त विवेचन में यह मान लिया गया है कि उत्पादन एक विशेष स्थिति में किया जाता है। इसके दो मुख्य पक्ष है यदि (१) विना दूसरी वस्तुओ में कुछ परिवर्तन के और (२) श्रम की इकाई अथवा परिवर्तन-शील साधन की इकाई के व्यय या पारिश्रमिक में विना परिवर्तन के उत्पादन किया जायगा तो क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम अवश्य लागू होगा। नियम की इन दोनो सीमाओ पर नीचे सक्षेप में प्रकाश डाला गया है।

(१) विना दूसरी वस्तुओ में कुछ परिवर्तन किये उत्पादन करने से तात्पर्य यह है कि उत्पादक ने किसी वस्तु विशेप का उत्पादन करने के

लिये आवश्यक साधनो के प्रकार स्थिर कर लिये है। वह परिवर्तनशील साधन की मात्रा घटा-बढा सकता है परन्तु उसकी जाति (Type) को नही। स्थिर साधन को एक वार स्थापित कर लेने के पश्चात् उत्पादक उत्पादन की सम्पूर्ण क्रिया मे विना उसमे कुछ परिवर्तन किये हुए उसका उपयोग करता है। उत्पादन के केन्द्र अथवा साधनो की अन्य सुविधाओ के लिये वह अपने निश्चित स्थान को परिवर्तन नही करता है। इसी प्रकार की अन्य सकीर्ण सीमाओ के अन्दर उत्पादन करने से क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम का लम्बी अवधि तक उत्पादक उपभोग नही कर सकता है। ऐसी स्थिति मे क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम अतिशीघ्र लागू हो जाता है। यह सीमा उत्पादन के एक विशेष नियम क्रमागति-उत्पत्ति-प्रतिस्थापन्न नियम (Law of Substitution) के विपरीत है जिसका वर्णन आगे किया जायेगा। आधुनिक उत्पादन प्रणाली इसी नियम पर आधारित है। उत्पादक साधनो की अधिकतम उपयोगिता के साथ ही अपनी तीव्र निर्वाचन-शक्ति से काम लेता है। विज्ञान के आधुनिक आविष्कारो का पूरा लाभ उठाता है जिससे कम से कम समय मे अधिक से अधिक उत्पादन करके बढती हुई माँग की पूर्ति कर लेता है, श्रमिको के स्थान पर अधिक से अधिक मशीनो का प्रयोग करने का प्रयत्न करता है—जिससे प्रति इकाई उत्पादन-व्यय न्यूनतम हो और क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम का पूरा लाभ उठा सके। परन्तु उक्त सीमा उत्पादन की एक विधि, साधनो के स्थिर प्रकार इत्यादि को निश्चित करके उत्पादक की निर्वाचन-शक्ति को एक निश्चित समय तक के लिये कुण्ठित कर देती है।

(२) यद्यपि यह सीमा भी पहली सीमा के अन्तर्गत ही आती है तथापि उत्पादन-क्रिया में परिवर्तनशील साधन का विशेष महत्व होने से इसको पृथक् किया गया है। उत्पादक जब उद्योग-धन्धे को आरम्भ करता है तो तत्सम्बन्धी अनेक विषयो पर विचार कर लेता है। अपनी निर्वाचन-शक्ति का पूरा उपयोग करके अपनी योजना कार्यान्वित करता है। इस विचार-विमर्श मे उसका ध्यान सदा परिवर्तनशील साधनों की ओर होता है। श्रम स्थिर नही है, उसकी विशेषता ही अस्थिरता या परिवर्तन है। यदि उत्पादक १०० मजूरों को २ रुपया प्रति मजूर प्रतिदिन के पारिश्रमिक पर नियुक्त करता है तो यह बहुत सम्भव है कि कुछ समय पश्चात् किसी कारण बेकार मजूरो की संख्या बढ जाय। वे माँग कम होने से कम से कम पारिश्रमिक पर भी अपना श्रम बेचने को तैयार हो जायेंगे। यदि उत्पादक पुराने मजूरो के स्थान पर इनकी नियुक्ति करेगा तो कुल श्रम-व्यय में उसे बचत होगी और कुल उत्पादन-व्यय को कम करने में इसका प्रभाव पड़ेगा। यह भी बहुत सम्भव है कि १००

मजूरो का काम उनसे शीघ्र कर सकने वाली मशीन से उत्पादक पर्याप्त लाभ उठा सकता है। परिवर्तनशील अन्य साधन का जैसे कच्चा माल का, मूल्य भी घटता-बढता रहता है। परन्तु नियम की उक्त सीमा के अनुसार उत्पादक यदि उसने उत्पादन आरम्भ कर दिया है तो इनमे से किसी भी सुविधा और अवसर का उपयोग नही कर सकता है। साथ ही इस नियम के अनुसार यह पक्ष भी अत्यन्त महत्व का है कि परिवर्तनशील साधन की क्रमश बढाई गयी इकाइयो पर उक्त सुविधाओ के प्राप्त होने पर भी पूर्व की इकाइयो के अनुसार ही व्यय किया जाय और उनकी कार्य-क्षमता भी समान हो जो अनिवार्य नही है।

नियम की उक्त सीमाएँ व्यावहारिक क्षेत्र में उचित नही जान पडती है। उत्पादक इतनी सकीर्ण सीमाओ के अन्दर उत्पादन नही करता है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नही है कि व्यावहारिक क्षेत्र में यह नियम लागू न हो। क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम एक व्यापक नियम है। इन सीमाओ के रहते हुए भी यह उत्पादन की प्रत्येक क्रिया में लागू होता है।

उत्पादन में ह्रासोन्मुख वृद्धि होने के अनेक कारण है। उनमें से मुख्य कारणो का सक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम में उत्पादन में क्रमश वृद्धि करके प्रति इकाई उत्पादन-व्यय कम से कम करने में सहायक आन्तरिक और बाह्य मितव्ययता का वर्णन किया जा चुका है। जब उनके अन्तर्गत आई पाँचो सुविधाओ का पूर्ण उपयोग किया जाता है तब मशीन की उत्पादन-शक्ति का भी पूर्ण उपयोग हो जाता है। जितना उत्पादन एक मशीन से किया जा सकता था यदि उससे अधिक उत्पादन करने की इच्छा से उसका प्रयोग किया जायेगा तो मशीन पर अनावश्यक भार (Strain) पडना अवश्यम्भावी है। वह अपनी पूर्व शक्ति के बराबर उत्पादन नही कर सकती है। इसके साथ ही मशीन की टूट-फूट और घिसावट का व्यय भी बढेगा। मशीन एक सीमा तक उत्पादन कर सकती थी जिसका उपयोग पहले ही किया जा चुका है अतएव क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम के पश्चात् क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू होना अवश्यम्भावी है।

इसी प्रकार भूमि मे भी उपज-शक्ति (Fertility) है। प्रारम्भ में उसका पूरा उपयोग नही किया जा सकता है। इसलिये किसान जैसे जैसे अधिक बीज बोता है, पैदावार बढती जाती है परन्तु उपज-शक्ति समाप्त हो जाने पर किसान खाद, सिंचाई इत्यादि का सहारा लेकर उत्पादन में वृद्धि करना चाहता है इससे भूमि की उपज-शक्ति को कुछ समय तक अवश्य बढाया जा सकता है परन्तु सदा नही। उसकी उपज-शक्ति के समाप्त होते ही कुल उत्पादन मे परिवर्तनशील साधन की मात्रा

मे उत्तरोत्तर वृद्धि करने से क्रमश ह्रासोन्मुख वृद्धि होती है; खाद सिचाइ का अतिरिक्त व्यय वढ जाता है और पैदावार उपज वढाने की मूल्यवान् विधियो में किये गये व्यय से कम होती है। इस तरह क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू हो जाता है। किसान भूमि की उपज-शक्ति को वढाने के निमित्त दो विधियो का अनुसरण करता है —(१) गहरी खेती (Intensive Cultivation) और (२) कृषि भूमि में विस्तार करके (Extensive Cultivation)।

(१) गहरी खेती (Intensive Cultivation) —जिस प्रकार उत्पादक अपने स्थिर साधन मशीन से उसकी उत्पादन-शक्ति से अधिक काम लेता है उसी प्रकार किसान भी। किसान के उत्पादन का स्थिर साधन उसकी भूमि है। उसकी एक निश्चित मात्रा होती है और निश्चित उपज-शक्ति। परन्तु जब यह उपज-शक्ति समाप्त हो जाती है तो किसान उसमें जुताई, सिचाई, खाद इत्यादि का अधिक प्रयोग करता है। नये वैज्ञानिक यन्त्रो ट्रैक्टर इत्यादि वैज्ञानिक खाद और सिचाई की नवीन रीतियो को अपनाता है। बीज वैज्ञानिक रीति से बोता है। तात्पर्य यह है कि वह उपज वढाने के लिये सहायक, परिवर्तनशील साधनो में काफी व्यय करता है। परन्तु मनुष्य के प्रयत्नो की सफलता की भी एक सीमा होती है जिसको पार करने की चेष्टा असफलता और हानि में बदल जाती है। किसान गहरी खेती करके भूमि के उस निश्चित भाग की उत्पादन-शक्ति एक सीमा तक वढा सकता है, अर्थात् क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम की अवधि को कुछ बढा सकता है परन्तु अन्त में क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू हो जाता है। उत्पादन में ह्रासोन्मुख-वृद्धि आरम्भ हो जाती है जिससे प्रति इकाई उत्पादन-व्यय वढ जाता है।

(२) कृषि भूमि में विस्तार करके (Extensive Cultivation) —प्राय यह माना जाता है कि आरभ में मनुष्य ने उत्तम भूमि मे खेती करनी आरम्भ की। जनसख्या के बढने से अनाज की माँग बढी और किसान को अधिक उत्पादन करने की आवश्यकता हुई। उसने अधिक भूमि पर खेती का विस्तार किया। इस क्रम से धीरे-धीरे उत्तम मध्यम और निकृष्ट भूमि पर भी उत्पादन किया जाने लगा। इस कथन से ऐसा उत्तरोत्तर नयी भूमि की उपज-शक्ति का प्रयोग किया जाता था। परन्तु बात ऐसी नही है।

यह कहना अनुचित न होगा कि आरभ में कृषि का कार्य केवल एक किसान नही करता था तब भी पर्याप्त कृपक जो अपने को भूमि-पुत्र कहते थे केवल खेती ही करते थे। यदि एक ही किसान कृषि भूमि में विस्तार करता और एकमात्र उत्पादक स्वय होता तब तो निश्चय

उसके उत्पादन कार्य मे क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम लम्बी अवधि तक लागू रह सकता था परन्तु किसान अनेक थे। प्रत्येक कृषि-भूमि का विस्तार करना चाहता था। इससे भूमि का विस्तृत क्षेत्र कई भागो मे बँट गया, इसके साथ ही भूमि पर काम करने वाले श्रमिक भी बँट गये, सिंचाई और बीज गोदामो के भी कई हिस्सेदार बन गये। 'परिणाम यह हुआ कि कृषि-क्षेत्र में भी प्रत्येक चीज सीमित मात्रा में मिलने लगी। अनेक किसानो के होने से हल, बैल, बीज, श्रमिक इत्यादि की माँग बढने लगी, नियमानुसार उनके मूल्य में वृद्धि हुई, पारस्परिक प्रतिस्पर्धा ने इस बढते मूल्य को और बढाया। ऐसी स्थिति में, जब किसान एक निश्चित भूमि-भाग पर उत्पादन करता था, भूमि की उपज-शक्ति का ह्रास होना आवश्यक था और किसान की विस्तृत खेती की विधि गहरी खेती में बदलती गयी जिसका पहले वर्णन किया जा चुका है।

इसी प्रकार यदि कोई एक उत्पादक उत्पादन का एकाधिकार पा ले तो उसे अपने कारखानो का विस्तार करने के लिये पर्याप्त भूमि मिल सकती है, केवल एक ही उत्पादक होने से कच्चे माल और श्रमिको की भी कमी नही हो सकती है और उसकी माँग भी इनकी पूर्ति में किसी प्रकार का उल्लेखनीय प्रभाव नही डाल सकती है। परन्तु स्थिति यह नही है। उत्पादन क्षेत्र मे अनेक उत्पादक है। प्रत्येक अधिक-से-अधिक नफा कमाना चाहता है और एक दूसरे से गहरी प्रतिस्पर्धा रखता है। दूसरी ओर श्रमिको की सख्या, उत्पादन के लिये आवश्यक कच्चा माल, कोयला इत्यादि निश्चित मात्रा मे है। उत्पादको की सख्या अधिक होने से इन वस्तुओ की माँग बढ जाती है, पूर्ति निश्चित रहने से इनके मूल्य बढ जाते है। कुछ उत्पादक एक सीमा तक बढे हुए मूल्य पर आवश्यक सामग्री का क्रय करके उत्पादन कर सकते है क्योकि उनकी उत्पादित वस्तु की माँग अधिक हो सकती है पर सदा नही। प्रतिस्पर्धा मे वे अधिक नही टिक सकते। इससे उत्पादन-व्यय प्रति इकाई बढ जाता है। उत्पादन क्षेत्र मे अधिक नफे के आकर्षण से नये उत्पादक आते रहते है इससे आवश्यक मशीनो की जो उत्पादन के स्थिर साधन है माँग बढ जाती है और परिवर्तनशील साधनो के साथ उनके मूल्य भी बढते जाते है जिससे उनका प्रति इकाई उत्पादन-व्यय बढता है।

क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम के लागू होने का एक कारण उत्पादक की मानसिक-शक्ति भी है। उत्पादन की योजना बनाने से लेकर उसको कार्यान्वित करना तथा अन्य उत्पादको की प्रतिस्पर्धा से टक्कर ले सकना सब उसी पर निर्भर होता है। छोटे पैमाने पर उत्पादन करके अपनी मानसिक शक्ति का पूरा लाभ उठाया जा सकता है क्योकि उत्पादक

स्वय कारखाने की हर समस्या पर विचार-विमर्श कर सकता है, स्वय सदा निरीक्षण करता रहता है, श्रमिको से नित्य का सम्पर्क रहने से उत्पादक और श्रमिक के सम्बन्ध अच्छे रहते है और वह वाजार की स्थिति और अपनी वस्तु की माँग का ठीक अध्ययन करके उत्पादन घटा-वढा सकता है। परन्तु आधुनिक उत्पादन प्रणाली के अनुसार प्रत्येक उत्पादक वडे पैमाने मे उत्पादन करना चाहता है और अपने प्रतिद्वन्द्वी का वाजार अपने प्रभाव मे लाना चाहता है। इससे छोटे पैमाने पर उत्पादन करने वाले का भविष्य कुछ आशाजनक नही कहा जा सकता है क्योकि वढती हुई माँग की वह पूर्ति नही कर सकता है और न आन्तरिक एव वाह्य मितव्ययता का ही पूरा लाभ उठा सकता है। परन्तु वड़े क्षेत्र में उत्पादन करने से उत्पादक स्वय सब कारखानो का, उनके कार्य की गति का तथा श्रमिको इत्यादि की आवश्यकता का पूरा परिचय नही पा सकता है। उसकी नियन्त्रण-शक्ति सीमित है इसलिये कारखानो के हर पक्ष पर वह नियन्त्रण नही रख सकता है। इससे उसे अपने सहायक कर्मचारियो की नियुक्ति करनी पडती है, कार्यालय वढाना पडता है और उन्हें सन्तुष्ट रखने का प्रयत्न करने मे अधिक व्यय करना पडता है। इसके साथ ही वडे पैमाने के उत्पादन के फलस्वरूप प्रत्येक स्थिर तथा परिवर्तनशील साधनो के मूल्य भी वढते जाते है, ग्राहको की रुचि इत्यादि मे परिवर्तन हो जाने से उत्पादित माल की हानि भी सहनी पडती है क्योकि सभी उत्पादित वस्तुओ का विक्रय सभव नही होता है। दूसरी ओर कारखानो का सचालन सहायक कर्मचारी करते है जिससे अनेक प्रकार की हानियाँ सम्भव होती है जैसे, भ्रष्टाचार, गवन, उत्पादन मे शिथिलता, कच्चे माल की वरवादी इत्यादि। उत्पादक अपनी मानसिक शक्ति को विशेष वढा नही सकता है और सहायको पर निर्भर रहता है जिससे उत्पादन मे अतिरिक्त व्यय वढते जाते है, साधनो की पूरी उत्पादन-शक्ति का प्रयोग नही किया जाता है जिसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि प्रति इकाई उत्पादन-व्यय वढता जाता है और क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू हो जाता है।

यही स्थिति किसान की भी होती है। यदि वह खेती का विस्तार अपनी नियन्त्रण-शक्ति से अधिक करे तो अवश्य ही वह उत्पादन के परिवर्तनशील या स्थिर साधनो का पूरा उपयोग नही कर सकेगा। सहायक श्रमिक उतना ही कार्य करते है जितना वे आवश्यक समझते है। उनका खेती की अच्छी उपज के प्रति कोई आकर्षण नही होता है क्योकि वे उसके लाभ के अधिकारी भी नही होते है। कुछ श्रमिक तो केवल पारिश्रमिक लेने के लिये किसी तरह दिन व्यतीत कर देते है। विस्तृत खेती

में सिंचाई का भी उचित प्रबन्ध नहीं हो सकता है और जंगली पशु-पक्षियां खेती को काफी हानि पहुँचाते हैं। एक अकेला कृषक चारों दिशाओं में नियन्त्रण नहीं रख सकता है जिससे उत्पादन में ह्रासोन्मुख वृद्धि होती है। श्रमिकों, खाद, सिंचाई इत्यादि पर अतिरिक्त व्यय भी बढ़ जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि प्रति इकाई उत्पादन-व्यय बढ़ जाता है और कुल उत्पादन में वृद्धि परिवर्तनशील साधन में की गयी वृद्धि के अनुपात में कम होती है।

क्रमागति उत्पादन-समता नियम

(Law of Constant Returns)

यदि उत्पादक उत्पादन के साधनों भूमि, पूंजी इत्यादि की मात्रा स्थिर रखकर दूसरी वस्तुओं में बिना किसी परिवर्तन के, उत्पादन के अन्य साधन अर्थात् श्रम की मात्रा में क्रमशः १% की वृद्धि करता जाय तो एक स्थिति ऐसी आती है जब उत्पादन की कुल मात्रा में जो वृद्धि होती है वह परिवर्तनशील साधन की मात्रा में की गयी वृद्धि के बराबर होती है। उदाहरणार्थ —

				कुल उत्पादन
मशीन	+	१०० श्रमिक	=	२,००० इकाइयां
"	+	१०४ "	=	२,०८० "

उक्त उदाहरण में उत्पादन के स्थिर साधन मशीन के साथ १०० श्रमिक मिलाकर कुल २,००० इकाइयों का उत्पादन करते हैं। परन्तु यदि परिवर्तनशील साधन 'श्रम' में ४% की वृद्धि कर दी जाती है तो कुल उत्पादन में भी ४% की वृद्धि हो जाती है जिससे कुल उत्पादन २,००० इकाइयों से बढ़कर २,०८० इकाइयाँ हो जाता है। परिवर्तनशील साधन की बढ़ाई हुई इकाइयों के अनुपात के बराबर ही उत्पादन में कुल वृद्धि हुई है। इसे क्रमागति-उत्पत्ति-समता नियम कहते हैं।

इस नियम का व्यावहारिक महत्व विशेष नहीं है। उत्पादन क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम के अनुसार एक ऐसी स्थिति में पहुँचता है जब परिवर्तनशील साधन में की गयी वृद्धि के बराबर ही कुल उत्पादन में वृद्धि हो जाती है। यदि उत्पादक एक इकाई और उत्पादन करना चाहे तो पूर्व विवरण के अनुसार क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू हो जाता है। यह 'समता' की स्थिति स्थिर नहीं होती है और न उत्पादक इस स्थिति को ठीक पहिचान ही पाता है। इस नियम का केवल सैद्धान्तिक महत्व है और प्रत्येक उत्पादक की यह इच्छा रहती है कि इस स्थिति को ही

स्थिर करके उत्पादन किया जाय क्योकि यहाँ पर उत्पादन-व्यय न्यूनतम होता है परन्तु इस इच्छा को व्यवहार में लाना सरल नही है।

उत्पादन की मात्रा और उत्पादन-व्यय में सम्बन्ध

(Relation between Laws of Returns and Costs of Production)

यदि उत्पादन के अन्य सभी साधनो के स्थिर रखने के पश्चात् एक साधन-परिवर्तनशील साधन—को मात्रा की क्रमश बढाया जाय तो हम उत्पादन के नियमो का अध्ययन मशीन या भूमि की उत्पादन की मात्रा के दृष्टिकोण से कर सकते हैं। परन्तु इससे अधिक अच्छी रीति यह है कि उत्पादन की कुल मात्रा की अपेक्षा उत्पादन व्यय की दृष्टि से उत्पादन के नियमो का अध्ययन किया जाय। यदि मशीन को या भूमि को स्थिर रखकर मजूरो की सख्या मे १% की वृद्धि की जाय तो उससे उत्पादन भी बढेगा और कुल उत्पादन-व्यय भी बढेगा। परन्तु विशेष ध्यान देने योग्य वात यह है कि मजूरो की सख्या मे १% की वृद्धि करके प्रति इकाई उत्पादन-व्यय पर क्या प्रभाव पडेगा। यदि श्रमिको की सख्या बढाने से प्रति इकाई उत्पादन-व्यय घटता जाय तो यह प्रति इकाई उत्पादन-व्यय घटते जाने की प्रवृत्ति उत्पादन में क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम की ओर सकेत करती है। यदि मजूरो में उक्त १% की वृद्धि करने के पश्चात् प्रति इकाई उत्पादन-व्यय में वृद्धि हो तो यह वृद्धि क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम की ओर सकेत करती है।

उत्पादन की कुल मात्रा की अपेक्षा यदि हम प्रति इकाई उत्पादन व्यय के दृष्टिकोण से उत्पादन के नियमो का अध्ययन करें तो व्यावहारिक दृष्टि से यह अधिक उचित प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि उत्पादक के दृष्टिकोण से यह वात महत्वपूर्ण नही है कि उत्पादन की मात्रा में क्या परिवर्तन हुआ। उसके लिये महत्वपूर्ण यह है कि उत्पादन की मात्रा मे कुल वृद्धि कितना उत्पादन-व्यय करने से प्राप्त हो सकी। तात्पर्य यह है कि उत्पादक की दृष्टि उत्पादन की मात्रा की ओर नही उत्पादन के व्यय की ओर लगी होती ह क्योकि उसे अपने हानि अथवा लाभ का अनुमान उस उत्पादन की मात्रा के परिवर्तन की अपेक्षा परिवर्तन के लिये हुए उत्पादन-व्यय से अधिक सरलता से लगा सकता है। मान लीजिये श्रमिको मे १% की वृद्धि करने से उत्पादन की मात्रा में १% अधिक अर्थात् १½% या २% की वृद्धि हुई परन्तु मजूरो के वेतन मे और कच्चे माल इत्यादि के मूल्य में भी वृद्धि हो जाने से उत्पादन-व्यय में भी वृद्धि हो गयी तो उत्पादन की अधिक मात्रा से जो लाभ हुआ था

वह इस व्यय की वृद्धि से व्यर्थ ही रहा। उत्पादक के लाभ अथवा हानि को प्रति इकाई उत्पादन-व्यय का अध्ययन करके ही बताया जा सकता है क्योकि कुल मात्रा में वृद्धि हानि का कारण भी हो सकती है। निम्न उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्पादन की मात्रा में वृद्धि और उत्पादन-व्यय की घटती-बढती एक ही प्रकार के परिणाम को बतलाते है।

मान लीजिये कि किसी मशीन में या किसी भूमि मे १०० मजूर काम करते है। मशीन या भूमि की मात्रा स्थिर रखकर यदि मजूरो की सख्या में वृद्धि की जाय तो उसमे उत्पादन भी बढेगा और कुल उत्पादन-व्यय भी। इससे तीन प्रकार के परिणाम निकल सकते है, जैसा कि निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट होता है —

पहली स्थिति

श्रमिको की सख्या	कुल उत्पादन	कुल उत्पादन-व्यय (रुपयो में)	प्रति इकाई उत्पादन-व्यय (रुपयो मे)
१००	१,०००	४,०००	४
१०१	१,०१०	४,०४०	४
१०२	१,०२०	४,०८०	४
१०३	१,०३०	४,१२०	४

दूसरी स्थिति

श्रमिको की सख्या	कुल उत्पादन	कुल उत्पादन-व्यय (रुपयो मे)	प्रति इकाई उत्पादन-व्यय (रुपयो में)
१००	१,०००	४,०००	४
१०१	१,०३०	४,०४०	३·९
१०२	१,०८०	४,०८०	३ ७
१०३	१,१५०	४,१२०	३·५

तीसरी स्थिति

श्रमिको की सख्या	कुल उत्पादन	कुल उत्पादन-व्यय (रुपयो में)	प्रति इकाई उत्पादन-व्यय (रुपयो में)
१००	१,०००	४,०००	४
१०१	१,००४	४,०४०	४·०२
१०२	१,००८	४,०८०	४·०४
१०३	१,०१०	४,१२०	४·०७

पहली स्थिति में जब श्रमिको की मात्रा १०० से १०१ की गयी तो

१% की वृद्धि हुई और कुल उत्पादन में भी १,००० से १,०१० यानी १% की वृद्धि हुई। उत्पादन की इस मात्रा के लिये ४,०४० रुपयों का व्यय हुआ और प्रति इकाई उत्पादन-व्यय ४ रुपया हुआ।* इसी प्रकार श्रमिकों की संख्या में और वृद्धि करने से कुल उत्पादन की मात्रा में भी वृद्धि हुई परन्तु प्रति इकाई उत्पादन-व्यय ४ रुपयों पर ही स्थिर रहा। इस स्थिति में जब जब श्रमिकों की संख्या में १% की वृद्धि की गयी तो उत्पादन की कुल मात्रा में भी वही १% की वृद्धि होती रही। यदि उत्पादन की मात्रा के दृष्टिकोण से इस स्थिति को देखें तो विदित होगा कि नियमानुसार यह क्रमागति-उत्पत्ति-समता की स्थिति है। दूसरी ओर यदि उत्पादन-व्यय के दृष्टिकोण से देखें तो ज्ञात होगा कि प्रति इकाई उत्पादन-व्यय प्रत्येक दशा में समान रहा और यह सम-व्यय (Constant Cost) की स्थिति है। इससे विदित हुआ कि क्रमागति-उत्पत्ति-समता और समान उत्पादन-व्यय समान परिणाम है।

उक्त तालिका के अनुसार दूसरी स्थिति में जब श्रमिकों की संख्या में १% की वृद्धि करते है तो प्रत्येक स्थिति में कुल उत्पादन में १% से अधिक वृद्धि हुई, जैसे, १००० से १,०३० तक ३% की वृद्धि हुई है और १,०३० से १,०८० तक लगभग ८% की वृद्धि हुई है । इस तालिका में कुल उत्पादन-व्यय की मात्रा वही है जितनी पहली स्थिति में है; क्योंकि तीनो स्थितियों में श्रमिकों की मात्रा एक समान बढ़ी है और कुल उत्पादन-व्यय भी एक समान ही बढ़ा है। यह क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि की स्थिति है। यदि हम प्रति इकाई उत्पादन-व्यय की ओर दृष्टि डालें तो विदित होगा कि प्रति इकाई उत्पादन-व्यय की क्रमश घटती की स्थिति भी कह सकते है। तात्पर्य यह है कि उक्त तालिका की इस स्थिति से यह स्पष्ट हो जाता है कि क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि की स्थिति और उत्पादन-व्यय की क्रमश घटती की स्थिति दोनो एक ही प्रकार के परिणाम है।

तीसरी स्थिति में उत्पादन के कुल व्यय में कुछ अन्तर नही आया है। वह पहली स्थिति के अनुसार ही है। परन्तु इस स्थिति मे अन्तर केवल यह हुआ है कि श्रमिकों की संख्या में १% की वृद्धि करने से कुल उत्पादन की मात्रा मे १% से कम की वृद्धि हुई है। इससे स्पष्ट होता है कि यह क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास की स्थिति है। यदि हम प्रति इकाई उत्पादन-व्यय की ओर दृष्टि डालें तो स्पष्ट विदित होगा कि प्रति इकाई

* प्रति इकाई उत्पादन-व्यय प्राप्त करने के लिये कुल व्यय की मात्रा को, जो तालिका में तीसरे कालम मे दी हुई है, कुल उत्पत्ति की मात्रा से, जो तालिका में दूसरे कालम में दी हुई है, विभाजित किया जाता है।

उत्पादन-व्यय मे वृद्धि होती जाती है। यदि इस स्थिति में उत्पादन की कुल मात्रा और प्रति इकाई उत्पादन-व्यय का एक साथ अध्ययन करें तो प्रतीत होगा कि क्रमागत-उत्पत्ति-ह्रास और उत्पादन-व्यय की क्रमागत वृद्धि एक प्रकार के परिणाम है।

उक्त विवरण को निम्नलिखित रेखाचित्र द्वारा भी समझाया जा सकता है —
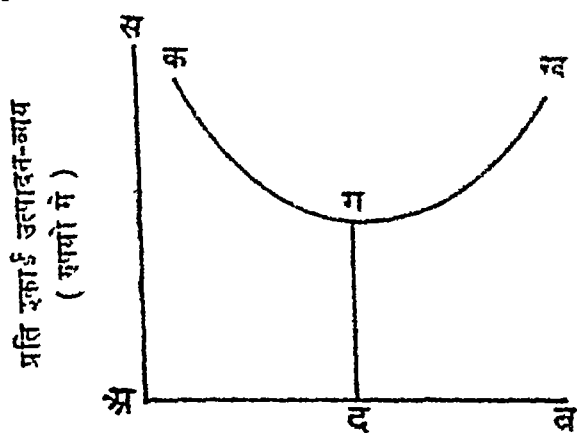
उत्पादन की मात्रा

उक्त रेखाचित्र मे मशीन या श्रमिकों की मात्रा में किये गये परिवर्तनों को नहीं दिखाया गया है। इसमें केवल प्रति इकाई उत्पादन-व्यय मे श्रमिकों की मात्रा में घटती-बढती करने से जो परिवर्तन हुए हैं वही दिखाये गये हैं। इस रेखाचित्र की शीर्ष रेखा (Vertical Axis) अ से स तक प्रति इकाई उत्पादन-व्यय दिखाया गया है। यह रेखाचित्र यह दिखलाता है कि जैसे जैसे उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि होने पर प्रति इकाई उत्पादन-व्यय की क्या दशा होगी। प्रथम जब उत्पादन की मात्रा में वृद्धि की जाती है तब प्रति इकाई उत्पादन-व्यय गिरता जाता है और उसके उपरान्त एक विशेष स्थिति के बाद उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि करने से प्रति इकाई उत्पादन-व्यय बढता जाता है।

जैसे जैसे श्रमिकों की मात्रा बढायी जायगी उत्पादन की मात्रा भी बढेगी। जब तक उत्पादन अ से द तक बढा तो उत्पादन का व्यय क्रमश गिरता गया अर्थात् क से ग तक आ गया। यह स्थिति प्रति इकाई उत्पादन-व्यय की घटती की है और पूर्व विवरण के अनुसार क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि को भी दर्शाता है। जब उत्पादन ग पर होगा तो प्रति इकाई उत्पादन-व्यय ग ही रहेगा। यह समान व्यय को दर्शाता है अर्थात् इसे क्रमागति-उत्पत्ति-समता की स्थिति कह सकते है। परन्तु इस स्थिति की सैद्धान्तिक

महत्ता अवश्य है व्यावहारिक नहीं। जब उत्पादन प्रति उत्पादन-व्यय की घटती की स्थिति मे प्रति इकाई उत्पादन-व्यय की वृद्धि की स्थिति में जाता है तब यह अवस्था दोनों स्थितियों की सन्धि के रूप मे प्राप्त होती है। इस अवस्था का व्यावहारिक महत्व इसलिये कम है क्योंकि उत्पादन ऐसी अवस्था में अधिक समय तक नहीं रह सकता है। यदि उत्पादन की मात्रा ग से ग तक बढ़े या उत्पादक अ द से एक भी इकाई का अधिक उत्पादन करना चाहे तो कुल उत्पादन पर प्रति इकाई उत्पादन-व्यय बढ़ जायेगा और जैसे जैसे उत्पादन ग की ओर बढ़ता जायेगा प्रति इकाई उत्पादन-व्यय मे भी वृद्धि होती जायेगी। यह क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास की या प्रति इकाई उत्पादन-व्यय की वृद्धि की स्थिति होगी।

अभ्यास के प्रश्न

१ उत्पादन के नियम क्या हैं; उनका परस्पर क्या सम्बन्ध है ?

२ क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम को विस्तार के साथ समझाइये और यह बतलाइये कि जैसे जैसे उत्पादन में वृद्धि होती है, प्रति इकाई उत्पादन-व्यय मे ह्रास क्यो होता है ?

३ क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम की व्याख्या कीजिये। सक्षेप मे यह समझाइये कि यह क्यो अनिवार्य है कि उत्पादन में यह नियम कुछ समय के पश्चात् अवश्य लागू हो जाता है ?

४ जहाँ तक क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम के लागू होने का सम्बन्ध है, क्या कृषि और उद्योग-धन्धों में कुछ अन्तर है ?

५ उत्पादन की मात्रा और प्रति इकाई उत्पादन-व्यय मे क्या सम्बन्ध है ?

अध्याय ४६

प्रतिस्थापन्न नियम

(Law of Substitution)

उत्पादक और उपभोक्ता दोनो के व्यवहार अपने अपने क्षेत्र मे लगभग समान रहते है। उपभोक्ता अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये वस्तुओ का क्रय करता है। उसे वस्तुएँ प्राप्त करने के लिये द्रव्य व्यय करना पडता है। द्रव्य व्यय करने मे उपभोक्ता को कष्ट होता है जिसकी पूर्ति वह क्रय की गयी वस्तु के उपयोग से करना चाहता है। वह अपने व्यय किये गये द्रव्य की और क्रय की गयी वस्तु की अधिकतम उपयोगिता का लाभ उठाना चाहता है। इससे वह यह प्रयत्न भी करता है कि न्यूनतम व्यय करके अधिकतम उपयोगिता प्राप्त की जाय। उत्पादक के न्यूनतम व्यय करके अधिकतम लाभ उठाने के उद्देश्य का पहले वर्णन किया जा चुका है। इस दृष्टि से उपभोक्ता और उत्पादक एक ही सतह पर खडे दिखाई देते है। इसके साथ ही यह आवश्यक नही है कि उपभोक्ता एक आवश्यकता की पूर्ति केवल एक ही वस्तु से करे। यदि उसे उसी गुण की दूसरी वस्तु कम मूल्य पर मिल जायेगी तो वह अवश्य उसका उपभोग करेगा। अर्थात् यदि विदेशी मक्खन के टिनो के मूल्य से कम मूल्य पर देशी शुद्ध मक्खन के टिन प्राप्त हो सके तो वह अधिकतर देशी मक्खन का ही क्रय करेगा। इसी प्रकार विदेशी सिल्क से कम मूल्य के देशी अच्छे सिल्क को खरीद लेगा। इसी प्रकार का व्यवहार उत्पादक भी करता है। यदि उसके एक ही उपयोग में आ सकने वाली वस्तुओ के समूह मे कुछ कम मूल्य की और कुछ अधिक मूल्य की वस्तुएँ है तो उत्पादक अवश्य कम मूल्य की वस्तुओ को अधिक मूल्य की वस्तुओ के स्थान पर खरीदना स्वीकार करेगा क्योकि उनके उपयोग से उसे अधिक लाभ की सम्भावना है। प्रतिस्थापन्न नियम (Law of Substitution) के अन्तर्गत हम उत्पादक के इसी प्रकार के व्यवहार का अध्ययन करते है।

यदि हम उत्पादक की आवश्यकताओ का अध्ययन करें तो हमे विदित होगा कि उसे अपना कारोबार चलाने के लिये उत्पादन के कुछ साधनो की विशेष आवश्यकता होती है जिसकी प्राप्ति के विना वह उत्पादन आरभ नही कर सकता है। वे आवश्यक साधन है कच्चा माल और श्रमिक। भारतवर्ष के से विशाल देश मे, जहाँ की जनसख्या तीस करोड से अधिक है और जिसकी भूमि को रत्नगर्भा कहा गया है

कच्चे माल और श्रमिको की कमी एक अद्भुत बात-सी प्रतीत होती है। परन्तु गभीरतापूर्वक देखने से इस वात का रहस्य प्रकट हो जाता है। चाहे देश कितना ही वडा हो और खनिज पदार्थो से भरा हो उसे असीम नही कहा जा सकता है। देश का प्रसार और उसके खनिज पदार्थ प्राकृतिक देन है। मनुष्य उन्हे वढा नही सकता है। वे सीमित मात्रा मे है। यदि केवल एक ही उत्पादक भारत की अपार जनसख्या की माँग की पूर्ति करने के लिये उत्पादन करता तो अवश्य ये सीमित खनिज-पदार्थ अधिक समय तक उसके उत्पादन में सहायक हो सकते थे परन्तु दूसरी ओर यदि जनसख्या की माँग के अनुपात में ही वह अपने उत्पादन केन्द्र स्थापित करता तो उस स्थिति मे और आज की स्थिति मे जव अनेक उत्पादक देश के विभिन्न भागो मे उत्पादन कर रहे है, कोई विशेष अन्तर न होता। क्योकि उत्पादको की सख्या वढने से या उत्पादन के वडे पैमाने पर होन से कच्चे माल की माँग वढने लगी है और श्रमिको एवम् उत्पादन के अन्य साधनो की माँग में भी पर्याप्त वृद्धि हो रही है। उत्पादन के साधनो की मात्रा निश्चित है जिसे एकदम वढाया नही जा सकता है। अतएव उत्पादको की माँग की कुल पूर्ति नही हो सकती है। इस कारण अधिक सावन प्राप्त करने के लिये उत्पादक को इसका अधिक मूल्य भी देना पडता है परन्तु उत्पादक व्यय न्यूनतम करना चाहता है और प्रतिस्थापन्न नियम के अनुसार कार्य करता है।

यह कहा जा चुका है कि उत्पादक अपने व्यय की अधिकतम उपयोगिता प्राप्त करना चाहता है और उसे उत्पादन के प्रत्येक साधन के लिये व्यय करना पडता है। इसलिये उत्पादक साधनो का निर्वाचन करता है। उसकी निर्वाचन-शक्ति (Choice) के ऊपर ही प्रतिस्थापन्न-नियम की सफलता निर्भर है। उत्पादक प्रत्येक साधन का पूरा पूरा उपयोग करता है। साधनो को परस्पर इस अनुपात में मिलाकर कि उनकी एक-एक इकाई का पूरा पूरा उपयोग हो जाय वह साधनो की थोडी सी वरबादी को भी रोक लेता है। साधनो को इस प्रकार विभिन्न अनुपात में मिलाने का उसका एक और उद्देश्य होता है। वह प्रत्येक साधन की सीमान्त-उत्पादन-शक्ति (Marginal Productivity) को जानना चाहता है। वह इन्हे इस प्रकार परस्पर मिलाता है कि सीमात इकाई की उत्पादन-शक्ति (Marginal Productivity) और सीमान्त व्यय (Marginal Cost) बरावर हो। यदि सीमान्त व्यय कम होगा तो वह एक इकाई की वृद्धि और करेगा यदि सीमान्त व्यय अधिक होगा और सीमान्त-उत्पादन-शक्ति कम होगी तो वह इकाइयाँ उस समय तक घटाता रहेगा जव तक दोनो व्यय और उत्पादन-शक्ति वरावर न हो जायँ। इसके लिये वह समान गुण वाले

अनेक साधनो का प्रयोग करता है। उदाहरणार्थ यदि एक जहाज से सामान उतारने या उसमें सामान चढाने के लिये २५० मजूरो की आवश्यकता होती है जिन्हे प्रतिदिन ४ रुपया पारिश्रमिक दिया जाता है तो २ दिन मे कुल सामान चढाने-उतारने में कुल व्यय २,००० रुपया होता है। यह व्यय जहाज के स्वामी को अनेक वार देना पडता है। इसके साथ ही यह भी वहुत सम्भव होता है कि श्रमिको का पारिश्रमिक वढ जाय। ऐसी स्थिति में जहाज के स्वामी को अधिक व्यय करना पडेगा जब कि उसी अनुपात में उसकी आमदनी में वृद्धि नही हुई है। अतएव जहाज का स्वामी मजूरो की सख्या घटाकर उनके स्थान पर एक क्रेन-मशीन का प्रयोग करेगा जो उसकी पूँजी होगी। यद्यपि इस मशीन को खरीदने में उसे काफी व्यय करना पडेगा परन्तु मशीन उसकी स्थायी सम्पत्ति भी हो जायगी। वह उसका पूरा उपयोग, जितनी वार आवश्यकता हो, कर सकेगा और जब चाहेगा बेच भी सकेगा। यदि यह क्रेन-मशीन १० मजूरो की सहायता से वही काम जो २५० मजूर २ दिन में करते थे ½ दिन में करती है तो जहाज का स्वामी २४० मजूरो को काम से अलग करने में नही हिचकेगा। इससे उसको १½ दिन का लाभ हो जाता है और काम का निरीक्षण भी सरलता से हो जाता है। इस प्रकार जहाज के स्वामी ने मशीन और श्रमिको का एक नया अनुपात स्थिर कर दिया। इस मशीन का व्यवहार प्रत्येक उद्योग-धन्धे व वडे निर्माण-कार्यों मे किया जाता है। मूल्य के अनुसार अधिक व कम शक्ति की इन मशीनो को खरीदा जा सकता है जिससे मशीन और श्रमिक के अनेक अनुपात स्थिर किये जा सकते है।

मजूरो के स्थान पर मशीन लगाने की प्रवृत्ति ने श्रम और मशीन की एक भीषण समस्या को जन्म दे दिया है जिसका राजनैतिक दल (Political Parries) अपने स्वार्थ के लिये उपयोग करते रहते हैं। यद्यपि इस समस्या का सामाजिक दृष्टिकोण से विशेष महत्व है परन्तु इसके दुरुपयोग से उत्पादन कार्य में वडी हानि होती है जिसका अन्तिम प्रभाव पुन समाज पर ही पडता है। इसका विस्तृत वर्णन 'श्रम और मशीन' शीर्षक अध्याय में किया गया है।

प्रतिस्थापन्न नियम के अनुसार उत्पादक साधनो का पूर्णरूप से एक के स्थान पर दूसरे का उपयोग ही नही करते है वरन् उनके परस्पर के अनुपात को भी परिवर्तित करते है। उत्पादक यद्यपि कुल मजूरो का काम केवल मशीन से ले सकते है परन्तु व्यवहारिक जगत् में वे ऐसा वहुत कम करते है। वे मजूरो की सख्या को घटाते-बढाते रहते है। यदि उत्पादक एक साधन के वदले समान गुण वाले अन्य साधनो का उपयोग करना

भी चाहें तो इसमे सफलता मिलना अनिश्चित है। श्रमिक के स्थान पर मशीन का प्रयोग अवश्य किया जा सकता है परन्तु एक प्रकार के कच्चे माल को दूसरे प्रकार के कच्चे माल से पूरा-पूरा नहीं बदला जा सकता है। उनमें बहुत कुछ समानता होते हुए भी भिन्नता होती है। उनसे उत्पादित वस्तुओ के गुणो मे भी भिन्नता का अश होना स्वाभाविक है। अतएव उत्पादक प्राय दो समान गुणवाली वस्तुओ मे से एक का कम और दूसरे का अधिक प्रयोग करते है। इस प्रकार उनके कई अनुपात स्थिर कर लिये जाते है जैसे कांसे के उत्पादन में या ऐल्यूमीनियम के उत्पादन में। कागज बनानेवाले कारखानो मे भी अनुपातो की भिन्नता का पूरा लाभ उठाया जाता है। इसी प्रकार श्रम तथा मशीन का उक्त उदाहरण भी इसी भिन्न अनुपात का उदाहरण हो सकता है।

इस प्रकार के अनुपातो को स्थिर करने में उत्पादक को अनेक बातो का ध्यान रखना पडता है जिनको हम दो शीर्षको मे विभाजित कर सकते है—(१) साधनो के मूल्य और (२) साधनो की कार्यक्षमता (Efficiency)। साधनो के मूल्य के अन्तर्गत उत्पादक इस बात का अध्ययन करता है कि उसकी बाजार मे मांग कितनी है और पूर्ति कितनी है, उसका यातायात-व्यय कितना होगा, उसके प्रयोग मे उसका कितना प्रतिशत भाग नष्ट हो जायगा, उसका पूर्ण उपयोग कर सकने के लिये कारखाने में यदि मशीने नही है तो उन पर कितना व्यय करना पड़ेगा, इत्यादि। इस प्रकार के अध्ययन से वह प्रति इकाई-उत्पादन-व्यय का अनुमान कर सकता है और उस समय तक उसके विक्रय-मूल्य की मॉग और पूर्ति का भी अनुमान कर सकता है। साधनो की कार्य-क्षमता का सारे उत्पादन-कार्य में प्रभाव पडता है। यदि किसी मशीन का मूल्य अधिक है और उसका प्रयोग अधिक नही करना पडता है और उसे किसी अन्य प्रयोग में नही लाया जा सकता है तो मशीन को अधिक समय तक बन्द रखकर उत्पादक को हानि होगी। उसके कारखाने के लिये उस मशीन की इतनी उपयोगिता नही है और उत्पादक उसके स्थान पर श्रमिको को नियुक्त कर लेगा। परन्तु यदि श्रमिको की कार्यक्षमता से अधिक मशीन की कार्यक्षमता है तो उत्पादक नि सकोच मशीन को अपना लेगा और श्रमिको को अलग कर देगा। यदि सिले हुए कपड़े बनाकर बेचनेवाले कारखाने में श्रमिको का वेतन बढ जाय तो उत्पादक कपडा काटने, काज बनाने व बटन लगाने का काम श्रमिक की अपेक्षा मशीन से कर सकता है। परन्तु यदि वेतन कम हो तो उत्पादक मशीन का प्रयोग नही करेगा और श्रमिको को ही नियुक्त करेगा। इस प्रकार साधनो को परिवर्तित करते समय उत्पादक का ध्यान साधनो की कार्यक्षमता की ओर रहता है।

इसके साथ ही साधनों का प्रतिस्थापन उनकी सीमान्त-उत्पादन-शक्ति (Marginal Productivity) पर भी निर्भर करता है। यदि एक साधन की सीमान्त-उत्पादन-शक्ति दूसरे समान गुण वाले साधन से अधिक है, तथा वह कम व्यय करने पर प्राप्त हो सकता है और उसकी कार्यक्षमता भी दूसरे साधन से अधिक है तो उत्पादक अवश्य दूसरे साधन के बदले उसका प्रयोग करेगा। इसका तात्पर्य यह है कि उत्पादक एक साधन की सीमान्त-उत्पादन-शक्ति का दूसरे साधन की सीमान्त-उत्पादन-शक्ति से मिलान (Comparision) करता है और इस प्रकार जिस अनुपात में न्यूनतम व्यय करना पड़ेगा उसे अपना लेता है।

इसके साथ ही उत्पादक का ध्यान उत्पादन की कुल मात्रा की ओर भी रहता है। वह ऐसे अनुपात में साधनो को मिलाना चाहता है कि कुल उत्पादन की मात्रा उतनी ही रहे। १०० मजूर और एक मशीन मिलकर ६ घण्टे में १,००० गज लोहे की जाली का उत्पादन कर सकते हैं। यदि एक मशीन और लगा देने मे या उस मशीन को बेचकर बड़ी मशीन लगा देने से कुल १० मजूरो की सहायता से ६ घण्टे में १,००० गज जाली बुनी जा सकती है तो उत्पादक अवश्य मजूरो के स्थान पर मशीन लगायेगा क्योकि मशीन उसकी पूंजी हो जाती है, उसका जितना चाहे प्रयोग कर सकता है और मजूरो की नित्य की समस्या से छूट जाता है।

उत्पादक प्रतिस्थापन के समय साधन के गुण (Quality) का भी ध्यान रखता है। इसमें साधन के केवल गुण को बदला जाता है। यदि उसके कार्यालय मे एक टाइपिस्ट ५० शब्द प्रति मिनट टाइप कर सकता है तो उत्पादक उसके स्थान पर ऐसे टाइपिस्ट को एकदम रख लेगा जो ७० शब्द प्रति मिनट टाइप कर सकता हो। इसी प्रकार प्रेस में अधिक शब्द कम्पोज करने वाला श्रमिक अपने से कम गति वाले श्रमिक के स्थान पर नियुक्त किया जाता है। परन्तु पारिश्रमिक दोनो का समान होना आवश्यक है। परन्तु श्रमिक की सीमान्त उपयोगिता के अनुसार उत्पादक उसका वेतन बढा सकता है। इस प्रकार टाइपिस्ट या कम्पोजीटर के स्थान में किसी मशीन को नही लगाया गया है केवल उनके गुणो का प्रतिस्थापन किया गया है।

वर्तमान समय में वैज्ञानिक आविष्कारो से उत्पादन के कार्य में काफी उन्नति हुई है। जिस कार्य को पहले ५०० मजूर कर सकते थे उसे आज मशीन कुछ ही समय में कर देती है और व्यय भी कम होता है। अतएव प्रत्येक उत्पादक इस प्रयत्न में रहता है कि वह मूल्यवान साधनो के स्थान पर ऐसे साधनो का प्रयोग करे जिससे उत्पादन अधिकतम हो और व्यय न्यूनतम हो। इससे वह श्रमिको के स्थान में मशीनो का प्रयोग करता है

जिससे वडी सख्या मे श्रमिक वेकार हो जाते है। उनके संघ जो साधारण रूप से राजनैतिक सघ होते हैं उत्पादक के विरुद्ध आन्दोलन करते है। हडताले होती हैं। इससे उत्पादन को गहरा धक्का पहुँचता है। इसलिये यद्यपि प्रतिस्थापन्न आधुनिक युग की वढती माँग को पूरा करने के लिये अत्यन्त लाभदायक है तथापि यदि इस क्षेत्र में उत्पादको ने शीघ्रता की तो उत्पादन क्षेत्र मे एक गड़वडी उत्पन्न हो जायेगी, वेकार श्रमिको का आन्दोलन जोर पकडेगा और श्रमिको का चाहे लाभ हो या न हो राजनैतिक दलबन्दियो को अवश्य शक्ति मिलेगी। इससे देश मे शान्ति स्थापित नही हो सकती है जिसका अन्तिम प्रभाव पुन उत्पादन क्षेत्र में ही पडता है। इसलिये प्रतिस्थापन्न की गति धीमी होना आवश्यक है और साथ ही नये उद्योगो की स्थापना भी जिसमें वेकार मजूरो को काम मिल सके।

अभ्यास के प्रश्न

१ 'प्रतिस्थापन्न-नियम' से आप क्या समझते है ?

२. सीमान्त-उत्पादन-शक्ति का अर्थ समझाइये और यह वतलाइये कि इसकी मूल्य से तुलना करके उत्पादक किस प्रकार यह निश्चित करता है कि विभिन्न साधनो का प्रयोग किस अनुपात मे करना चाहिये ?

३ प्रतिस्थापन्न-नियम और सम-सीमान्त उपयोगिता के नियमो की तुलना कीजिये।

अध्याय ५०

उद्योग-धंधों के स्थानीयकरण का सिद्धान्त

उत्पादन को सगठित करने में साहसी को मुख्यतया इस बात को निश्चित करना पडता है कि उद्योग-धधो अथवा कारखानों की स्थापना के लिए कौन-सा स्थान उचित है। यदि कारखाना उचित स्थान पर स्थापित किया गया है तो उत्पादन की लागते, उनका जहाँ तक कारखाने की स्थिति से सम्बन्ध है, सबसे कम होंगी। परन्तु इसके विपरीत यदि कारखाने की स्थापना में उसकी स्थिति का ध्यान न रखा गया तो उत्पादन की लागतो में वृद्धि हो जायेगी। इस सम्बन्ध मे आज तक अलफ्रेड वैबर (Alfred Weber) के सिद्धान्त को ही अधिकतर ठीक माना जाता है। वह उन साधनो का जो कारखाने की स्थिति को निश्चित करते है, यातायात-व्यय की दृष्टि से अध्ययन करता है। इसके अनुसार हमें उस कच्चे माल के वजन को जिसे उसके प्राप्ति-स्थान से कारखाने तक ले जाना है तथा उस तैयार माल के वजन को जिसे कारखाने से बाजार तक ले जाना है, ध्यान मे रखना पडता है। वैबर के सिद्धान्त के अनुसार कच्चा माल दो प्रकार का होता है—(१) वह कच्चा माल जो सर्वत्र प्राप्त हो सकता है, जैसे, मिट्टी, पानी। अपने इस सर्वव्यापी गुण के कारण ये कारखाने की स्थिति मे कुछ विशेष प्रभाव नही डालते। (२) वह कच्चा माल जो विशेष स्थानो में प्राप्त होता है, जैसे कच्चा लोहा, बौक्साइट, कोयला, गन्ना इत्यादि। इन्हें स्थानीय भौतिक पदार्थ (Localised Materials) कहते है। कारखाने की स्थिति पर इनका बहुत बडा प्रभाव पडता है। इन स्थानीय भौतिक पदार्थों के कुछ उपविभाजन किये गये है। या तो इन पदार्थों का कुल वजन अथवा उसका अधिकाश भाग उत्पादित वस्तु के वजन में परिवर्तित हो जाता है, जैसे कच्ची रुई कपडे के उत्पादन मे या बालू और चूना सीमेंट के उत्पादन में। इन्हें शुद्ध भौतिक पदार्थ कहते है। ये कारखाने की स्थिति मे विशेष प्रभाव नही डालते। वजन के यातायात के दृष्टिकोण से इनका विशेष महत्व नही है। चाहे इन पदार्थों को दूर के स्थानों में ले जाकर जो बाजार के निकट है, तैयार माल मे परिवर्तित किया जाय अथवा कारखाना ही इनके स्रोतो के समीप स्थित हो जहाँ से इनसे तैयार माल दूर के बाजारो में ले जाया जाय। इससे कुछ अन्तर तो अवश्य पडता है पर उसका विशेष महत्व नही है।

दूसरे प्रकार के स्थानीय पदार्थ वे है जिनका वजन उत्पादन-क्रिया मे कम हो जाता है जैसे, कागज के कारखाने में बाँस अथवा चीनी के कारखाने मे गन्ना। ये भौतिक पदार्थ अपने इस गुण के कारण कारखाने की स्थिति पर वहुत प्रभाव डालते है क्योकि तैयार माल की उत्पादन-क्रिया मे ही इन पदार्थों के वजन में वहुत कमी आ जाती है। यदि कारखाने ऐसे भौतिक पदार्थों के स्रोतो के समीप ही स्थित हो तो आर्थिक दृष्टि से वहुत लाभ होगा। उस वजन के यातायात-व्यय मे कमी होगी जो उत्पादन-क्रिया मे नष्ट हो जाता है।

साधारण रूप से किसी कारखाने की स्थिति को निश्चित करने के लिए हमे निम्न वातो को ध्यान में रखना आवश्यक है—

(१) उत्पादन-क्रिया मे वजन मे कमी होने वाले स्थानीय कच्चे पदार्थों का कुल वजन।

(२) तैयार माल का कुल वजन जिसे वाजार में भेजना है। अतएव, उत्पादन-क्रिया में वजन में कमी होने वाले स्थानीय कच्चे पदार्थों के सम्वन्ध मे आर्थिक दृष्टि से यदि कारखानो की उक्त पदार्थों के स्रोतों पर या उनके समीप स्थापना की जाय तो वहुत लाभदायक होगा। इसके विपरीत दूसरे प्रकार के भौतिक पदार्थों के सम्वन्ध में कारखानो को वाजार के निकट स्थापित करना अधिक उचित होगा। उक्त दोनो प्रकार के पदार्थों में आर्थिक दृष्टि से कौन अधिक लाभदायक है इसे तैयार माल के कुल वजन को कच्चे स्थानीय माल के कुल वजन से विभाजित करके आसानी से जान सकते है। इसे उस वस्तु का 'पदार्थ-सूचकाक' कहेंगे। यदि पदार्थ-सूचकांक अधिक है अर्थात यदि तैयार माल का कुल वजन स्थानीय पदार्थ के कुल वजन से अधिक है तो कारखानें स्वाभाविक रूप से कच्चे माल के केन्द्रो की ओर आकृष्ट होगे। यही कारण है कि भारत में चीनी के कारखानें विशेषतया उत्तर प्रदेश और विहार में ही अधिक है। इस उद्योग का पदार्थ-सूचकाक अधिक है इसीलिए यह कच्चे माल के केन्द्रो की ओर आकृष्ट होने की प्रवृत्ति को दर्शाता है। यदि पदार्थ-सूचकाक कम है अर्थात् तैयार माल का कुल वजन कच्चे माल के कुल वजन के लगभग वरावर है तो कच्चे माल के केन्द्र विशेष प्रभावित नही कर सकेंगे और अन्य कई कारणो से कारखानो की वाजार की ओर आकृष्ट होने की प्रवृत्ति दिखाई देगी। इसी कारण सूती कपडो के कारखाने लंकाशायर और जापान में स्थित है जिनके कच्चे माल से कुल कच्चे माल की माँग की पूर्ति नही की जा सकती है। यदि हम केवल कच्चे माल और वाजार का ही ध्यान रखें तो उद्योग-धन्धो या कारखानो की स्थापना ऐसे स्थानो पर होगी जहाँ कच्चे माल को कारखानों तक लाने

के यातायात-व्यय और तैयार माल को बाजार तक ले जाने का व्यय न्यूनतम होग। परन्तु हमें अन्य साधनों का भी अध्ययन करना होता है जैसे—श्रम की प्राप्ति, सम्पत्ति या धन तथा अन्य सुविधाएँ जिनकी उद्योग-धन्धो या कारखानो को आवश्यकता होती है। साधारणतया जब हम "कच्चे माल की पूर्ति" और "बाजार से दूरी" का अध्ययन करते हैं तो हम यह मान लेते है कि श्रम और धन इत्यादि सर्वत्र प्राप्य है। परन्तु यदि ऐसा नही होता हो और कुछ स्थानो में श्रम तथा धन प्राप्त न हो तो उद्योग-धन्धो या कारखानो की स्थापना के लिए ऐसे स्थानो का निर्वाचन नही किया जायेगा। ऐसा तभी किया जा सकता है यदि कच्चे माल तथा तैयार माल के सस्ते यातायात-व्यय की सुविधा हो जो उस असुविधा की पूर्ति कर दे जो श्रम तथा धन इत्यादि को दूर के स्थानों से लाने में हुई। यदि 'अ' और 'ब' दो स्थान है जो यातायात-व्यय के दृष्टिकोण से समान रूप से अच्छे है परन्तु श्रम तथा धन केवल 'अ' मे प्राप्त होता हो और 'ब' में नही तो 'ब' की अपेक्षा उद्योग-धन्धो या कारखानो की स्थापना के लिए 'अ' केन्द्र ही निर्वाचित किया जायेगा। परन्तु यदि यातायात-व्यय 'अ' स्थान की अपेक्षा 'ब' मे कम है परन्तु श्रम और धन की प्राप्ति में 'अ' को ऐसी सुविधा हो जो 'अ' व 'ब' के यातायात के व्यय के अन्तर की पूर्ति कर सकने से अधिक हो तो उद्योग-धधे या कारखाने 'अ' पर ही स्थापित किये जायेंगे। 'ब' स्थान पर उद्योग-धन्धें या कारखानें तभी स्थापित किये जा सकते है जब यातायात-व्यय के दृष्टिकोण से 'ब' की सुविधा इतनी अधिक है कि किसी वस्तु की एक इकाई के उत्पादन का औसत-व्यय 'ब' में श्रम तथा धन की पूर्ति की असुविधा होते हुए भी 'अ' के औसत-व्यय की अपेक्षा कम हो।

इस बात की बहुत अधिक सम्भावना है कि किसी उद्योग-धन्धे या कारखाने की स्थापना के लिए कई वैकल्पिक स्थितियाँ हो जो यातायात-व्यय के दृष्टिकोण से समान रूप से अच्छी हो सकती है। इन वैकल्पिक स्थितियो में से किस स्थिति को निर्वाचित किया जाय यह धन और श्रम की प्राप्ति और उन सुविधाओ पर निर्भर होगा जो उस स्थान पर स्थित अन्य कारखानो से प्राप्त हो सकती है। शुद्ध आर्थिक दृष्टिकोण से साहसी अपने कारखाने के लिए वही विशेष स्थिति चुनेगा जहाँ उत्पादित वस्तु की प्रत्येक इकाई का उत्पादन-व्यय न्यूनतम होगा। इस व्यय में केवल उत्पादन के लिए ले जाये जाने वाले कच्चे माल की प्रति इकाई का यातायात-व्यय ही सम्मिलित नही है वरन् श्रम, धन तथा अन्य पदार्थ प्राप्त करने मे जो व्यय होता है वह भी सम्मिलित है। इसमें वे सुविधाएँ भी सम्मिलित है जो वह स्थान दूसरे स्थानो की अपेक्षा अधिक दे सकता है।

स्थानीयकरण के अन्य (Uneconomic) साधन

व्यावहारिक जगत में कारखानो की स्थितियो को शुद्ध आर्थिक दृष्टि कोण के आधार पर ही निश्चित नही किया जाता। उक्त सिद्धान्त के अनुसार यह पहले ही मान लिया जाता है कि कच्चे माल की पूर्ति के वैकल्पिक स्रोतो का प्रति उत्पदित इकाई के लिए आवश्यक कच्चे माल की मात्रा का और कारखाने से विभिन्न बाजारो की उस दूरी का जहाँ उत्पादित वस्तु को ले जाना है, साहसी को पूरा ज्ञान है। इसके अतिरिक्त साहसी को इस बात की भी पूरी जानकारि है कि विभिन्न प्रकार के चालानो के लिए भाडे की विभिन्न दरें क्या हैं। हम उद्योग-धन्धो की स्थापना के लिए विभिन्न उपयुक्त स्थितियो का पता तभी लगा सकते हैं जब हमें उक्त बाते तथा अन्य सब आँकडे सम्बन्धी सूचनाएँ ज्ञात हो। व्यावहारिक जगत मे साहसी को ये सूचनाएँ सदा प्राप्त नही होती हैं। वह अक्सर आंशिक सूचनाओ के आधार पर ही कार्य आरंभ कर देता है। यदि उद्योग-धन्धो की स्थापना पहले हो चुकी हो तो साहसी अधिकतर ऐसी स्थिति को पसन्द करता है जहाँ पहले से ही उद्योग-धन्धे स्थापित हो चुके हो। इसी से हम उद्योग-धन्धो के स्थानीयकरण अर्थात् एक ही प्रकार के उद्योग-धन्धो को देश के किसी स्थान-विशेष मे केन्द्रित होने की समस्या पर पहुँचते हैं। उक्त बातो से अनभिज्ञ रहने के कारण तथा परिस्थितियो का उचित अध्ययन न करने से अधिकतर साहसी अनुचित स्थानो में उद्योग-धन्धो की स्थापना कर देते हैं। इससे देश के कुछ उद्योग-धन्धो के केन्द्र आवश्यकता से अधिक घने बस जाते हैं और देश के वे बहुत से भाग छुट जाते हैं जिनका यदि साहसी चतुर होता तो उद्योगीकरण किया जा सकता था। दूसरी विशेष बात यह है कि साहसी सदा बुद्धि से काम नही लेता। केवल भावावेश मे वह ऐसे स्थान का निर्वाचन कर लेता है जो आर्थिक दृष्टिकोण से बहुत मँहगा और अनुपयोगी होता है। साहसी तथा उसकी पत्नी और बच्चे, जैसा प्राय भारतवर्ष मे होता है, गावो की अपेक्षा शहरो मे रहना अधिक पसन्द करते हैं। इसका कारण केवल सामाजिक जीवन की वे सुविधाएँ, सिनेमा तथा अन्य आकर्षण होते हैं, जो प्राय शहरी-जीवन की देन हैं। उत्पादन-व्यय के दृष्टिकोण से कारखाने की स्थापना के लिए कोई ग्राम्य-स्थिति चाहे कितनी ही लाभदायक और कम व्यय वाली हो उसको केवल भावावेश में त्याग दिया जाता है और कारखाने की स्थापना अनुचित स्थान पर कर दी जाती है। भारतवर्ष में ग्राम्य जनता अधिकतर शहरो में आकर बस जाती है। इस प्रवृत्ति को साहसी के इस भावुकता भरे शहर-प्रिय-जीवन से समझाया जा सकता है।

स्थानीय अधिकारियो की अनुचित कर-नीति के कारण उद्योग-धन्धो

की स्थापना अधिक उचित (Optimum Point) स्थानों पर न होकर दूसरे स्थानो में की जाती है। यदि किसी एक स्थान में दूसरे स्थान की अपेक्षा कारखाने की बिल्डिंग पर, उत्पादन पर तथा आमदनी पर कर अधिक लगाया गया है तो कारखाने स्वभावतया उन स्थानों की ओर आकृष्ट होगे जहाँ कर की दर कम है। यह बात ग्रेट ब्रिटेन में देखी गयी जहाँ कम कर की दरो के कारण कुछ स्थानो ने उद्योग-धन्धों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया। जब कि दूसरे स्थान अधिक कर होने के कारण रिक्त रहे। रियासतों के सघ में मिलने से पूर्व भारतवर्ष में भी रियासतो में 'अग्रेजो के आधीन भारत' की अपेक्षा आमदनी, कारखाने की बिल्डिग इत्यादि में कर की दर कम थी। इसी से उद्योग-धन्धे रियासतो की ओर आकर्षित हुए। कुछ अवस्थाओ मे रियासतें, उदाहरणस्वरूप मैसूर रियासत, उद्योग-धन्धो की स्थापना के हेतु अधिक उचित वैकल्पिक स्थितियो में से एक स्थिति थी और वहाँ कारखानें स्थापित करना आर्थिक दृष्टि से उतना ही लाभदायक था जितना दूसरे स्थानो में। ऐसी अवस्था मे उद्योग-धन्धो के वहाँ स्थापित हो जाने से अधिक हानि नही हुई। परन्तु अन्य अवस्थाओ में भी उद्योग-धन्धे भारतीय रियासतों में ही स्थापित किये गये। यद्यपि आर्थिक दृष्टि से तथा एक टन प्रति मील के यातायात-व्यय का विचार कर वे स्थान अधिक उपयुक्त नही थे। इन स्थानो में श्रम की प्राप्ति में व्यय बहुत कम करना होता था क्योकि वहाँ उपयुक्त श्रम सम्बन्धी कानूनो का अभाव था, श्रमिको का कोई सगठन नही था और सरकारी सरक्षकता तथा दरबार से सुगमता से भूमि प्राप्त होने के कारण वन की पूर्ति आसानी से हो सकती थी। यही कारण थे जिनसे उद्योग-धन्धे उन स्थानो की ओर आकृष्ट हुए।

भारतवर्ष मे उद्योग-धन्धो का अधिक उचित स्थानो की अपेक्षा दूसरे स्थानो में स्थापित होने का एक अन्य कारण भी है। भारतवर्ष में प्रान्तीयता की प्रवृत्ति भी रही है जिससे अपने-अपने प्रान्तो को स्वावलम्बी बनाने के प्रयत्न होते रहे हैं। चीनी के कारखानें उत्तरप्रदेश और बिहार मे स्थापित हुए। जैसे जैसे समय बीतता गया मद्रास, मैसूर, बगाल और पजाब में शुद्ध प्रान्तीयता की भावना से चीनी के कारखानें स्थापित करने के प्रयत्न किये गये। मद्रास और मैसूर के यह प्रयत्न बहुत कुछ उचित भी थे क्योकि वे चीनी के कारखानो के लिए अधिक उचित स्थानो में से हैं। परन्तु बगाल और पजाब के सम्बन्ध में यह नही कहा जा सकता और यहाँ चीनी के जितने कारखानें स्थापित किये गये सब असफल रहे क्योकि स्थितियाँ अनुकूल न थी। बम्बई प्रान्त, उत्तर प्रदेश, मद्रास और मध्य प्रदेश में कपडे के कारखानो की स्थापना की गई है। कुछ समय पहले

बगाल में भी बहुत से सूती कपड़ो के कारखानों की स्थापना की गई है जिससे बगाल प्रान्त को कपडो की पूर्ति के लिए अन्य प्रान्तो पर निर्भर न होना पडे और साथ ही जिससे बगाली युवकों को नौकरी भी मिल जाय। एक समय उत्तरप्रदेश की भी और अधिक जूट के कारखानो को स्थापित करने की इच्छा थी। इस क्षेत्र मे प्रान्तीयता की भावना से पैदा हुई असुविधाएँ दो प्रकार की हैं। अनुचित स्थानो पर उद्योग-धन्धो के स्थापित होने से उत्पादन-व्यय मे अनावश्यक वृद्धि होती है और उत्पादन आवश्यकता से अधिक होता है। १९१८ और १९३९ के बीच के काल में केवल प्रान्तो को स्वावलम्बी बनाने की इस सनक से कुछ वस्तुओं का आवश्यकता से अधिक उत्पादन हो जाने के कारण भारतवर्ष में एक सकट उपस्थित हो गया था। जब वस्तुओ की माँग बढ रही हो तब आर्थिक-प्रसार के रूप में प्रान्तीयता को इस मँहगे और हानिकारक जाल में फँस जाना सरल होता है। परन्तु यदि माँग स्थाई हो अथवा कम हो रही हो तब नये कारखानो को स्थापित करने का केवल यही परिणाम होगा कि कुछ कारखाने असफल होकर बन्द हो जायेंगे और कुछ हानि उठायेंगे।

युद्ध के समय नष्ट-भ्रष्ट होने के भय से या हवाई-आक्रमण से बचने के लिए भी अधिकतर कारखानो के लिए अधिक उपयोगी स्थानों का परित्याग करना पडता है। यदि कारखानो की स्थापना के लिए अधिक उपयुक्त स्थान, समुद्री तट पर हो, बडे शहरो में हो, नदियो के किनारो पर हो या खुले शहरो में हो, तो ऐसे स्थानो को त्याग देना ही आवश्यक हो जाता है जिससे युद्ध के कारण उत्पादन-कार्य नष्ट-भ्रष्ट न हो जाय। कुछ अवस्थाओं मे यह बहुत सभव है कि देश में अन्दर की ओर कुछ ऐसे स्थान मिल जायँ जहाँ दुश्मन के आक्रमण का भय न हो और उनकी स्थिति कारखानों को स्थापित करने के लिए उपयुक्त हो, परन्तु यदि ऐसे स्थान मिलना सम्भव न हो तब उद्योग-धन्धो को ऐसे स्थानो पर स्थापित करना पडेगा जिनकी स्थिति बहुत उपयुक्त न हो। इससे उत्पादन-व्यय मे वृद्धि होती है।

स्थानीयकरण

किसी शहर में अथवा देश के किसी भाग में विशेष उद्योग-धन्धे के केन्द्रित हो जाने को ही हम स्थानीयकरण कहते है। यदि एक ही उद्योग-धन्धे के कई कारखाने एक ही स्थान पर स्थापित हो जाते है तो उसे उद्योग-धन्धे का स्थानीयकरण कहा जाता है। उत्तरप्रदेश के फिरोजाबाद शहर में काच की चूड़ियो का उद्योग-धन्धा केन्द्रित है। जूते बनाने का उद्योग आगरा शहर मे केन्द्रित है। उद्योग-धन्धो का इस प्रकार केन्द्रित हो जाना कई कारणों पर निर्भर होता है। यदि किसी स्थान पर किसी

विशेष प्रकार का कच्चा माल हो या उद्योग-धन्धे के लिए आवश्यक किसी प्रकार की कुशलता प्राप्त हो तो उद्योग-धन्धो की कई इकाईयाँ प्राप्त सुविधाओ का लाभ उठाने के लिए उस स्थान पर स्थापित हो जाती ह। यदि वह स्थान कच्चे माल की पूर्ति के स्रोतो और वाजार से रेल अथवा किसी अच्छी सडक से जुडा हो तो उद्योग-धन्धो की उस स्थान पर केन्द्रित होने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। प्रारम्भ मे सूती कपडो के कारखाने वम्वई शहर और वम्वई-द्वीप में केन्द्रित हुए क्योकि यहाँ से उत्पादित वस्तु का निर्यात सुविधापूर्वक किया जा सकता है। वहुत कुछ इसी कारण सूती कपडे का उद्योग लकाशायर में स्थापित हुआ। स्थानीयकरण के दूसरे कारण किसी विशेप उद्योग धन्धे को राज्य की सरक्षकता प्राप्त होना अथवा उद्योगपति की सनक हो सकते है। यदि एक वार कोई उद्योग-धन्धा किसी स्थान-विशेष पर स्थापित हो जाता है चाहे वह स्थान इस कार्य के लिए उपयुक्त हो या न हो कुछ वाह्य आर्थिक साधन उस स्थान पर प्राप्त होने लगते है जिससे अन्य उद्योग-धन्धे उस स्थान की ओर आकर्षित होते है। ये सुविधाएँ उद्योग-धन्धे की कुछ इकाईयो के प्रारम्भ से ही स्थापित रहने के कारण सहायक उद्योग-धन्धो का रूप या श्रमिको के शिक्षण-केन्द्र का रूप ले सकती है। साथ ही उद्योग-धन्धे के लिए यातायात की अधिक सुविधाएँ प्राप्त करा सकते है। अल-फ्रेड वैवर ने उद्योग का स्थानीयकरण होने के कारणो तथा इसके विपरीत ऐसे केन्द्रो से उद्योग-धन्धो के विमुख होने के कारणो को निम्न भागो मे बाँटा है—

(१) केन्द्रीयकरण के कारण (Agglomerating Causes)
(२) विकेन्द्रीयकरण के कारण (Deglomerating Causes)

केन्द्रीयकरण के कारण से किसी उद्योग-धन्धे की प्रवृत्ति किसी स्थान-विशेप पर केन्द्रित होने की ओर होती है और विकेन्द्रीयकरण के कारण मे उद्योग-धन्धो की प्रवृत्ति छिन्न-भिन्न होने की ओर होती है। श्रम की प्राप्ति, धन इत्यादि तथा दूसरे सम्भव स्थानो की अपेक्षा अनेक वाह्य आर्थिक कारणो का सहयोग प्रथम कारण के अन्तर्गत आते है जव कि भूमि और घरो का अधिक किराया, अधिक कर की दरें और एक ही स्थान पर उद्योगो के आवश्यकता से अधिक केन्द्रित होने से उत्पन्न अनेक आर्थिक असुविधाएँ और कठिनाइयाँ दूसरे प्रकार के कारणो के अन्तर्गत आते हैं जिससे उद्योग-धन्धो की प्रवृत्ति विकेन्द्रीयकरण की ओर होती है।

स्थानीयकरण से लाभ

(१) उद्योग-धन्धों के स्थानीयकरण से अनेक लाभ होते है। यदि कोई

उद्योग-धन्धा एक स्थान-विशेष में स्थापित हो तो उत्पादन करने वाली विभिन्न इकाईयो में परस्पर गहरी प्रतिस्पर्धा रहेगी। इससे वे सदा सजग रहते है और अधिक कुशल होते जाते है। अपने प्रतिद्वन्दी से अधिक सफलता प्राप्त करने की प्रवृत्ति के कारण वे अनेक वैज्ञानिक अनुसन्धान और प्रयोग करते है। प्राय यह देखा गया है कि कुछ तो इस प्रतिस्पर्धा के कारण और कुछ उद्योग-धन्धो के केन्द्रियकरण से प्रबन्ध की सरलता के कारण बहुत अच्छे औद्योगिक सगठन स्थापित हो जाते है। इन्ही कारणो से भारतवर्ष के जूट के कारखाने सूती कारखानो की अपेक्षा अधिक संगठित है। यह बहुत सभव है कि स्थानीयकरण के कारण विभिन्न सगठन परस्पर एक दूसरे में घुल-मिल जायँ और इस प्रकार उद्योग-धन्धो का एकाधिकार (Monopolisation) स्थापित हो जाय।

(२) यदि कोई उद्योग-धन्धा एक ही स्थान पर स्थापित हो तो उसे अन्य स्थानो की अपेक्षा अधिक सुविधाएँ प्राप्त होगी। उद्योग-धन्धो के केन्द्रियकरण से अधिकारियो और श्रमिको को अच्छी ट्रेनिंग मिल सकती है, बैंकिंग प्रथा के विकास के साथ ही उद्योग-धन्धे को अन्य सुविधाएँ प्राप्त हो सकती है, और रेल सम्बन्धी वे सुविधाएँ प्राप्त हो सकती है जो तब नही मिलती यदि उस स्थान पर एक दो कारखानें ही स्थापित होते। ऐसी अवस्था में सहायक उद्योग-धन्धो से अनेक लाभ भी सरलता से प्राप्त हो सकते है। जैसे कि फिरोजाबाद में कॉच की चूडियो के कारखानें केन्द्रित है तो इससे सब उत्पादकों को सदा लगातार बिजली मिलना सम्भव है।

(३) एक स्थान पर केन्द्रित उद्योग-धन्धो के द्वारा उत्पादित वस्तुएँ उस स्थान की विशेषताओ से सम्बन्धित होने के कारण स्वय भी प्रसिद्ध हो सकती है, इससे किसी वस्तु को लोकप्रिय बनाने में बड़ी सहायता मिलती है। मुरादाबाद में बनी पीतल की वस्तुएँ बहुत प्रसिद्ध है क्योकि वही पीतल के उद्योग-धन्धें केन्द्रित है। परन्तु यदि उद्योग-धन्धा किसी कारण से बदनाम हो जाय तो किसी स्थान-विशेष पर उसका केन्द्रित होना हानिकारक भी हो सकता है।

स्थानीयकरण से हानि

समस्त देश अथवा उद्योग-धन्धे दोनों के दृष्टिकोण से उद्योग-धन्धे के स्थानीयकरण से अनेक गभीर हानियाँ भी है।

(१) प्रमुख हानि यह है कि स्थानीयकरण से कुछ स्थान पिछड सकते है, वे निम्नस्तर (Depressed Area) के हो सकते है। यदि किसी उद्योग-धन्धे को माँग की पूर्ति न कर सकने से हानि होती है जो व्यापार-मन्दी (Trade Depression) और अन्य कारणो से

बहुत सम्भव है, और उत्पादन कम कर दिया जाय या पूर्णतया बन्द कर दिया जाय तो उस क्षेत्र के निवासियों को (जिस क्षेत्र में उक्त उद्योग-धन्धा केन्द्रित होगा) बहुत बड़ी आर्थिक हानि होगी, उनकी आमदनी कम हो जायेगी, वहाँ बेकारी होगी और अनाज और वस्त्रों का अभाव होगा। स्थानीय पदाधिकारी आमदनी के एक स्रोत को खो देंगे और सम्भवतः वे सहायता सम्बन्धी कार्य नहीं कर सकेंगे जो उक्त आमदनी से किया करते थे। ग्रेट ब्रिटेन और अन्य देशों में ऐसा वास्तव में कई स्थानों पर हुआ। जब लंकाशायर के कपड़े का उद्योग, भारतवर्ष की माँग में कमी होने के कारण मन्द पड़ गया तो वहाँ के निवासियों को बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। यदि उद्योग-धन्धा केन्द्रित होने की अपेक्षा उचित ढंग से विकेन्द्रित हो अर्थात् किसी विशेष उद्योग-धन्धे के कारखानें चारों ओर फैले हों, और एक स्थान पर केन्द्रित होने की अपेक्षा विभिन्न अधिक उपयुक्त स्थानों पर स्थापित हों तो उस उद्योग-धन्धे में मन्दी होने से एक विशेष स्थान को हानि नहीं हो सकती। यदि एक उद्योग-धन्धा मन्द पड़ जाय और अन्य पूर्ववत् अच्छी अवस्था में उत्पादन करते रहें तो उस स्थान-विशेष के निवासी दूसरे कारखानों में जो वहाँ हों नौकरी पा सकते हैं।

(२) यदि उद्योग-धन्धा किसी स्थान-विशेष पर केन्द्रित हो तो उसमें वे लाभ हो सकते हैं जो प्राय स्थानीयकरण से होते हैं परन्तु उद्योग-धन्धों के इस प्रकार केन्द्रित हो जाने से उन राष्ट्रीय विशेषताओं और सुविधाओं का जो देश के अन्य भागों मे प्राप्त हो सकती है पूरा पूरा उचित उपयोग नही किया जा सकता। यदि कारखानें देश के विभिन भागों में स्थापित किये जायें तो उन स्थानीय प्राकृतिक सहायक स्रोतों (Resources) का जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर नही ले जाये जा सकते पूर्ण उपयोग किया जा सकता है। स्थानीयकरण से ऐसे सहायक स्रोतो का उपयोग नही हो पाता और वे व्यर्थ हो जाते हैं।

(३) स्थानीयकरण से घर अत्यन्त घने बस जाते है, स्वास्थ्य बिगड जाता है और यातायात तथा स्वच्छता रखना असम्भव-सा हो जाता है। यदि किसी उद्योग-धन्धे के अनेक कारखानें एक स्थान पर स्थापित हो तो एक सीमा तक उस स्थान के सब प्राणियो के लिए घर की समस्या हल की जा सकती है; स्वच्छता तथा अन्य सुविधाएँ प्राप्त की जा सकती हैं। परन्तु कुछ समय बाद अन्य लोग दूसरे स्थानो मे आकर यहाँ बसने लगते हैं और वह स्थान आवश्यकता से अधिक घना बस जाता है। इससे मजूरो के व्यय में वृद्धि हो जाती है साथ ही घर का किराया, यातायात इत्यादि में भी वृद्धि हो जाती है। मिल-मालिको को मजूरो को अधिक

मजूरी देनी पडती है। इससे उत्पादन-व्यय मे वृद्धि होती है। बम्बई, कलकत्ता और कानपुर इत्यादि वडे शहरो मे जहाँ उद्योग-धन्धे केन्द्रित है ठीक ऐसा ही हुआ है। स्थानीयकरण, उत्पादन के व्यय मे वृद्धि होने से और इससे प्रतिस्पर्धा की शक्तियो को कम करके उद्योग-धन्धे को ही हानि पहुँचाता है।

उद्योग-धधों के स्थानीयकरण पर नियन्त्रण

यह विदित हो चुका है कि यदि साहसी को उसके अपन निश्चय पर छोड दिया जाय जो वे उद्योग-धन्धो को प्राय ऐसे स्थानो पर स्थापित कर देते है जो आर्थिक दृष्टि से अनुपयुक्त हो। अधिकतर वे उन स्थानो से विशेष परिचित नही होते जो आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त है और वे परिस्थितियो पर विचार भी भावावेश मे ही करते है। कुछ भी हो यह वात स्पष्ट है कि साहसी राष्ट्र के लाभ की अपेक्षा अपने संकीर्ण स्वार्थ की ओर ही अधिक ध्यान देते है। इसलिए राज्य को उद्योग-धन्धो के स्थानीयकरण पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है।

भारतवर्ष के लिए जो प्रादेशिक योजनाएँ बनायी जा रही है वे अपनी सफलता के लिए इस वात पर निर्भर है कि राज्य अपने अन्तंगत स्थापित होनेवाले उद्योग-धन्धो के कारखानो के वितरण पर नियन्त्रण रख सकने की शक्ति ग्रहण कर ले। पश्चिमी देशो के विपरीत साहसी कुछ विशेष क्षेत्रो में केन्द्रित है जब कि उसके प्राकृतिक आय के स्रोत और श्रम-शक्ति इधर-उधर विखरी पडी है। ऐसी अवस्था कार्य की दृष्टि से नही वरन् प्रादेशिक दृष्टि से उद्योग-धन्धो के सन्तुलित विकास के लिए हानिकारक है। पश्चिम के उन प्रदेशो की अपेक्षा जिनमे उद्योग-धन्धो का काफी विकास हो चुका है ऐसे देशो मे जो औद्योगिक विकास में पिछडे हुए है, जैसे भारतवर्ष के उद्योग-धन्धो के स्थानीयकरण पर नियन्त्रण रखने की अधिक आवश्यकता है। देश में शीघ्र और नियम से औद्योगिकरण करने के लिए ऐसा नियन्त्रण अत्यावश्यक है।

स्थानीयकरण को नियमबद्ध करने तथा उसपर नियन्त्रण रखने से केवल नये कारखानो पर प्रभाव पड़ सकता है। यह हो सकता है कि राज्य उन कारखानो को जो किसी विशेष उद्योग-धन्धे से सम्बन्धित हो किसी स्थान-विशेष में स्थापित न करने दे। कुछ स्थानो मे अनेक सुविधाएँ प्राप्त करा देने से भी कारखानो को स्वभावतया उनकी ओर आकृष्ट किया जा सकता है। उक्त दोनो ढग केवल नये उद्योगो को ही प्रभावित कर सकते है। पहले से ही स्थापित उद्योग-धन्धे बहुत कम उन स्थानो की ओर खिच सकते है और बहुत अधिक व्यय हो जाने से यह लाभदायक सिद्ध न होगा। यदि पहले केवल नये स्थापित उद्योग-धन्धो

पर ही नियन्त्रण रखा जायगा तो जैसे-जैसे समय व्यतीत होता जाता है पूर्व-स्थापित कारखानें पुराने पडते जाते है और उनके स्थान में नये कारखानो को स्थापित किया जा सकता है और इस प्रकार स्थानीयकरण पर नियन्त्रण रखकर अवस्था सुधारी जा सकती है।

राज्य की नीति का यह लक्ष्य होना चाहिये कि कुछ स्थानो को आवश्यकता से अधिक घने वसने से तथा कुछ को खाली होने से रोका जाय। यह विश्वास हो कि यदि युद्ध हो तो देश का उद्योग-धन्धो का जाल आक्रमणकारी द्वारा नष्ट नही किया जा सकेगा और देश में शीघ्र औद्योगिक विकास हो सकेगा। राज्य को ऐसी नीति प्रयोग मे लानी चाहिये जिससे उद्योग-धन्धो का उचित प्रसार हो जिससे देश के प्रत्येक भाग का अधिकतम विकास सम्भव हो सके।

अभ्यास के प्रश्न

१ 'स्थानीयकरण' का अर्थ क्या है ? सक्षेप में समझाइये।

२ किसी स्थान पर उद्योग-धन्धो की स्थापना करने के लिये उत्पादक को किन-किन सुविधाओ की आवश्यकता होती है ? सक्षेप में समझाइये।

३ क्या भारत के उद्योग-धन्धे उचित स्थानो पर स्थापित किये गये है ? उदाहरण सहित अपने विचार प्रकट कीजिये।

४ 'स्थानीयकरण' के लाभ और हानियाँ सक्षेप मे वतलाइये।

अध्याय ५१

औद्योगिक संगठन

(Industrial Organisation ,

मनुष्य आरम्भ से ही उद्योगी रहा है। पहले उसे अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये उद्योग करना पड़ता था फिर अपने परिवार के लिये। तव आवश्यकताएँ कम थी। परन्तु जन-सख्या की वृद्धि के साथ जीवन का वहुमुखी विकास हुआ। आवश्यकताओ की वृद्धि के साथ श्रम-विभाजन से पूर्ति का प्रयत्न भी किया जाने लगा। रुचि की भिन्नता के फलस्वरूप उत्पादन मे विभिन्नता आने लगी। विज्ञान के आविष्कारो की सहायता से उत्तरोत्तर वढती माँग की पूर्ति के लिये वडे पैमाने में उत्पादन होने लगा। इस विकास के साथ उत्पादन के ढग व रीतियाँ भी वदलती गयी, उत्पादन के सगठन और सचालन में परिवर्तन हुए। इस परिवर्तन के क्रमश विकास की रूप-रेखा का सक्षिप्त परिचय इस अध्याय मे दिया जायेगा।

उत्पादन जब तक केवल उत्पादक के लिये ही सीमित था उसमे साहस (Enterprise) और लाभ (Profit) का अश विद्यामान न था। परन्तु जव यही उत्पादक अपने परिवार या व्यक्तियो के अन्य समूह की माँग की पूर्ति करने के लिये उत्पादन करने लगा तव उसमें साहस और लाभ का पर्याप्त अश आ गया। उसके उत्पादन कार्य में यह आशका सदा वनी रहती थी कि कदाचित उसकी उत्पादित वस्तु से उपभोक्ता प्रसन्न न हो, उसका विक्रय न हो सके और उसका श्रम, समय और पूंजी व्यर्थ नष्ट हो जाय। इसलिये उसे साहसी कहना कुछ अनुचित न होगा। वह उत्पादन इसलिये भी करता था कि उसे लाभ हो। यह लाभ तभी सभव हो सकता था जव उपभोक्ता अपनी आवश्यकताओ की सन्तुष्टि के लिये उसके द्वारा उत्पादित वस्तु का उचित मूल्य मे क्रय करें। अतएव उपभोक्ता की रुचि का ध्यान रखना भी उत्पादक के लिये आवश्यक था। इसी आधारभूत उद्देश्य लाभ कमाने की पूर्ति के लिये समय-समय पर विभिन्न औद्योगिक सगठन वनें जिनको निम्न शीर्षको में विभाजित किया जा सकता है—

(१) **वैयक्तिक स्वामित्व** (Individual Ownership) —इसमे केवल एक व्यक्ति उत्पादन करता है, वही स्वामी, विक्रेता, सगठनकर्त्ता इत्यादि स्वय होता है।

(२) **साझेदारी** (Partnership) —इसमें उत्पादन एक से अधिक

व्यक्ति आपस मे समझौता करके करते हैं। इसमे एक व्यक्ति का स्वामित्व नही होता वरन् साझेदारो का स्वामित्व होता है।

(३) **मिश्रित पूंजी की कम्पनियाँ** (Joint - Stock Company) – इसमें कई व्यक्ति मिलकर पूंजी लगाते हैं। इसकी उत्पादन-विधि उक्त विधियो से अधिक वैज्ञानिक है। इससे वडी मात्रा में उत्पादन किया जाता है।

(४) **एकाधिकार तथा ट्रस्ट** (Monopoly and Trust) —इसमें उत्पादन के साधनो और उसकी क्रियाओ पर एक व्यक्ति या सस्था का एकाधिकार होता है। वही उत्पादन सम्बन्धी नीतियाँ इत्यादि निर्धारित करते हैं। ट्रस्ट अनेक उत्पादको की सम्मिलित सस्था को कहते हैं।

(५) **राज्य द्वारा उत्पत्ति** (State Enterprise) —इसमें उत्पादन की सम्पूर्ण क्रियाओ में राज्य का नियत्रण रहता है। वही उत्पादन करता है और हानि तथा लाभ का स्वय उत्तरदायी होता है। इसका सारा प्रवन्ध राज्य के द्वारा किया जाता है।

(६) **सहकारी उत्पादन** (Co-operative Organisation) —इसमे अनेक व्यक्ति मिलकर उत्पादन करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को समान अधिकार होते हैं। श्रमिक और उत्पादक मे भेद नही होता है क्योकि श्रमिक ही उत्पादक भी होते हैं। कोई शोषक अथवा शोपित नही होता। वर्तमान समय में इस प्रकार की सस्थाओ का विषेश महत्व है।

भारतवर्ष की विशेषता यह है कि औद्योगिक सगठन में यद्यपि निरन्तर परिवर्तन होता रहा है परन्तु प्रत्येक प्रकार का सगठन आधुनिक काल में भी अपनी पूर्व गति से काम कर रहा है। यह अवश्य सच है कि उसका प्रभाव-क्षेत्र अवश्य नवीन सगठन के सामने कम होता जा रहा है। उक्त विभिन्न सगठनो का नीचे विस्तार से वर्णन किया गया है —

वैयक्तिक स्वामित्व (Individual Ownership)

यह औद्योगिक सगठन का पहला रूप है। जब उत्पादक ने अपने तथा अपने परिवार के साथ ही अन्य मनुष्यो के लिये उत्पादन करना आरम्भ किया तव वह एक छोटा साहसी था जिसका उद्देश्य लाभ था। वैयक्तिक स्वामित्व का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक उत्पादन अपने उत्पादन के साधनो का स्वय प्रवन्ध करता है, उनका इच्छानुसार प्रयोग करता है और उत्पादन की सम्पूर्ण क्रिया का स्वय सचालन भी करता है। उद्योग के लिये वह पूंजी सूद पर ऋण लेकर एकत्रित करता है या अपनी वचत का प्रयोग करता है। प्राय यह उद्योग वशगत भी चलता है। वाप का आरम्भ किया हुआ उद्योग वेटा अपनी योग्यता से आगे वढाता है। उदाहरणार्थ

भूटान (Bhutan) में ऊन के कम्बल व अन्य मूल्यवान वस्तुएँ बुनने का कारोबार लगभग प्रत्येक परिवार करता है जिसका विक्रय वे बड़े-बड़े मेलो में किया करते है। यह कारोबार वहाँ के परिवार बहुत समय से करते आये है। कुछ व्यक्ति स्वय साबुन बनाते और बेचते है। उनको इस उद्योग के लिये केवल थोडे से नौकरो की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार कपडो मे छपाई व उनकी रँगाई के उद्योग भी वैयक्तिक स्वामित्व के अन्तर्गत आते है। लाभ और हानि दोनो उत्पादक की अपनी योजना और कार्यचातुरी पर निर्भर होते है। यदि उसे हानि हो जाती है तो ऋणदाता उसकी सम्पत्ति लेकर या बेचकर उसे पूरा कर लेते है। वह अपने उद्योग का स्वामी होता है इसलिये उसकी प्रत्येक बात के लिये वही उत्तरदायी होता है। भारतवर्ष मे इस प्रकार के उत्पादक बहुत बडी सख्या में है। प्रत्येक गाँव के बढई, लोहार, रगसाज इत्यादि वैयक्तिक स्वामित्व के अन्तर्गत आते है। उनकी अपनी दुकाने होती है और अपने ढग। इसके अन्तर्गत उत्पादन छोटे पैमाने (Small scale) पर होता है।

यह उत्पादक का प्रारम्भिक रूप है। इसके अनेक लाभ और हानियाँ है जिनका नीचे वर्णन किया गया है —

लाभ (Advantages) :—चाहे इसे व्यक्ति की स्वार्थभावना कहा जाय या और कुछ और परन्तु यह सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के काम की अपेक्षा अपने काम के प्रति विशेष जागरूक होता है। अतएव वैयक्तिक स्वामित्व मे अकेला उत्पादक अपने उत्पादन कार्य के प्रति विशेष सजग रहता है। अधिक लाभ कमाने के लिये तथा प्रसिद्धि पाने के लिये वह काफी परिश्रम करता है। प्रत्येक काम को खूब सोच-समझकर करने से उसकी कार्यक्षमता और कार्यकुशलता में वृद्धि होती है। सम्पूर्ण कारोबार का स्वामी होने से वह जितना सम्भव हो सकता है व्यय में बचत करता है। मितव्ययता करने से ही उसे अधिक लाभ हो सकता है। प्राय जब गाँव के लोहार को लोहे, ताम्बे इत्यादि की आवश्यकता होती है तो स्वय कुछ नौकर या घोडा इत्यादि साथ में ले जाकर बाजार से कम से कम मूल्य पर सामान खरीद कर ले जाता है। सब कार्य स्वय करने व अपने निरीक्षण मे कराने से उसको पीछे पछताना नही पडता है। इसके साथ ही वह अपने उत्तरदायित्व का अनुभव करता है क्योंकि हानि स्वय उसे ही सहनी पडती है। उत्पादन छोटे पैमाने पर किया जाता है इससे काम का निरीक्षण करने में सरलता रहती है; मजूर पूरी शक्ति से काम करते है और आवश्यकता पडने पर आवश्यक परिवर्तन भी आसानी से किये जा सकते है। उत्पादक नित्य ग्राहको के सम्पर्क में

आता रहता है, उसकी आवश्यकता, रुचि इत्यादि से भली प्रकार परिचित रहता है और उसी के अनुरूप पूर्ति करने का प्रयत्न करता है। उत्पादक अपनी कार्यकुशलता और ईमानदारी से अपने ग्राहकों व उपभोक्ताओं का क्षेत्र विस्तृत कर सकता है, और उससे स्वयं लाभ होता है। भोट के निवासी ग्राहक की रुचि के अनुकूल कम्बल, दन, थुल्मे इत्यादि कई प्रकार के ऊनी माल का उत्पादन करके काफी धन कमाते हैं और इनकी वस्तुओ की माँग सदा बढ़ती ही जाती है। कोई भी व्यक्ति थोड़ी सी पूंजी इकट्ठा करके आसानी से उत्पादन कर सकता है। वह पीतल और व ताम्बे का काम करने वाले मजूरों को वेतन पर नियुक्त कर सरलता से बर्तन बनाने का उद्योग आरम्भ कर सकता है और जब इच्छा हो या जब समय अनुकूल न हो तो उत्पादन बन्द भी कर सकता है। संगठन एवम् सचालन की इस सरलता से वैयक्तिक स्वामित्व के अन्तर्गत नये उत्पादक आते रहते हैं और कुछ असफल होकर उत्पादन बन्द कर देते हैं।

इसकी सीमाएँ (Its Limitations) —आधुनिक युग मशीन का - युग है। उत्पादन वडे पैमाने में किया जाता है तथा प्रति इकाई उत्पादन-व्यय कम होने से उपभोक्ता को आवश्यक वस्तुएँ सस्ते मूल्य पर प्राप्त हो जाती है। यदि ऐसी स्थिति में कोई व्यक्ति थोडी सी पूँजी से एक छोटा सा कारखाना खोलकर उन्ही वस्तुओं का उत्पादन करना आरम्भ कर दे तो उसे बुद्धिमान् व्यक्ति नही कहा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि वैयक्तिक स्वामित्व के अनुसार उत्पादन करना आधुनिक परिस्थितियों के अनुकूल नही है। मशीनो का प्रयोग इसके मार्ग मे सबसे बाधक है। इससे उत्पादन छोटी मात्रा में होता है जिससे आवश्यकतानुकूल पूर्ति हो सकना सम्भव नही है। उपभोक्ता अपनी माँग की पूर्ति के लिये अधिक समय लगाना नही चाहता क्योकि मशीनो द्वारा उत्पादित माल उसे शीघ्र ही कम मूल्य में प्राप्त हो जाता है। अकेला उत्पादक अधिक पूंजी एकत्रित नही कर सकता है जिससे वह कोई बडे साहस के काम में भी द्रव्य नही लगा सकता है। वह उत्पादन में अपनी अधिकाश पूंजी लगा देता है। यदि एक बार उद्योग असफल हो जाय तो अपरिमित दायित्व (Unlimited Liabilities) के कारण सदा के लिये उसका उत्साह मिट जाता है। यह कहा जा चुका है कि कही कही इस प्रकार का उत्पादन वशगत चला करता है। यदि पुत्र योग्य न निकला तो यह सभव है कि पिछले कई वर्षों में सगठित समस्त कारोबार वह क्षण भर मे नष्ट कर दे। यद्यपि इस प्रकार के उत्पादन का क्षेत्र सकुचित होता है तथापि उसमें निरीक्षण का विशेष महत्व है। अकेला होने के कारण उत्पादक शीघ्र सभी साधनो को जुटा नही पाता है। समय-समय पर किसी-न-किसी

वस्तु की आवश्यकता उसे लगी रहती है। आधुनिक परिस्थितियो मे सभी वस्तुओ का सरलता से प्राप्त हो सकना सम्भव नही है। इससे उत्पादक का वहुत समय वस्तुओ का सग्रह करने में ही वीत जाता है और समय पर पूर्ति नही कर पाता है। अभावग्रस्त होने से वह स्थिर होकर किसी विशेष वात को पूरी तरह सोच-समझ भी नही सकता है, इससे उत्पादन के हर पक्ष मे वुरा प्रभाव पडता है।

इन सीमाओ से स्पष्ट हो जाता है कि उत्पादन की यह प्रणाली अव उपयोगी नही रही। इसके आधार पर बडी वस्तु के उत्पादन का विचार करना केवल स्वप्न देखना है। यथार्थ मे वैयक्तिक स्वामित्व के अनुसार उत्पादन करने का विचार करना अपने को व अपने देश को फिर से प्राचीनता की ओर घसीटना होगा जिसकी सफलता की सम्भावना कम है।

साझेदारी (Partnership)

जव अकेला उत्पादक वैयक्तिक स्वामित्व के अनुसार लोगो की माँग की पूर्ति न कर सका तव उत्पादन क्षेत्र मे साझेदारी (Partnership) का आरम्भ हुआ। साझेदारी में उत्पादको की सख्या एक से अधिक होती है। भारतवर्ष में साझेदारी का खूब चलन है।

कुछ व्यक्ति जव किसी वस्तु का उत्पादन करने के लिये अथवा किसी नये उद्योग का आरम्भ करने के लिये परस्पर सहमत हो जाते है और अपनी योग्यतानुसार उसके लिये द्रव्य इत्यादि लगाते है तो उसे साझा करना कहते है। यह आवश्यक नही कि प्रत्येक साझेदार वरावर द्रव्य इत्यादि लगाये। यह प्रत्येक साझेदार की इच्छा पर निर्भर रहता है। यदि कोई साझेदार अधिक द्रव्य लगा सकता हो वरन् उद्योग सम्बन्धी अपनी विशेष योग्यता से सहायक होना चाहता हो तो वह भी उसमे साझेदार हो सकता है। अर्थात् साझेदार दो प्रकार के होते है–(१) जो पूँजी लगाते है और (२) जो अपनी विशेष योग्यता से सहायता करते है। पहले प्रकार के साझेदार उद्योग मे हुई हानि को सहते है और ऋण को अपनी सम्पत्ति से चुकाते है। दूसरे प्रकार के साझेदारो को उद्योग की व्यवस्था इत्यादि के प्रति उत्तरदायी होना पड़ता है।

प्राय छोटे उद्योग-धन्धे साझेदारी से ही चलते है। भारतवर्ष के प्रत्येक गाँव और शहर मे साझेदारी मे चलने वाले धन्धे दृष्टिगोचर होंगे। जिन कार्यों को पहले अकेला उत्पादक अपनी शक्ति से करता था वही काम अधिक उत्पादन करने के लिये और उद्योग की स्थिति अधिक दृढ करने के लिये साझेदारी के द्वारा चलाया जाता है। जिस प्रकार अकेला उत्पादक

हानि और लाभ के प्रति पूर्ण उत्तरदायी था [illegible] प्रत्येक साझेदार पूर्ण उत्तरदायी होता है। यदि [illegible] में हानि हो गयी तो उसकी पूर्ति के लिये प्रत्येक साझेदार को [illegible] पड़ता है। यह बहुत सम्भव है कि अनेक साझेदारों में कोई धनी भी और कोई निर्धन भी हो। यदि उद्योग की आवश्यकता से अधिक पूंजी [illegible] अधिक देना है तो धनी साझेदार को अधिक हानि उठानी पड़ेगी क्योंकि निर्धन साझेदार ऋण चुकाने में कुछ विशेष सहायता नहीं कर सकता है। इसीलिये कभी कभी साझेदारी में धनी व्यक्ति दिवालिये भी हो जाते हैं और निर्धन अपनी थोड़ी-सी पूंजी से भी हाथ धो बैठते हैं। साझेदारी में पूंजी अधिक मात्रा में एकत्रित की जा सकती है जिससे उद्योग का विस्तार किया जा सकता है।

साझेदारी अधिकतर परिवार-क्षेत्र में चलती है। दो या अधिक भाई या अन्य सम्बन्धी मिलकर किसी उद्योग-धन्धे में साझेदार हो जाते हैं। इसमें शर्तें बहुत ढीली-ढाली होती हैं। आवश्यकतानुसार परस्पर समझौता करके साझेदार एकाएक अपनी उत्पादन-नीति बदल सकते हैं, उसकी मात्रा को घटा-बढ़ा सकते हैं या अन्य किसी वस्तु का उद्योग भी उसमें सम्मिलित कर सकते हैं। साझेदारी से वर्तमान में भी कई कारखाने चल रहे हैं —आटा पीसने की मिल का काम प्राय. प्रत्येक शहर में किया जाता है। इससे साझेदारों को काफी लाभ होता है। फर्नीचर का कारखाना, कपड़ों की रंगाई-छपाई का उद्योग, छापेखाने और छोटे समाचारपत्रों का काम इत्यादि सभी साझेदारी में चलते हैं। इसके लाभ और हानियों का वर्णन नीचे किया गया है —

लाभ :—वैयक्तिक-स्वामित्व के अनुसार उत्पादन करने में जिन सीमाओं (Limitations) का सामना करना पड़ता है उनमें से अधिकांश की पूर्ति साझेदारी द्वारा उत्पादन करने से दूर हो जाती है। अकेला उत्पादक पूंजी की कमी से अपने उद्योग का विस्तार नहीं कर सकता है परन्तु साझेदारी में पूंजी पर्याप्त मात्रा में मिल जाती है। छोटे उद्योग-धन्धे का विस्तार किया जा सकता है। उत्पादन की मात्रा बढ़ाई जा सकती है। बड़े पैमाने में उत्पादन करने से उत्पादक को अनेक लाभ होते हैं और अनेक सुविधाएँ मिलती हैं। उद्योग-धन्धे को चलाने के लिये स्थापित अपने उसी कार्यालय से विना अधिक व्यय किये सिमृत-उद्योग-धन्धे का कार्य भी चलाकर, कच्चे माल तथा उत्पादित वस्तुओं का पूर्ण उपयोग करके और कुशल श्रमिक और आयात-निर्यात सम्बन्धी सुविधाएँ प्राप्त करके, उत्पादक अपने अतिरिक्त-व्यय (Overhead Cost) में पर्याप्त बचत कर लेते हैं। इस प्रकार की सुविधाएँ, जिन्हें आन्तरिक और

बाह्य मितव्ययता (Internal and External Economics) कहते है, बड़े पैमाने मे उत्पादन करने से प्राप्त होती है। साझेदारी में वह व्यक्ति भी साझेदार हो सकता है जिसके पास धन तो अधिक नहीं है वरन् उद्योग सम्बन्धी विशेष योग्यता है। वह अच्छा सगठनकर्ता और व्यवस्थापक हो सकता है, उद्योग सम्बन्धी टेकनिकल ज्ञान हो सकता है या कुशल ड्राफ्टर हो सकता है इत्यादि। इससे उद्योग मे कुशल व्यक्ति आ सकते है जिससे उत्पादन मे, श्रमिको की कार्यक्षमता और कार्यकुशलता मे काफी वृद्धि हो सकती है। मशीन के साथ ही कुशल श्रमिको की सख्या बढ सकती है। साझेदारी की शर्तें ढीली-ढाली होती है जिससे उनमे शीघ्र झगडा इत्यादि होने का भय नही रहता है। साथ ही प्रत्येक साझेदार चाहता है कि अधिक नफा कमाया जाय। इस कारण समय-समय पर आवश्यकतानुसार वे परस्पर विचार-विमर्ष कर सकते है, नयी लाभदायक नीति निर्धारित कर सकते है। प्रत्येक साझेदार उद्योग के हानि-लाभ के प्रति उतरदायी होता है। अतएव वह सदैव सजग रहकर उद्योग की गतिविधि का निरीक्षण कर सकता है। एक से अधिक साझेदार होने से उत्पादन सम्बन्धी अनेक कार्यो को वे परस्पर बाँट सकते है जिससे काम शीघ्र और सरलता से हो सके और साझेदार को अपने उत्तरदायित्व का ज्ञान हो। वैयक्तिक-स्वामित्व के अनुसार अकेले उत्पादक को अपने ग्राहको की नयी रुचियो तथा नयी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये अत्यधिक परिश्रम करना पडता था, पूंजी के अभाव मे वह शीघ्र अपने साधनो को बदल भी नही सकता था और इससे उसे गहरी हानि उठानी पडती थी। परन्तु साझेदारी में पूंजी का अभाव नही रहता है और अन्य आवश्यक साधन भी सरलता से प्राप्त किये जा सकते है जिससे उत्पादक उपभोक्ता की रुचि के अनुकूल उत्पादन कम समय में, कम व्यय पर कर सकता है। इस कारण उसका प्रभाव-क्षेत्र शीघ्र समाप्त नही हो जाता। आवश्यकतानुसार परिवर्तन करने के साथ ही बडी मात्रा में उत्पादन करने से वस्तुओ का मूल्य भी कम होता है जिसका प्रभाव उपभोक्ता और उत्पादन दोनो में पडता है। इसमें सबसे बडी विशेषता यह होती है कि उत्पादन-क्षेत्र में श्रम-विभाजन की प्रणाली से काम लिया जा सकता है जो बडी मात्रा में उत्पादन की एक विशेषता है। इससे सारे कारखाने के काम का निरीक्षण सरलता से किया जा सकता है, प्रत्येक श्रम की इकाई (Unit) की उत्पादन-शक्ति का पूर्ण उपयोग हो सकता है और उत्पादक के लाभ की मात्रा बढ सकती है।

हानियाँ (Disadvantages):—द्रव्य का मनुष्य के चरित्र पर बहुत शीघ्र प्रभाव पड जाता है। उद्देश्य में समानता होते हुए भी एक ही कार्यक्षेत्र में प्राय: सघर्ष होता है जिसके मूल में स्वार्थ होता है। अधिक द्रव्य स्व मे

पाने की इच्छा से उत्पादन-क्षेत्र में सामने [illegible]
साझेदारी की भी होती है। साझेदारों में आपस [illegible]
रहती। प्रत्येक साझेदार कम से कम श्रम करके अधिक से अधिक [illegible]
कमाना चाहता है। यदि उत्पादन-क्षेत्र में किसी एक साझेदार का [illegible]
प्रभाव हुआ है तो अन्य साझेदार ईर्ष्या, द्वेष से उसके विरुद्ध [illegible]
हैं। उनका सदा यही प्रयत्न रहता है कि उसका प्रभाव [illegible]
किया जाय या उसे हानि पहुँचाई जाय। साझेदारों में आपस की [illegible]
का परस्पर एकमत होना और [illegible]
सारा कारोबार नष्ट हो जाता है। साझेदारी की [illegible]
कारण किसी साझेदार की मृत्यु हो जाना या दिवालिया हो जाना भी है।
समझौते के अनुसार उक्त दोनों में से किसी एक कारण का प्रभाव [illegible]
समाप्त हो जाता है। इसके साथ ही साझेदारों का दायित्व असीमित होता
है। यदि उद्योग में बड़ी हानि हो जाय तो अधिक धनी साझेदार को अधिक
हानि उठानी पड़ती है। इससे पूंजीपति साझेदारी में रुपया लगाने से
हिचकते हैं जिससे उद्योग की आर्थिक स्थिति दृढ़ नहीं हो पाती और
उसका विस्तार भी नही किया जा सकता है। उत्पादन की मात्रा में वृद्धि
नही की जा सकती जिसका प्रभाव अन्त में उपभोक्ताओं पर पड़ता है।
उद्योग अपना प्रभाव स्थिर नहीं रख सकता है। इससे उत्पादकों अर्थात्
साझेदारो को हानि होती है। वर्तमान उत्पादन प्रणाली में पूंजी का विशेष
महत्व है। जिस उद्योग में पूंजी की मात्रा कम होगी उसका अपनी अस्थिरता
के कारण अधिक टिक सकना असम्भव हो जायेगा। बढ़ती हुई मांग की
पूर्ति के लिये और प्रतिस्पर्धा (Compitition) का सामना कर सकने के लिये
पूंजी की आवश्यकता होती है। साझेदारी में पूंजी की एक निश्चित मात्रा
होती है—साझेदारो द्वारा लगायी गयी पूंजी। उसमें वृद्धि बहुत कम
होती है और अधिक पूंजी प्राप्त करने के अन्य स्रोत नही होते। अतएव
साझेदारी द्वारा उत्पादन का कार्य सीमित होता है, उत्पादन के साधनों में
शीघ्र कोई परिवर्तन नही किया जा सकता है जिससे एक सीमा के बाद
वह उपभोक्ता की माँग और उसकी रुचि के अनुसार नही चल सकता है।
तात्पर्य यह है कि उत्पादको को हानि होने की आशका होती है। यदि
पूंजी बढाने के लिये साझेदारो की सख्या बढा दी जाय तो उनका परस्पर
सहमत होना भी एक समस्या हो जाती है और जिसके अभाव मे उत्पादन
एक दिन भी नही किया जा सकता है। आधुनिक उत्पादन-प्रणाली में
उत्पादक को राष्ट्रीय ही नही अन्तर्राष्ट्रीय उत्पादको की प्रतिस्पर्धा का
सामना करना होता है। साझेदारी से चलनेवाले उद्योगो में इतनी शक्ति
नही होती है इसलिए आधुनिक काल में वे पिछडते जा रहे है।

मिश्रित पूंजी की कम्पनियाँ (Joint Stock Companies)—जैसे-जैसे समाज मे नयी आवश्यकताएँ पैदा होती जाती हैं और उनके अधिक उत्पादन की माँग वढती जाती है उत्पादन-व्यवस्था में परिवर्तन आता जाता है। प्रत्येक उत्पादक सदा इस प्रयत्न में रहता है कि माँग की अधिकाश पूर्ति वह स्वय करे तथा विदेशी वस्तुओ का अपने वाजार में प्रभाव न पडने दे। इसके लिये उसे नवीन उत्पादन-विधियों, नवीन वैज्ञानिक आविष्कारो का प्रयोग करना पडता है, श्रम-विभाजन और वडे पैमाने के उत्पादन की सभी सुविधाओ को जुटाना पडता है और पर्याप्त मात्रा मे पूंजी एकत्रित करनी पडती है। यह सब प्राप्त कर लेने के वाद वह समय के साथ चल सकता है अन्यथा उसका पिछडना और हानि सहना अनिवार्य है। आधुनिक माँग की वृद्धि और रुचि की भिन्नता ने वडे-वडे उद्योगो, कारखानो और अनेक ऐसी उत्पादक-सस्थाओ को जन्म दिया है जिनकी स्थापना में लाखो रुपयो की आवश्यकता होती है। इतना रुपया लगाकर उत्पादक बनना एक व्यक्ति की शक्ति के बाहर की वात है। इसी की पूर्ति के लिये उत्पादन-क्षेत्र में मिश्रित पूंजी की कम्पनियो (Joint Stock Companies) का आगमन हुआ।

ऐसी कम्पनियो की स्थापना अन्य सस्थाओ की तरह आसानी से नहीं हो सकती है। इसकी कार्य-प्रणाली भी अधिक जटिल है। ये कम्पनियाँ प्राय दो प्रकार की होती हैं—(१) निजी लिमिटेड कम्पनियाँ (Private Limited Companies) और (२) सार्वजनिक लिमिटेड कम्पनियाँ (Public Limited Companies)।

निजी लिमिटेड कम्पनियाँ —साझेदारी के अनुसार उत्पादन करके आधुनिक माँग की पूर्ति नही की जा सकती थी। यदि उसकी पूंजी वढाने के लिये साझेदारो की सख्या वढायी जाती तो उनका परस्पर एकमत हो सकना सम्भव न था। साथ ही साझेदारी के अन्तर्गत उद्योग का विस्तार यदि अधिक किया जाता तो उसकी उचित व्यवस्था हो सकना भी सभव नही था और उसके लिये द्रव्य की आवश्यक मात्रा को सग्रह कर सकना भी सभव नही था। अतएव इन्ही सव कठिनाइयो को दूर करने और उद्योग का विस्तार करने के निमित्त उत्पादको की एक नवीन सस्था का जन्म हुआ जिसे निजी लिमिटेड कम्पनियाँ कहते हैं। यह वास्तव मे साझेदारी का अधिक व्यवस्थित और विकसित रूप है। साझेदार उस उद्योग को जिसे उन्होने जन्म दिया और अपनी पूंजी तथा परिश्रम से जिसको वढाया एकदम समाप्त नही होने देते हैं। जव वे साझेदारी के अनुसार उसका प्रवन्ध नही कर सकते है तव कुछ नये साझेदारो को मिलाकर अपने उद्योग को निजी लिमिटेड कम्पनियो के रूप में बदल देते हैं

रजिस्ट्री हो जाने के वाद कम्पनी कानूनी हो जाती है। उनकी अलग की विधियाँ वदल जाती है परन्तु उसके पहले के साझेदार स्वयं ही उनका नियन्त्रण करते है। इन कम्पनियो के सदस्यो की सख्या कम से कम दो और अधिकतम पचास है।

कम्पनियो का सारा शासन तथा नियन्त्रण इन्ही सदस्यों के हाथ में होता है। वे कर्मचारियो की नियुक्ति कर सकते है और उनकी अलग भी कर सकते है। वे स्वय तो ऊँचे पदाधिकारी होते ही है अपने परिवार के सदस्यो या अन्य सम्वन्धियो को अच्छे पदो में नियुक्त करते है। उद्योग का काफी विस्तार हो जाता है, उत्पादन काफी वडे पैमाने में होता है और लाभ की मात्रा भी काफी वढ जाती है। परन्तु ऐसी कम्पनियों का जव अधिक विस्तार हो जाता है और उसकी व्यवस्था के लिये पर्याप्त कोप नही होता है (क्योकि पूंजी प्राप्त करने के स्रोत सीमित होते है) तव ये कम्पनियाँ सार्वजनिक लिमिटेड कम्पनियाँ वना दी जाती है।

सार्वजनिक लिमिटेड कम्पनियाँ:—इन कम्पनियों की स्थापना के लिये विशेष कानूनी कार्यवाही करनी पडती है। इस प्रकार की कम्पनियो की सारी योजना, कुल अनुमानित पूंजी, इत्यादि का पूरा विवरण मिश्रित पूंजी की कम्पनियो के रजिस्ट्रार को देना पडता है और कम्पनी की रजिस्ट्री करानी पडती है। इसकी पूंजी हिस्से वेचकर प्राप्त की जाती है। कुल अनुमानित पूंजी का एक निश्चित भाग एकत्रित करके ये कम्पनियाँ उत्पादन कार्य आरम्भ करती है। पूंजी एकत्रित करने के लिये वेचे जाने वाले हिस्सो का खूव प्रचार किया जाता है, पूंजीपतियो को उनकी पूंजी की सुरक्षा का और अधिक लाभ का विश्वास दिलाया जाता है। हिस्सेदार यदि चाहे तो अपने हिस्से का पूरा मूल्य एक ही समय मे चुका सकता है अन्यथा उसका कुछ भाग पहले देकर शेप जव कम्पनी माँग करे तव दे सकता है। इससे हिस्सेदारो को सुविधा भी होती है और कम्पनी की आर्थिक स्थिति की दृढता पर उनका विश्वास भी वना रहता है।

इसके सदस्यों की सख्या कम से कम सात होनी चाहिये और अधिकतम हिस्सेदारो की सख्या पर कोई वन्धन नही है। हिस्से सव एक ही मूल्य के नहीं होते है इससे हिस्सेदारो की सख्या में काफी वृद्धि होती है। कम्पनी की स्थापना के पश्चात् सव हिस्सेदारो की एक सभा होती है जो अपने सचालको (Directors) का चुनाव करती है। ये सचालक सव हिस्सेदारो के प्रतिनिधि के रूप में उद्योग का सचालन-सगठन करते है और अनुकूल नीतियाँ निर्धारित करते है। कार्य की दृष्टि से इनका वहुत वडा उत्तरदायित्व है। इनके हाथ में हिस्सेदारो की वहुत वडी पूंजी का उपयोग होता है और अपने कार्यों पर उनका विश्वास।

इन कम्पनियो का आधुनिक उत्पादन-प्रणाली मे वहुत वडा महत्व है। इनकी उत्पादन-शक्ति बहुत अधिक होती है और आकस्मिक मांग की पूर्ति भी ये बहुत शीघ्र कर सकते है और विदेशी प्रतिस्पर्धा का सामना कर सकने मे समर्थ होते है।

यह पहले कहा जा चुका है कि इन कम्पनियो के लिये आवश्यक पूंजी हिस्से वेचकर प्राप्त की जाती है। नीचे इन हिस्सो का सक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

हिस्से (Shares)—यह एक प्रकार का प्रमाणपत्र है जिसके आधार पर पूंजीपति इत्यादि किसी उद्योग-धन्धे में रुपया लगाते है। इनको खरीदा-वेचा जा सकता है। इनको खरीदकर कोई भी व्यक्ति कम्पनी के हानि-लाभ का हिस्सेदार हो जाता है। कम्पनी किसी उद्योग की स्थापना के लिये हिस्से बेचकर जो कुल पूंजी एकत्रित करती है उसे हिस्सो की पूंजी (Share Capital) कहते है । ये हिस्से कभी-कभी बराबर मूल्य के होते है और कभी विभिन्न मूल्यो के। मुख्यत इन्हें तीन भागो में बाँटा जा सकता है—(१) रियायती हिस्से (Preference Shares), (२) साधारण हिस्से (Ordinary Shares) और (३) विलम्बित हिस्से (Deferred Shares) ।

रियायती हिस्से:—इन हिस्सो की कुल पूंजी का एक निश्चित प्रतिशत प्रतिवर्ष कम्पनी को इनके हिस्सेदारो को देना पडता है। कम्पनी सबसे प्रथम इनके निश्चित भाग का भुगतान करके शेष भाग में से अन्य साधारण हिस्सेदारो को उनका डिविडेन्ड (Dividend) देती है। रियायती हिस्सो पर दिया जाने वाला डिविडेन्ड चाहे कम्पनी को लाभ कम भी हो अन्य हिस्सेदारो से पहले पूरी मात्रा में चुकाना पडता है। यह रियायती हिस्से दो प्रकार के होते है —(१) साधारण रियायती हिस्से (Ordinary Preference Shares) और (२) जमा होने वाले रियायती हिस्से (Cumulative Preference Shares) ।

साधारण रियायती हिस्से—इनके हिस्सेदारो को निश्चित भाग का कम्पनी को लाभ होने पर सबसे प्रथम भुगतान किया जाता है। परन्तु यदि किसी कारणवश कम्पनी को हानि उठानी पडी तो उस वर्ष इन हिस्सेदारो को इनके निश्चित भाग का भुगतान नही किया जाता है। भुगतान उसी अवस्था मे किया जायेगा जव कम्पनी को लाभ हो।

जमा होनेवाले रियायती हिस्से:—इनके हिस्सेदारो का भुगतान भी साधारण रियायती हिस्सेदारो की तरह ही होता है। परन्तु इसमें विशेषता यह है कि यदि कम्पनी को हानि हो जाय तो इनके हिस्सेदारो

का अपने निश्चित भाग का भुगतान पाने का अधिकार साधारण रियाययती हिस्सेदारो की तरह समाप्त नही हो जाता वरन् वह अधिकार सुरक्षित रहता है और दिया जाने वाला निश्चित डिविडेन्ड प्रतिवर्ष कम्पनी मे इनके हिस्सेदारो के नाम पर जमा होता जाता है और लाभ होने पर उसका एक साथ भुगतान किया जाता है। यदि तीन वर्ष लगातार हानि सहने के वाद कम्पनी को लाभ हो तो सवसे प्रथम इनके हिस्सेदारो को इनके तीनो वर्षो के जमा डिविडैन्ड का और उस वर्ष के डिविडैन्ड का एक साथ भुगतान करना पडेगा। अपने इसी गुण के कारण इन्हें जमा होने वाले रियायती हिस्से कहा जाता है।

इन रियायती हिस्सो के हिस्सेदारो को अधिक जोखिम (Risk) नही उठाना पडता है। अन्य प्रकार के हिस्सो से ये अधिक सुरक्षित है। यदि किसी कारण से कम्पनी 'फेल' हो जाय तो प्राप्त पूंजी में से हिस्सेदारो में सवसे प्रथम इनके हिस्सेदारो का भुगतान कर दिया जाता है। परन्तु जोखिम कम होने से इन हिस्सो से लाभ भी कम होता है क्योकि इन पर डिविडैन्ड की दर प्रतिशत अन्य हिस्सो की दर प्रतिशत से कम होती है।

साधारण हिस्से :—कम्पनी के हिस्सेदारो मे ये द्वितीय श्रेणी के हिस्से होते है। सर्वप्रथम कम्पनी कुल लाभ मे से रियायती हिस्सो के निश्चित भागो का कुल भुगतान कर देती है और फिर शेष में से साधारण हिस्सेदारो को उनका डिविडैन्ड दिया जाता है।

मिश्रित पूंजी की कम्पनियो का आधार ही ये साधारण हिस्से होते है। इनके हिस्सेदारो को रियायती हिस्सेदारो से अधिक जोखिम उठाना पडता है। इन हिस्सो पर दिये जाने वाले डिविडैन्ड की दर प्रतिशत भी अधिक होती है इस कारण इनसे लाभ भी अधिक होता है। इसमें जोखिम और लाभ की मात्रा प्राय वरावर (balanced) है। कारण इनके हिस्सेदारो की सख्या भी अन्य प्रकार के हिस्सेदारो से काफी अधिक होती है और मिश्रित पूंजी की कम्पनियो की कुरा पूंजी का अधिकाश भाग इन्ही हिस्सो को वेचकर एकत्र किया जाता है।

विलम्वित हिस्से :—इन हिस्सो को तीसरी श्रेणी में रखा जाता है। कम्पनी अपने लाभ में से पहले उक्त दोनो प्रकार के हिस्सेदारो के डिविडैन्ड का भुगतान कर देती है और तव अन्तिम भुगतान इन विलम्वित हिस्सो का ही होता है।

इन हिस्सो का मूल्य कम होता है और अधिकतर कम्पनी के आयोजक या निर्माणकर्त्ता इन हिस्सो की अधिक सख्या स्वय खरीद लेते है और अधिक वोटो (Votes) के अधिकारी वन जाते है। कम्पनी

के कानूनो में सुधार होने से पहले कम्पनी के आयोजक इसी रीति से वोटो पर अपना नियन्त्रण रखते थे और सचालको इत्यादि के चुनाव में स्वय चुन लिये जाते थे या अपनी इच्छानुकूल व्यक्तियो को चुनवा सकते थे। यद्यपि इन हिस्सो का मूल्य कम होता है परन्तु इन पर लाभ अधिक होता है।

मिश्रित पूँजी की कम्पनियाँ उक्त प्रकार के हिस्से वेचकर कम्पनी के लिये पूँजी एकत्रित करती है। अपनी आर्थिक स्थिति को दृढ रखने के लिये कम्पनी को अपने हिस्सेदारो मे अपने प्रति विश्वास बनाये रखना पडता है और नियमित रूप से भुगतान करके वे अन्य पूँजीपतियो को अपनी ओर आकृष्ट कर सकते है।

इस प्रकार के हिस्सो को वेचने से जो कुल पूँजी प्राप्त होती है उसे हिस्सो की पूँजी (Share Capital) कहते है। पूँजी कई प्रकार की होती है—(१) निर्धारित पूँजी (Authorised Capital), (२) निर्गमित पूँजी (Issued Capital), (३) प्रार्थित पूँजी (Subscribed Capital) और (४) परिदत्त पूँजी (Paid-up Capital)।

निर्धारित पूँजी :—मिश्रित पूँजी की कम्पनी की स्थापना करने से पहले आयोजको को कम्पनी की पूरी योजना और उसके विभिन्न विवरण मिश्रित पूँजी की कम्पनी के रजिस्ट्रार को देने पडते हैं। कम्पनी के आयोजको को उनमें यह निश्चित रूप से वताना पडता है कि कम्पनी अपने हिस्सो इत्यादि के द्वारा अधिकतम कितनी पूँजी एकत्रित करेगी। इसी अधिकतम पूँजी को कम्पनी की निर्धारित पूँजी (Authorised Capital) कहते है। कम्पनी स्थापित हो जाने के वाद इस अधिकतम पूँजी की मात्रा से अधिक पूँजी एकत्रित नही कर सकती है।

निर्गमित पूँजी :—कम्पनी के आयोजको को प्राय पूँजीपतियों तथा अन्य लोगो को यह विश्वास दिलाना पडता है कि कम्पनी की योजना कोई धोखा नही है। इसलिये हिस्सो को वेचने मे उन्हें वडे धैर्य से काम लेना पडता है। वे कम्पनी के लिये निर्धारित पूँजी को एक बार में इकट्ठा नही कर सकते है। इस कारण वे आवश्यक पूँजी को जो निर्धारित पूँजी का एक निश्चित भाग होता है पहले इकट्ठा करते है। इस पूँजी को निर्गमित पूँजी (Issued Capital) कहते है। कम्पनी की स्थापना करने के लिये इसकी अत्यन्त आवश्यकता होती है।

प्रार्थित पूँजी :—उक्त निर्गमित पूँजी को एकत्रित करने के लिये जो हिस्से वेचे जा चुके है उनकी कुल इकट्ठा पूँजी को प्रार्थित पूँजी (Subscribed Capital) कहते है।

परिदत्त पूँजी :—यह पहले वताया जा चुका है कि हिस्से खरीदने

वालो से आयोजक एक ही बार में पूरी पूंजी इकट्ठा नही कर लेते है। कुछ व्यक्ति अधिक रुपयो के हिस्से खरीदना चाहते है परन्तु रुपया एकदम नही दे सकते है। इनको सुविधा देने के लिये यह प्रबन्ध किया जाता है कि हिस्सो की पूंजी का कुछ भाग प्रार्थित पूंजी के रूप मे इकट्ठा कर लिया जाता है और शेष के लिये कम्पनी आवश्यकता होने पर हिस्सेदारो से मांग कर सकती है। हिस्सेदार खरीदे हुए हिस्सो का जो मूल्य वास्तव में चुका देते है उसे परिदत्त पूंजी (Paid-up Capital) कहते है। इसमें वह पूंजी सम्मिलित नही की जाती है जो हिस्सेदार भविष्य मे देना चाहते है।

मिश्रित पूंजी वाली कम्पनियो के हिस्सो का बराबर मूल्य नही होता है। हिस्से विभिन्न मूल्यो के होते है इससे बडे-बडे पूंजीपति और साधारण मध्यम वर्ग के लोग भी हिस्से खरीद कर किसी भी कम्पनी के हिस्सेदार हो सकते है। हिस्सो के विक्रय-क्षेत्र के व्यापक होने से प्राय बहुत-सी ऐसी पूंजी उत्पादन कार्यों के लिये इकट्ठा की जा सकती है जो इस सुविधा के अभाव में व्यर्थ व्यय हो जाती है। बहुत से ऐसे व्यक्ति जो उद्योगो में पूंजी लगाने से घबराते है हिस्सो के रूप में पूंजी को सुरक्षित समझकर तथा अधिक हानि न होने के भय से सहर्ष पूंजी उत्पादन कार्यो में लगाते है। ये उद्योग की लाभ-हानि के हिस्सेदार बन जाते है परन्तु इन्हें उद्योग का क्रियाशील (Active) सदस्य नही कहा जा सकता है क्योकि ये उत्पादन के प्रबन्ध एवम् सगठन-सचालन मे सक्रिय भाग नही लेते है। कम्पनी के स्थापित हो जाने के कुछ समय पश्चात समस्त हिस्सेदारो की एक सभा होती है जिसमें कम्पनी का सगठन-सचालन करने के लिये सचालको (Directors) का चुनाव किया जाता है जो हिस्सेदारो के प्रतिनिधि के रूप मे उत्पादन कार्य मे सक्रिय भाग लेते है, नीति निर्धारित करते है और प्राय अपनी इच्छा के अनुकूल कार्य करते है। और हिस्सेदार जो दूर-दूर के स्थानो मे रहते है इस विषय में उदासीन रहते है।

मिश्रित पूंजी की कम्पनियो की बढती हुयी सख्या इस बात का प्रमाण है कि ये आधुनिक उत्पादन-प्रणाली के लिये अधिक उपयुक्त है और समय के साथ अपने में परिवर्तन कर सकने की क्षमता रखती है। इनकी सख्या में वृद्धि होने का एक कारण इनके हिस्सो का बेचा जा सकना भी है। यदि किसी हिस्सेदार का उद्योग की सफलता पर से विश्वास उठ जाय या वह उसकी प्रगति से सन्तुष्ट न हो या किसी कारणवश नकद द्रव्य की उसे आवश्यकता हो तो वह बडी सरलता से स्टॉक एक्सचेज (Stock Exchange) नामक सस्था के द्वारा अपने हिस्सो को बेच सकता है।

हिस्सो के मूल्य में घट-वढ होती रहती है और उसी के अनुरूप हिस्सेदार को अपने हिस्सो का मूल्य मिल जाता है। इसके साथ ही हिस्सेदार कम्पनी की वहुत वडी हानि होने पर केवल अपने हिस्सो के मूल्य के वरावर पूँजी खोता है। उसका इससे कोई सम्वन्ध नही होता है कि कम्पनी की पूँजी से ऋण का भुगतान किया जा सकता है या नही। अर्थात् हिस्सेदार का दायित्व परिमित होता है जो इन कम्पनियो के विकास का महत्वपूर्ण कारण है।

मिश्रित पूँजी की कम्पनियो से लाभ और हानि का नीचे सक्षिप्त विवरण दिया जाता है —

लाभ :—आधुनिक उत्पादन-प्रणाली मे वडी मात्रा मे उत्पादन करने का विशेष महत्व है। देशीय व अन्तंदेशीय प्रतिस्पर्धा का सामना करने के लिये उत्पादक को कम से कम व्यय पर अधिकतम उत्पादन करना आवश्यक होता है। इसके लिये मिश्रित पूँजी की कम्पनियाँ अधिक उपयुक्त होती है। हिस्सो को वेचकर वडी मात्रा में उत्पादन कर सकने योग्य पूँजी को सरलता से एकत्रित किया जा सकता है। हिस्सेदारो को अविक पूँजी लगाने का जोखिम नही उठाना पड़ता है। वे, जव उन्हे द्रव्य की आवश्यकता हो, अपने हिस्सो को स्टॉक एक्सचेंज के द्वारा वेच सकते ह। इससे पूँजी प्राप्त करने मे विशेष वाधा नही पडती है। थोड़े मूल्य के भी हिस्से होने से अविक व्यक्ति हिस्सेदार वन सकते है। इसमें विशेष वात यह होती है कि प्रत्येक हिस्सेदार का दायित्व परिमित होता है। अर्थात् यदि कम्पनी को गहरी हानि हो जाय तो ३०० रुपये के हिस्सेदार को अपने हिस्से के मूल्य से अधिक नही खोना पडेगा। यदि हिस्सेदार अपने हिस्से के मूल्य मे से १५० रुपया कम्पनी को दे चुका है तो ऋण चुकाने के लिये उससे १५० रुपया और प्राप्त किया जा सकता है। यदि कुछ हिस्सेदार कम्पनी के अपने हिस्से वेच दे और किसी दूसरी कम्पनी के हिस्सेदार वन जाँय तो इससे पूर्व की कम्पनी को विशेष हानि नही होती है। उसकी स्थिरता में इसका बहुत कम प्रभाव पडता है। साधारण रूप से ऐसी कम्पनियो का जीवन-काल लम्बा होता है।

मिश्रित पूँजी की कम्पनियो की सख्या वढ रही है। यह इस बात का सूचक है कि परिस्थितियाँ इसके अनुकूल है और उत्पादन-क्षेत्र मे इनकी अत्यन्त आवश्यकता है। वर्तमान में मिश्रित पूँजी की कम्पनियो से वड़े-वडे उद्योग चल रहे है जिससे उपभोक्ता और उत्पादक को लाभ हो रहा है और देश की आर्थिक स्थिति भी सुधरती जा रही है। एक जलयान के वनाने में लाखो रुपयो की आवश्यकता होती है और उसके कारखाने को स्थापित करने में जो करोड मे व्यय होगा उसका सहज ही

अनुमान लगाया जा सकता है। यदि मिश्रित पूंजी की कम्पनियो द्वारा उन आवश्यक पूंजी को एकत्रित करने की सुविधा न होती तो जलयान, वायुयान और रेल के इन्जनो के बड़े-बड़े कारखानों का स्थापित होना असम्भव-सा ही हो जाता। मिश्रित पूंजी की कम्पनियां अपने नियमित कार्यों से पूंजीपतियो में विश्वास पैदा कर देती है और हिस्सो को बेचकर ऐसे उद्योगो के लिये पर्याप्त द्रव्य इकट्ठा कर लेती हैं।

मिश्रित पूंजी की कम्पनियो के पास पूंजी की पर्याप्त मात्रा होती है जिससे वे बड़े पैमाने पर उत्पादन कर सकती हैं इससे बैंको के द्वारा भी इन्हे समय-समय पर सहायता मिल जाती है। इससे साख बढ़ती है जिससे दोनो को लाभ होता है। अधिक पूंजी होने से प्रत्येक उद्योग से सम्बन्धित खोज के कार्य (Research) में लाखो रुपया व्यय किया जा सकता है। यूरोप के उद्योगो में खोज के कार्य में काफी व्यय किया जाता है जिससे उत्पादन रीति में सुधार होते हैं, नये आविष्कार होते हैं और नवीन वस्तुएँ उपभोक्ताओं तक पहुँचती रहती हैं। इसी प्रकार ये कम्पनियां अपने उद्योग में बड़े-बड़े विशेषज्ञो को नियुक्ति करती हैं। उनके सुझावो और महत्वपूर्ण कार्यों से स्वय भी लाभ उठाती हैं और उत्पादन-क्षेत्र में अधिकाधिक सुधार सभव हो जाते हैं। इन विशेषज्ञो का वेतन काफी अधिक होता है और अधिकतर केवल मिश्रित पूंजी की कम्पनियो ही उसका भार सह सकने में समर्थ होती हैं। एक व्यक्ति इतनी पूंजी नहीं लगा सकता है। विशेषज्ञता के क्षेत्र में भी ये कम्पनियां श्रम-विभाजन के अनुसार काम करने लगी हैं। तात्पर्य यह है कि उद्योग के प्रत्येक विभाग में अलग-अलग विशेषज्ञ और कुशल इजीनियर इत्यादि को नियुक्त किया जाता है जिससे प्रत्येक विभाग की कार्यक्षमता और कार्यकुशलता बढती है। छोटे उद्योग इस सुविधा का लाभ नहीं उठा सकते हैं। उनके पास सारे उद्योग के लिये एक या दो विशेषज्ञ ही होते हैं जिस कारण कार्य में विशेष प्रगति नहीं हो पाती है। मिश्रित पूंजी की कम्पनियाँ बड़े पैमाने पर उत्पादन करती हैं अतएव वह इस विभाग के व्यय का सरलता से वहन कर सकती है।

मिश्रत पूंजी की कम्पनियो को इन बडी-बडी योजनाओ को कार्यान्वित करने के लिये स्थिर-पूंजी (Fixed Capital) की अधिक आवश्यकता पडती है। यदि उद्योग में स्थिर पूंजी की मात्रा अधिक न हो और नवीन वैज्ञानिक आविष्कारो का पूरा प्रयोग न किया जाय तो उद्योग में क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम का लाभ नही उठाया जा सकता है। उत्पादन में शीघ्र क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू हो जायेगा। इसके साथ ही अन्य दोशो के उद्योगपतियो की प्रतिस्पर्धा से

टक्कर ले सकने के लिये भी स्थिर-पूंजी की पूर्णता अत्यावश्यकीय है। यह सब तभी सम्भव हो सकता है जब उद्योग मिश्रित पूंजी की कम्पनियो द्वारा चलाया जाता हो क्योकि इतनी अधिक मात्रा मे पूंजी उन्ही के द्वारा एकत्र की जा सकती है। अन्य कम्पनियो के पास उतनी स्थिर-पूंजी नही होती और उत्पादन-क्षेत्र मे वे पिछड जाते हैं।

मिश्रित पूंजी की कम्पनी का सचालन एवम् सगठन केवल एक व्यक्ति के हाथो मे नही होता है। हिस्सेदार अपने प्रतिनिधियो (Directors) का चुनाव करते हैं जो हिस्सेदारो की सम्मति से सारा कार्य चलाते हैं। वे उद्योग-धन्धे की समस्याओ से परिचित व्यक्ति होते हैं और कम्पनी उनके अनुभवो का लाभ उठा सकती है।

इन कम्पनियो द्वारा उत्पादन वडे पैमाने में किया जाता है जिससे इस विषय की सभी आन्तरिक और वाह्य मितव्ययता की सुविधाएँ प्राप्त हो जाती हैं। प्रति इकाई उत्पादन-व्यय कम होता है और उपभोक्ताओ को विभिन्न वस्तुएँ सस्ते मूल्य पर मिल जाती है। समाज मे उनका प्रयोग वढता है और रहन-सहन के स्तर पर भी अच्छा प्रभाव पडता है।

हानियाँ :—मिश्रित पूंजी की कम्पनियो से हानियाँ भी अधिक होती हैं। प्रायः व्यवहार मे वहुत से उक्त लाभ हानियो मे परिवर्तित हो जाते हैं। इन कम्पनियो की स्थापना में वहुत-सी कानूनी कार्यवाहियाँ करनी पडती हैं और आयोजक अपनी योजना को कार्यान्वित करने के लिये अच्छी और वुरी दोनो प्रकार की विधियो का प्रयोग करते हैं। यदि सगठन-सचालन की दृष्टि से देखा जाय तो विदित होगा कि कम्पनी कुछ सचालको की स्वतन्त्र इच्छा से चलाई जाती है। सगठन-सचालन का प्रजातान्त्रिक रूप केवल चुनाव तक ही रहता है। आयोजक अधिक हिस्से खरीद कर और कुछ अन्य हिस्सेदारो को अपनी ओर मिलाकर स्वय सचालको का चुनाव जीत जाते हैं और आने वाले प्रत्येक चुनाव में किसी न किसी रीति से चुनाव जीतते रहते हैं। इससे सचालको का उत्पादन मे निरकुश शासन रहता है। अन्य हिस्सेदार कम प्रभावशाली होने से या दूर-दूर के स्थानो मे रहने से अधिकतर कम्पनी के सगठन-सचालन के प्रति उदासीन रहते हैं। सचालक अपने एकाधिकार से अपने निकट-सम्वन्धियो को कम्पनी के ऊँचे पदो पर नियुक्त कर देते हैं। हर विभाग के अध्यक्ष अपने ही आदमी होने के कारण उन्हे कम्पनी की आन्तरिक और वाह्य स्थिति का पूरा ज्ञान रहता है। इसी से ये अच्छी व वुरी परिस्थितियो का पूरा लाभ उठाने से नही चूकते हैं। कम्पनी की स्थिति अधिक विगडने से पहले ही अपने-अपने हिस्सो की पूंजी सुरक्षित कर लेते हैं। साधारण हिस्सेदार इनकी

वालों ने और कम्पनी की वास्तविक दशा से अपरिचित होने से हानि उठाते है।

उद्योग का काफी विस्तार होने से सचालको का नीचे के कर्मचारियो और श्रमिको से अधिक सम्पर्क नही रहता है। प्राय. श्रमिको और उत्पादको का सघर्ष बढता जाता है। इससे श्रमिको की कार्यक्षमता की पर्याप्त हानि होती है। समस्त कर्मचारियो में असन्तोष रहने से उत्पादन के समस्त साधनो का पूरा उपयोग नही हो सकता है। बड़े पैमाने पर उत्पादन होने से इसका बडा व्यापक प्रभाव पडता है। सचालक यदि स्वय उत्पादक है तो अपने उद्योग के प्रति अधिक सजग रहते है और स्वार्थ के वश में होकर कम्पनी के लाभ को गौण स्थान देते है। स्वय कम्पनी की मांग की पूर्ति कमीशन लेकर या अपने ही कारखाने से या अपने सम्बन्धियों के कारखानो से वस्तुएं अधिक मूल्य पर लेकर करते है। उनका उद्देश्य प्रतिनिधित्व के प्रभाव से अनुचित लाभ उठाना हो जाता है। जनता के धन से सट्टेबाजी करके कम्पनी को अनावश्यक जोखिम मे डाल देते है।

यह पहले कहा जा चुका है कि मिश्रित पूंजी की कम्पनियो में पूंजी की एक वडी राशि लगी होती है। उत्पादन वडी मात्रा में किया जाता है। यदि किसी कारण से ससार के उद्योग-धन्धे के व्यवसाय में मन्दी (Depression) आ जाय तो इसका प्रभाव बड़ी कम्पनियो में शीघ्र पडता है। वैज्ञानिक यातायात के साधनो से तथा सवाद की अपूर्व व्यवस्था से ससार के एक कोने की घटना सम्पूर्ण ससार को प्रभावित कर देती है। व्यापार का अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष आज अधिक महत्वपूर्ण हो गया है। यदि युद्ध के कारण या अन्य किसी राजनैतिक एवम् प्राकृतिक कारण से आयात-निर्यात की मात्रा में कमी आ जाय तो मिश्रित पूंजी की कम्पनियो के सम्मुख एक वड़ी समस्या उपस्थित हो जाती है। उत्पादित माल की लाखो इकाइयाँ गोदामो में वन्द हो जाती है या कच्चे माल के न मिलने से उत्पादन वन्द हो जाता है। दोनो ही स्थितियो में कम्पनियो की वहुत वडी मात्रा मे स्थिर पूंजी व्यर्थ हो जाती है क्योकि उत्पादन वन्द कर देना पडता है। परन्तु छोटा उत्पादक अपने कारखाने की स्थिति को सभाल सकता है, पुरानी मशीने वेचकर नयी मशीनो से किसी अन्य वस्तु का उत्पादन कर सकता है। परन्तु वडे-वडे कारखानो में जैसे जलयान, वायुयान या रेल के इञ्जनो के कारखानो में ऐसा कर सकना सभव नही है। इससे कम्पनी को गहरी हानि तो होती ही है, श्रमिक भी एक वडी सख्या में वेकार हो जाते है। उनकी क्रय-शक्ति क्षीण हो जाती है। दूसरी ओर यदि कुछ कारणो से लोगो की रुचि में

परिवर्तन आ जाय और वे दूसरे प्रकार की वस्तुओ का उपभोग अधिक मात्रा मे करने लगें या अन्य प्रतिस्पर्धी की उत्पादन-शक्ति अधिक हो जाय और वह अधिक सस्ते मूल्य में वस्तुओं को बेचने लगे तब भी कम्पनी को हानि उठानी पड़ती है।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मिश्रित पूँजी की कम्पनियो से जिस बड़ी मात्रा में लाभ होता है उसी मात्रा में हानि की सम्भावना भी रहती है। परन्तु यदि उचित निरीक्षण और व्यवस्था का प्रबन्ध हो, उपभोक्ताओ से अधिक सम्पर्क बढ़ाने की विधियो का प्रयोग किया जाय तो वर्तमान की उत्तरोत्तर बढ़ती माँग की पूर्ति के लिये मिश्रित पूँजी की कम्पनियाँ औरो की अपेक्षा अधिक उपयुक्त हैं।

एकाधिकार और ट्रस्ट (Monopoly and Trust)

उद्योग-क्षेत्र में सर्वत्र प्रतिस्पर्धा होती है। प्रत्येक उत्पादक बाजार को अधिकतर अपने प्रभाव मे लाने का प्रयत्न करता है। अपनी वस्तुओ के मूल्य को कम से कम रखने का प्रयत्न करता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होने से उत्पादक को अपने स्वदेशी उत्पादक से ही नहीं विदेशी से भी टक्कर लेनी पड़ती है। इससे प्रायः उत्पादकों का प्रयत्न यह रहा करता है कि किसी वस्तु-विशेष के उत्पादन, वितरण और उसके क्रय-विक्रय का सारा अधिकार उन्हें ही प्राप्त हो जाय। इस एकाधिकार को ही (Monopoly) कहते हैं।

एकाधिकार दो प्रकार के होते हैं। यदि किसी उत्पादक को किसी वस्तु के उत्पादन, वितरण और क्रय-विक्रय में एकाधिकार प्राप्त होता है और उस क्षेत्र में उसका कोई प्रतिद्वन्दी नही होता है तब ऐसे एकाधिकार को पूर्ण एकाधिकार (Absolute Monopoly) कहते हैं। यदि उत्पादन के अधिकांश भाग पर एकाधिकार प्राप्त है तब उसे आंशिक एकाधिकार (Quasi Monopoly) कहते हैं। ऐसी स्थिति में प्रतिस्पर्धा रहती है।

एकाधिकार का वर्गीकरण

उत्पादक का एकाधिकार बाजार (Market) के साथ ही उत्पादन के साधनों पर भी होता है। किसी स्थान पर वांछित उत्पादन के साधन लोहा, कोयला इत्यादि साथ ही मिल जाते हैं। कहीं उत्पादक अपने प्रभाव से अपने लिये एकाधिकार की स्थिति पैदा कर लेते है। एकाधिकार का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया गया है—

प्राकृतिक एकाधिकार (Natural Monopoly) :—इसकी प्राप्ति

के लिये उत्पादक को अधिक प्रयत्न नही करना पडता है। प्रकृति की देन सब स्थानो पर समान नही होती है। कही एक पदार्थ अधिक होता है और कही दूसरा। यदि देश के किसी भाग मे अन्य भागो की अपेक्षा लोहा और कोयला अधिक मात्रा में प्राप्त हो जाय तो यह कहा जा सकता है कि उस भाग को इन खनिज पदार्थों पर प्राकृतिक एकाधिकार प्राप्त है; क्योकि देश के अन्य भागो की माँग की पूर्ति यह भाग इच्छानुसार कर सकता है, इस भाग पर ही लोहे का वहुत वडा उद्योग खुल सकता है जिस पर इस भाग की सरकार का पूर्ण नियन्त्रण सभव हो सकता है। जूट का आधुनिक काल में विशेष महत्व है। भारत में जूट की पैदा-वार वहुत कम होती है और इसके मुख्य उपजाऊ भाग पाकिस्तान के भाग है। प्राय वगाल में जूट की वहुत उपज होती है। इस कारण यह कहा जा सकता है कि वगाल को जूट पर एकाधिकार प्राप्त है।

सामाजिक एकाधिकार (Social Monopoly) —सारे समाज के उपयोग में आनेवाली वहुत सी ऐसी अनिवार्य वस्तुएँ होती है जिनके उत्पादन और वितरण का अधिकार यदि अनेक उत्पादको को दे दिया जाय तो सारे समाज को उनकी प्रतिस्पर्धा और कार्यकुशलता की कमी से हानि उठानी पडेगी। इसलिये अधिकतर ऐसी वस्तुओ का उत्पादन समाज की प्रतिनिधि सस्थाएँ अपने अधिकार में ले लेती है और अन्य साहसी उनका उत्पादन नही कर सकता है। इलाहावाद में सारे नगर की विजली की माँग की पूर्ति करने का *U. P. Electric Supply Co.* को पूर्ण एकाधिकार प्राप्त है। यह एकाधिकार उसे समाज की ओर से दिया गया है। यदि नगर में पानी का वितरण और उसका सम्पूर्ण प्रवन्ध म्यूनिसिपिल वोर्ड के अधिकार में ही हो तो सामाजिक सस्था होने से उसके एकाधिकार को सामाजिक एकाधिकार कहेंगे। अधिकतर सामाजिक एकाधिकार में उत्पादन में वृद्धि और वितरण की सुगमता होती है।

कानूनी एकाधिकार (Legal Monopoly) :—यह एकाधिकार कानून के द्वारा उत्पन्न किये जाते है। यदि किसी कारखाने ने कोई नवीन मशीन का आविष्कार किया हो तो उस कारखाने के प्रवन्धक उस मशीन को पेटेन्ट कर लेते है। इससे कोई अन्य कारखाना उस प्रकार की मशीनो का उत्पादन नही कर सकता है। प्राय प्रत्येक मशीन और अधिकतर औषधियाँ पेटेन्ट होती है। उनके उत्पादन तथा वितरण पर उन्ही कारखानो का पूर्ण कानूनी एकाधिकार होता है। लेखक इत्यादि अपनी पुस्तक पर यह एकाधिकार कापीराइट के रूप मे रखते है। विना लेखक की आज्ञा के कोई प्रेस उस पुस्तक को नही छाप सकता है। इसी प्रकार वस्तुओ के नाम तथा ट्रेड-मार्क भी पेटेन्ट करा लिये जाते है।

एकाधिकार कई रूप ले सकता है। यह रूप प्रत्येक देश में विभिन्न प्रकार के होते हैं और इन विभिन्न रूपों की लाभ और हानियाँ भी विभिन्न है। एकाधिकार के कुछ रूपो का वर्णन नीचे किया गया है।

ट्रस्ट :—इसका प्रचलन अधिकतर अमेरिका में हुआ। अनेक उत्पादक गहरी प्रतिस्पर्धा (Cut-throat Competition) से बचने के लिये एक ट्रस्ट का निर्माण करते थे और इस ट्रस्ट के सदस्य अर्थात् ट्रस्टीज (Trustees) ही उत्पादन और व्यापार की सारी नीतियाँ निर्धारित करते थे तथा उत्पादन और वितरण पर पूर्ण नियन्त्रण रखते थे। कुछ कारणवश अमेरिकी सरकार ने इसे गैर कानूनी घोषित कर दिया।

कार्टल (Cartel) :—इसका प्रचलन जर्मनी में हुआ। इसके अन्तर्गत अनेक उत्पादक परस्पर एक निश्चित समय के लिये ज्वाइन्ट सेलिंग कम्पनी (Joint Selling Company) का निर्माण करते हैं और प्रत्येक उत्पादक के उत्पादन के विक्रय का प्रबन्ध करते हैं। इससे सारे उत्पादन पर ज्वाइन्ट सेलिंग कम्पनी का एकाधिकार हो जाता है। इसमें स्थिरता नही होती।

भारतवर्ष में उक्त दोनो में से कोई भी संस्था पूर्ण रूप से कार्य नही करती है।

ट्रस्ट दो प्रकार के होते हैं जिन्हें शीर्ष (Vertical) और क्षैतिज (Horizontal) ट्रस्ट कहते हैं। शीर्ष ट्रस्ट उस कम्पनी या उत्पादन संस्था को कहते हैं जो अपने उत्पादन के लिये कच्चे माल से लेकर पक्के माल तक का उत्पादन स्वयं करती है। यदि कपडे के उत्पादको का ट्रस्ट कपास की खेती से लेकर कपडो की रंगाई, छपाई व वितरण स्वय करे तो उसे शीर्ष ट्रस्ट कहेंगे। परन्तु यदि केवल समान वस्तु का उत्पादन करनेवाले परस्पर ट्रस्ट का निर्माण करेंगे तो उसे क्षैतिज ट्रस्ट कहा जाता है। उदाहरणार्थ कपडे, तेल तथा चीनी के उत्पादक परस्पर जो अलग-अलग ट्रस्ट बनायेंगे उन्हें क्षैतिज ट्रस्ट कहेंगे।

ट्रस्ट का काम एक बोर्ड चलाता है जिसे बोर्ड आफ ट्रस्टीज (Board of Trustees) कहते हैं। इसका निर्माण हो जाने के बाद उत्पादन तथा वितरण में बोर्ड आफ ट्रस्टीज का पूर्ण एकाधिकार हो जाता है।

उक्त दोनो प्रकार के ट्रस्टों का निर्माण करने के कुछ मुख्य कार निम्नलिखित हैं :—

शीर्ष ट्रस्टो का निर्माण उत्पादन की स्थिरता को बनाये रखने लिये होता है। प्राय. उत्पादन के लिये आवश्यक कच्चा माल नही मिल पाता है। युद्ध के कारण या यातायात की कठिनाइयो के कारण यदि समय पर कच्चा माल प्राप्त न किया जा सका तो उत्पादन को गहरी हानि

उठानी पडेगी। इसलिये इस अनिश्चितता को दूर करने के लिये शीर्ष ट्रस्टो का निर्माण किया जाता है। वहुत से ऐसे भी उद्योग है जिनमें वस्तुएँ उत्पादन के वाद लम्वी अवधि तक नही रखी जा सकती जैसे-फल, तरकारी, घी इत्यादि। इनकी उपयुक्त समय पर पूर्ति कर सकने के लिये तथा इन्हें सडने से वचाने के लिये भी उक्त ट्रस्ट वनाये जाते है। इसके साथ ही समान उद्योग होने से टैकनिकल सुविधाओ का भी सरलता से उपयोग किया जा सकता है।

क्षैतिज ट्रस्ट का निर्माण करते समय उत्पादको की दृष्टि मे परस्पर की गहरी प्रतिस्पर्धा की हानियो का भय रहता है। यदि प्रत्येक उत्पादक अधिकतम उत्पादन करता जाय तो वहुत शीघ्र आवश्यकता से अधिक उत्पादन हो जायेगा जिससे वस्तुओ के मूल्य कम होने लगेंगे। इस हानि से वचाने के लिये इस प्रकार के ट्रस्ट वहुत सहायक होते है। इसके साथ ही टैकनिकल सुविधाओ का सरलता से उपयोग करके अपने उत्पादन को वढा सकते है तथा उत्पादित वस्तु के गुणो में वृद्धि कर सकते है।

संघ (Pool).—एकाधिकार के अन्तर्गत एक सस्था और कार्य करती है जिसे सघ (Pool) कहते है। समान वस्तु का उत्पादन करनेवाली विभिन्न कम्पनियो के द्वारा उत्पादित माल को इस सस्था में एकत्रित किया जाता है और वेचा जाता है। माल के विक्रय के उपरान्त कम्पनी इसमे से प्रत्येक सदस्य को उसके माल की पूर्ति के अनुपात में लाभ वाँट देती है। इससे यह लाभ होता है कि प्रतिस्पर्धा कम हो जाती है और वस्तुओ के मूल्य के गिरने से होनेवाली हानि से उत्पादक वच जाते है।

एकाधिकार के लाभ और हानियो का विवरण नीचे दिया गया है।

लाभ :—एकाधिकार प्राप्त करना उत्पादक की वहुत वडी सफलता है। वह इसके द्वारा वहुत वडी मात्रा में लाभ प्राप्त कर सकता है। उसके अन्य प्रतिस्पर्धी न होने से उपभोक्ता की आवश्यकताओ की पूर्ति उसके ऊपर निर्भर होती है। वह अपनी उत्पादित वस्तु के वाजार पर पूर्ण नियन्त्रण रखता है और उपभोक्ताओ की माँग की मात्रा, उनकी रुचि इत्यादि से पूर्ण परिचित रहता है तथा उसी के अनुपात में उत्पादन करता है। प्राय वडी मात्रा में उत्पादन करने का परिणाम यह होता है कि वस्तु का आवश्यकता से अधिक उत्पादन हो जाता है जिससे उत्पादक को वस्तुओ का मूल्य कम हो जाने से हानि उठानी पडती है और अधिक उत्पादन रोकने के लिये कारखाने वन्द करने पडते है। इससे उसे मजदूरो की वेकारी की समस्या का भी सामना करना पडता है। एकाधिकार प्राप्त हो जाने से वह इन कठिनाइयो से वच जाता है। उसका

उत्पादन निश्चित योजना के अनुसार होता है जिससे हानि होने की कम सम्भावना होती है। एकाधिकार के अन्तर्गत अनेक प्रकार की संस्थाएँ कार्य करती हैं जिनका हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं। उन सबका मुख्य ध्येय लाभ की मात्रा बढाना और व्यापार व्यवस्थित करना होता है।

हानियाँ :—एकाधिकार से हानियाँ गंभीर होती हैं। यदि समाज में अनेक उत्पादक समान वस्तुओ का उत्पादन कर रहे हो तो उनमें उपभोक्ता को अपनी ओर अधिक आकर्षित करने की प्रवृत्ति रहती है। वस्तुओं के मूल्य कम रहते हैं और बाजार में उनके विभिन्न प्रकार प्राप्त हो सकते हैं। परन्तु एकाधिकार प्राप्त करते ही बडे उद्योगपति छोटे उत्पादको को समाप्त कर देते हैं। छोटे उत्पादक उनकी प्रतिस्पर्धा में नही टिक सकते हैं जिससे एकाधिकारी को उपभोक्ता का शोषण करने का पूरा अवसर मिल जाता है। उनके उद्योगो के बन्द हो जाने से बेकारी बढती है, लोगो की क्रय-शक्ति क्षीण हो जाती है। वह वस्तु के दाम मनमाना बढा सकता है और अधिक मांग के समय पूर्ति को कम करके उपभोक्ताओ को अधिक मूल्य देने के लिये विवश कर सकता है। एकाधिकारी उपभोक्ताओ को प्रसन्न करने की चिन्ता नही करता वरन् उसका उद्देश्य तो अच्छे व बुरे ढग से अधिकतम लाभ कमाना होता है। एकाधिकार अधिकतर वे उद्योगपति ही प्राप्त कर सकते हैं जिनकी आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी होती है। वे इससे अधिक धनी होते जाते है जब कि निर्धन मजूर बेकारी होने से, छोटे उत्पादको के उद्योग बन्द करने से और उपभोक्ता वस्तुओ के अधिक मूल्य देने से, आर्थिक दृष्टि से अधिक निर्बल होते जाते हे। इसमें पूंजीवादी प्रथा की समस्त बुराइयाँ निहित होती है। बडे-बडे पूँजीपति देश के राजनैतिक दलो को सहायता देते हैं, अपने प्रभाव से ऐसे नियम बनवा लेते हैं जिससे उनके व्यापार का प्रसार हो सकता है, और उनके लाभ में वृद्धि हो सकती है। सक्षेप में एकाधिकारी हर प्रकार से जनता का शोषण (Exploitation) करते हैं।

राज्य द्वारा उत्पत्ति

(State Enterprise)

उत्पादन-क्षेत्र में उक्त प्रकार की व्यक्तिगत उत्पादन सस्थाओं से अनेक बुराइयाँ फैली हुई हैं। प्रत्येक उत्पादक का उद्देश्य अधिक लाभ कमाना होता है, उनमें पारस्परिक प्रतिस्पर्धा से उद्योग-धन्धो का उचित विकास नही हो पाता है और अधिकतर उद्योग-धन्धे शीघ्र ही असफल होकर समाप्त हो जाते हैं। प्रत्येक उत्पादक अपने श्रमिको को लगभग दास ही समझता है, उनके परिश्रम से स्वयं लाभ कमाकर उनके स्वास्थ्य

[illegible] निर्माण के प्रति [illegible] भाव भी निश्चित नहीं रहता है। श्रमिक और उपभोक्ता दोनों का शोषण किया जाता है। उत्पादन से हुआ कुल लाभ देश के निर्माण और विकास में व्यय न किया जाकर व्यक्तिगत लाभ के लिये व्यय किया जाता है [illegible] को ही फल रहता है। इन सब बुराइयों को देखकर कुछ देशों में यह प्रयत्न किया गया है कि उत्पादन-प्रणाली का इस प्रकार से संगठन किया जाय जिससे देश की जनता का अधिक से अधिक लाभ हो सके। इस प्रणाली के अन्तर्गत राज्य स्वयं उत्पादन कार्य करता है।

राज्य द्वारा उत्पादन किये जाने से अनेक लाभ हैं। राज्य देश की आवश्यकताओं से सदैव भली प्रकार परिचित होता है। उसको किसी प्रतिस्पर्धी का भय नहीं होता है। जनता की राष्ट्रीय भावना का प्रबल सहयोग राज्य को प्राप्त होता है। व्यक्तिगत उत्पादन की विधियों से एवं पूंजीवादी व्यवस्था से जनता के श्रम का जो अनुचित लाभ उठाया जाता है वह बन्द हो जाता है। इन प्रणालियों के अन्तर्गत जो बुराइयाँ होती हैं वे समाप्त हो जाती हैं। उत्पादन में अधिक लाभ होने पर श्रमिकों का वेतन बढ़ेगा, उपभोक्ता जनता को कम मूल्य पर अच्छी वस्तुएँ प्राप्त हो सकेंगी; उसे धोखे का भय न रहेगा। यह विश्वास जीवन के अन्य व्यापारों में स्थिरता लाता है। राज्य का उद्देश्य अधिक लाभ कमाना नहीं वरन् जनता के सुख में वृद्धि करना होता है।

व्यक्तिगत-उत्पादन प्रणाली में अनिश्चितता के कारण अधिक पूंजी शीघ्र एकत्रित नहीं हो सकती है। परन्तु राज्य के सामने यह समस्या नहीं रहती है। उसके प्रयत्नों से देश के कच्चे माल तथा अन्य प्राकृतिक शक्तियों का पूर्ण उपयोग किया जा सकता है जिससे उत्पादन की सारी क्रिया पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। सारी क्रिया राज्य के नियन्त्रण में में होती है। अतएव भ्रष्टाचार का भय नहीं रहता और न कोई अनुचित लाभ ही उठा सकता है। राज्य उत्पादन के साथ ही श्रमिक वर्ग के जीवन के विकास की ओर विशेष ध्यान देता है जिससे उसकी कार्यकुशलता और कार्यक्षमता में पर्याप्त वृद्धि होती है।

ससार के अनेक समाजवादी देशों मे इसी प्रणाली से उत्पादन किया जाता है। उनका दावा है कि इस प्रणाली से जनता मे धनी अधिक धनी और निर्धन अधिक निर्धन न होंगे वरन सब जीवन के विकास की ओर एक साथ अग्रसर होंगे और श्रमिक के प्रति जो एक घातक भावना पूंजीवादी देश में फैली होती है उसका समूल नाश किया जा सकता है। देश के जीवन में सुख और समृद्धि की वृद्धि होती है।

परन्तु इन सब बातो के होते हुए भी इसके विरुद्ध अनेक तर्क प्रस्तुत

किये जाते हैं। अधिकतर यह कहा जाता है कि राज्य यदि उत्पादन-कार्य आरम्भ करेगा तो इससे व्यक्तिगत योग्यता, सूझ, उत्साह, साहस इत्यादि का कुछ महत्व नही रह जायगा। इससे देश की कार्य-क्षमता और कार्यकुशलता का विकास नही हो सकेगा। जनता की सगठन और सचालन-शक्ति का ह्रास हो जायगा। मनुष्य मशीन के पुर्जे की तरह राज्य के प्रधान कर्मचारियो के सकेत पर परिचालित होगा। उसे भोजन, वस्त्र तो अवश्य मिलेगा परन्तु उसका सन्तोष उसकी जिज्ञासा को समाप्त कर देगा जिसके बल पर मनुष्य सभ्य मनुष्य हो सका है।

उक्त आरोपो के मूल में मनुष्य के स्वतन्त्र-विकास की माँग है। परन्तु मनुष्य का स्वतन्त्र-विकास तब तक सभव नही हो सकता है जब तक उसकी आर्थिक स्थिति अच्छी न हो, उसे आने वाले कल मे अर्जन कर सकने का विश्वास न हो और समाज में उसकी गति को रोकने के लिये अप्राकृतिक, कृत्रिम बन्धन न हो। यदि पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली मे समाज के विकास का अध्ययन करेंगे तो विदित होगा कि समाज आर्थिक दृष्टि से कुछ अधिक पूंजी वाले उत्पादको का दास है। उसमें छोटे-बड़े अनेक वर्ग बने है जिनकी शक्ति का मापदण्ड पूंजी है। इन वर्गों के पार-स्परिक सघर्ष से समाज की अत्यन्त हानि होती है। शोषण और स्वार्थ की प्रधानता मनुष्य को लगभग निराशावादी बना देती है। परन्तु इतना अवश्य होता है कि कुछ व्यक्तियो को अपनी अधिक पूंजी के कारण समाज को दरिद्र करके अधिक लाभ कमाने की स्वतन्त्रता रहती है। यदि राज्य उत्पादन और वितरण का प्रबन्ध स्वय करने लगे तो सारा काम योजनानुसार होने से श्रमिको का अवश्य लाभ होगा। उनको शारीरिक परिश्रम कम करना पडेगा, खाली समय मे मानसिक विकास के लिये उचित व्यवस्था होने से उसकी कार्यकुशलता और समझ का विकास होगा। कुल लाभ राज्य का होगा जिसका उपयोग नये उद्योगो और निर्माण के कार्य में होगा जिससे बेकारी कम होती जायगी। मनुष्य अपने परिश्रम से अपने कार्य-क्षेत्र मे काफी उन्नति कर सकेगा। उसे अपने श्रम का उचित मूल्य मिलेगा जिस पर वह अपने तथा अपने परिवार के सुखमय भविष्य की नीव रख सकेगा।

'राज्य द्वारा उत्पादन' एक भ्रामक वाक्याश है। केवल इतने से ही इस प्रणाली के लाभ और हानियो का वर्णन नही किया जा सकता है। अतएव जब राज्य द्वारा उत्पादन की प्रणाली पर विचार करते है तो हमें यह निश्चय कर लेना चाहिये कि वह राज्य प्रजातन्त्र, फासिस्ट, तानाशाह और समाजवादी में से कौन-सा है; क्योकि शासन-प्रणाली के अनुकूल ही उत्पादन-प्रणाली को होना पड़ता है।

सहकारी उत्पादन

(Co-operative Organisation)

आधुनिक काल में उत्पादन की कई विधियो का प्रयोग हो चुका है। पूंजीवादी तथा समाजवादी उत्पादन-प्रणालियो का ससार के वहुत वडे भाग में आज भी प्रयोग चल रहा है। परन्तु इन दोनो छोरो के वीच भी उत्पादन की एक विशेष प्रणाली का प्रयोग हो रहा है। इस प्रणाली को सहकारी उत्पादन की प्रणाली कहते है।

श्रमिक लोग उत्पादको से सन्तुष्ट नही रहते है क्योकि उत्पादक उनके श्रम का उचित मूल्य न देकर उनके द्वारा किये किये गये उत्पादन का लाभ स्वय ले लेता है। अधिक लाभ कमाने के लिये वह नवीन वैज्ञानिक आविष्कारो का प्रयोग करता है जिससे अधिक सख्या में श्रमिक बेकार हो जाते है। उत्पादक उनके श्रम का शोषण करके भी उन्हे कुछ सुविधाएँ नही देता है। तात्पर्य यह है कि उत्पादक और श्रमिक के सम्वन्ध कभी अच्छे नही रहते है। श्रमिको को उत्पादको और एकाधिकारियो के घेरे से मुक्त करने के लिये सहकारिता का आन्दोलन आरम्भ किया गया। इसका मुख्य उद्देश्य श्रमिको की आर्थिक एवँ सामाजिक दशा सुधारना है।

सहकारी-उत्पादन-प्रणाली के अनुसार उत्पादन के सगठनकर्ता, सचालक, मजूर, क्रेता और विक्रेता सव श्रमिक ही होते है। इनका उद्देश्य वडे पैमाने में उत्पादन करना नही होता है। प्राय श्रमिक अपनी थोडी पूंजी से हिस्से खरीद कर और कुछ पूंजी राज्य से ऋण लेकर एक कारखाना या कोई उद्योग आरम्भ करते है। अधिकाश श्रमिक उसके हिस्सेदार होते है। वे परस्पर अपना काम चलाने के लिये कर्मचारी चुनते है। यदि उद्योग मे लाभ होता है तो प्रत्येक श्रमिक उसमें हिस्सेदार होता है और इसी प्रकार हानि में भी। इस प्रकार उद्योग में लाभ सवका लाभ और उद्योग में हानि सव की हानि होती है। इस प्रणाली से उत्पादकों और श्रमिको मे अन्तर नही होता है।

लाभ:—यह प्रणाली एक आदर्श है। श्रमिक उत्पादक और श्रमिक दोनो ही होने से काम वडे परिश्रम से करता है। उसके दोनो स्वार्थ एक हो जाते है और जव वह परिश्रम करता है तो यह सोचता है कि वह परिश्रम अपने लाभ के लिये कर रहा है। इसलिये वह अधिक क्षमता और कुशलता से काम करना चाहता है जिससे लाभ में वृद्धि हो। उत्पादक और श्रमिको का सघर्ष इसमें नही होता है इससे उत्पादन-कार्य में बाधा नही पडती है। श्रमिक और उसके द्वारा निर्वाचित कर्मचारियो में कुछ अन्तर नही होता है। सव परस्पर समानता का व्यवहार करते है।

यदि उद्योग में लाभ हो तो सभी हिस्सेदार श्रमिक उसमे हिस्सेदार होते हैं और इसी प्रकार हानि में भी। इससे उनका शोषण नही होता है। जो कुछ वे परिश्रम करते है अपने लाभ के लिये करते है।

हानि:—इस प्रणाली से हानियाँ भी अधिक होती हैं। श्रमिकों के पास पूँजी एकत्रित करने के पर्याप्त साधन नही होते है जिससे अधिक पूँजी एकत्रित नही की जा सकती है। उत्पादन छोटे पैमाने पर किया किया जाता है जिससे प्रति इकाई उत्पादन-व्यय अधिक होता है। श्रमिक उत्पादन सम्बन्धी सगठन एव सचालन की अधिक योग्यता नही रखते है और उत्पादन-क्षेत्र में यही योग्यता सफलता का आधार होती है। प्राय प्रत्येक श्रमिक अपने को उद्योग का स्वामी समझता है अतएव अपने द्वारा चुने गये श्रमिक उच्च कर्मचारियो की आज्ञा का पालन करना आत्म-सम्मान के विरुद्ध समझता है। इससे सारे उद्योग मे अनुशासनहीनता फैलती है। कभी-कभी उत्पादन की नीतियो एवं रीतियो मे ऐसे लोग हस्तक्षेप भी करते है जिनका तत्सम्बन्धी ज्ञान शून्य होता है। इससे उत्पादन की सारी क्रिया में गडबडी हो जाती है।

परन्तु यह हानियाँ उनकी अशिक्षित अवस्था के कारण होती हैं। यद्यपि उनमें सहयोग की भावना की कमी नही है परन्तु उचित शिक्षा और ट्रेनिंग का अभाव है। इसके साथ ही उनके इस कार्य के लिये अन्य उत्पादन-प्रणालियो को बन्द करना पडेगा। यह स्वाभाविक है कि अपनी छोटी पूँजी से आरम्भ किये उद्योग से वे किसी एकाधिकारी या मिश्रित पूँजी की कम्पनी की प्रतिस्पर्धा का सामना नही कर सकते है। उनसे यह भी आशा नही की जा सकती है कि प्रारम्भ से ही बडी मात्रा में उत्पादन आरम्भ कर दें। तात्पर्य यह है कि उक्त दोनो प्रकार की प्रणा-लियाँ अधिक समय तक साथ नही चल सकती है और प्रबल उद्योग सस्था निर्बल को अवश्य समाप्त कर देगी। इस आन्दोलन की सफलता तभी हो सकती है जब श्रमिक वर्ग को उपयुक्त शिक्षा प्राप्त हो और सहकारी उद्योग देश में प्रत्येक स्थान पर स्थापित किये जायँ, व्यक्तिगत उत्पादन संस्थाओ को राज्य सुविधाएँ न दे और सहकारी सस्थाओ के विकास के लिये उचित प्रबन्ध करे। अन्यथा आन्दोलन की असफलता निश्चित ही है।

अभ्यास के प्रश्न

१. औद्योगिक सगठन से उत्पादन क्रिया की क्षमता में क्या प्रभाव पडता है? सक्षेप में वर्णन कीजिये।

२. साझेदारी, निजी लिमिटेड कम्पनी और सार्वजनिक लिमिटेड कम्पनी में क्या विशेष अन्तर है? संक्षेप में समझाइये।
३. मिश्रित पूंजी की कम्पनियों की क्या विशेषता है? उनके लाभ और हानियों का विस्तार से वर्णन कीजिये।
४. संघ, ट्रस्ट और कार्टेर क्या हैं? इनमें परस्पर क्या विशेष अन्तर है?
५. राज्य द्वारा उत्पत्ति से आप क्या समझते हैं? उसके लाभ और हानियों पर प्रकाश डालिये।
६. सहकारी-उत्पादन-प्रणाली की विशेषताएँ लिखिये। उनके भविष्य पर अपने विचार प्रकट कीजिये।

अध्याय ५२

वितरण (Distribution)

साधारण अर्थ में वितरण से हमारा तात्पर्य किसी वस्तु के बाँटने से होता है। यदि सामूहिक खेती की उपज को अनेक कृषको मे बाँटा जाय, किसी मिल या कारखाने द्वारा उत्पादित वस्तुओ को देश के विभिन्न व्यापारियो में बाँटा जाय और उन व्यापारियो द्वारा वस्तु शहर या ग्राम के विभिन्न उपभोक्ताओ तक पहुँचायी जाय तो इन सब क्रियाओं को हम वितरण के अन्तर्गत ही समझते है। वर्तमान समय मे खाद्यान्न इत्यादि मे नियन्त्रण लग जाने से आवश्यक सामग्री का सरकारी दूकानो से वितरण किया जाता है। शहर के एक विजलीघर से बिजली की शक्ति का अनेक कारखानो, उद्योग-धन्धो इत्यादि में वितरण किया जाता है। वस्तु का वितरण मूल्य लेकर भी किया जाता है और विना मूल्य के भी। इस प्रकार वितरण से केवल एक वात स्पष्ट होती है कि इसके द्वारा वस्तु के उपभोग का अधिकार एक से अधिक व्यक्तियो को दिया जाता है। परन्तु अर्थशास्त्र में वितरण शब्द का विशेष अर्थ में प्रयोग किया जाता है।

वितरण उसी वस्तु का किया जा सकता है जिसका उत्पादन किया गया हो। यह पहले वताया जा चुका है कि उत्पादन कुछ पदार्थों के सग्रह करने से नही हो जाता वरन् उसके लिये उत्पादन के पाँचो साधनो—भूमि, श्रम, पूंजी साहस और सगठन की आवश्यकता होती है। प्रत्येक साधन का अपना व्यापक क्षेत्र है। सामान्य रूप से जिस प्रकार सामूहिक खेती करने के पश्चात् उत्पादित अन्न राशि का कृषक परस्पर बँटवारा करते है उसी प्रकार यदि उत्पादन के पाँचो साधनो के सयोग से किसी वस्तु का उत्पादन किया जाता है तो उक्त पाँचो साधनो को उत्पादित वस्तु को परस्पर बाँट लेने का पूरा अधिकार है।

उत्पादन के अध्याय में वताया जा चुका है कि प्रारम्भ में उत्पादन वैयक्तिक होता था। प्रत्येक व्यक्ति स्वय उत्पादक, श्रमिक, पूंजीपति और साहसी एवं सगठनकर्त्ता होता था। वह अपने उपभोग के लिये उत्पादन करता था। इसलिये उसके सामने वितरण की समस्या नही थी। उत्पादन की विधियो में परिवर्तन होने से, माँग में वृद्धि होने और वैयक्तिक उत्पादन के स्थान पर वडी मिलो और कारखानो के स्थापित हो जाने से वितरण

की समस्या उत्पन्न हुई है और क्रमशः जटिल होती जाती है। पहले एक जुलाहा अपने ताने-बाने में उलझा एक दिन में कुछ गज कपडा बुनकर सन्तोष कर लेता था और उससे हुई आमदनी से अपना काम चलाता था परन्तु वर्तमान समय में कपडे बुनने की बडी-बडी मिलें है जिनमें सहस्रों श्रमिक काम करते हैं, बडी-बडी मशीनें चलती है और लाखों गज कपड़े का प्रतिदिन उत्पादन किया जाता है। पहली स्थिति में जुलाहा अपनी आमदनी को इच्छानुसार व्यय कर सकता है पर दूसरी स्थिति में उत्पादक को अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडता है।

प्राय अर्थशास्त्र में उत्पादन के पांचो साधन बडे महत्त्व के है। इन साधनो की सहायता से ही वस्तु का उत्पादन किया जाता है। अतएव यह सरलता से कहा जा सकता है कि कुल उत्पत्ति को इन्ही प्रयुक्त साधनो में परस्पर बांट दिया जाय। इस प्रकार वितरण करने में हमें प्रत्येक साधन के कुल कार्य की माप करनी पडेगी। यह सरल कार्य नही है।

वर्तमान उत्पादन-प्रणाली में उत्पादक अपनी कुल उत्पादित सम्पत्ति का वितरण नही कर सकता है और न कुल सम्पत्ति का स्वयं उपभोग ही। उसे अपने उद्योग-धन्धे के सभी साधनो को सन्तुष्ट करना पडता है, मशीनो की टूट-फूट के लिये, कच्चे माल का क्रय करने के लिये, यातायात के साधनो तथा भविष्य के भय मे बीमा इत्यादि करने के लिये अपनी कुल सम्पत्ति का एक भाग व्यय करना पडता है। उत्पादन प्राय. बडी मात्रा में किया जाता है जिसका तुरन्त विक्रय हो सकना सम्भव नही है। उसके विपरीत उसे श्रमिको, कच्चे माल, मशीन इत्यादि पर निरन्तर व्यय करना पडता है। बाजार में उसे अनेक देशी-विदेशी उत्पादकों की प्रतिस्पर्धा का सामना करना पडता है। उपभोक्ताओ की रुचि और उनकी क्रय-शक्ति का भी उसके उत्पादन में गहरा प्रभाव पडता है। वह उत्पादन सदा भविष्य की माँग और उस समय के सम्भावित मूल्य को दृष्टि में रखकर करता है; यदि यह अनुमान ठीक न निकला तो उसे हानि का भय भी रहता है। इन सब समस्याओ से भी उसका वितरण कार्य जटिल होता जाता है।

वर्तमान समय मे वितरण का प्रश्न सबसे अधिक महत्त्व का है। उत्पादन-क्षेत्र का संघर्ष, श्रमिको में असन्तोष इत्यादि इसी वितरण की समस्या के लघु रूप है। समाजवादी विचारधारा से प्रभावित श्रमिको का यह दावा है कि उत्पादन के प्रमुख साधन वे ही हैं और उत्पादित सम्पत्ति के अधिकाश भाग पर उनका अधिकार है। वे अपनी मजूरी में वृद्धि चाहते है, बोनस व अन्य प्रकार की सुविधाओ के लिये माँग करते है। उत्पादन अनेक साधनो की सयुक्त शक्ति से ही सम्भव हो सका है।

अतएव अन्य साधनो द्वारा कुल सम्पत्ति में अपना अधिकार माँगना अनुचित नही कहा जा सकता है। वितरण का समाज की आर्थिक अवस्था से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि देश की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है, क्रय-शक्ति क्षीण है और निर्धनता अधिक फैली है तो इसका सारा दोष देश की वितरण-रीति पर मढ़ा जाता है। समाजवाद से प्रभावित विचार-धारा वाले व्यक्ति प्राय सम-वितरण की माँग करते हैं। संक्षेप मे श्रमिक वर्ग कुल उत्पादित सम्पत्ति के अधिकांश भाग पर स्वयं अधिकार करना चाहते हैं और उत्पादक वर्ग उसे खोना नही चाहते। यदि हम इस दृष्टिकोण से संसार की स्थिति को समझने का प्रयत्न करें तो विदित होगा कि वितरण की समस्या एक व्यापक समस्या हो चुकी है।

वितरण की समस्याएँ दो प्रकार की हैं। प्रथम यह है कि राष्ट्रीय आय का वितरण किस प्रकार हो। राष्ट्रीय आय से हमारा तात्पर्य राष्ट्र में होनेवाले कुल उत्पादन या कुल सम्पत्ति के एक विशेष भाग से है। प्रायः देश में अनेक जमींदार है, छोटे किसान हैं, बड़े-बड़े उद्योगपति हैं और वैयक्तिक उत्पादन करनेवाले भी। देश मे अनेक प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन होता है। यदि इस प्रकार देश की प्रति इकाई के उत्पादन को जोड दिया जाय तो राष्ट्रीय-उत्पादन की कुल मात्रा ज्ञात हो सकती है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या इस कुल मात्रा का ही वितरण किया जाता है? इसके लिय हमें उत्पादन क्रिया की ओर ध्यान देना होगा। उत्पादन प्रारम्भ करते ही उत्पादक को उत्पादन की मात्रा बढ़ाने, उद्योग की क्षमता बढ़ाने और अन्य प्रतिस्पर्धियों का सामना कर सकने के लिये नयी और बड़ी मशीनों का प्रयोग करना पड़ेगा। उत्पादक की इस पूंजी को अचल पूंजी कहते हैं। इन मशीनों की टूट-फूट तथा इनकी घिसावट पर उसे व्यय करना पडता है। मशीनें सदा स्थायी नही रह सकती अतएव प्रति-वर्ष की कुल उत्पादित सम्पत्ति में से कुछ भाग एक कोष में जमा कर दिया जाता है जिससे निश्चित समय पर नयी मशीनें खरीदी जा सकें। इसी प्रकार कच्चे माल इत्यादि अचल पूंजी पर भी उत्पादक को सदा व्यय करना पड़ता है अन्यथा उत्पादन हो सकना सम्भव नही है। इसी प्रकार सरकारी टैक्स तथा बीमे पर भी कुछ द्रव्य का व्यय होता है। यह व्यय उत्पादन-कार्य को आगे बढाने के लिये अनिवार्य होते हैं। यदि यह व्यय न किया जाय तो उत्पादन के अधिकाश साधनो की शक्ति का पूर्ण उपयोग नहीं किया जा सकता है। अतएव सम्पत्ति के इस भाग का वितरण नही किया जा सकता। इसलिये कुल उत्पादित सम्पत्ति में से इस व्यय-भाग को घटाकर जो शेष सम्पत्ति रहती हैं उनको उत्पादन के साधनो में बाँटा जाता है। इसे वास्तविक सम्पत्ति कहते है। इसी प्रकार

राष्ट्र की एक वर्ष की कुल सम्पत्ति में से केवल वास्तविक सम्पत्ति का वितरण किया जा सकता है। राष्ट्रीय वास्तविक सम्पत्ति में राष्ट्र की प्रत्येक इकाई का सहयोग बराबर नही हो सकता है क्योंकि राष्ट्र की प्रत्येक इकाई समान नही है। समाज मे अनेक वर्ग है जिनके पास भिन्न-भिन्न मात्रा में सम्पत्ति होती है, कुछ अत्यन्त निर्धन होते हैं जो सेवा अथवा द्रव्य किसी भी रूप से राष्ट्रीय सम्पत्ति में योगदान नही दे सकते। राष्ट्रीय सम्पत्ति मे कुछ भाग विदेशी-आय का भी होता है। समाजशास्त्र के दृष्टिकोण से इनमें से अनेक पक्ष महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं परन्तु अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से वितरण मे इन पक्षो का दूसरी प्रकार से अध्ययन किया जाता है। यदि एक कारखाने, मिल या किसी और उत्पादन के कार्य मे उत्पादन के साधनो का उपयोग किया जा रहा है तो यह जानना आवश्यक है कि इन साधनो की प्रति इकाई को किस रीति से सम्पत्ति का कौन सा भाग देना चाहिये। अर्थात् यह वितरण की दूसरी समस्या है कि उत्पादन के प्रति साधन की प्रति इकाई का कुल उत्पादित सम्पत्ति में भाग किस सिद्धान्त के आधार पर निर्धारित किया जाय। प्राचीन अर्थशास्त्रियो ने इस बात पर विशेष ध्यान नही दिया है परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री केवल इसी दूसरी समस्या पर अधिक बल देते हैं।

प्राचीन अर्थशास्त्रियो के अनुसार उत्पादन में भूमि का प्रयोग किया जाता है। अतएव इस उपयोग के भुगतान के बदले मे भूमिपति (Landlord) को लगान (Rent) दिया जाना चाहिये। उनके अनुसार लगान जैसा अगले अध्याय मे रिकार्डो के सिद्धान्त के अन्तर्गत बताया जायगा, भूमि की अधिक उपज (Surplus) था। उनका कहना था कि जो कुछ भी उपज होगी उसकी कुल मात्रा में से सर्वप्रथम भूमिपति को लगान (Rent) देना पडगा। इसके पश्चात् शेष उपज में से श्रमिकों के पारिश्रमिक के लिये एक पारिश्रमिक-कोष (Wage Fund) का निर्माण किया जायगा। इस पारिश्रमिक-कोष की एक विशेषता है। उनका मत था कि यदि पारिश्रमिक अधिक मिलेगा तो श्रमिको की सन्तानोत्पत्ति की प्रवृत्ति को बल मिलेगा। अतएव पारिश्रमिक अधिक नही हो सकता। दूसरी ओर पारिश्रमिक इतना कम भी नही हो सकता जिससे श्रमिक जीवित न रह सके। अतएव पारिश्रमिक न अधिक होना चाहिये न अत्यन्त कम अर्थात् केवल इतना भर होना चाहिये जिससे श्रमिक जीवित रह सकें। इसलिये पारिश्रमिक-कोष इतना होना चाहिये जिसको यदि श्रमिको की कुल सख्या से विभाजित किया जाय तो प्रति श्रमिक इतना पारिश्रमिक हो जिससे वह जीवित रह सकेगा। इससे श्रमिको की पूर्ति (Supply) न कम पड़ेगी और न अधिक।

इसके पश्चात् उन्होने कहा कि अब जो शेष रहा वह उत्पादक का हिस्सा है। इस प्रकार उन्होने सूद और लाभ (Interest and Profit) में विशेष अन्तर नही रखा। यह सम्भव है कि एक ही उत्पादक पूंजीपति और साहसी दोनो हो सकता है परन्तु कुल सम्पत्ति के उक्त शेष भाग में से उसे अपनी लगायी पूंजी के ऊपर सूद (Interest) और अपने साहस के परिमाण के उपयुक्त लाभ (Profit) मिलना चाहिये था। प्राचीन अर्थशास्त्रियो ने दोनो को एक में मिला दिया। उनके अनुसार पारिश्रमिक श्रमिक को जीवित रखने के लिये ही दिया जाना चाहिये। उन्होने पारिश्रमिक और श्रमिक के श्रम का परस्पर कोई सम्बन्ध स्थिर नही किया। यद्यपि वितरण के विषय मे यह कहा जाता रहा कि प्रत्येक साधन को उसके कार्य के अनुसार भुगतान किया जाय परन्तु उक्त पारिश्रमिक-कोष (Wage Fund) के सिद्धान्त से यह कथन सिद्ध नही किया जा सकता है और श्रमिक के प्रति न्याय नही कहा जा सकता। पारिश्रमिक-कोष के आधार पर हम प्रति श्रमिक के कार्य के परिमाण का अनुमान नही लगा सकते है। अतएव इन सब कारणो से वितरण सम्बन्धी उक्त मत मान्य नही हो सकता है।

वितरण का आधुनिक सिद्धांत

यह पहले कहा जा चुका है कि आधुनिक अर्थशास्त्री उत्पादन के प्रति साधन की प्रति इकाई के न्यायोचित भाग की माँग करते है। उनके अनुसार प्रति साधन का भुगतान उसकी सीमान्त-उत्पादन-शक्ति के अनुसार होना चाहिये। अतएव वितरण के आधुनिक सिद्धान्त को हम सीमान्त-उत्पादन-शक्ति (Marginal Productivity) का सिद्धान्त कह सकते है।

यदि किसी उत्पादन के साधनों का भुगतान करना है तो पहले साधनो का अलग वर्गीकरण कर लेना पडेगा और फिर यह मालूम करना पडेगा कि उस साधन की सीमान्त-उत्पादन-शक्ति कितनी है। जब सीमान्त-उत्पादन-शक्ति ज्ञात हो जाय तो उतना ही भुगतान करना चाहिये। मान लीजिये किसी कारखाने में एक मजूर की सीमान्त-उत्पादन-शक्ति ज्ञात करनी है। यदि साधारण रूप से देखे तो विदित होगा कि कारखाने में काम करनेवाले अनेक मजूरो मे कोई भी दो मजूर समान नही है। सब शक्ति, आयु इत्यादि के दृष्टिकोण से भिन्न-भिन्न है। अतएव यह सहज ही कहा जा सकता है कि इन मजूरों की उत्पादन-शक्ति भी समान नही हो सकती है। इस समस्या को सुलझाने के लिये मशीन इत्यादि उत्पादन के साधनो को स्थिर मान लिया जाता है और जिस श्रमिक की

सीमान्त-उत्पादन-शक्ति जानना चाहते हैं उसकी समान श्रेणी को लिया जाता है। यदि वह अकुशल श्रमिक है तो उसके साथ काम करनेवाले श्रमिक भी अकुशल मान लिये। इसके पश्चात् मशीन इत्यादि उत्पादन के साधनो को स्थिर रखकर उक्त प्रकार के श्रमिको की सख्या मे एक श्रमिक की वृद्धि की। उत्पादन की मात्रा में उसके उपयोग से जो वृद्धि हुई वह उस श्रमिक की सीमान्त-उत्पादन-शक्ति कही जायगी।

किसी फर्म की कुल उत्पादन की मात्रा मे उसके परिवर्तनशील साधन की मात्रा मे थोडी सी वृद्धि करने से जो वृद्धि हो जाती है उसे सीमान्त-उत्पादन-शक्ति कहते हैं। उदाहरणार्थ —

मशीन पर काम करनेवाले श्रमिको की सख्या	कुल उत्पादन	प्रति इकाई सीमान्त उत्पादन-शक्ति
१००	१,०००	..
१०१	१,०१०	१०
१०२	१,०१५	५
१०३	१,०१८	३

उक्त उदाहरण मे मशीन, कच्चा माल इत्यादि उत्पादन के अन्य साधनो को स्थिर मानकर केवल परिवर्तनशील साधन श्रम की मात्रा मे एक इकाई की वृद्धि की गयी है। प्रारभ मे मशीन और १०० श्रमिक मिलकर कुल १,००० इकाइयो का उत्पादन करते थे। प्रति इकाई सीमान्त-उत्पादन-शक्ति ज्ञात करने के लिये श्रमिको की सख्या में १ इकाई की वृद्धि कर दी। इस वृद्धि के फलस्वरूप कुल उत्पादन १,००० से वढकर १,०१० इकाइयाँ हो गया। अर्थात् अन्तिम इकाई या सीमान्त इकाई की उत्पादन शक्ति १० इकाइयाँ हुई क्योकि १,०१० इ०–१,००० इ० = १० इकाइयाँ। इसी प्रकार यदि उत्पादक श्रम की मात्रा वढाते जाय अर्थात् १०१ से १०२ और फिर १०३ कर दे तो इससे कुल उत्पादन वढता जाता है और प्रति इकाई सीमान्त-उत्पादन-शक्ति में क्रमश १०, ५, ३ इकाइयाँ ह्रासोन्मुख प्रवृत्ति दिखलाती हैं।

यदि उक्त उदाहरण को ध्यानपूर्वक देखा जाय तो विदित होगा कि श्रम का मात्रा मे वृद्धि करते जाने से प्रति इकाई उत्पादन शक्ति घटती जाती है। इस उदाहरण मे यह मान लिया गया है कि मशीन अपनी पूरी शक्ति से काम कर रही है। यह स्थिति क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम की ओर सकेत करती है। कुल उत्पादन मे परिवर्तनशील साधन में वृद्धि करने से वृद्धि अवश्य होती है परन्तु साधन की वृद्धि के अनुपात मे नही। इसे इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि जब स्थिर साधन मशीन के साथ १०० श्रमिक कार्य कर रहे थे तो प्रति श्रमिक को मशीन का अधिक

भाग उत्पादन के लिये मिल सका परन्तु जैसे-जैसे श्रमिको की सख्या वढी तो वह भाग कम होता गया और उसी तरह सीमान्त-उत्पादन-शक्ति भी घटती गयी। इसी कारण जैसे-जैसे श्रमिको की सख्या में वृद्धि की जाती है तो श्रमिको का पारिश्रमिक भी कम होता जाता है और यदि श्रमिको की सख्या घटाये तो पारिश्रमिक वढेगा। अर्थात् जिस सावन की मात्रा में वृद्धि की जाती है उसका पारिश्रमिक घटता जाता है और यदि पूर्ति की मात्रा मे कमी कर दें तो पारिश्रमिक में वृद्धि होती है। इसके साथ ही यदि श्रमिको इत्यादि की मात्रा स्थिर रखकर मशीन की मात्रा में घटती-बढती करें तो सीमान्त-उत्पादन-शक्ति मे क्रमश वृद्धि और ह्रास दृष्टि-गोचर होगा। उत्पादन के सभी सावन इसी प्रकार का आचरण करेंगे। इसलिये उत्पादन के सभी सावनो को भुगतान न कम दिया जा सकता है और न अविक। वह भुगतान उस साधन की सीमान्त-उत्पादन-शक्ति के बराबर ही होगा।

प्रतिस्थापन्न-नियम (Law of Substitution) मे यह वताया जा चुका है कि उत्पादक मशीन और अन्य साधनो का उत्पादन में इस अनुपात में प्रयोग करता है जिससे सीमान्त इकाई का पारिश्रमिक सीमान्त-उत्पादन से अधिक न हो। यदि अल्पकालिक दृष्टिकोण से देखें तो यह सभव हो सकता है कि उत्पादन के सावन की पूर्ति माँग के अनुपात में कम हो। इससे उस सावन में व्यय की मात्रा वढ सकती है। इसी प्रकार माँग कम और पूर्ति अधिक होने पर व्यय की मात्रा घट सकती है। यह इसलिये होता है कि वाजार में उत्पादन के साधनो की पूर्ति की मात्रा निश्चित नही होती है। इस दृष्टि से श्रमिक का पारिश्रमिक सीमान्त-उत्पादन-शक्ति से कुछ अधिक हो सकता है। परन्तु उत्पादन अधिकतर दीर्घकालिक दृष्टिकोण से किया जाता है। दीर्वकाल में साघन को भुगतान सदा सीमान्त-उत्पादन-शक्ति के वरावर ही होता है अधिक नही हो सकता है और कम भी नही। यदि पारिश्रमिक सावन की सीमान्त-उत्पादन-शक्ति से अधिक होगा तो उत्पादक को कारखाना वन्द कर देना पडेगा और यदि कम होगा तो श्रमिक काम करने के लिये तैयार नही होगा। इस कारण उत्पादक को पारिश्रमिक सीमान्त-उत्पादन-शक्ति के वरावर ही देना पडता है। परन्तु अल्पकाल में भी साधन को पारिश्रमिक उसकी सीमान्त-उत्पादन-शक्ति के वरावर दिया जा सकता है। यह साधन की गतिशीलता (Mobility of Factor) पर निर्भर करता है। यदि साधन गतिशील नही है तो उसे न्यून पारिश्रमिक पर भी काम करना पडेगा क्योकि वह विवश है और दूसरे स्थानो पर नही जा सकता है या दूसरे उपयोग में नही आ सकता है। यदि साधन गतिशील होगा तो वह ऐसे स्थानो में जायगा।

जहाँ पारिश्रमिक सीमान्त-उत्पादन-शक्ति के वरावर मिल सके या अधिक प्रयोगो में आने से उसका मूल्य अस्थायी रूप से घट-बढकर एक ऐसे स्थान पर स्थिर होगा जो उसकी सीमान्त-उत्पादन-शक्ति के वरावर है।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सीमान्त-उत्पादन-शक्ति के आधार पर वितरण करने से साधन के प्रति न्याय किया जा सकता है जो पारिश्रमिक-कोप के प्राचीन अर्थशास्त्रियो के सिद्धान्त से कही अधिक मान्य है।

अभ्यास के प्रश्न

१ 'वितरण' का अर्थ समझाइये और यह वतलाइये कि अर्थशास्त्र के अध्ययन में इसका क्या महत्व है।

२ प्राचीन अर्थशास्त्रियो का पारिश्रमिक कोप (Wage Fund) का सिद्धान्त क्या है ? क्या यह वितरण का सही सिद्धान्त है ?

३ वितरण के सीमान्त-उत्पादन-शक्ति के सिद्धान्त की आलोचना कीजिये।

अध्याय ५३

लगान (Rent)

अपढ जनता भी लगान शब्द से परिचित है। अधिकांश व्यक्तियो को व्यावहारिक जीवन में किसी न किसी रूप में लगान देना ही पड़ता है। भारतवर्ष एक कृषिप्रधान देश अवश्य है पर अधिकतर किसान विना भूमि के है। वे असामियो की तरह जमीदारो के खेत जोतते-बोते है। उन्हें इसके लिये जमीदार को लगान देना पडता है। किराया भी लगान के अन्तर्गत ही समझा जाता है। घाटो, मशीनो इत्यादि का किराया देना पडता है। शहर मे रहनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के पास अपना घर होना असम्भव है अतएव अधिकतर लोगो को किराये के मकानो पर रहना होता है। यदि हम लगान या किराये पर प्राप्त होनेवाली वस्तुओ को देखें तो ज्ञात होगा कि उनमे भूमि-भाग अवश्य सम्मिलित है। वास्तव में लगान इसी भूमि-भाग के उपयोग का ही दिया जाता है परन्तु बोलचाल में यह स्थिति स्पष्ट नही हो पाती है।

अर्थशास्त्र में लगान का विशेष अर्थ मे प्रयोग किया जाता है। उक्त उदाहरणो में लगान शुद्ध लगान नही कहा जा सकता है। लगान भूमि की उस शक्ति के उपयोग का भुगतान है जो मौलिक और अविनाशी है। भूमि के अध्याय में यह बताया जा चुका है कि भूमि की मात्रा स्थिर रहती है। उसे मनुष्य घटा-बढा नही सकता है। भूमि प्रकृति की देन है। प्राचीन अर्थशास्त्रियो के अनुसार लगान भूमि की इन्ही विशेपताओं का भुगतान है। अर्थशास्त्र में उसे आर्थिक लगान (Economic Rent) कहते है। परन्तु उक्त उदाहरणों में जो लगान या किराया दिया जाता है वह भूमि के इन गुणो के साथ ही कुछ और साधनों का भुगतान भी है। ये अन्य साधन श्रम, पूंजी, साहस इत्यादि है। असामियो के रूप में जोतने-बोने के लिये जो भूमि किसान जमीदारो से लेता है उसे जमीदार श्रम, पूंजी, साहस इत्यादि का प्रयोग करके ही प्राप्त करता है। जब किसान उक्त भूमि के उपयोग के लिये लगान देता है तो उसमें उक्त साधनों का पुरस्कार भी सम्मिलित होता है। किसान लगान के रूप मे जमीदार के श्रम का वेतन, उसकी लगायी पूंजी का व्याज, साहस का लाभ और भूमि के मौलिक और अविनाशी गुणो का पुरस्कार देता है। लगान के इस रूप को शुद्ध लगान न कहकर कुल लगान कहा जाता है।

आर्थिक लगान जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है भूमि के मौलिक

तथा अविनाशी शक्ति का भुगतान है। इसमें उसकी स्थिरता की विशेषता भी सम्मिलित है। परन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में यह देखा जाता है कि प्रत्येक किसान या अन्य व्यक्ति समान लगान नहीं देते हैं। यदि यह कहा जाय कि प्रत्येक व्यक्ति के पास समान मात्रा में भूमि-भाग नहीं है तो उक्त बात स्वयं भी स्पष्ट होती है परन्तु यदि एक ही मात्रा में भूमि-भाग का उपयोग करनेवाले भी व्यक्ति भिन्न भिन्न मात्रा में लगान देते हैं तो उक्त बात अधिक दुरूह होती जाती है। परन्तु यदि भूमि की मात्रा के स्थान पर हम उस मात्रा की उत्पादन शक्ति का निरीक्षण करें तो स्थिति स्पष्ट हो जाती है।

भूमि सर्वत्र समान नहीं है। स्थिति-वश या प्राकृतिक कारणों से भूमि की उत्पादन शक्ति भी समान नहीं होती है। एक ही प्रदेश की भूमि के विभिन्न भागों की उत्पादन शक्ति विभिन्न होती है। अतएव लगान जो भूमि की उत्पादन शक्ति का भुगतान भी कहा जा सकता है समान नहीं होता है। अच्छी भूमि का लगान, जिसकी उत्पादन शक्ति अधिक होती है और जिसकी स्थिति भी अनुकूल होती है, अधिक होता है और उसी मात्रा की कम उपजाऊ भूमि का लगान कम होता है। आर्थिक लगान को उत्पादन की मात्रा के दृष्टिकोण से इस प्रकार भी समझाया जा सकता है कि भूमि चार प्रकार की है—'अ', 'ब', 'स' और 'द'। इन चारो की मात्रा समान है पर पूंजी और श्रम की समान मात्रा का उपयोग करने पर भी उत्पादन की मात्रा असमान रहती है। 'अ', 'ब', 'स' और 'द' मे क्रमश ३०, २५, २० और १० मन उपज होती है। 'अ' सबसे अच्छी भूमि कही जायगी। आर्थिक लगान अच्छी भूमि की उस उत्पादित मात्रा के बराबर होगा जो सीमान्त-उत्पादन-शक्ति वाले भू-भाग की उपज से अधिक है; अर्थात् जिस भूमि में सीमान्त भूमि के उत्पादन से जितना अधिक उत्पादन हुआ होगा वह उस भूमि का आर्थिक लगान कहा जायगा। उक्त उदाहरण में 'अ' की उत्पादन-शक्ति ३० मन के बराबर है और 'द' सीमान्त भूमि-भाग है जिसकी सीमान्त-उत्पादन-शक्ति १० मन के बराबर है। अतएव 'अ' भूमि पर आर्थिक लगान ३० − १० = २० मन होगा। इसी प्रकार 'ब' और 'स' का लगान क्रमश १५ मन और १० मन होगा। यह लगान इस मान्यता पर निर्भर है कि प्रत्येक भू-भाग की उत्पादन-शक्ति मनुष्य न बढा सकता है और न घटा सकता है, वह मौलिक और अविनाशी है। परन्तु यदि उपज के मूल्य के दृष्टिकोण से आर्थिक लगान के उक्त उदाहरण को देखें तो हमे कुछ सावधानी रखनी होगी। सीमान्त भूमि उस भूमि को कहते है जिसमें उत्पादित वस्तु का मूल्य और उत्पादन व्यय बराबर हो। यदि १ रुपया प्रतिमन उपज का मूल्य हो तो

'अ', 'ब' 'स' का आर्थिक लगान क्रमश २० रुपया, १५ रुपया और १० रुपया होगा। परन्तु यदि किसी कारण मूल्य १ रुपये से बढकर २ रुपया प्रतिमन हो जाय तो आर्थिक लगान भी उसी अनुपात में बढ जायेगा। संक्षेप में आर्थिक लगान प्रत्येक भू-भाग के उत्पादन और सीमान्त भू-भाग के उत्पादन के अन्तर के बराबर होता है। यदि भूमि का अधिकारी किसान ही हो तो भूमि के प्राकृतिक गुणों की विशेपता का उपभोग वह स्वय करेगा। तब उन गुणो की विशेपता का उस भू-भाग के स्वामी को भुगतान करने का प्रश्न ही नही उठता क्योंकि वह स्वयं स्वामी होता है।

१८वीं सदी के अन्त में एक प्रसिद्ध अर्थशास्त्री रिकार्डो ने लगान का एक सिद्धान्त खोज निकाला जिसे रिकार्डो का लगान का सिद्धान्त कहते हैं। रिकार्डो के पूर्व के अर्थशास्त्रियो के अनुसार लगान भूमि के प्रयोग करने का भुगतान है। रिकार्डो ने बताया कि पहले भूमि की पर्याप्त मात्रा उपलब्ध थी। जब नये निवासी किसी नये देश मे बसते हैं तो वे सर्वप्रथम सबसे अच्छी भूमि को अपने प्रयोग मे लाते हैं। प्राय कुछ समय तक वह भूमि उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ रहती है परन्तु क्रमश जन-सख्या मे वृद्धि होने से वह भूमि कम पडने लगती है। निवासी सारी अच्छी भूमि का उपयोग करने लगते है। परन्तु जनसख्या के बढने का क्रम रुकता नहीं है और अच्छी भूमि की समाप्ति के पश्चात् उससे कम अच्छी भूमि पर पैदावार की जाती है। इस क्रम से यह क्रिया तब तक चलती रहती है जब तक कि सीमान्त भूमि का उपयोग न हो गया हो। रिकार्डो के अनुसार सीमान्त भूमि वह भूमि है जिसका कुल उत्पादन उत्पादन-व्यय के बराबर होता है। इस सीमान्त भूमि को बिना लगान की भूमि कहते हैं। इस भूमि में उत्पादक जितना श्रम, पूंजी इत्यादि लगायेगा उतना ही इसके कुल उत्पादन से प्राप्त कर सकेगा। जो भूमि इस सीमान्त भूमि से अच्छी होती है उसकी उत्पादन शक्ति भी अधिक होती है और सीमान्त भूमि के उत्पादन से जितना अधिक उत्पादन इसमें होगा वह लगान कहलायेगा। रिकार्डो ने इसे अतिरिक्त उपज (Differential Surplus) कहा। यह अतिरिक्त उपज भूमि की उन प्राकृतिक शक्तियो के कारण ही हुई जिनका सीमान्त भूमि में अभाव है। यही भूमि की मौलिक और अविनाशी शक्ति है। यह शक्ति ईश्वरप्रदत्त होती है। मनुष्य इसमें घट-बढ नही कर सकता है। तात्पर्य यह है कि भूमि की इस प्राकृतिक उत्पादन शक्ति की ह्रास-वृद्धि में मनुष्य कुछ नही कर सकता है। यह शक्ति ईश्वरप्रदत्त होने के कारण कुल उत्पादन मे पहले अपना अधिकार ले लेती है और अन्य भुगतान ब्याज, लाभ इत्यादि के रूप में इसके पश्चात् होते हैं। इसके साथ ही लगान भूमि की स्थिति

पर भी निर्भर करता है। यदि एक समान उत्पादन शक्ति वाली अच्छी भूमि शहरो के निकट, व्यापारिक केन्द्रो या रेल-मोटर के छोटे स्टेशनो के निकट है तो उसका लगान उस भूमि के लगान से अवश्य अधिक होगा जो शहर से दूर है और यातायात की असुविधा से पूर्ण है। यातायात-व्यय इतना अधिक हो जाता है कि उत्पादक के पास कुछ शेष नही बचता है। शहरो और व्यापारिक केन्द्रो के निकट की भूमि से उत्पादित वस्तु विक्रय के लिये कम यातायात-व्यय पर वाछित स्थानो तक ले जायी जा सकती है और इसमें उत्पादक के पास उत्पादन का काफी अश शेष रह जाता है जो उसकी बचत होता है। सीमान्त भूमि मे यह बचत नही होती है। यदि भूमि का केवल एक ही खण्ड हो जिसकी उत्पादन शक्ति निश्चित हो तब भी लगान का उक्त दृष्टिकोण लागू हो जाता है। आवश्यकता की वृद्धि के साथ ही भूमि पर गहरी खेती या गहरा उत्पादन आवश्यक हो जायेगा। उत्पादन के नियमो के अध्याय में हम पढ चुके है कि जैसे-जैसे पूंजी व श्रम की मात्रा की वृद्धि की जाती है तो कुल उत्पादन मे वृद्धि साधन में की गयी वृद्धि के अनुपात में नही होती है। अर्थात् ऐसी स्थिति में क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू हो जाता है। यही स्थिति इस भूमि-खण्ड की भी होती है। प्रथम वार जब उत्पादन आरभ किया जाता है तो श्रम अथवा पूंजी की एक निश्चित मात्रा का प्रयोग किया जाता है। इसी परिमाण से जैसे जैसे हम श्रम अथवा पूंजी की नयी इकाइयाँ लगाते जायेंगे कुल उत्पादन में वृद्धि ह्रासोन्मुख होगी। एक स्थिति ऐसी आ जायगी जव अधिक नयी इकाइयाँ लगाना लाभकर सिद्ध न होगा। इम सीमान्त स्थिति मे कुल उत्पादन उत्पादन-व्यय के वरावर ही होगा। यह बिना लगान की स्थिति होगी। इससे पूर्व की प्रत्येक वढी इकाइयाँ क्रमश ह्रासोन्मुख लगान देगी।

रिकार्डो के ऐतिहासिक दृष्टिकोण से लगान निम्न रेखाचित्र द्वारा भी समझाया जा सकता है —

उक्त रेखाचित्र में य य' मे विभिन्न भू-भागो का कुल उत्पादन दिखाया गया है और य र' में भूमि के भाग। जव प्रथम वार मनुष्य ने खेती आरम्भ की तो उसने सबसे उपजाऊ भूमि अ को चुना। परन्तु आवश्यकता वढते रहने से कम उपजाऊ भूमि को जोतना-बोना पडा और क्रमश अ, ब, स, द, ई भू-भागो में खेती होने लगी। ई भाग पर पहुँच-कर उत्पादक को ज्ञात हुआ कि उस भूमि में जितनी श्रम, पूंजी इत्यादि की मात्रा लगायी जाती है वही अन्य भू-भागो मे भी लगायी जाती है परन्तु अन्य भागो में उसके द्वारा उपज उत्पादन-व्यय से अधिक होती है जब कि ई भू-भाग में ठीक उत्पादन-व्यय के वरावर ही। अतएव ई

भू-भाग सीमान्त भू-भाग हुआ। यदि हम उक्त रेखाचित्र में ई भू-भाग के कुल उत्पादन की मात्रा प्रत्येक भू-भाग मे से घटाते जायँ तो शेष भाग
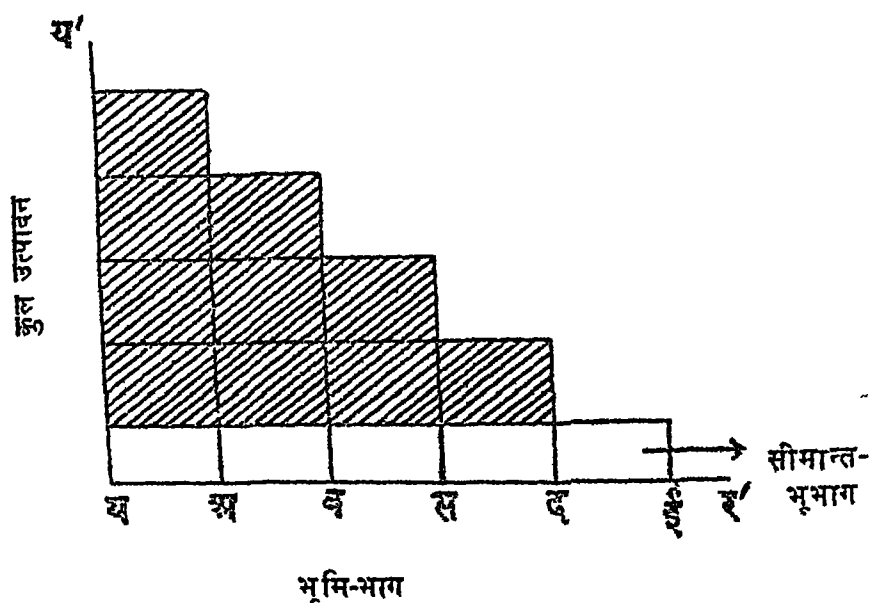
रिकार्डो की परिभाषा के अनुसार लगान होगा। उक्त चित्र में अ, ब, स, द का रँगा भाग इसी लगान को दिखाता है। इस चित्र से हम लगान की ह्रासोन्मुख प्रवृत्ति का भी अध्ययन कर सकते हैं।

परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियो को रिकार्डो का मत मान्य नही है। यह सारा लगान का ढाँचा केवल सीमान्त भूमि की मान्यता पर टिका है। क्योकि सीमान्त भूमि के आधार से ही अन्य भू-भागो के लगान को निर्धारित किया जा सकता है जैसा उक्त उदाहरण मे भी दिखाया गया है। आधुनिक अर्थशास्त्रियो का मत है कि यह बताना अत्यन्त कठिन है कि कौन भूमि अच्छी उपजाऊ है और कौन सीमान्त। यदि हम ग्रामो में जाकर किसानो से पूछें कि सीमान्त भूमि कौन सी है और इस दृष्टि से सबसे अच्छी भूमि कौन सी है तो वह इसका कुछ उत्तर न दे सकेगा। वह इतना अवश्य बता सकता है कि अमुक भू-भाग में पैदावार अधिक होती है और अमुक भाग में बहुत कम। परन्तु वह भाग जिसमें पैदावार बहुत कम होती है सीमान्त भूमि नही कही जा सकती है। सीमान्त भूमि और कम उपज वाली भूमि बिल्कुल भिन्न भू-भाग है। इसके साथ ही यह भी जानना आवश्यक है कि सीमान्त भूमि में लगान नही होता है परन्तु सबसे कम उपजाऊ भूमि पर कुछ न कुछ लगान अवश्य होता है।

यह लगान सीमान्त भूमि के कुल उत्पादन को उसमे से घटाकर प्राप्त नही किया गया है क्योंकि सीमान्त भूमि का तो किसान को पता ही नही होता है।

रिकार्डो के मत के अनुसार लगान अच्छी भूमि की उपज और सीमान्त भूमि की उपज का अन्तर है। अर्थात् लगान अतिरिक्त उपज है। भूमि के विषय में यह युक्ति उचित जान पडता है। परन्तु यदि हम श्रमिको की ओर दृष्टि डाले तो विदित होगा कि प्रत्येक श्रमिक भिन्न-भिन्न प्रकार का है और प्रत्येक की कार्यक्षमता मे कुछ समानता नही। यदि वे पृथक् रूप से उत्पादन करें तो लगान का उक्त सिद्धान्त तो उनमे भी लागू हो जाता है। जिस प्रकार हम भूमि के विभिन्न भागो का लगान सीमान्त भूमि की उपज की सहायता से निकाल सकते हैं उसी प्रकार हम श्रमिको की मजूरी भी निर्धारित कर सकते हैं। अतएव मजूरी के विषय मे नवीन सिद्धान्तों, नवीन विधियों की क्या आवश्यकता है? इसी प्रकार उत्पादन के प्रत्येक साधन की प्रत्येक इकाई अच्छी, कम अच्छी और बुरी होती है और जब उत्पादन आरम्भ होता है तो उक्त सिद्धान्त से प्रत्येक के श्रम और कार्यक्षमता का भुगतान किया जा सकता है। उसके लिये नवीन सिद्धान्तो की आवश्यकता नही है। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उक्त सिद्धान्त उपयुक्त नही कहा जा सकता।

लगान के सिद्धान्त में सीमान्त भूमि का कथन है सीमान्त-उत्पादन-शक्ति का नही। परन्तु जब दो प्रकार की भूमियो की तुलना की जाती है तो उनकी उत्पादन-शक्ति ही इस तुलना का आधार बनती है। बिना सीमान्त-उत्पादन-शक्ति के विचार के भूमि को सीमान्त नही कहा जा सकता है। अतएव यदि सीमान्त भूमि के स्थान पर सीमान्त-उत्पादन-शक्ति के दृष्टिकोण का व्यवहार किया जायगा तो लगान इत्यादि के निर्धारण मे सरलता आ जायगी।

रिकार्डो का मत है कि भूमि की उपज-शक्ति ईश्वरप्रदत्त है, मौलिक है और अविनाशी है। परन्तु व्यवहार मे देखा जाय तो उपज-शक्ति का एक अश अवश्य मौलिक है परन्तु अधिकाश मनुष्य जोतकर, खाद, सिंचाई इत्यादि मे व्यय करके उसको बढाता है, प्राय उत्पन्न करता है। उपज-शक्ति का क्रमश नाश होता है जिसका सकेत क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास-नियम के अन्तर्गत किया जा चुका है। रिकार्डो ने विस्तृत खेती को अधिक महत्व दिया। उन्होने गहरी खेती के विषय में गम्भीरतापूर्वक नही सोचा। गहरी खेती मे स्पष्ट है कि मनुष्य उपज-शक्ति को बढाता है और अधिक उत्पादन करने में सफल भी रहा है।

कुछ अर्थशास्त्रियो ने रिकार्डो के ऐतिहासिक कथन का विरोध किया है। उनका कहना है कि यह सम्भव नही है कि प्रवासी सबसे पहले

उपजाऊ भूमि का ही प्रयोग करेंगे। उपजाऊ भूमि सदा उपजाऊ है अतएव प्रवासियों के जाने तक उसमें अवश्य जंगलों की भरमार रहेगी। इसलिये प्रवासी को पहले उन स्थानों पर रहना पड़ेगा जो सूने हों, सुरक्षित हों। यह बहुत सम्भव है कि ऐसे स्थान कम उपजाऊ हों। प्रवासी पहले अपने निवास, भोजन इत्यादि का प्रबन्ध करेंगे तत्पश्चात् उपजाऊ भूमि की ओर बढ़ेंगे।

रिकार्डो ने बेलगान भूमि (No Rent Land) की भी कल्पना की है परन्तु व्यवहार में ऐसी भूमि मिलना प्राय असम्भव है। साइबेरिया के ठंडे प्रदेश में जहाँ मनुष्य जाने से डरता था वहाँ की खेती करने का प्रयत्न किया जा रहा था, रेगिस्तानों को उपजाऊ बनाने के भी प्रयत्न हो रहे हैं। जिन स्थानों की कुछ समय पहले कुछ महत्ता नही थी अब वही आकर्षण के केन्द्र बने हैं। इसलिये यह कहना कि भूमि बेलगान मिल सकती है अनुचित होगा क्योंकि भूमि की कमी और माँग की वृद्धि के फलस्वरूप ही उक्त कार्य किये जा रहे हैं।

लगान का आधुनिक सिद्धान्त

रिकार्डो के लगान के सिद्धान्त मे और आधुनिक लगान के सिद्धान्त में बहुत अन्तर है। आधुनिक अर्थशास्त्री उत्पादन-क्रिया के दृष्टिकोण से श्रम, भूमि, पूंजी, साहस, संगठन में विशेष अन्तर नहीं समझते हैं। भूमि की आधुनिक परिभाषा के अन्तर्गत इस दृष्टिकोण को समझाया जा चुका है। साधनों के गुणों (qualities) में अवश्य अन्तर है परन्तु जहाँ तक उत्पादन का प्रश्न है सब उत्पादन के साधन ही हैं और सब साधनों का भुगतान एक विधि से होना अनिवार्य है। इसका कोई कारण नही है कि किसी साधन के भुगतान को लगान, किसी को मजूरी, व्याज या किसी को लाभ इत्यादि विभिन्न प्रकार के वर्गों में विभाजित किया जाय। आधुनिक अर्थशास्त्री यह नही कहते हैं कि भूमि के भुगतान को लगान, श्रम के भुगतान को मजूरी या वेतन इत्यादि न कहें। उनका मत है कि लगान, वेतन, व्याज इत्यादि को निर्धारित करने के अनेक सिद्धान्त नही हैं वरन् सबको निर्धारित करने का केवल एक नियम है जिसे सीमान्त-उत्पादन शक्ति (Marginal Productivity) का नियम कहते हैं।

मूलत उत्पादन के साधनों में परस्पर कुछ अन्तर नही है। प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने उनमे कई भेद किये थे। उनके अनुसार भूमि प्रकृति की देन है। मनुष्य न उसकी मात्रा घटा सकता है और न बढ़ा सकता है। इस स्थिरता की विशेषता का आधार लेकर उन्होंने भूमि को अन्य साधनों से पृथक् कर दिया। प्रकृति की देन होने से मनुष्य को त्याग भी नहीं करना पड़ा अर्थात् इसका कुछ उत्पादन व्यय नही हुआ। यह अन्तर अर्थ-

हीन है। यह कहना उचित नही है कि भूमि प्रकृति की देन है उसे बढाया-घटाया नही जा सकता। इस बात को समझाने के लिये दो प्रकार के दृष्टिकोणो का आधार लेना पडेगा।

(१) अल्पकालिक दृष्टिकोण से—भूमि, श्रम, पूंजी किसी विशेष उपयोग के लिये।

(२) सृष्टि के दृष्टिकोण से।

यदि हम किसी विशेष उपयोग के दृष्टिकोण से उत्पादन के साधनो का अध्ययन करें तो विदित होगा कि मनुष्य प्रत्येक साधन को घटा-बढा सकता है। यदि हमें भवन निर्माण के लिये ही भूमि की आवश्यकता है तो लाखो एकड भूमि प्राप्त हो सकती है उसी प्रकार यदि सीमेंट के कारखाने के लिये ही श्रमिको की आवश्यकता हो तो लाखो श्रमिक प्राप्त हो सकते हैं। दूसरी भ्रान्ति यह फैली हुई है कि भूमि उत्पादन का स्थिर साधन है परन्तु श्रम गतिशील है। हमें साधन की अवस्था को नही देखना है वरन् इस बात का अध्ययन करना है कि साधन का उपयोग क्या है। श्रमिक अपनी गतिशीलता के कारण काम अधिक कर सकता है परन्तु भूमि भी तो गहरी खेती करके अधिक उत्पादन कर सकती है। एक निश्चित परिमाण के भूमि खण्ड में ४८ मंजिल का मकान बनाकर उस परिमाण को ४८ गुना बढाया जा सकता है। समुद्र से भूमि प्राप्त करके उसे खेती इत्यादि के उपयोग में लाया जाता है।

सृष्टि के दृष्टिकोण से यदि हम उत्पादन के साधनो को देखे तो इसमें सन्देह नही रह जाता कि भूमि की पूर्ति निश्चित है, उसे घटाया-बढाया नही जा सकता। वह ईश्वरप्रदत्त है और उसीकी इच्छा पर निर्भर। परन्तु यदि इसी दृष्टि से श्रम का अध्ययन करें तो विदित होगा कि मनुष्य ईश्वर की इच्छा के बिना न एक श्रमिक अधिक पैदा कर सकता है और न एक कम। मनुष्य सृष्टिकर्त्ता के सामने असहाय है और कुछ नही कर सकता है। इस दृष्टि से उत्पादन के सभी साधन एक समान हुए।

प्राचीन अर्थशास्त्री मानते थे कि भूमि ईश्वरप्रदत्त या प्रकृति की देन है। मनुष्य को इसके निर्माण में त्याग नही करना पडा। इसका उत्पादन-व्यय भी कुछ नही है। परन्तु वास्तविकता इसके विपरीत है। मनुष्य को भूमि प्राप्त करने के लिये बहुत कष्ट उठाने पडे है, बहुत त्याग करना पडा है। जगलो को काटकर, कठोर धरती को खोद-जोत-बोकर इत्यादि प्रकारो से उसने अपने योग्य बनाया। अतएव यह कहना सरासर भूल होगी कि मनुष्य ने प्रकृति की देन भूमि को प्राप्त करने के लिये परिश्रम नही किया या त्याग नही किया।

प्राचीन अर्थशास्त्रियो की विचारधारा और आधुनिक विचारधारा का सम्बन्ध :—लगान का विवेचन करते समय प्राचीन अर्थशास्त्रियो का एक मुख्य आधार यह था कि एक साधन स्थिर है और दूसरा नही है। इसमें बडा अन्तर है। उन्होने यह सोचा कि भूमि सदा स्थिर होती है अतएव इसका भुगतान लगान होगा। वास्तव मे उनका तात्पर्य यह था कि जो भी साधन स्थिर हो उसका भुगतान लगान होता है। प्रत्येक साधन कुछ समय के लिये तो स्थिर ही रहता है। उनका स्थिर का तात्पर्य गतिहीन था और इसी स्थूल अर्थ के कारण कुछ भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो गयी। वास्तव मे स्थिर साधन को विशिष्ट (Specific) साधन कहना अधिक उपयुक्त होगा। अतएव यह कहना चाहिये कि लगान किसी भी साधन के विशिष्टता के गुण का पुरस्कार है। इस दृष्टिकोण मे और प्राचीन अर्थ-शास्त्रियो के दृष्टिकोण में बहुत कुछ समानता भी है और वही दोनो विचारधाराओ को जोडनेवाली कडी (Link) है। अन्तर केवल इतना है कि जो भी साधन विशिष्ट (Specific) है, जितनी देर तक है और जितने अश (Degree) तक है उसी सीमा तक वह लगान का अधि-कारी होगा जैसा कि हम भूमि की आधुनिक परिभाषा में बतला चुके है कि भूमि ही केवल विशिष्ट साधन नही है। यदि उसका एक कार्य में प्रयोग किया जाय तो वह अवश्य विशिष्ट साधन माना जायेगा अन्यथा अविशिष्ट (Non-specific) श्रम भी किसी समय विशिष्ट हो सकता है, इसी प्रकार अन्य साधन भी। विशिष्टता के फलस्वरूप ही लगान मिलता है। कोई साधन पूर्णतया विशिष्ट या अविशिष्ट नही होता है। जिस सीमा तक वह साधन विशिष्ट होगा उसी सीमा तक वह लगान का अधिकारी होगा अन्यथा उसे वेतन या व्याज इत्यादि मिलेगा। परन्तु यहाँ पर यह समस्या उठती है कि यह किस प्रकार ज्ञात होगा कि अमुक साधन विशिष्ट है अथवा अविशिष्ट। इसका विस्तृत विवरण भूमि की आधुनिक परिभाषा के अन्तर्गत किया जा चुका है। यदि एक श्रमिक को एक स्थान मे १००) मिलते है और दूसरे स्थान पर भी १००) ही मिले तो यह १००) उस श्रमिक का वेतन या मजूरी कहा जायेगा। इस स्थिति में दोनो स्थानो पर समान परिस्थितियाँ है अतएव लगान नही मिल सकता। परन्तु यदि उसे एक स्थान पर १००) और दूसरे स्थान में केवल ४०) मिल सकते है तो ४०) वेतन हुआ क्योकि यह उसकी सीमान्त उत्पादन शक्ति के बराबर है या उसकी अविशिष्टता है। उसे, दूसरे स्थान में १००) मिलते है अर्थात् पहले स्थान से ६०) अधिक मिलते है। यह अवश्य किसी विशेष गुण के कारण उसे मिलते है जिसकी उस स्थान पर आवश्यकता है। यह ६०) योग्यता का लगान (Rent of Ability) कहलायेगा। इसी प्रकार यह भी

सत्य है कि मनुष्य की आय मे लगान या व्याज इत्यादि मिश्रित रूप मे हो सकते है जैसा कि इस अध्याय के आरम्भ मे बताया गया है।

आधुनिक परिभाषा की विशेषता

उक्त विवेचन किसी साधन की सीमान्त उत्पादन शक्ति पर अधिक बल देता है। उत्पादन के सभी साधनो को भुगतान करने के लिये सीमान्त उत्पादन शक्ति का सिद्धान्त अधिक उपयुक्त है। उसके द्वारा समस्त साधनो के भुगतानो को सरलता से निर्धारित किया जा सकता है। लगान का आधुनिक सिद्धान्त वास्तव मे इसी सीमान्त उत्पादन शक्ति पर आधारित है। सीमान्त उत्पादन शक्ति के द्वारा हम यह पता लगा सकते है कि व्यक्ति ने कितना काम किया, वह कितने पारिश्रमिक का अधिकारी है इत्यादि। श्रमिक सीमान्त उत्पादन शक्ति के बराबर भुगतान चाहता है। यदि उससे कम मिलेगा तो वह काम नही करेगा और अधिक उत्पादक नही दे सकता है। इस सीमान्त उत्पादन शक्ति का लाभ उठाने के लिये साधन मे गतिशीलता होना अनिवार्य है। वह वेतन और परिस्थितियो के अनुकूल अपना रोजगार न बदल सके या उसमे गतिशीलता न हो तो उसे वेतन उसकी सीमान्त-उत्पादन-शक्ति के बराबर नही मिलेगा। यदि उत्पादन के सभी साधन गतिशील होते तो सभी को भुगतान उनकी सीमान्त-उत्पादन-शक्ति के बराबर मिलता। ऐसी अवस्था में विभिन्न साधनो के सभी भुगतानो को सीमान्त-उत्पादन-शक्ति के सिद्धान्त द्वारा निर्धारित कर सकते है। इस प्रकार वितरण की सभी समस्या हल हो जाती है। परन्तु व्यावहारिक जीवन में सभी साधन पूर्णतया गतिशील नही होते है और किसी साधन मे गति होती ही नही। इसलिये उस साधन का भुगतान सीमान्त-उत्पादन-शक्ति के द्वारा नही होता है। इस कारण एक दूसरे सिद्धान्त की आवश्यकता पडी। कुछ विद्वानो ने कहा कि यह भुगतान अतिरिक्त उपज (Surplus) के रूप मे होता है। इस अतिरिक्त उपज को समझाने के लिये उक्त आधुनिक सिद्धान्त ही अधिक उपयुक्त है। प्राय अब विभिन्न भुगतानो के लिये एक सिद्धान्त मिल गया है। यदि सीमान्त-उत्पादन-शक्ति की सभी समस्याएँ अथवा आधुनिक परिभाषा के अन्तर्गत आयी सभी समस्याएँ पूरी न हो तो साधन को भुगतान लगान के आधार पर होगा। अर्थात् अब केवल दो पक्ष सम्मुख आ गये है—(१) लगान या (२) बेलगान। बे लगान पक्ष सीमान्त-उत्पादन-शक्ति का ही दूसरा रूप है। इससे हमे साधन की एक विशेषता का पता चलता है अर्थात् साधन की गतिशीलता। यदि गतिशीलता नही है तो इन समस्याओ को लगान का आधुनिक सिद्धान्त समझाता है। प्राचीन अर्थशास्त्रियो ने लगान को भूमि से जोड

दिया परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री दोनो मे भेद करते है और साधन की गतिशीलता को प्रमुख स्थान देते हैं।

ठेकेदारी लगान :—लगान के इस रूप का सम्बन्ध प्राय कृपक और भू-स्वामी में पाया जाता है। भारतवर्ष के अधिकतर कृपक असामियो की तरह जमीदारो की खेती को जोतते-बोते थे और कुछ समय पहले तक जब जमीदारी उन्मूलन का कानून बना उनकी दशा में कुछ भी अन्तर नही आया था। वे जमीदार को जमीन के उपयोग के बदले लगान दिया करते थे। यह लगान दो रूपो मे दिया जा सकता है—(१) उत्पादित अन्न को बेचकर द्रव्य के रूप मे या (२) अन्न के निश्चित परिमाण के रूप मे।

आर्थिक लगान के अन्तर्गत हम यह समझा चुके है कि अच्छी भूमि में सीमान्त भूमि की उपज से अधिक जितनी भी उपज होगी वह आर्थिक लगान कही जायेगी। परन्तु व्यवहार में यह पाया गया है कि किसान इस आर्थिक लगान के पूरे परिमाण को देना नही चाहता है। वह भू-स्वामी से भूमि लेने के पहले एक समझौता कर लेता है जिसके अनुसार किसान को समझौते की अवधि तक एक निश्चित दर में लगान चुकाना पडता है। इस अवधि के समाप्त होने तक यदि ओलो, अधिक वृष्टि या अन्य किसी कारण से पैदावार को हानि पहुँचे और कृपक का उत्पादन व्यय भी न निकल सके तो भू-स्वामी इस स्थिति से प्रभावित होकर कृपक असामी को कुछ रियायत नही देता है। अवधि पूर्ण होने तक लगान चुकाने का कृषक असामी पर पूर्ण उत्तरदायित्व है।

जमीदार कृषको को असामी के रूप में अपनी जमीन पैदावार के लिये देता है। इस व्यवहार में माँग और पूर्ति का नियम लागू होता है। जैसे-जैसे जनसख्या में वृद्धि होती है मनुष्यो की आवश्यकताओ मे भी वृद्धि होती है। उत्पादन की अधिकता की आवश्यकता का अनुभव होता है और अन्त में इसके लिये भूमि की माँग अनिवार्य हो जाती है। जब भूमि की माँग में वृद्धि होती है और भूमि की पूर्ति उसी अनुपात मे नही हो सकती है क्योकि भूमि की मात्रा निश्चित होती है। उसे आवश्यकतानुसार घटाया-बढाया नही जा सकता है। तब प्राय जमीदार या भू-स्वामी परिस्थिति का लाभ उठाने से नही चूकते। इससे भूमि का लगान बढा दिया जाता है। इसे भूमि की कमी से दिया जानेवाला लगान (Scarcity Rent) कहते है। यद्यपि किसान इस बात से पहले ही परिचित रहता है कि अमुक भूमि मे अमुक मात्रा में उत्पादन सम्भव है। अतएव वह अपनी अनुमानित बचत की मात्रा से अधिक लगान देने को तैय्यार नही होता है परन्तु कृषको में यदि भूमि प्राप्त करने के लिये प्रतिस्पर्धा अधिक हो तो वह विवश होकर अधिक लगान देने को उद्यत हो जाता है। यह

स्थिति अधिकतर कम आती है। यदि जमीदार अपनी बेकार पडी जमीन को उत्पादन के लिये देना चाहते हो और कृषको में उसे प्राप्त करने की विशेष उत्सुकता न हो अर्थात् भूमि की माँग कम हो तो लगान मे भी कमी आ जायेगी जिससे किसान आकृष्ट होकर उसका उपयोग कर सके। भूमि को लगान पर देने से पहले भू-स्वामी भी इस बात का पता लगा लेते है कि यदि वह स्वय उस भूमि मे उत्पादन करे तो कितनी बचत प्राप्त कर सकता है और वह कृषक से उतनी ही मात्रा मे लगान की माँग करेगा। इस प्रकार जमीदार या भू-स्वामी अधिकतम या आर्थिक लगान की माँग करता है और कृषक न्यूनतम लगान देना चाहता है। इस तरह इन दोनो सीमाओ के बीच मे लगान की दर निश्चित होती है। सौभाग्य से यदि भूमि अधिक उत्पादन शक्ति वाली निकली और अनुमानित पैदावार से अधिक पैदावार हुई तो इससे कृषक की बचत मे वृद्धि होगी और वह लाभान्वित होगा। समझौते की अवधि तक इस अधिक बचत पर जमीदार या भू-स्वामी का कुछ अधिकार नही होता है।

भारतवर्ष में अधिकतर जनसख्या ग्रामो में बसती है और उसका मुख्य पेशा कृषि ही होता है। जनसख्या की वृद्धि के साथ ही अन्य उद्योग-धन्धो में वाछित वृद्धि नही हो पाती है तथा आय के अन्य स्रोत भी उपलब्ध नही होते है, अतएव बढी जनसख्या का भार भूमि पर ही पडता है, भूमि की माँग बढती है और उसके लगान में भी वृद्धि होती है। यही कारण है कि भारत के कृषको को अधिक लगान देना पडता है।

उत्पादन के क्षेत्र में प्राय हल, बैल और गोबर की खाद का व्यवहार किया जाता रहा है। परन्तु वैज्ञानिक आविष्कारो से खेती की उपज बढ़ाने में काफी सहायता मिली है। गहरी खेती एव विस्तृत खेती करके वैज्ञानिक खाद और ट्रैक्टरो तथा अच्छे बीजो का प्रयोग करके अधिक उत्पादन सम्भव हुआ है। यदि उत्पादन की वृद्धि के अनुपात में माँग मे वृद्धि न हुई तब पूर्ति की अधिकता के फलस्वरूप वस्तु के मूल्य में कमी आ जायेगी जिसका प्रभाव लगान पर पडेगा। ऐसी स्थिति में लगान मे भी पर्याप्त कमी आ जाती है। इस अवस्था मे एक बात ध्यान देने योग्य है। पहले यह बताया जा चुका है कि लगान निर्धारित करने में सीमान्त भूमि को ही सहायता लेनी पडती है। अच्छी भूमि के उपयोग के पश्चात् क्रमश कम अच्छी और अन्त मे निकृष्ट भूमि तक में उत्पादन किया जाता है। जब सीमान्त भूमि प्राप्त हो जाती है उस अवस्था से आगे उत्पादन नही बढाया जाता जब तक कि अन्य परिस्थितियाँ अनुकूल न हो। वैज्ञानिक उत्पादन प्रणाली से जब उत्पादन की मात्रा माँग से अधिक हो जाती है तब प्राय उत्पादक सीमान्त भूमि में उत्पादन करना छोड देते है और

ऐसी अवस्था मे उससे पूर्व की अच्छी भूमि सीमान्त भूमि बन जाती है और लगान मे कमी आ जाती है।

आज का युग अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का युग है। यातायात के साधनो से माँग और पूर्ति की स्थानीय समस्याओ को हल किया जा सकता है। प्राय प्रत्येक देश किसी न किसी वस्तु का आयात-निर्यात करता है। इस स्थिति को यदि गभीरतापूर्वक देखा जाय तो विदित होगा कि देश से जिन वस्तुओ का निर्यात किया जाता है उनका लगान बढ जायेगा क्योंकि उनकी विदेशो मे माँग अधिक है और जिन वस्तुओं का आयात किया जाता है उस सम्बन्ध के देशी साधनो का लगान कम हो जायेगा क्योकि पूर्ति की अधिकाश मात्रा आयात द्वारा प्राप्त की जा सकती है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ठेकेदारी लगान स्थिर नही रहता है वरन् परिस्थितियो के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियाँ भी इसके परिवर्तन को बहुत प्रभावित करती है। इसके साथ ही उत्पादित वस्तु का मूल्य भी लगान के क्षेत्र में विशेष महत्व रखता है और उसके परिवर्तन का प्रमुख कारण होता है। इसका विवेचन आगे किया जायेगा।

मकानो का किराया (Rent) —लगान का भूमि की उपयोगिता से घनिष्ठ सम्बन्ध है। मकान बनाने योग्य भूमि की समान मात्रा का किराया विभिन्न होता है। शहर में अच्छी स्थिति मे बने छोटे मकान का किराया कम अच्छी स्थिति में बने बडे मकान के किराये से अधिक होता है। अच्छी स्थिति में भूमि के छोटे भाग का मूल्य अन्य भू-भागो की अपेक्षा अधिक होता है। क्यो? इसको समझने के लिये हमे भूमि की अच्छी और बुरी स्थिति को समझना चाहिये। अच्छी भूमि अपने वातावरण और स्थिति पर निर्भर करती है। यदि ऐसी भूमि प्राप्त हो सके जिसके समीप पार्क हो, जल का उचित प्रबन्ध हो, पडोस के मकान अच्छे, खुले और स्वास्थ्य-प्रद हो और समीप से ही स्वच्छ चौडा मार्ग उसे शहर से मिलाता हो तो अवश्य ही उस भूमि का मूल्य बढ जायेगा और उस स्थान पर बने मकान का किराया भी अधिक होगा। यदि इसी मात्रा मे भूमि-भाग शहर के किसी घने-बसे मुहल्ले मे मिले जहाँ न स्वच्छ वायु मिल सकती हो, न पार्क हो, न स्वास्थ्य की अन्य सुविधाएँ ही प्राप्त हो तो अवश्य ही उसका मूल्य पूर्व की भूमि से कम होगा। यदि भूमि शहर से दूर अलग हो और समीप कोई बस्ती न हो तब उस स्थिति पर मूल्य कम होगा और लगान भी यदि शहर मे उद्योग-धन्धे चलते हो तो उससे भी मकानो की कमी हो जाती है और उपलब्ध मकानो का किराया बढ जाता है। उन उद्योग-केन्द्रों के समीप की चारो ओर की भूमि का लगान भी बढ जाता है क्योकि

उसकी माँग बढ जाती है। शहरो में रहने के मकानों से अधिक किराया दूकानों का देना पडता है जिसकी स्थिति व्यापारिक दृष्टि से अच्छी होती है। परन्तु यह न भूलना चाहिये कि मकानो का किराया भी माँग और पूर्ति के सिद्धान्त से प्रभावित होता है। यदि दूकान छोटी सी भी हो परन्तु उसकी माँग अधिक हो तो उसका किराया अवश्य अधिक होगा। अतएव मकानो का किराया निर्धारित करने के लिये स्थिति के साथ ही माँग और पूर्ति का भी ध्यान रखना पड़ता है। लगान की तरह किराया भी सीमान्त भूमि के आधार से निर्धारित किया जायेगा।

खानों का लगान :—खानो का लगान दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है। खान के मालिक को उसकी पूंजी के उपयोग के बदले में रौयल्टी मिलती है। यह खान से निकलनेवाले उस खनिज पदार्थ पर मिलती है जो क्रमशः घटता जाता है। कुल लगान का शेष अश खान की स्थिति और प्रतिस्पर्धा पर भी निर्भर करता है। यदि उसकी स्थिति अच्छी है अर्थात् वहाँ से उत्पादन के केन्द्रो तक यातायात व्यय कम है और उसमें शीघ्रता की जा सकती है तो अवश्य उसका लगान अधिक होगा। इसके साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि प्रारभ में खान के स्वामी ने उसको प्राप्त करने के इच्छुक उत्पादको की प्रतिस्पर्द्धा का भी लाभ उठाया होगा। खान के लगान का यह पक्ष लगभग भूमि के लगान की तरह है। लगान सदा सीमान्त भूमि अथवा सीमान्त खान से निर्धारित किया जाता है। अतएव यह सम्भव है कि उस प्रदेश में अथवा सारे देश में अवश्य कोई खान ऐसी स्थिति में होगी जिसका कुल उत्पादन उसके उत्पादन व्यय के बराबर होगा जिसे हम सीमान्त कहेंगे।

मत्स्य लगान :—मछली तालाबो, नदियो और समुद्र में पकडी जाती है। मछली पकडने के क्षेत्रो की स्थिति समान नही होती है; उसमें उत्पादन व्यय भी भिन्न-भिन्न होता है। यदि तालाब में पर्याप्त मछलियाँ मिल सकती है और उनकी माँग अधिक है तो अवश्य लगान अधिक होगा; इसी प्रकार नदियो और समुद्रतटो के समीप हो सकता है। परन्तु यदि मछली पकडने के लिये अधिक दूर जाना पडे, उत्पादन व्यय अधिक हो तो उस क्षेत्र के लगान में अवश्य कमी होगी। इन क्षेत्रो की हम उक्त खानो से तुलना कर सकते है और उन्ही के अनुरूप इनका भी लगान निर्धारित किया जा सकता है।

योग्यता का लगान :—लगान के आधुनिक सिद्धान्त के अन्तर्गत यह बताया जा चुका है कि योग्यता के लगान का उत्पादन के साधन की विशिष्टता से सम्बन्ध है। यदि कोई श्रमिक एक स्थान पर १००) प्रति माह पारिश्रमिक पाता है और दूसरे स्थान पर ४०) प्रति माह पा सकता

है तो यह ६०) का अन्तर उसकी योग्यता का लगान कहा जायेगा। इसका तात्पर्य यह है कि उस श्रमिक के पास ऐसी योग्यता है जिसका दूसरी स्थिति में कुछ उपयोग नही है परन्तु प्रथम स्थान में उसका अधिक उपयोग वाछित है। अतएव वह उस स्थान पर अपनी योग्यता का प्रयोग करके ६०) की अधिक आय कर सकता है। यही स्थिति मशीन, भूमि इत्यादि के लिये भी सम्भव हो सकती है।

अनुपार्जित वृद्धि या अर्ध लगान (Quasi Rent) :— यह पहले कहा जा चुका है कि लगान कभी स्थिर नही रहता है। ठेकेदारी का लगान यद्यपि ठेके की अवधि तक ही स्थिर रह पाता है इसके पश्चात् यदि भूमि अधिक उपजाऊ सिद्ध होती है या भूमि की माँग मे वृद्धि हो जाती है तव उसके लगान मे भी वृद्धि हो जाती है अन्यथा इसके विपरीत भी होता है। परन्तु यदि अचानक किन्ही विशेष परिस्थितियों और परिवर्त्तनो के कारण लगान में वृद्धि हो जाय तो उस वृद्धि को अनुपार्जित वृद्धि ही कहेंगे। लगान मे वह वृद्धि उत्पादक के प्रत्यक्ष उद्योग का परिणाम नही होती है वरन् उन अन्य शक्तियो के बल से वह सम्भव हो जाती है जिस पर उत्पादक एव उपभोक्ता दोनो नियन्त्रण नही रख सकते है। उदाहरण के लिये एक एकान्त स्थान ले लीजिये जो शहर और गाँव दोनो से अलग हो। उसका लगान कम होगा क्योकि वह न शहर के उपयोग में आ सकता है न गाँवों के। परन्तु यदि कोई वैज्ञानिक वहाँ किसी धातु की खान खोज निकाले तो एकदम उस भूमि का मूल्य आशातीत बढ जायेगा। उसके समीप की भूमि की भी माँग वढ जायेगी। अतएव उस सारे क्षेत्र का लगान काफी बढ जायेगा। यह वृद्धि भू-स्वामी के उद्योग से नही हुई है अतएव अनुपार्जित वृद्धि या अर्ध लगान कही जायेगी। प्राय. यह देखा जाता है कि शहर के कुछ भागो का लगान कम होता है परन्तु यदि उस भाग के समीप ही कोई कारखाना खुल जाय, या कोई सुन्दर नयी शैली का पार्क वन जाय, या वहाँ पर सिचाई इत्यादि की नयी योजना कार्यान्वित की जाय तो ऐसे भागो का लगान एकाएक बढ जाता है। इस वृद्धि में भी उस प्रदेश का स्वामी किसी भी रूप में सहायक नही होता है वरन् वाह्य शक्तियाँ और वाह्य वातावरण ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर देते हैं जिससे उस स्थान की उपयोगिता में काफी वृद्धि हो जाती है और माँग वढने से उसके लगान में भी वृद्धि हो जाती है। उद्योग-धन्धो के केन्द्रों की स्थापना से अधिकतर वहुत से प्रदेशों के स्वामी लगान में अनुपार्जित वृद्धि का लाभ उठाते है। इन केन्द्रो पर श्रमिको इत्यादि की सख्या आकृष्ट होती है और अधिक जनसख्या हो जाने से छोटे, गन्दे मकानो के किरायों में पर्याप्त वृद्धि हो जाती है, स्थानाभाव के कारण छोटे से भू-भाग के

मूल्य में कई गुना वृद्धि हो जाती है। इस अनुपार्जित आय का उपभोग वह व्यक्ति करता है जिसका इन परिस्थितियों के निर्माण मे किंचित् मात्र भी सहयोग नही है। इसीलिये अनेक विद्वानो का मत है कि इस अनुपार्जित वृद्धि या इस अर्थ लगान का यह भू-स्वामी वास्तविक अधिकारी नही है। सम्पूर्ण राष्ट्र उसका अधिकारी है। अतएव यह सुझाव दिया जाता है कि सरकार को यह अर्थ लगान अधिक कर लगाकर या भूमि का राष्ट्रीयकरण करके अपने अधिकार मे कर लेना चाहिये जहां से उसका उपयोग समस्त राष्ट्र के हित के लिये सभव हो सकता है। इसके पीछे यह तर्क है कि उस आय पर मनुष्य का कोई अधिकार नही है जिसको प्राप्त करने के लिये उसने किंचित् मात्र भी प्रयत्न न किया हो।

मूल्य और लगान:—विद्वानो में प्राय. यह विवाद चला करता है कि मूल्य को निर्धारित करने में लगान ही मुख्य आधार है। दूसरे पक्ष का यह कथन है कि मूल्य में परिवर्तन पहले होता है जिसके प्रभाव से लगान में भी अनुकूल परिवर्तन होते है। सक्षेप मे उनका मत है कि मूल्य लगान को निर्धारित करता है।

व्यावहारिक जगत् में प्रायः लोग यह कहते है कि लगान में वृद्धि हो गयी है जिसके फलस्वरूप वस्तुओ के मूल्यो में भी वृद्धि हो गयी है। परन्तु यह कथन सत्य नही है। रिकार्डो का मत था कि मूल्य लगान को प्रभावित करता है। लगान निर्धारित करने के नियम का अध्ययन करने से स्थिति स्पष्ट हो जाती है। लगान निर्धारित करने के लिये सीमान्त भूमि का माप होना आवश्यक है क्योकि किसी भी भूमि पर लगान उस भूमि की कुल उपज और उसके कुल उत्पादन व्यय का अन्तर ही है। पुनः सीमान्त भूमि में कुल उपज और कुल उत्पादन व्यय बराबर होते है। तात्पर्य यह है कि जब कुल उत्पादन व्यय कुल उपज के मूल्य के बराबर होता है उस स्थिति में उत्पादक को कुछ लगान नही देना पडता है परन्तु ज्योही कुल उपज का मूल्य उत्पादन व्यय से अधिक होता है लगान की समस्या आने लगती है। दूसरी ओर यदि भूमि के एक निश्चित भाग से इतना उत्पादन किया जा सकता है कि जनसख्या के एक निश्चित भाग की माँग की पूर्ति की जा सके। ऐसी स्थिति में किसान भू-स्वामी को एक निश्चित मात्रा में लगान देता है। परन्तु किसी कारण यदि जनसख्या में वृद्धि हो जाय या उस वस्तु का उपभोग किसी कारण बढ जाय तो पूर्ति की मात्रा माँग की मात्रा के बराबर न रहेगी अर्थात् घट जायेगी। माँग और पूर्ति के नियम के अनुसार इसका तुरन्त यह परिणाम होगा कि वस्तु का मूल्य बढ जायेगा। इससे आकृष्ट होकर उत्पादन क्षेत्र में अधिक उत्पादन की ओर प्रवृत्ति होगी जिसका परिणाम यह होगा कि वह भूमि

जो अब तक निकृष्ट समझी जाती थी जोती-बोई जायेगी। माना कि उसके उत्पादन से माँग और पूर्ति बराबर हो जाती है परन्तु यह न भूलना चाहिये कि यह निकृष्ट भूमि इस उदाहरण मे सीमान्त भूमि है और इसका कुल उत्पादन अपने पूर्व की उस भूमि से कम है जो इससे पहले सीमान्त भूमि थी। अतएव इस भूमि के उत्पादन की कुल मात्रा के आधार पर लगान निर्धारित करने से अवश्य पूर्व की भूमियो के लगान में वृद्धि हो जायेगी। लगान में यह वृद्धि उस मूल्य के कारण हुई जिसमें पूर्ति कम होने से वृद्धि हुई थी।

उत्पादक वस्तु का विक्रय कम से कम उसी मूल्य पर करता है जिस मूल्य पर उसने उसका उत्पादन किया है। प्राय सीमान्त भूमि में कुल उत्पादन का मूल्य उसके कुल उत्पादन व्यय के बराबर होता है। यदि इससे कम हो अर्थात् उत्पादन व्यय अधिक हो तो उत्पादक ऐसी स्थिति में उत्पादन नही करेगा। ऐसी स्थिति में नयी भूमि में पैदावार नही की जायेगी और परिणामत लगान में वृद्धि न होगी। अतएव यह कहना अधिक उचित है कि मूल्य से लगान प्रभावित होता है। यदि इसके विपरीत वस्तु की माँग कम हो जाय या जनसख्या किसी कारण कम हो जाय तो इसका प्रभाव वस्तु के मूल्य पर अवश्य पड़ेगा क्योकि माँग और पूर्ति के नियम के अनुसार यदि माँग कम है और पूर्ति अधिक है तो वस्तु का मूल्य कम हो जायेगा। इसका प्रभाव उत्पादन केन्द्रों में पडेगा और उस भूमि में उत्पादन बन्द हो जायेगा जो उस स्थिति में सीमान्त थी। परिणामतः उससे पूर्व की भूमि सीमान्त मानी जायेगी जिसके कुल उत्पादन की मात्रा सीमान्त भूमि की उत्पादित मात्रा से अधिक है। अतएव भूमि का लगान कम हो जायेगा और भूमि की माँग भी कम पड़ जायेगी। यदि किसी उद्योग का कोई केन्द्र असफल हो जाता है तो उस स्थान की माँग कम हो जाती है और प्रत्येक घर, भू-भाग इत्यादि का मूल्य गिरने लगता है। लगान भी कम हो जाता है। अतएव वास्तविकता यह है कि मूल्य ही लगान को प्रभावित करता है। इसको एक अन्य उदाहरण द्वारा भी समझा जा सकता है। वर्तमान युग अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का युग है। यह सम्भव नही है कि यदि देश में किसी वस्तु की माँग अधिक हो और पूर्ति बहुत कम हो तो स्थिति को वैसा ही रहने दें। सरकार अथवा व्यापारी विदेशों से उस वस्तु का आयात करेंगे। इससे पहले देश मे उस वस्तु के उत्पादन केन्द्रो मे भूमि इत्यादि के अभाव का भू-स्वामी काफी लाभ उठा रहे थे। बाजार मे वस्तुओं के मूल्य अधिक थे और केन्द्रो मे लगान भी अधिक था। परन्तु विदेशी वस्तु के सस्ते मूल्य में मिलने से उसीका उपभोग बढा और उस क्षेत्र में सीमान्त भूमि की नयी सीमा का निर्माण हुआ। इस दृष्टि

से देशी उत्पादन केन्द्र या तो वन्द हो जायेंगे या उन्हें भी मूल्य कम करना पडेगा अर्थात् लगान मे अवश्य कमी हो जायेगी। इस कमी का सारा श्रेय आयात की गयी वस्तु के सस्ते मूल्य को है।

इतना सब होते हुए भी यह ज्ञात हुआ है कि यदि भूमि पर जमींदारो का या सरकार का एकाधिकार हो तो लगान मूल्य को प्रभावित करता है। एकाधिकार में लगान स्वामी की इच्छा पर निर्भर करता है। वस्तु का मूल्य सीमान्त भूमि की उपज के आधार पर निर्धारित किया जाता है अर्थात् उस स्थिति में कुल उपज और उत्पादन व्यय वरावर होते हैं और लगान शून्य होता है। उत्पादक इस न्यूनतम सीमा से कम मूल्य स्वीकार नही करेगा। एकाधिकार में भूमि का लगान सीमान्त भूमि के दृष्टिकोण से निर्धारित नही किया जाता है और वह अधिक हो सकता है। ऐसी अवस्था में उत्पादक उस लगान को अपने उत्पादन व्यय में सम्मिलित कर लेता है और परिणामत प्रति इकाई मूल्य वढ जाता है। कभी-कभी जमीदार किसानो के विशिष्टता के गुण का अनुचित लाभ उठाते हैं। अन्य उद्योग-धन्धो के द्वारा अपना भरण-पोषण करने में असमर्थ होने से कृषको की सख्या भूमि प्राप्त करने के लिये परस्पर गहरी प्रतिस्पर्धा की शिकार वनती है और अधिक लगान में भूमि को ले लेती है। दूसरी ओर निर्धन होने के कारण वे भूमिपति से मोल भाव भी नही कर सकते हैं क्योकि भूमि की माँग अधिक होती है और पूर्ति कम। इस स्थिति में भी अधिक लगान स्वीकार करने पर कृषक विवश होता है और अन्त में उसे अपने उत्पादन व्यय में सम्मिलित कर लेता है जिसका प्रभाव अन्त में वस्तु के मूल्य पर पडता है। भारतवर्ष में कृषको को प्राय. ऐसी परिस्थितियो का सामना करना पडता है।

अभ्यास के प्रश्न

१ रिकार्डो के लगान का सिद्धान्त समझाइये और यह वतलाइये कि आप उससे कहाँ तक सहमत है?

२. लगान और मूल्य का सम्वन्ध वतलाइये और समझाइये कि लगान मूल्य से किस प्रकार निर्धारित किया जाता है ?

३. लगान का आधुनिक सिद्धान्त समझाइये और उसका रिकार्डो के लगान के सिद्धान्त से सम्वन्ध वतलाइये।

४ निम्नलिखित पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिये:—

(अ) अर्ध लगान,

(व) योग्यता का लगान,

(स) खानो का लगान।

अध्याय ५४

मजदूरी या वेतन (Wages)

साधारण बोलचाल में मजदूरी उस मजूर के पारिश्रमिक को कहते हैं जो श्रम करता है। जिस प्रकार भूमि के उपयोग के लिये किसान को भू-स्वामी को लगान देना पडता है उसी प्रकार श्रमिक को उसके श्रम के उपयोग के लिये स्वामी कुछ द्रव्य इत्यादि देता है जिसे मजदूरी या वेतन कहते हैं। राष्ट्र में उत्पादन के विभिन्न साधनो को उनकी शक्ति एवं कार्यक्षमता का विभिन्न रूपो में भुगतान किया जाता है, जैसे भूमि का भुगतान लगान, श्रम का मजदूरी या वेतन, पूंजी का सूद और साहस का लाभ के रूप में। इस अध्याय में हम केवल राष्ट्रीय आय में से श्रम के भुगतान का ही अध्ययन करेंगे।

श्रम एक ऐसा शब्द है जिसके अन्तर्गत अनेक प्रकार के कामो का समावेश है। एक किसान जब अपने हल-बैलो से दूसरे व्यक्ति के खेतो को जोतता है और कुछ प्रतिफल पाता है, या जब कोई लोहार किसी कारखाने में दूसरे व्यक्ति के लिये कुछ प्रतिफल की आशा में उत्पादन करता है, या कोई व्यक्ति एक निश्चित पारिश्रमिक पर अन्य व्यक्ति के घर म नौकर इत्यादि का काम करता है, इन सब को श्रम ही कहा जाता है। यदि कोई बडा डाक्टर, इन्जीनियर, सरकारी पदाधिकारी या क्लर्क जो कुछ निश्चित द्रव्य की मात्रा के लिये जिसे वे प्रतिमाह या प्रतिवर्ष प्राप्त कर सकते है, कार्य करते है तो अवश्य यह भी श्रम के अन्तर्गत ही समझा जायेगा। श्रम से हमारा तात्पर्य मनुष्य के मानसिक तथा शारीरिक उन प्रयत्नो से होता है जो किसी उद्देश्य विशेष के लिये किये जाते हैं। साधारण अर्थ में श्रम का प्रतिफल मजदूरी या वेतन कहा जाता है। इस कथन में एक भाव छिपा रहता है—अर्थात् मजदूरी देनेवाला व्यक्ति और मजदूरी पानेवाला व्यक्ति, बोलचाल के अर्थ में मजदूरी देनेवाला व्यक्ति मजदूरी पानेवाले व्यक्ति से अधिक शक्तिशाली या सामाजिक दृष्टिकोण से ऊँचे वर्ग का व्यक्ति समझा जाता है। इसी भाव से प्रेरित होकर कुछ अर्थशास्त्रियो ने मजदूरी और वेतन में अन्तर उत्पन्न कर दिया है। उनकी दृष्टि में मजदूरी का सम्बन्ध समाज के उस निम्न वर्ग से होता है जिसे हम मजदूर वर्ग कहते है और जो मानसिक श्रम कम और शारीरिक

श्रम अधिक करता है। मजदूर के साथ मजदूरी का यह सम्बन्ध एक विशेष बात की ओर भी संकेत करता है। वह विशेष यह बात है कि मजदूर अपने दिन भर के श्रम का प्रतिफल प्रतिदिन ही मांगता है या एक सप्ताह तक। इसका अर्थ यह हुआ कि मजदूरी समाज के श्रम करनेवालो के उस निम्न वर्ग को दी जाती है जो दिन भर अपने शारीरिक परिश्रम का उपयोग करता है जैसे लोहार, मिस्त्री, बढई और राज इत्यादि। इन्हें इनके श्रम का प्रतिफल अर्थात् मजदूरी कुछ समय पश्चात् ही दे देनी पडती है। प्राय. इनके काम मे स्थायित्व नही होता है। इसके विपरीत उन्होने यह बताया कि श्रम करनेवालो का वह वर्ग जो शारीरिक श्रम की अपेक्षा मानसिक श्रम अधिक करता है उसे उसके श्रम का प्रतिफल वेतन के रूप मे मिलता है। इस वर्ग के काम में अधिक स्थायित्व होता है और श्रम का प्रतिफल भी एक निश्चित समय में प्रतिमाह के अन्त में या वर्ष के अन्त में दिया जाता है। समाज में यह वर्ग उच्च और मध्यम श्रेणी के अन्तर्गत आता है जैसे इन्जीनियर, डाक्टर, जज इत्यादि उच्च श्रेणी में और क्लर्क अथवा कार्यालय के अन्य कर्मचारी मध्यम श्रेणी में। यह अन्तर श्रम के दृष्टिकोण से किया गया अन्तर कम है अधिकतर यह श्रम के प्रतिफल की मात्रा, उसकी निश्चितता तथा उसके आधार पर बननेवाले सामाजिक स्थान की महत्ता से प्रभावित है। अर्थशास्त्र श्रम को तथा उसके प्रतिफल को सामाजिक रहन-सहन के स्तर या श्रमिक की सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार से नही जाँचता है। अर्थशास्त्र के अन्तर्गत यह माना जाता है कि कोई भी व्यक्ति जो शारीरिक अथवा मानसिक श्रम करता है यदि उसे उसका प्रतिफल मिलता है तो वह पारिश्रमिक या मजदूरी है, अन्य कुछ नही। इसके सामाजिक पहलुओ का अध्ययन सामाजिक शास्त्र करता है अर्थशास्त्र नही। यदि अर्थशास्त्र में शारीरिक और मानसिक श्रम के भेद को मानकर मजदूरी का वर्गीकरण करें तो मजदूरी की अनेक कोटियाँ प्राप्त होगी क्योकि सभी श्रमिक बराबर मात्रा मे शारीरिक अथवा मानसिक श्रम नही करते है, प्रत्येक की मजदूरी की मात्रा में काफी अन्तर होता है और साथ ही शारीरिक श्रम और मानसिक श्रम को अलग-अलग भी नही किया जा सकता है, केवल उनकी मात्रा में अन्तर बताया जा सकता है जो प्रत्येक दो श्रमिको में भिन्न होगा। अर्थशास्त्र मे मजदूरी के अन्तर्गत हम उन सिद्धान्तो का अध्ययन करते है जिनके द्वारा मजदूरी निर्धारित की जाती है।

मजदूरी को दो भागो में विभक्त किया गया है—(१) नकद मजदूरी और (२) असली मजदूरी। प्रथम हम नकद मजदूरी का वर्णन करेंगे।

जब कोई व्यक्ति किसी कार्य के लिये श्रमिक को नियुक्त करता है

चाहे वह व्यक्तिगत कार्य के लिये हो या किसी कार्यालय या कारखाने इत्यादि के लिये, वह सदा इस बात को पहले निश्चित कर लेता है कि श्रमिक उस कार्य के लिये द्रव्य में कितना पारिश्रमिक लेगा। यदि वह केवल कुछ दिनो के लिये नियुक्त किया गया है तो पारिश्रमिक कितना रुपया प्रतिदिन लेगा यदि अधिक समय के लिये नियुक्त किया गया है तो कितना रुपया प्रतिमाह लेगा। यदि श्रमिक अपने पारिश्रमिक को रुपये आनो में बताये अर्थात् यदि वह यह कहे कि तीन रुपये प्रतिदिन के हिसाव से वह मजदूरी लेगा या १०० रुपये प्रतिमाह के हिसाव से मजदूरी लेगा तो यह मजदूरी नकद मजदूरी कही जायेगी। प्रायः श्रमिक की नियुक्ति के पहले नकद मजदूरी का निर्णय हो जाना अनिवार्य होता है। जब किसी श्रमिक को नियुक्ति-पत्र मिलता है तो उसमें केवल इस बात का उल्लेख किया होता है कि उसे अमुक-अमुक पारिश्रमिक पर एक निश्चित समय के लिये नियुक्त किया गया है। श्रमिक के इस नियुक्ति-पत्र से हम केवल यह अनुमान लगा सकते हैं कि उस श्रमिक की कार्य-क्षमता यदि द्रव्य में नापी जाय तो कितने रुपयो के वरावर होगी। नकद मजदूरी के अन्तर्गत हम श्रम और द्रव्य के विनिमय का अनुपात स्थिर कर सकते हैं। यदि श्रमिक प्रतिदिन ३ रुपया पारिश्रमिक लेता है तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि उस श्रमिक की एक दिन की कार्यक्षमता ३ रुपयो के वरावर है। इसके अन्तर्गत हम यह नही जान सकते हैं कि श्रमिक की परिस्थितियाँ क्या थी और उसकी द्रव्य की आवश्यकता की तीव्रता कितनी थी इत्यादि।

असली मजदूरी में हम श्रमिक को दी जानेवाली नकद मजदूरी के साथ ही उन सव सुविधाओ का भी अध्ययन करते है जो श्रम करने की अवधि में श्रमिक को दी जाती है। यदि किसी श्रमिक को ३ रुपया प्रतिदिन की मजदूरी की दर से नियुक्त किया जाता है तो इसका यह अर्थ नही कि दिन भर के काम के घण्टो में प्रति मिनट उसका काम चालू रहे। मनुष्य होने के नाते यह वहुत सम्भव है वह थकान का अनुभव करे। यदि श्रमिक को दिन भर में कुछ समय आराम करने को मिल जाय, मालिक की ओर से दिन में कुछ चवैना इत्यादि मिल जाय या आने-जाने के लिये मोटर इत्यादि की सुविधा हो जाय तो यह सव अतिरिक्त सुविधाएँ नकद मजदूरी के साथ जोडकर असली मजदूरी को प्राप्त किया जा सकता है। श्रमिक नकद मजदूरी स्वीकार करने से पहले इन सुविधाओ की भी जाँच कर लेगा। यदि अन्य स्थानो की अपेक्षा इस कार्य में विशेष सुविधा देखेगा तो अवश्य इस काम को स्वीकार कर लेगा। यदि एक नौकर को एक स्थान में नकद मजदूरी ३० रुपया प्रतिमाह दी जाय और दूसरे

स्थान में २० रुपया प्रतिमाह परन्तु दूसरे स्थान में पहले की अपेक्षा उसे अधिक सुविधा दी जाय अर्थात् उसे भोजन, वस्त्र और रहने को मकान मिले तथा शादी-ब्याह आदि उत्सवों में विशेष आमदनी की आशा हो, इत्यादि, तो अवश्य वह दूसरे स्थान में नियुक्त होना अधिक पसन्द करेगा। इसका मुख्य कारण यह है कि दूसरे स्थान की नकद मजदूरी यद्यपि पहले स्थान से कम है परन्तु उसकी असली मजदूरी पहले स्थान की अपेक्षा कहीं अधिक है और वह अपनी नकद मजदूरी का काफी भाग बचा सकता है। इसी प्रकार यदि अध्यापक को प्रतिमाह १२० रुपये नकद मजदूरी के साथ ही पुस्तकालय से आवश्यक पुस्तकें पढने को प्राप्त हो सकती हो, वर्ष में दो-तीन माह का अवकाश ग्रहण किया जा सकता हो और भविष्य में उन्नति कर सकने की आशा हो तो अवश्य उसकी असली मजदूरी उस क्लर्क से अधिक होगी जो १५० रुपया प्रतिमाह पाकर माह में अधिकतर फाइलों से उलझता रहता हो, वर्ष में १६ दिन से अधिक अवकाश न मिले और जिसे जीवन में आवश्यक अन्य सुविधाएँ प्राप्त न हो।

श्रमिक नियुक्ति के पहले नकद मजदूरी और असल मजदूरी की ठीक तरह से जाँच कर लेता है। यदि किसी मिल या कारखाने में मजूरों को मजदूरी तो अन्य स्थानों से कुछ कम मिलती हो परन्तु उनके रहने के लिये अच्छे मकान मिल की ओर से मिलें, राशन की अपनी दूकान उनकी वस्ती मे ही खुली हो, मिल या कारखाने में वननेवाली उनकी उपभोग की वस्तुएँ उन्हें कम मूल्य पर या मुफ्त मिल सकती हो तथा आने-जाने के लिये यातायात के साधनों की सुविधा हो, मुफ्त डाक्टरी चिकित्सा का प्रवन्ध हो और मिल या कारखाने के मुनाफे में उनका भी कुछ भाग निश्चित कर दिया गया हो तो अवश्य ही मजदूर दूसरी मिलो की अपेक्षा कम मजदूरी पर भी ऐसे मिलो या कारखानो की ओर आकर्षित होगे। इस आकर्षण का मुख्य कारण असली मजदूरी है न कि नकद मजदूरी। श्रमिक सदा ऐसे स्थानो में जाना अधिक पसन्द करता है जहाँ उसे उक्त प्रकार की सुविधाएँ मिल सकें, उसकी नकद मजदूरी का कुछ भाग वच सके जिससे उनके वालकों की शिक्षा का उचित प्रवन्ध हो सके। यदि नकद मजदूरी अधिक है पर उक्त सुविधाएँ नही है और उक्त सुविधाओ की प्राप्ति में नकद मजदूरी का अधिक भाग व्यय हो जाय तो श्रमिक को अधिक सन्तोष नही होगा। उसका सन्तोष पूर्व की स्थिति पर ही निर्भर करता है।

श्रमिक सदा इस खोज में रहता है कि उसे स्थायी काम मिल जाय। स्थायी काम में श्रमिक अपनी कार्यक्षमता का पूर्ण उपयोग कर सकता है, उसके जीवन में भी कुछ स्थिरता आ जाती है, वह एक स्थान पर रहकर प्राप्त होनेवाली निश्चित द्रव्य-राशि से अपने परिवार के भविष्य को

उज्ज्वल बनाने का प्रयत्न कर सकता है। यदि श्रमिक को इस प्रकार का कोई काम मिल जाय तो इसे हम उसकी असली मजदूरी के अन्तर्गत रख सकते हैं। यदि यहाँ नकद मजदूरी कम भी मिलती हो फिर भी श्रमिक स्थायित्व के आकर्षण से इधर खिंचता आयेगा।

मजदूरी की उक्त विशेषता के पश्चात् हम उन सिद्धान्तो का वर्णन करेंगे जिनके अनुसार मजदूरी निर्धारित की जाती है। श्रम की यह सबसे प्रमुख समस्या है कि राष्ट्रीय आय को श्रमिको में किस प्रकार विभाजित किया जाय। इस समस्या को लेकर श्रमिको और उत्पादको में सदा सघर्ष रहा है, इस असन्तोष की भावना को राजनैतिक दलो से भी विशेष बल मिला है। ससार में वर्तमान में दो 'वाद' पूँजीवाद और समाजवाद अपने-अपने ढग से इस समस्या को सुलझाने का प्रयत्न कर रहे हैं। पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था और समाजवादी अर्थ व्यवस्था में प्राय. संघर्ष होते रहे हैं और अब उन्होने विश्वव्यापी सघर्ष का रूप धारण कर लिया है।

मजदूरी निर्धारित करने के कुछ प्रमुख सिद्धान्तो का नीचे सक्षिप्त विवरण दिया गया है।

जीवन-निर्वाह सिद्धान्त (Subsistence Theory) :—यह सिद्धान्त माल्थस के जनसख्या के सिद्धान्त से प्रभावित है। माल्थस ने बतलाया था कि यदि मजदूरो का वेतन बढाया जाय तो उनकी जनसख्या में वृद्धि होने लगती है। अतएव जीवन-निर्वाह सिद्धान्त के प्रतिपादको का मत है कि यदि श्रमिको की जनसख्या में वृद्धि होगी तो इससे श्रमिको की पूर्ति बढेगी परन्तु उनकी माँग उसी अनुपात में नही बढेगी। इसलिये यह माँग और पूर्ति के नियमानुसार स्वाभाविक है कि श्रमिको की उक्त स्थिति में मजदूरी कम होने लगेगी। उक्त सिद्धान्त वाले विशेषकर यह मानते हैं कि श्रमिक को केवल इतनी मजदूरी देनी चाहिये जिससे वह जीवित भर रह सके। उसकी मुख्य आवश्यकताओ की पूर्ति हो जाय परन्तु बचत कुछ न रह सके क्योकि उन्हें भय है कि यदि मजदूरी में आवश्यकता पूरी करने के पश्चात् बचत हो सकना सम्भव हो सका तो श्रमिक आलसी हो जायेगा, उसकी उत्पादन शक्ति क्षीण हो जायेगी और कदाचित् वह श्रम करने की अपेक्षा किसी अन्य कार्य में उलझ जाय जैसे श्रमिको का सगठन करने लगे, उत्पादको के विरुद्ध श्रमिको को उभाडने लगे इत्यादि। उनका मत है कि श्रमिक को यदि जीवित रहने भर के लिये मजदूरी दी जायेगी तो वह अवश्य अपने कल की मजदूरी पर सोचने लगेगा और उसके अर्जन का प्रयत्न ही करता रहेगा और उत्पादन कार्य में इससे बाधा नही पडेगी वरन् अपनी मजदूरी को प्राप्त करने के लिये श्रमिक अधिक उत्साह से कार्य करने लगेगा। इसलिये यदि उनका वेतन बढाया जायेगा तो पूर्वकथन

के अनुसार उनकी पूर्ति बढ़ेगी, अतः श्रमिक मजदूरी कम मिलने लगेगी। अर्थात् पूर्ति बढ़ने के पश्चात् मिलनेवाली मजदूरी श्रमिक के जीवन यापन के लिये कम होगी और कम और अनुचित भोजन करने और अधिक काम करने से श्रमिकों का स्वास्थ्य खराब हो जायेगा और उनकी मृत्यु-सख्या बढने लगेगी। इससे उनकी पूर्ति कम हो जायेगी। पुनः श्रमिकों की मजदूरी में वृद्धि होगी जिसका यही परिणाम होगा। अन्त में श्रमिक की मजदूरी इस ऊँच-नीच के पश्चात् एक स्तर पर रहेगी जो उनके जीवन-निर्वाह भर के लिये पर्याप्त होगी। इस सिद्धान्त की कठोरता का आभास इसके दूसरे नाम Iron Law of Wages से स्पष्ट हो जाता है।

यह सिद्धान्त उत्पादक के दृष्टिकोण से किसी अंश में उचित भी माना जा सके परन्तु श्रमिक के दृष्टिकोण से यह एक नग्न अन्याय है। श्रम का यह तात्पर्य नही होता है कि उत्पादक को उसके जीवन से खिलवाड़ करने का अधिकार मिल गया हो। उक्त नियम उत्पादक की स्वार्थ की पराकाष्ठा का प्रमाण है जहाँ वह अपने उत्पादन को निरन्तर बढ़ाते रखने तथा अन्य कठिनाइयो से बचे रहने के लिये श्रमिक को केवल जीवित रहने भर के लिये मजदूरी दे। इस सिद्धान्त का मूलाधार माल्थस का जनसख्या का सिद्धान्त है जिसकी विस्तृत आलोचना जनसंख्या के अध्याय में की जा चुकी है। यहाँ पर केवल इतना कह देना पर्याप्त होगा कि श्रमिक के वेतन में वृद्धि कर देने से श्रमिक के रहन-सहन के स्तर में भी वृद्धि होती है। प्रत्येक श्रमिक चाहता है कि उसका परिवार अधिक सुखी एवं समृद्धिशाली बने और उसके बालक शिक्षा ग्रहण कर उच्चासन ग्रहण कर सकें। वेतन में वृद्धि होने से परिवार की इस अभिलाषा को बल मिलता है। सभ्य परिवारो में तो प्रथम जीवन को सुखी बनाने के समस्त साधनो को जुटाने की ओर ध्यान जाता है और अन्त में सुन्दर और पुष्ट बालक की इच्छा होती है। अतएव यह आवश्यक नहीं है कि मजदूरी में वृद्धि होने से श्रमिको में सन्तानोत्पत्ति की प्रवृत्ति ही जागे।

इसके पश्चात् यदि श्रमिक को केवल जीवित रहने भर के लिये मजदूरी दी जायेगी तो इसका उसके स्वास्थ्य तथा उसकी कार्यक्षमता पर बुरा प्रभाव पडता है। ऐसी अवस्था में उत्पादन में वृद्धि की आशा करना सम्भव नही है। इससे उत्पादन में कमी आ जाती है। यह सिद्धान्त पूर्ति पक्ष का तो उल्लेख करता है परन्तु माँग पक्ष का नही। यह बहुत सम्भव है कि श्रमिको की सख्या में वृद्धि होने के साथ-साथ उद्योग-धन्धो में भी विकास हो सकता है।

यह सिद्धान्त इस बात को नही समझाता है कि विभिन्न उत्पादन केन्द्रो में अथवा एक ही केन्द्र के विभिन्न श्रमिको में मजदूरी की दृष्टि से

इतनी विभिन्नता क्यो होती है। उक्त नियम के अनुसार प्रत्येक श्रमिक की मजदूरी प्राय समान रहनी चाहिये थी।

इन सब कमियो के कारण उक्त सिद्धान्त अब मान्य नही है।

मजदूरी कोष सिद्धान्त (Wages Fund Theory) :—इस सिद्धान्त का सम्बन्ध प्रसिद्ध विद्वान जे० एम० मिल से है। इस सिद्धान्त के अनुसार उत्पादक उत्पादन आरम्भ करने से पहले एक कोष का निर्माण करता है जिसका परिमाण स्थिर रहता है। उत्पादन कार्य में लगे सभी श्रमिको को मजदूरी इसी कोष से दी जाती है। मजदूरो की सख्या से यदि इस कोष की द्रव्य मात्रा को विभाजित कर दिया जाय तो प्रति श्रमिक की मजदूरी ज्ञात हो सकती है। उत्पादक प्रथम ही यह अनुमान लगा लेता है कि उसके उत्पादन कार्य में अमुक सख्या मे श्रमिकों का प्रयोग होगा और अपनी कुल पूंजी में से उसी हिसाब से वह द्रव्य अलग करके इस कोष का निर्माण करता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वह मजदूरी निश्चित करते समय श्रमिको की सख्या को स्थिर मान लेता है। परन्तु यह आवश्यक नही है कि श्रमिको की संख्या उसी अनुमानित सीमा पर ही रहे। इस सिद्धान्त में श्रमिको की पूर्ति के पक्ष पर विशेष ध्यान नही दिया गया है। यदि श्रमिको की पूर्ति मे किसी कारण से कमी हो तो प्रति श्रमिक मजदूरी में वृद्धि होगी; यदि पूर्ति बढी तो प्रति श्रमिक मजदूरी में ह्रास होना आवश्यकीय है। श्रमिकों की पूर्ति सदा परिवर्तनशील रही है अतएव यह सिद्धान्त उत्पादन क्षेत्र में श्रमिको के प्रति न्याय नही करता है। यदि यह मान लिया जाय कि कारखाने या मिल को अत्यन्त कुशल इन्जीनियर की आवश्यकता हुई और इन्जीनियर का वेतन अनुमानित वेतन से कही अधिक देना पडा तो मजदूरी कोष स्थिर होने से उस पर गहरा प्रभाव पडेगा। शेष द्रव्य-राशि श्रमिको के अनुपात में कम हो जायेगी और उस परिस्थिति में श्रमिको को कम मजदूरी मिलेगी। यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या श्रमिक अपनी मजदूरी में इस आकस्मिक घटती को चुपचाप स्वीकार कर लेंगे? श्रमिक अपनी मजदूरी के प्रति उदासीन नही रहता है। उत्पादको की प्रतिस्पर्धा में कदाचित् श्रमिको की संख्या दूसरे अच्छे उत्पादन क्षेत्रो की ओर आकृष्ट हो जाय या उनमें असन्तोष की भावना बढे और उत्पादन कार्य में बाधा पड़े।

उत्पादन पर श्रमिक की कार्यक्षमता का प्रभाव पडता है। उत्पादक मजदूरी निर्धारित करते समय मजदूर की उत्पादन शक्ति को ध्यान में रखता है। परन्तु एक बार मजदूरी कोष निश्चित हो जानेपर श्रमिकों की उत्पादन-शक्ति का प्रभाव उस पर नही पड़ता है और इस प्रकार श्रमिको की मजदूरी में भी विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।

यह सिद्धान्त अब मान्य नही है। प्रति श्रमिक की मजदूरी को निश्चित किये बिना सारे मजदूरो के लिये एक मजदूरी-कोष स्थिर कर देना किसी भी दृष्टि से उचित नही कहा जा सकता है। अनुमान के बल पर मजदूरी श्रमिक की उत्पादन-शक्ति से अधिक भी हो सकती है जिससे उत्पादक को हानि हो और कम भी हो सकती है जिससे श्रमिक को हानि हो।

व्यवहार में प्रत्येक कारखानो या मिलो मे अनेक प्रकार के विभिन्न श्रेणियो के श्रमिक कार्य करते है और प्रत्येक को मजदूरी विभिन्न दरो से दी जाती है। उसके इन्जीनियर को अवश्य साधारण श्रमिक से कही अधिक मजदूरी या वेतन मिलता है परन्तु उक्त सिद्धान्त से इस बात को नही समझाया जा सकता है कि मजदूरी में यह विभिन्नता क्यो है और उसको किस प्रकार निर्धारित किया जा सकता है

शेषाधिकारी सिद्धान्त (Residual Claimant Theory).—इस सिद्धान्त की विशेषता यह है कि कुल उत्पादन के पश्चात् उत्पादित सम्पत्ति का वितरण उत्पादन के साधनो में इस प्रकार किया जाता है कि श्रम का क्रम अन्तिम रहता है। उत्पादक कुल उत्पादन में से पहले उत्पादन के अन्य साधनों भूमि, पूंजी, साहस का क्रमानुसार लगान, व्याज या सूद और लाभ के रूप में भुगतान कर देता है और जो सम्पत्ति शेष रहती है उसका अधिकारी श्रम साधन होता है। इसी शेष भाग में से श्रमिको की मजदूरी दी जाती है।

उक्त नियम के अनुसार श्रम साधन को विशेष महत्त्व नही दिया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि कुल उत्पादन की मात्रा अधिक हुई तो प्रति श्रमिक मजदूरी भी अधिक मिलेगी परन्तु यदि उत्पादन कम हुआ तो प्रति श्रमिक मजदूरी कम मिलेगी। यदि श्रमिक अधिक मजदूरी चाहते हों तो उन्हें अधिक परिश्रम करके उत्पादन की मात्रा को बढाना पडेगा।

परन्तु मजदूरी केवल कुल उत्पादन की मात्रा पर ही निर्भर नही होती है। समय-समय पर उत्पादक को अपने कारखानो या मिलो में श्रमिको की सख्या में घटती-बढती करनी पडती है। उत्पादक तब तक श्रमिकों की सख्या में वृद्धि करता जाता है जब तक कि श्रमिक को दी जानेवाली मजदूरी उसकी उत्पादन शक्ति के बराबर न हो। उत्पादक सीमान्त-उत्पादन-शक्ति से अधिक मजदूरी नही देगा क्योकि इससे उसे हानि होने की सम्भावना है। उत्पादक इसी दृष्टि से श्रमिको की माँग पर नियन्त्रण रखता है। परन्तु उक्त सिद्धान्त में इस पक्ष पर पूर्ण प्रकाश नही पडता। श्रमिक की उत्पादन शक्ति चाहे कम हो या अधिक उसका श्रमिक की माँग पर कुछ प्रभाव नही पडता है क्योकि मजदूरी माँग और पूर्ति पर आधारित न होकर शेष-उत्पादन-मात्रा में आधारित होती है।

के श्रमिक होते हैं, प्रत्येक की उत्पादन शक्ति भिन्न होती है और उनमें कुछ कुशल और कुछ अकुशल श्रमिक भी सम्मिलित रहते हैं। अतएव यह अत्यन्त कठिन कार्य है कि श्रमिकों में से सीमान्त श्रमिक को खोज निकाला जाय। इस कठिनाई को हल करने के लिये अर्थशास्त्री प्राय. यह मान लिया करते हैं कि श्रम के विभिन्न प्रकारों के अनुसार श्रमिकों के भी विभिन्न वर्ग होते हैं और प्रत्येक वर्ग के श्रमिक शक्ति, कार्यक्षमता, कुशलता इत्यादि में लगभग समान होते हैं। इसके साथ ही उत्पादन के अन्य साधन मशीन, पूंजी इत्यादि को स्थिर रखकर एक वर्ग के श्रमिकों की सख्या में एक इकाई की वृद्धि की जाती है। इस इकाई का जो उत्पादन होता है वह सीमान्त उत्पादन कहा जाता है। इस मान्यता के आधार पर ही सीमान्त श्रमिक की उत्पादन-शक्ति का विचार टिका हुआ है। सीमान्त उत्पादन सदा स्थिर नही रहता है। आवश्यकतानुसार, परिस्थितिवश तथा श्रमिको की पूर्ति मे घटती-बढ़ती के साथ ही साथ सीमान्त उत्पादन मे भी परिवर्तन होते रहते है। इसीलिए विभिन्न मजदूरियाँ निर्धारित की जाती हैं क्योंकि प्रत्येक वर्ग के श्रमिको की सीमान्त-उत्पादन-शक्ति विभिन्न होती है।

मजदूरी पर अनेक बातो का प्रभाव पड़ता है। श्रम नाशवान होता है। श्रमिक उसे भविष्य के उपयोग के लिये सचित नही रख सकता है जिस कारण उसे प्राय. कम मूल्य पर भी उसका उपयोग कर देना पड़ता है। श्रमिक की निर्धनता से श्रम की नाशवान प्रकृति को और महत्त्व मिल गया है। उत्पादक श्रमिक का शोषण इस गुण के आधार पर सरलता से कर सकता है। माँग कम होने पर भी निर्धन श्रमिको की पूर्ति में निरन्तर वृद्धि होती ही जाती है क्योंकि कोई ऐसी योजना अब तक नही बन पाई है जिसकी सहायता से श्रमिको की इस बढ़ती संख्या के श्रम का उपयोग कर राष्ट्र की आय बढायी जा सके। श्रमिक यह चाहता है कि उसके प्रति मिनट का उपयोग हो।

श्रम और श्रमिक सदा एक साथ रहते हैं। यदि श्रमिक ऐसे स्थान पर बसे हों जहां पर कोई उद्योग-धन्धा नही है तो अपार मात्रा मे राष्ट्रीय-श्रम की हानि हो जाती है। यदि कोई श्रमिक उत्पादन केन्द्रो मे जाकर काम कर सकता है तभी उसके श्रम का उपयोग हो सकना सभव होता है। श्रम गतिशील अवश्य है परन्तु जलवायु, परिस्थितियाँ, जाति तथा धर्म-बन्धन उस गतिशीलता में बाधक स्वरूप होते हैं इस कारण श्रम पूर्ण गतिशील नही रहता है। इसका प्रभाव भी मजदूरी पर पडता है।

श्रमिक अशिक्षित होता है। वह श्रम की महत्ता और अपने अधिकारो से लगभग अपरिचित रहता है। इस कारण वह राष्ट्र में श्रम की स्थिति, माँग और पूर्ति को नही समझ पाता है। उसकी निर्धनता से उसको

शीघ्र की शक्ति उनकी घटती है। [illegible]
है [illegible]
जाता है। [illegible]
धीरे उनको इस [illegible] है।

वर्तमान समय में [illegible] होता [illegible] है।
अकुशल श्रमिक की मांग [illegible] है और [illegible] है।
इसी कारण उसे [illegible] मिलता है। परन्तु यदि श्रमिक
कुशल हो जाय [illegible] उत्पा-
दक से मोलभाव [illegible]
अन्यथा नहीं। उत्पादक श्रम की मांग करने के पश्चात् अधिक समय तक
नहीं रुक सकता है। वह कुशल श्रमिक [illegible] रहता है और
अकुशल को अन्त में। ऐसी स्थिति में उत्पादक की शक्ति श्रमिक की
अपेक्षा अधिक होती है। प्रायः अकुशल श्रमिक और कुशल श्रमिक दोनों
इस प्रकार के शिकार हो जाते हैं। आधुनिक समय में इस स्थिति
को सुधारने तथा श्रमिक को उत्पादक के चंगुल से बचाने के लिये श्रमिकों
के संगठन बनाये जाते हैं। श्रमिकों के इन संगठनों (ट्रेड यूनियन) के
द्वारा की गई मांग श्रमिकों की मांग सामूहिक मांग होती है और
उत्पादक पर उसका प्रभाव अवश्य पडता है। इस प्रकार श्रमिक
की मोलभाव की शक्ति काफी बढ गयी है। यदि कोई श्रमिक सगठन
से बाहर भी हो तो उसका भी संगठन के अन्तर्गत रहनेवाले श्रमिक
के बराबर ही लाभ होता है। पारिश्रमिक की एक दर निश्चित हो जाती
है और श्रमिको के अधिकारो की रक्षा हो जाती है।

मजदूरी पर रहन-सहन के स्तर का भी प्रचुर प्रभाव पडता है।
यदि श्रमिक के रहन-सहन का स्तर ऊँचा है तो वह अवश्य ऊँची मज-
दूरी पर ही कार्य करने को तैयार होगा। वह कुशल श्रमिक हो सकता
है और कार्यक्षमता में भी अन्य श्रमिको से अधिक अच्छा हो सकता है।
उसकी सीमान्त-उत्पादन-शक्ति साधारण श्रमिक से अच्छी होगी। परन्तु
यदि श्रमिको के रहन-सहन का स्तर गिरा हुआ है और उनमे प्रचुर निर्ध-
नता का प्रसार है तो अवश्य ही उनकी कार्यक्षमता में कमी होगी
और वे अधिकतर अकुशल होगे। भारतवर्ष में ऐसे श्रमिको की सख्या
अधिक है। इन्हें मजदूरी कम मिलती है क्योकि इनकी सीमान्त-उत्पादन-
शक्ति भी कम होती है। इससे इनके परिवार का भरण-पोषण कठिन हो
जाता है और लगभग वही स्थिति हो जाती है जो मजदूरी के जीवन-
निर्वाह के सिद्धान्त के अनुसार सभव है। श्रमिको के उक्त सगठन उनके
रहन-सहन को भी प्रभावित करते हैं और उसमें सुधार करते हैं।

यदि श्रमिको को उचित शिक्षा दी जाय और उनकी असली मजदूरी अधिक हो तो सम्भव हो सकता है कि उनके सामूहिक श्रम से उत्पादन की मात्रा आज की अपेक्षा कही अधिक बढ़ जाय। कुशल एव अधिक कार्यक्षमता वाले श्रमिक को उत्पादक वेतन अधिक देता है तो उससे श्रमिक की योग्यता में वृद्धि होती है। उसकी उत्पादन-शक्ति बढती है और उत्पादक को अधिक लाभ हो सकता है। परन्तु यदि उत्पादक श्रमिक को कम मजदूरी देकर उत्पादन करवायेगा तो उसे पूर्व की अपेक्षा हानि उठानी पडेगी क्योकि श्रमिक की उत्पादन शक्ति क्षीण होगी, उसकी रुचि काम पर न होगी और उसकी कार्यशैली शिथिल होगी। इसीलिये यह कहा जाता है कि यदि श्रमिक को अधिक मजदूरी दी जाय तथा अन्य सुविधाएँ दी जायँ तो उत्पादक को वह श्रमिक सस्ता पडता है क्योंकि उसकी सीमान्त-उत्पादन-शक्ति मजदूरी से काफी अधिक होती है।

अभ्यास के प्रश्न

१ नकद और असली मजदूरी मे क्या अन्तर है? इस अन्तर के महत्व को समझाइये।

२ 'जीवन-निर्वाह-सिद्धान्त' से आप क्या समझते है? इसके द्वारा मजदूरी कैसे निर्धारित की जाती है? इसके दोषो को बतलाइये।

३ मजदूरी के आधुनिक सिद्धान्त को समझाइये। इस सिद्धान्त के द्वारा मजदूरी कैसे निर्धारित की जाती है?

अध्याय ५५.

सूद (Interest)

किसान भूमि से वह उपजाता है और उत्पादित अन्नराशि में से एक निश्चित भाग लगान के रूप में जमींदार को भूमि की उत्पादनशक्ति के उपयोग के बदले में देता है। इसी प्रकार किसी वस्तु के उत्पादन में पूंजी के उपयोग के बदले जो कुछ दिया जाता है वह 'सूद' (Interest) कहलाता है।

समाज का प्रत्येक व्यक्ति स्वावलम्बी नहीं है। उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कभी न कभी दूसरे व्यक्ति पर निर्भर होना पड़ता है। वह अन्य व्यक्ति से द्रव्य उधार लेकर या कोई उपयोग की वस्तु लेकर अपना काम चलाता है और इस उपयोग के बदले में जो कुछ वह उसके स्वामियों को देता है वह 'सूद' कहलाता है। संक्षेप में 'सूद' द्रव्य के उपयोग के बदले एक निश्चित प्रतिशत में पूंजीपति को किया जाने-वाला भुगतान है। अर्थात् यदि ऋणदाता से ऋणी एक वर्ष के लिये १०० रुपये ऋण ले और उसके भुगतान में वर्ष के अन्त में ११२ रुपये दे तो ये अधिक १२ रुपये १०० रुपयों का १ वर्ष तक उपभोग करने का 'सूद' हुए। उसका अधिकारी पूंजीपति होता है।

भारतवर्ष एक निर्धन देश है। यहाँ के निवासी सदा आवश्यकताओं की वस्तुएँ अन्य व्यक्तियों से ऋण में लिया करते है। यहाँ सूद के लेन-देन का बहुत प्रचार है। प्रत्येक ग्रामीण को इसका कटु अनुभव है। यह कहा जाता है कि गाँव का किसान या अन्य कोई व्यक्ति एक बार महाजन से ऋण ले तो जीवन भर उसका 'सूद' चुकाता जाता है यहाँ तक कि उसके पुत्रो तक को यह सूद चुकाना पडता है। इसी में किसानो की भूमि, घर, खडी फसल इत्यादि नीलाम हो जाती है या गाँव का महाजन उसे ले लेता है। किसान बिना भूमि के एक मजदूर के समान काम करता है और नष्ट हो जाता है। इन किसानो का सारा जीवन ऋण के सूद को चुकाने में ही बीत जाता है। मूलधन तो कभी चुकाया ही नही जा सकता है।

व्यवहार में हम जिस द्रव्य को 'सूद' कहते है वह अर्थशास्त्र की दृष्टि से केवल सूद नही है। वह 'सूद' 'कुल सूद' (Gross Interest) होता है जिसमें वास्तविक सूद भी सम्मिलित होता है।

सूद की समस्या तभी उपस्थित होती है जब एक ऋणी हो और

दूसरा ऋणदाता। ऋणदाता अनेक प्रयत्नो—त्याग और सयम—से द्रव्य एकत्रित करता है। अपनी उपभोग की वस्तुओ का कम से कम प्रयोग करता है। अतएव वह यह नही चाहेगा कि इन कठिनाइयो में एकत्रित किया हुआ द्रव्य का अन्य व्यक्ति विना इसके वदले कुछ अधिक द्रव्य दिये उपभोग कर ले। इसी प्रकार यदि एक धनी व्यक्ति जिसके पास पूर्वजो की एकत्रित धन-राशि है अपने द्रव्य को व्यर्थ में दूसरे के उपभोग के लिये नही देगा। वह ऐसा तभी करेगा जव उपभोक्ता इसके वदले मे उसे 'सूद' दे। यह भी वहुत सम्भव होता है कि ऋणी विश्वसनीय न हो, वह अत्यन्त निर्धन हो जिसकी सम्पत्ति से पूंजी वसूल नही की जा सकती है या यदि ऋण लेनेवाला वडा उद्योगपति है तो कही दिवालिया न हो जाय। ऋणदाता को सदा अपने द्रव्य की वसूली न कर सकने का भय वना रहता है। इसलिये वह चाहता है कि ऋणी से 'सूद' लेकर इस भय की पूर्ति की जाय। अतएव जिस ऋणी से या जिस वातावरण से पूंजीपति को अधिक भय होता है वहाँ वह सूद की अधिक दर लगाता है जिससे यदि मूलधन वसूल न हो पाये तो कम से कम सूद की लगभग उतनी मात्रा ही प्राप्त हो सके। यह एक प्रकार से भय का वीमा कराना कहा जा सकता है। इसके साथ ही ऋणदाता पूंजीपति को ऋण मे दी हुई पूंजी की वसूली मे, उसके हिसाव को नियमानुसार रखने में और आवश्यकता पडने पर कानूनी कार्यवाही करने में काफी व्यय करना पडता है। वह इस व्यय को भी अपनी सूद की दर मे सम्मिलित रखता है। तात्पर्य यह है कि 'कुल सूद' मे उक्त सभी प्रकार के भुगतान भी सम्मिलित होते है और वास्तविक सूद भी। यदि कुल सूद में से उक्त सभी अन्य भुगतानो को घटा दें तो वास्तविक सूद प्राप्त हो जायगा।

सूद की दर निश्चित नही होती है। यदि वह अधिक है तो इसका तात्पर्य है कि उस लेन-देन मे भय की मात्रा अधिक है। ऋणी आवश्यक सिक्योरिटी नही दे पाता है या उसकी आर्थिक अवस्था शोचनीय होती है। यदि वह द्रव्य किसी वड़े उद्योग मे लगा है तो कदाचित् उस उद्योग का भविष्य उज्ज्वल नही है। इसी कारण गाँव के महाजन या पठान ऋणदाता अधिक सूद की दर लगाते हैं। उन्हें ऋण की वसूली मे वड़ी कठिनाइयो का सामना करना पडता है। उन्हें वल का भी प्रयोग करना पडता है और प्राय यह आशका वनी रहती है कि शायद उनकी पूँजी वसूल न हो सके। इसके विपरीत वैंक सूद की कम दर में द्रव्य ऋण दे देते है। क्योंकि नियमानुसार ऋणी को वैंक को ऐसी सिक्योरिटियाँ देनी पडती है जिससे वैंक अवाछित घटना होने पर ऋण वसूल कर सके। वैंक प्राय सम्मानित व्यक्तियो की सिक्योरिटियाँ अधिक चाहता है।

इस कारण उन्हे अपने द्रव्य की हानि हो जाने का भय नही रहता है और सूद की दर कम होने से अधिकतर शहर के धनी या सम्मानित व्यक्ति वही से आवश्यकतानुसार ऋण लिया करते है।

जब हम सूद की समस्याओ पर विचार करते है तो इससे हमारा तात्पर्य यह नही होता है कि सूद कितना लिया जाय, सूद की दरों में विभिन्नता हो या नही इत्यादि। इससे हम यह जानना चाहते है कि सूद क्यो लिया जाता है? यही अर्थशास्त्र में सूद की प्रमुख समस्या है। अर्थशास्त्र में सूद से हमारा आशय 'कुल सूद' से नही वरन् 'वास्तविक सूद' (Net Interest) से होता है। यह पहले कहा जा चुका है कि 'सूद' मे दो पक्ष होना अनिवार्य है (१) पूंजीपति (२) ऋणी। पूंजीपति चाहता है कि सूद की दर अधिकतम हो और ऋणी चाहता है कि न्यूनतम हो। यदि केवल एक पूंजीपति और एक ऋणी का ही सम्बन्ध होता तो पूंजीपति मनमाना सूद की दर लगा सकता था और ऋणी को विवश होकर उसी दर पर द्रव्य ऋण लेना पडता; परन्तु वास्तविक स्थिति ऐसी नही है। समाज में पूंजीपति भी है और ऋण लेनेवाले भी। यह सत्य है कि पूंजीपति कम है और ऋण लेनेवाले अधिक परन्तु दोनो के व्यवहारो को लेन-देन की शर्तो को मांग और पूर्ति का नियम प्रभावित करता रहता है। अतएव सूद की दर पूंजीपति की अधिकतम और ऋणी की न्यूनतम सीमा के बीच में निश्चित होता है। पूंजीपति का यह दावा है कि वह द्रव्य एकत्रित करने मे और उसको एक निश्चित समय के लिये अनेक आशकाओ के रहते हुए भी ऋण देकर एक बडा त्याग करता है। वह अपने उपभोग में कमी करके ऋणी की आवश्यकताओ की पूर्ति करता है। अतएव इसी त्याग के मूल्य स्वरूप वह सूद लेता है। जितना अधिक त्याग करना पडेगा वह उतनी ही अधिक 'सूद' की दर रखेगा। उस ऋण लेनेवाले के दृष्टिकोण से जो द्रव्य ऋण लेकर किसी उत्पादन के काम में लगाता है पूंजीपति का यह दावा अधिक महत्त्वपूर्ण नही है। उसके लिये उधार लिये हुए द्रव्य की सीमान्त-उत्पादन-शक्ति विशेष महत्त्व रखती है। इसका विवरण आगे दिया जायगा। द्रव्य की यह सीमान्त-उत्पादन-शक्ति ही ऋणी की भुगतान करने की शक्ति निर्धारित करती है। यदि सूद की दर इस सीमान्त-उत्पादन-शक्ति से अधिक हुई तो ऋणी उसका भुगतान नही कर सकेगा। यह हो सकता है कि सूद की दर अधिक होने के साथ ही व्यापार में भी उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही हो तब उद्योगपति की द्रव्य की सीमान्त इकाई की उत्पादन शक्ति भी अनुकूल हो सकती है। परन्तु यदि व्यापार मन्दा है या प्रतिस्पर्धा तीव्र है तो उद्योगपति अपने ऋण की उस ऊँची सूद की दर का

भुगतान नही कर सकेगा अतएव उस दर पर वह ऋण उधार नही लेगा।

ऐसे समाज मे सूद की दर अधिक होगी जहाँ पूंजी पर एक व्यक्ति का एकाधिकार हो। परन्तु ऐसी स्थिति समाज के लिये अत्यन्त हानिकारक सिद्ध होगी। समाज मे पूंजीपतियो और ऋण लेनेवालो दोनो मे प्रतिस्पर्धा रहती है अतएव सूद की दर माँग और पूर्ति के आधार पर ही निर्धारित की जा सकती है। यदि लोगो के पास द्रव्य अधिक हो तो उन्हे ऋण लेने की कम आवश्यकता पडेगी और माँग कम होने से सूद की दर भी कम होगी जिससे कुछ लोग आकृष्ट हो। परन्तु द्रव्य की कमी पडते ही उसकी माँग वढने लगती है और पूंजीपति वढती माँग के अनुसार सूद की दर भी वढाते जाते है। सूद की दर स्थिर नही रखी जा सकती है।

सूद की प्रमुख समस्या कि सूद क्यो लिया जाता है या ऋणी सूद क्यो देते है, अनेक विद्वानो ने अनेक प्रकार से समझाने की चेष्टा की है। उनके तत्सम्वन्धी विविध सिद्धान्तो का सक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है:—

समय - पसन्द नियम (Time Preference Theory) :—यह सवसे प्राचीन सिद्धान्त है इस सिद्धान्त के कई नाम है। इसके गुणो के अनुकूल इसे सयम का नियम (Abstinence Theory) या एजिओ सिद्धान्त (Agio Theory) भी कहते है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत यह माना जाता है कि पूंजीपति या ऋणदाता धन की वचत तभी कर सकता है जब वह अपने उपभोग पर सयम रखे। वह धन का उपभोग करने की अपेक्षा उसे वचाये और इस प्रकार निश्चित अवधि के लिये उसे उधार दे दे। उक्त सिद्धान्त-शास्त्रियो का मत है कि उपभोग का त्याग करने के फलस्वरूप जो कष्ट ऋणदाता को होता है वह उसकी माप रुपयो मे करके सूद की दर निश्चित कर लेता है। सूद से वह अपने उस कष्ट की पूर्ति कर लेता है। इसके साथ ही कुछ विद्वानों का मत है कि वह सूद इसलिए लेता है क्योकि उसे अपने वर्तमान के उपभोग को भविष्य के लिये स्थगित करना पड़ता है। स्थगित की गयी इस अवधि के लिये ही वह सूद लेता है। यदि ऋणदाता किसी व्यक्ति को एक हजार रुपये दो वर्ष के लिये ऋण में देता है तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि ऋणदाता अपने उपभोग के उस आनन्द को जो वह इन एक हजार रुपयो से वर्तमान मे प्राप्त कर सकता था दो वर्ष के लिये स्थगित कर रहा है। उसे अपने उपभोग के लिये दो वर्ष रुकना पड़ेगा। यह मनुष्य स्वभाव है कि वह उन वस्तुओं को अधिक लगाव के साथ ग्रहण करता है जिन्हे वह वर्तमान में व्यवहार में ला सकता है या जिनकी प्राप्ति के विषय मे वह निश्चिन्त है। भविष्य अदृश्य होता है और समय एवं परिस्थितियाँ भी स्थिर नही रहतीं, सदा परिवर्तित होती रहती

[illegible]

'सूद' लेता है। यदि किसी व्यक्ति को [illegible] १०० रुपये [illegible] है तो उसका अर्थ (Value) [illegible] १०० रुपये के [illegible] होता है, क्योंकि वे उन रुपयों का [illegible] और [illegible] भोग करके उनसे पूरी [illegible] सकते हैं। परन्तु यदि यह कहा जाय कि वह १०० रुपये उसे एक वर्ष बाद मिलेंगे तो उसको उन [illegible] के लिये वर्ष भर रुकना पड़ेगा। उसको अपनी वर्तमान की आवश्यकताओं को रोकना पड़ेगा। इस दृष्टि से भविष्य में मिलनेवाले १०० रुपयों का अर्थ उसके लिये ९० रुपयों के अर्थ के बराबर ही हो जायेगा अतएव यदि रुपये देनेवाला व्यक्ति उसे १०० रुपयों के वर्तमान अर्थ के बराबर भविष्य में देना चाहेगा तो उसे ११० रुपये देने पड़ेंगे। भविष्य के ११० रुपये वर्तमान के १०० रुपयों के बराबर होंगे। अर्थात् १० रुपया जो अधिक दिया गया वह उसे भविष्य तक अर्थात् एक वर्ष तक रुकने का पुरस्कार है। इसे ही सूद भी कहा जायगा। तात्पर्य यह है कि सूद वर्तमान को भविष्य की अपेक्षा अधिक पसन्द करने के कारण एक निश्चित अवधि के लिये किये गये त्याग का प्रतिफल है।

उक्त उदाहरण ऋणदाता और ऋण लेनेवाले दोनो पक्षो पर लागू होता है। प्रत्येक ऋण लेनेवाला वर्तमान की आवश्यकताओं के कारण ही ऋण लेता है और यदि उसे ऋण भविष्य में मिले तो स्थिति उक्त उदाहरण के अनुसार ही होगी। अपने ऋण में दिये द्रव्य की वसूली तक रुकने में ऋणदाता को भी उक्त परिस्थितियों का ही सामना करना पड़ता है।

सीमान्त-उत्पादन-शक्ति का सिद्धान्त (Marginal Productivity Theory)—सीमान्त उत्पादन शक्ति का महत्त्व पहले पृष्ठों में समझाया जा चुका है। श्रम की मात्रा में क्रमश जैसे-जैसे वृद्धि की जाती है वैसे-वैसे उत्पादन की मात्रा मे ह्रासोन्मुख वृद्धि होती जाती है। परिणाम यह होता है कि एक ऐसी स्थिति आ जाती है जब श्रम का मूल्य और उत्पादन की मात्रा का मूल्य बराबर हो जाते है। ऐसी स्थिति में उत्पादक को न हानि होती

है और न लाभ। ठीक इसी प्रकार यदि किसी उत्पादन कार्य में पूंजी की मात्रा को बढ़ाते जायें तो एक स्थिति ऐसी आ जायेगी जहाँ लगाई पूंजी और उससे प्राप्त आय बराबर हो जायेंगे। नियमानुसार इसी स्थिति मे सूद की दर निर्धारित की जायेगी।

यदि ऋणदाता मे कोई उत्पादक पूंजी उधार ले तो वह सूद की दर पूंजी की सीमान्त-उत्पादन-शक्ति से अधिक नही चाहेगा। वह केवल इसी सीमा तक अधिकतम सूद दे सकता है इससे अधिक देने से उसे हानि होने की सम्भावना रहती है क्योकि व्यापार इतनी शीघ्र उन्नति नही कर सकता है। ऋणदाता पूंजी उधार देते रहते है। यदि ऋण की माँग बढेगी तो सूद की दर अवश्य बढेगी परन्तु पूंजी की सीमान्त-उत्पादन-शक्ति से अधिक नही बढेगी।

यदि हम ध्यानपूर्वक इस सिद्धान्त का अध्ययन करे तो ज्ञात होगा कि इसमें केवल पूंजी के माँग-पक्ष की ही प्रमुखता है। जैसे-जैसे उत्पादन मे वृद्धि होती है, नयी पूंजी का प्रयोग होता है, उपभोक्ताओ की माँग बढती है वैसे ही वैसे सूद की दर में भी वृद्धि होती है अथवा माँग कम होने पर इसके विपरीत होता है। परन्तु इस सिद्धान्त से पूंजी की पूर्ति के पक्ष मे पूरा प्रकाश नही पडता है। यदि केवल माँग पक्ष को ही ले तो हम सूद की दर को निर्धारित नही कर सकते है। सूद की दर वहाँ पर निश्चित होगी जहाँ पर पूंजी की माँग और पूर्ति बराबर हो पर सीमान्त-उत्पादन-शक्ति का सिद्धान्त इस बात को नही समझाता है।

माँग और पूर्ति का नियम (Demand and Supply Theory)—पूंजी की माँग भी अन्य साधनो की तरह उत्पादन के लिये ही की जाती है। वर्तमान उत्पादन प्रणाली मे पूंजी की ही प्रमुखता है। प्राय साहसी विभिन्न प्रणालियो से द्रव्य एकत्रित करके उत्पादन के कार्य मे लगाते है। वे उत्पादन आरम्भ करते समय क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम के अनुसार पूंजी की एक-एक इकाई को बढाते जाते है। परन्तु पूंजी की मात्रा में वृद्धि करने से एक सीमा तक तो उत्पत्ति बढती जाती है और एक ऐसी स्थिति आ जाती है जब पूंजी की मात्रा और उत्पादन की मात्रा दोनो बराबर होते है। ऐसी स्थिति मे साहसी को न हानि होती है और न लाभ। परन्तु इसके पश्चात् एक भी मात्रा अधिक बढाने से क्रमागति उत्पत्ति ह्रास नियम लागू हो जाता है और साहसी को हानि होने लगती है। अतएव साहसी सीमान्त उत्पादन की उक्त स्थिति से अधिक आगे पूंजी की मात्रा नही बढायेगा। यही उसकी सूद देने की भी अधिकतम सीमा होगी।

यदि पूंजी की पूर्ति की ओर दृष्टि डाले तो विदित होगा कि पूंजीपति या ऋणदाता यह दावा करते है कि पूंजी का सचय करने में उन्हें अनेक

कठिनाइयो का सामना करना पडा है। नियम से रुककर और अपनी वर्तमान की आवश्यकताओ को दवाकर उसने ऋण दिया है। इसलिये वह अपने इस त्याग और समझौते को निश्चित अवधि तक धैर्य रखने के धैर्य को द्रव्य में नापता है और उसीके वरावर सूद निश्चित करता है। यह सूद की न्यूनतम सीमा होती है। जिस प्रकार साहसी या अन्य ऋणी पूंजी की सीमान्त-उत्पादन-शक्ति से अधिक सूद नही दे सकता है उसी प्रकार ऋणदाता अपनी उक्त माँग से कम नही माँग सकता है।

माँग और पूर्ति के नियम के अनुसार वाजार मे सूद की दर उस स्थान पर निर्धारित की जाती है जहाँ पर पूंजी की माँग और पूर्ति वरावर होते है। यह स्थान उत्पादक अथवा साहसी की अधिकतम सीमा और ऋण-दाता की न्यूनतम सीमा के मध्य कही होता है।

तरलता पसन्द नियम (Liquidity Preference Theory) :—यह सूद का आधुनिक सिद्धान्त है। इसके अनुसार मनुष्य स्वभाव पर दूसरे दृष्टि-कोण से प्रकाश पडता है। लार्ड जे० एम० कीन्स (Lord J. M. Keynes) का मत है कि जव कोई व्यक्ति द्रव्य उधार देता है तो उसमें समय-पसन्द नियम (Time Preference Theory) के अन्तर्गत वर्णित ऋण-दाता की कठिनाइयो और उसके त्याग का महत्व नही होता है। द्रव्य उधार वही दे सकता है जिसने कुछ द्रव्य वचा लिया हो। जव वह रुपया वचाता है तव उसका ध्यान ऋण लेनेवाले पर नही होता है। वह ऋण लेनेवाले के लिये द्रव्य नही वचाता है। वह अपने वुढापे के लिये, वच्चो के लिये या आदर सम्मान पाने के लिये वचाता है। यदि उसे कुछ त्याग करना भी पडा और द्रव्य सचय करने में कठिनाइयो का सामना करना भी पडा तो वह ऋण लेनेवालो के लिये नही वल्कि उक्त इच्छाओ के लिये। इसलिये वे जो सूद लेते है वह उनके त्याग, सयम और कष्टो के लिये नही होता है जो उन्होने ऋण लेनेवालो के लिये सहे है। क्योकि वास्तव में ऋण लेनेवाले के लिये ही विशेष रूप से, यह कष्ट नही सहे गये है। इसके पश्चात् इस ओर भी ध्यान देना आवश्यक है कि जो भी व्यक्ति रुपया वचाता है उसे त्याग ही करना पडे यह आवश्यक नही है। प्राय अधिक आमदनी वाले व्यक्ति अधिक रुपया वचाते है। वास्तव में स्थिति यह होती है कि लोग अपनी सारी सभव आवश्यकताओ की पूर्ति करने के पश्चात् भी रुपया वचा लेते है या उसे व्यय नही कर पाते है। उदाहरण के लिये यदि एक सौदागर कुछ हजार रुपये वचा लेता है तो उसका कारण यह नही है कि उसने ऋण लेनेवाले के लिये त्याग करके, कष्ट सह के इत्यादि प्रकार से वह द्रव्य वचाया है। सत्य यह है कि उसका व्यय आमदनी से कम होता है। उसका रहन सहन का स्तर पहले का-सा ही

रहता है। आमदनी बढने से उसमे किंचित् मात्र भी परिवर्तन नही होता है। अतएव आमदनी का अधिकाश भाग बचत बन जाता है जिसे वह ऋण देकर सूद लेता है। इस स्थिति में भी यह नही कहा जा सकता है कि सूद त्याग का प्रतिफल है।

व्यक्तिगत रूप से बहुत कम व्यक्ति रुपया ऋण मे देते है। भारतवर्ष में गाँवो मे ऋण देने की महाजनी प्रथा है, शहरो मे बैंक इत्यादि अन्य सगठित सस्थाएँ। इन सस्थाओ का उद्देश्य ही ऋण देना होता है अतएव त्याग, सयम इत्यादि का इसमें विचार नही किया जा सकता है। यदि यह कहा जाय कि इम्पीरियल बैंक को द्रव्य ऋण देने में त्याग, सयम या अन्य कष्ट सहने पडते है तो यह एक भद्दी बात होगी। इसके साथ ही इन सस्थाओ मे समय-पसन्द (Time Preference) का प्रश्न ही नही उठता है।

लार्ड कीन्स का मत है कि यदि समय-पसन्द के नियम को मान भी लिया जाय तो यह कहना उचित नहीं होगा कि लोग वर्तमान को भविष्य से अच्छा ही समझते है। वर्तमान की कठिनाइयो का निरीक्षण करके वह अपने लिये ऐसी योजना बना सकते है जिससे भविष्य सुन्दर हो। अनेक व्यक्ति बुढापे में आनन्द का जीवन बिताने के लिये द्रव्य बचाते है। यदि किसी की पुत्री का ब्याह भविष्य में होगा और वह आज से ही द्रव्य बचाना आरम्भ कर दे तो यह नही कहा जा सकता है कि वह भविष्य को वर्तमान से बुरा समझता है। ऐसी स्थिति में तो उसकी दृष्टि में केवल भविष्य का सुखमय चित्र ही रहता है। यदि भविष्य मे निश्चित मात्रा मे द्रव्य की आवश्यकता हो तो व्यक्ति अभी से बचत आरम्भ कर देगा। अतएव समय-पसन्द का नियम व्यर्थ है।

कीन्स का मत है कि इस सम्बन्ध मे तरलता-पसन्द सिद्धान्त (Liquidity Preference Theory) ही अधिक उपयुक्त सिद्धान्त है। व्यक्ति चाहे किसी भी विचार से प्रभावित होकर द्रव्य बचाये वह उसे अपने पास नकद रूप मे रखना अधिक पसन्द करेगा। इसमे यह प्रश्न किसी महत्त्व का नही है कि उसने द्रव्य किस रीति से बचाया है। महत्त्वपूर्ण केवल यह है कि वह उस बचाये द्रव्य को किस रूप में चाहता है? यदि द्रव्य उसके पास नकद रूप में हो तो वह आवश्यकता पडने पर किसी भी काम में लगाया जा सकता है। द्रव्य की उसके स्वामी के पास केवल नकद रूप में बहुत महत्ता है। यदि कोई द्रव्य ऋण लेता है तो वह उस व्यक्ति से उसके नकद द्रव्य को ही माँगता है जिसे वह व्यक्ति नही चाहता है। इसीलिये वह व्यक्ति सूद लेता है। बैंको का कार्य देखने से विदित होगा कि उनकी शक्ति नकद द्रव्य पर निर्भर करती है। जिस बैंक के पास जितना अधिक नकद द्रव्य होगा वह उतना ही अधिक शक्तिशाली बैंक होगा।

यदि उनमे से अधिक नकद द्रव्य को निकाल दिया जाय तो उनकी सूद की दर बढने लगती है और यदि कम नकद द्रव्य निकाल दिया जाय तो सूद की दर कम हो जाती है। यदि ऋणदाता सस्था न होकर कोई व्यक्ति है तो वह भी अपनी तरलता-पसन्द प्रवृत्ति के अनुसार सूद की दर निर्धारित करेगा। यदि वह नकद द्रव्य अधिक चाहता है तो उसकी सूद की दर अधिक होगी अन्यथा कम होगी।

ऋण लेनेवाला व्यक्ति भी यही चाहता है कि उसे नकद द्रव्य मिले। यदि नकद द्रव्य के स्थान पर उसे स्वर्ण या चाँदी दिया जाय या अन्य प्रकार की पूँजी दी जाय तो वह उसे पसन्द नही करेगा। उसे तो अपने उपभोग के लिये या व्यापार इत्यादि उत्पादन के कामो के लिये नकद द्रव्य की आवश्यकता पडती है। वह कुछ अधिक दर पर भी नकद द्रव्य ही लेना स्वीकार करेगा। इस नियम में भी सूद की दर एक निश्चित समय में द्रव्य की माँग और उसकी पूर्ति पर निर्भर होती है।

सूद क्यो लिया जाता है, इस प्रश्न को सूद का तरलता-पसन्द सिद्धान्त भली प्रकार समझाता है। यह वास्तविक परिस्थितियो के अध्ययन पर आधारित है।

सूद की दरो मे समानता नही होती है और न ये स्थिर ही रहती है। इनमे सदा परिवर्तन होता रहता है। यह पहले कहा जा चुका है कि ऋणदाता को जितना अधिक कष्ट सहना पडेगा या जोखिम उठाना पडेगा वह उसीके अनुपात मे सूद की दर निर्धारित करेगा क्योकि वह उस त्याग, सयम और कष्ट को रुपयो में नापता है। यदि भारत के गाँवो में महाजनो की सूद प्रणाली का अध्ययन किया जाय तो विदित होगा कि जो ग्रामीण एक वार ऋण ले लेगा वह उससे कभी मुक्त नही हो सकेगा। गाँवो में सूद की दर वहुत वढी होती है क्योकि वहाँ पूंजी वसूल न होने का भय लगा रहता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि ग्रामीण उत्पादन के लिये ऋण नही लेता है। ऋण लेने का उसका विशेष उद्देश्य उत्सव, शादी-व्याह इत्यादि होता है। वह उपभोग के लिये ऋण लेता है और इसी कारण उसे चुका नही सकता है। शहरो में अधिकतर ऋण उत्पादन के कामो के लिये लिया जाता है, यहाँ वैंक प्रथा होने से सूद की दर भी कम रहती है और डिक्योरिटियाँ होने से पूंजी वसूल भी हो जाती है। गाँवो मे पूंजी की वसूली के लिये प्राय कचहरियो में जाना पडता है और इससे व्यय वहुत होता है जिसका प्रभाव सूद की दर पर पडता है।

समय के दृष्टिकोण से सूद की दर को निम्न भागो मे विभाजित कर सकते है —

(१) अल्पकालीन सूद की दर (Short Period Rate of Interest)

(२) दीर्घकालीन सूद की दर (Long Period Rate Increst) शहरो मे प्राय अनेक बैंक कार्य करते है। जिस प्रकार व्यक्तियों को ऋण की आवश्यकता पडती है उसी प्रकार इन सस्थाओ को भी पडती है। यदि कोई बैंक दूसरे बैंक से २४ घण्टे के लिये ऋण ले तो उसे $\frac{1}{4}$% या $\frac{1}{2}$% रुपये की दर से व्याज देना पडेगा। बैंक से यदि चालू खाते से ऋण ले तो उसकी सूद की दर कम होती है क्योंकि चालू खाते का ऋण अल्पकालीन होता है।

बैंको से दीर्घकालीन ऋण स्थिर खाते (Fixed Deposits) से मिलता है। इसमें से ऋण लम्बी अवधि के लिये लिया जा सकता है। इसमे सूद की दर अधिक होती है क्योंकि दीर्घकालीन होने के कारण ऋण देनेवाले को त्याग भी अधिक करना पडता है और पूँजी की सीमान्त-उत्पादन-शक्ति भी अधिक होती है। दीर्घकालीन सूद की दरो मे सबसे महत्त्वपूर्ण वह सूद की दर है जो सरकारी सिक्योरिटीज मे मिलती है। यह दर ३% या ३$\frac{1}{2}$% होती है। यदि दीर्घकालीन सूद की बाजारी दरो को देखें तो ज्ञात होगा कि वे समय, परिस्थितियो और ऋण लेने-वाले की आर्थिक स्थिति पर निर्भर करती है। यदि किसी व्यक्ति की आर्थिक स्थिति अच्छी है और वह समाज का प्रतिष्ठावान पुरुष है तो उसे कम सूद पर ही ऋण मिल सकता है। क्योंकि ऋणदाता को ऐसी स्थिति मे अधिक जोखिम नही उठानी पडती है। यदि व्यक्ति की आर्थिक स्थिति ठीक नही है या उस पर पूरी तरह से विश्वास नही किया जा सकता है तब उसे सूद की अधिक दर चुकानी पड़ेगी।

सूद की इन विभिन्न दरो का प्रभाव उत्पादन क्षेत्र में पडता है। स्वय ये माँग और पूर्ति के नियम पर निर्भर करती हैं। यदि अल्प-कालीन सूद की दरो में वृद्धि हो जाय तो लोग अपना द्रव्य दीर्घकालीन मदो से हटाकर जिसमें सूद की दर स्थिर है, अल्पकालीन मदो पर लगा देंगे। ऐसा करने से अल्पकालीन मदो मे द्रव्य की पूर्ति अधिक हो जायेगी और दीर्घकालीन मदो में कम। इसका परिणाम यह होगा कि सूद की दर क्रमश बढने और घटने लगेगी। यही क्रिया इसके विपरीत भी हो सकती है।

सूद पूँजी के उपयोग का भुगतान होने से उत्पादन से सम्बन्धित है। पूँजी उत्पादन की एक महत्त्वपूर्ण साधन है। वर्तमान में आर्थिक उन्नति पूँजी के बल पर ही सम्भव हो सकती है। देश के उत्पादन और वितरण के साधनो पर विज्ञान का पूरा प्रभाव है। विज्ञान की सहायता से ही एक देश दूसरे देश से जुडा है। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो का पलक मारते ही सुदूर ग्रामो के बाजारो तक में प्रभाव पड जाता है। इन सब साधनो

की प्राप्ति पूंजी के बल पर ही सम्भव हुई है। नित्य नये उद्योगों के खुलने से पूंजी की माँग बढ़ रही है पर उसी शीघ्रता से सूद की दर नहीं बढ़ी है। फलस्वरूप पूंजी की अधिक माँग होने से सूद की दरों में भी वृद्धि होना अनिवार्य था। इस वृद्धि के न होने का कारण है वर्तमान उत्पादन प्रणाली और सभ्यता। प्रत्येक उत्पादक यह प्रयत्न करता है कि सारे बाजार पर उसका प्रभाव हो जाय। इसके लिये उसे अपनी उत्पादित वस्तुओं के मूल्य कम करने पड़ते हैं अन्यथा वह विदेशी या देशीय उत्पादकों की प्रतिस्पर्धा से टिक नहीं सकता है। इसी कारण कारखानों, मिलों इत्यादि में उत्पादन बड़े पैमाने में होता है जिससे प्रति इकाई उत्पादन व्यय न्यूनतम होता है। इससे उपभोक्ताओं की आमदनी पर प्रभाव पड़ता है। उनकी बचत बढ़ती है। यह बचत किसी न किसी उत्पादन के काम में लगकर सूद की दर घटाने में सहायक होती है क्योंकि पूंजी की पूर्ति माँग से अधिक है। यद्यपि भारतवर्ष में बैंकों, सेविंग बैंकों इत्यादि का प्रचलन बहुत कम हुआ है, इस कारण यहाँ के निवासियों में बचत करने का स्वभाव अभी नहीं बन पाया है, परन्तु विदेशों में बचत को उपभोग के बराबर ही महत्त्व दिया जाता है। इसी कारण वहाँ आर्थिक उन्नति के साथ ही साथ सूद की दर कम होती जाती है।

अभ्यास के प्रश्न

१. 'कुल सूद' और 'वास्तविक सूद' में क्या अन्तर है? इसे विस्तार के साथ समझाइये।

२. 'समय-पसन्द-नियम' और 'तरलता-पसन्द-नियम' में से सूद-निर्धारण का कौन-सा नियम उपयुक्त है और क्यों?

३. बाजार में 'सूद की दर' माँग और पूर्ति के आधार पर किस प्रकार निर्धारित की जाती है? इसका सीमान्त-उत्पादन-शक्ति से क्या सम्बन्ध है?

अध्याय ५६

लाभ (Profit)

लाभ उत्पादन के साधन साहसी के श्रम का प्रतिफल है। साहस और संगठन के अध्याय में यह बताया जा चुका है कि वर्तमान उत्पादन प्रणाली में साहसी का होना परमावश्यक है। प्राचीन अर्थशास्त्री साहस और संगठन को 'व्यवस्था' के अन्तर्गत एक ही साधन समझते थे। उन्होंने उत्पादक की उत्पादन क्रिया में प्रयुक्त दो विशिष्ट शक्तियों—साहस और संगठन—को पृथक् करके नहीं देखा था। तब उत्पादन वैयक्तिक प्रथा से होता था और अत्यन्त छोटे पैमाने में। इसके विपरीत आज बड़ी-बड़ी मशीनों और सैकड़ों श्रमिकों की सहायता से चलनेवाले कारखानों में उत्पादन कार्य होता है। साहसी ही एक ऐसा व्यक्ति होता है जो इतनी विस्तृत और जटिल उत्पादन क्रिया का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेता है। साहसी विभिन्न स्रोतों से पूंजी एकत्रित करता है, भूमि प्राप्त करके कारखाने की स्थापना करता है, कच्चे माल को प्राप्त करता है, श्रमिकों को नियुक्त करता है, उत्पादित सामग्री के विक्रय की उचित व्यवस्था करता है इत्यादि। इन साधनों के प्रयोग के फलस्वरूप वह इनके श्रम का भुगतान भी करता है। कुल उत्पादन में से वह भूमि का लगान भूमिपति को देता है, श्रमिकों को मजदूरी या वेतन देता है, पूंजीपतियों को उनकी पूंजी का सूद देता है। कुल उत्पादन में से उक्त कुल उत्पादन-व्यय घटाकर जो शेष बचता है उसे लाभ कहते है और उसका अधिकारी साहसी होता है।

साधारण अर्थ में जिसे हम लाभ कहते है वास्तव में वह कुल लाभ (Gross Profit) होता है। साहसी वास्तविक लाभ का अधिकारी होता है, कुल लाभ का नहीं। जनसाधारण लाभ से केवल यह समझते है कि उत्पादन कार्य में लगी पूंजी से अधिक की आमदनी हुई है। अर्थात् यदि एक व्यापारी पाँच हजार रुपयों की पूंजी लगाकर व्यापार आरंभ करता है और एक निश्चित अवधि के अन्त मे उसे कुल सात हजार रुपये प्राप्त होते है तो जनसाधारण की दृष्टि में व्यापारी को दो हजार रुपयों का लाभ हुआ। अर्थशास्त्र की दृष्टि से यह लाभ कुल लाभ कहा जायगा। वास्तविक लाभ इस कुल लाभ के अन्तर्गत ही होता है।

लाभ साहसी के श्रम का प्रतिफल होता है। इसको स्पष्ट करने के लिये आचार्य मार्शल ने लाभ को दो भागों में विभाजित किया है—(१) सामान्य लाभ (Normal Profit) और (२) वास्तविक लाभ (Pure

Profit)। लाभ के ये दो प्रकार साहसी के कार्यों से सम्बन्ध रखते है। अतएव यह जानना आवश्यकीय है कि साहसी के क्या कार्य (Function) होते है।

साहसी पर सम्पूर्ण उत्पादन प्रणाली का उत्तरदायित्व होता है। वह यह निश्चित करता है कि उद्योग मे कितने श्रमिको की आवश्यकता होगी कितने और किस प्रकार के कर्मचारी नियुक्त करने होगे, उत्पादन के साधनो की शक्ति का अधिकतम उपयोग करने के लिये उन्हे किस प्रकार सम्वन्धित करना होगा, उत्पादन के विभिन्न कार्यों में श्रमिको को किस अनुपात मे विभाजित किया जायेगा, कारखाने का कार्यालय किस प्रकार अधिक कार्यक्षम होगा इत्यादि। वह उत्पादन सम्वन्धी पत्रो का उत्तर देता है और उत्पादन की सारी क्रिया में लगे श्रम का निरीक्षण भी करता है। यदि हम ध्यानपूर्वक साहसी के इस काम को देखें तो विदित होगा कि उसके और साधारण श्रमिक के कार्य मे विशेप अन्तर नही है और किसी प्रकार का भय भी नही है। यदि श्रमिक इस काम को करता तो उसे मजदूरी या वेतन मिलता परन्तु साहसी को अपन इस सगठन तथा प्रवन्ध के कार्य के लिये कुल लाभ मे से सामान्य लाभ (Normal Profit) पुरस्कार स्वरूप दिया जाता है। यदि साहसी को यह सामान्य लाभ न मिले तो वह उक्त कार्य नही करेगा। अतएव साहसी के उत्पादन कार्य को करने के लिये कम से कम उक्त द्रव्य-राशि अवश्य मिलनी चाहिये। यह साहसी की सीमान्त उत्पादन शक्ति के वरावर है।

साहसी का दूसरा कार्य अधिक महवत्त्पूर्ण है। इसे जोखिम लेना (Risk taking) कहते है। यह पहले कहा जा चुका है कि साहसी ही उत्पादन के समस्त साधनो को जुटाता है और उत्पादन आरभ करता है। उत्पादन वडी मात्रा मे किया जाता है और उसका तुरन्त विक्रय हो सकना असम्भव सा है। उसे इस उत्पादित राशि को भविष्य में वेचना पडता है। इसलिये साहसी उत्पादन आरभ करने से पहले ही इस वात का. अनुमान लगा लेता है कि अमुक समय मे उत्पादित वस्तु की माँग कितनी होगी और वह उसमे से कितनी मात्रा की पूर्ति कर सकेगा। इसके साथ ही उसे इस वात पर भी ध्यान रखना पडता है कि उस समय वाजार में कितने अन्य उत्पादक उस वस्तु का उत्पादन कर रहे होगे और उनकी प्रतिस्पर्धा की क्या स्थिति होगी। यदि उत्पादक या साहसी का यह अनुमान सही निकल गया तो सारे वाजार मे उसका प्रभाव जम सकता है और उसे अधिक लाभ भी होना सभव है। परन्तु यदि उसका यह अनुमान अशुद्ध निकला तो उसे अवश्य हानि उठानी पड़ेगी। इसलिये साहसी का प्रमुख और विशप कार्य यही है कि उसका अनुमान भविष्य मे कितना

ठीक निकला। प्राय अभ्यासी होने के कारण उनका अनुमान सही ही निकलता है।

साहसी भविष्य की माँग और पूर्ति को सही आँकना चाहता है। यदि वह अपने कुल उत्पादन का भविष्य में विक्रय न कर सके तो बहुत सी उत्पादित वस्तु व्यर्थ पडी रहेगी और उनके बराबर मूल्य की उसे हानि उठानी पडेगी। यदि वह कम उत्पादन करेगा तो भविष्य की अधिक माँग होने से बाजार पर दूसरा उत्पादक अपना प्रभाव जमा लेगा। इससे भी उसे गहरी हानि होगी। उसे सदा यह विचार सतायेगा कि वह लाभ कमा सकता था परन्तु उत्पादन न करने के कारण न कमा सका।

उत्पादित वस्तु भविष्य मे बेची जायेगी। अतएव साहसी को यह जानना आवश्यक है कि भविष्य मे उसकी उत्पादित वस्तु का क्या मूल्य होगा। इसके लिये उसे अनेक सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक परि-स्थितियो का अध्ययन करना पडेगा। यह सभव हो सकता है कि भविष्य में उसकी उत्पादित वस्तु की माँग ही न रहे, फैशन बदल जाय या लोगो की रुचि किसी कारण उसके प्रयोग की ओर न हो और यह भी संभव है कि राजनैतिक हलचल से उसकी वस्तु की माँग एकाएक बढ जाय और मूल्य मे वृद्धि भी सभव हो। यदि भविष्य मे पूर्ति अधिक और माँग कम होने से वस्तु के मूल्य में कमी आ जाय तो उससे होने-वाली हानि को भी साहसी को ही सहना पडेगा क्योकि भविष्य के अनुमानित मूल्य के आधार पर ही वह वर्तमान मे श्रमिको के श्रम का भुगतान करता है या अन्य उत्पादन व्यय करता है। श्रमिक भविष्य के लिये नही रुकते है। वे काम करने के एक सप्ताह बाद या एक माह पश्चात् तक अपने पारिश्रमिक को प्राप्त कर लेना चाहते है। कच्चे माल का मूल्य उसे वर्तमान में उसके बाजार-भाव पर देना पडता है। यदि उसका उत्पादन व्यय कम हुआ और भविष्य में वस्तु का मूल्य बढ जाने से उसे लाभ अवश्य होगा परन्तु यदि भविष्य मे मूल्य प्रतिस्पर्धा या अन्य कारणो से उत्पादन-व्यय से कम हुआ तो उसे गहरी हानि उठानी पडेगी। उसे तो सदा यह ध्यान रखना पडता है कि उसकी वस्तु का मूल्य कम से कम रहे या उसके प्रतिस्पर्धियो के मूल्य के बराबर हो। यदि यह अनुमान ठीक निकला तो साहसी को इस जोखिम को उठाने का उचित प्रतिफल मिलेगा। कुल लाभ मे से वास्तविक लाभ ही साहसी के इस श्रम का प्रतिफल होगा।

लाभ साहसी पर निर्भर होता है। यदि साहसी चतुर, विद्वान और धैर्यवान है, व्यापारिक नीतियो का मर्मज्ञ है, राजनीति और मनुष्य के स्वभाव का गभीर विद्यार्थी है तो अवश्य लाभ अधिक होगा। उसके

अनुमान सही निकलेंगे, बाजार में अपनी वस्तु की वह अधिक विक्री करा सकेगा। परन्तु यदि साहसी चतुर नही है, अन्य उत्पादको की स्थितियो से भली प्रकार परिचित नहीं है और भविष्य को ठीक-ठीक नही समझ सकता है तो उसे अवश्य ही हानि सहनी पड़ेगी।

यह साधारण ज्ञान की बात है कि यदि उत्पादन कार्य मे उत्पादित-वस्तु के मूल्य से उत्पादन व्यय अधिक हो जाय तो उत्पादक उत्पादन बन्द कर देता है। वह उसी सीमा तक उत्पादन बढा सकता है जहाँ पर दोनो बराबर हो। यह स्थिति सीमान्त स्थिति कही जाती है। देश में अनेक साहसी उत्पादन कार्य करते है, प्रत्येक के स्वभाव, वातावरण, जलवायु और परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न होते है और उसी के अनुकूल उन्हें लाभ मिलता है। कोई साहसी कुछ समय के पश्चात् ही लाखो रुपयो का स्वामी हो जाता है और कोई साहसी अपनी शक्ति भर चेष्टा करने पर भी केवल इतना उत्पादन कर सकता है जितना उसका उत्पादन व्यय है। अथवा उसे जो लाभ होता है वह केवल जीवन की प्रमुख आवश्यकताओ की पूर्ति करने भर के लिये होता है। ऐसे साहसी सीमान्त साहसी कहे जा सकते है। इनके आधार पर ही लाभ की सीमा निर्धारित की जा सकती है क्योंकि सीमान्त साहसी का लाभ न्यूनतम ही होता है।

यह पहले कहा जा चुका है कि वास्तविक लाभ जो साहसी के श्रम का पुरस्कार है कुल लाभ से भिन्न होता है। कुल लाभ के अन्तर्गत अनेक बातो का समावेश रहता है जिनका निम्नलिखित सक्षिप्त विवरण दिया गया है।

उत्पादन के समस्त साधन साहसी ही जुटाता है। यह हो सकता है कि वह उसमे अपनी पूंजी का भी कुछ अश लगाये, कारखाना स्थापित करने के लिये अपनी भूमि का एक भाग दे दे। इसके साथ ही उत्पादन क्रिया का निरीक्षण करके तथा प्रबन्धक की तरह सारी व्यवस्था ठीक रखने का भी वह कार्य करता है। इस प्रकार कुल उत्पादन में उक्त प्रकार की उसकी सेवाओ का भी कुछ महत्त्व रहता है। व्यवहार मे साहसी अपने इन सब कार्यों का प्रतिफल नही माँगता है। इससे यह समझा जा सकता है कि वह इस श्रम का उत्पादन को बढाने के लिए मुफ्त प्रयोग करता है। वास्तव में यह बात नही है। साहसी कुल लाभ का अधि-कारी होता है और उसके उक्त श्रम का प्रतिफल उस[illegible]
है। प्राचीन अर्थशास्त्रियो ने श्रम के इस भेद पर [illegible]
था। परन्तु आधुनिक उत्पादन प्रणाली मे उक्त सभ[illegible]
पृथक् करके देखे जाते है। अतएव यदि कुल लाभ[illegible]
को जानना चाहें तो हमे उक्त श्रम का प्रतिफल [illegible]
देना पडेगा। अर्थात् साहसी ने यदि पूंजी, भूमि आ[illegible]

श्रम लगाया है तो उसे कुल लाभ मे से पूँजी के प्रयोग का प्रतिफल सूद, भूमि का लगान और प्रबन्ध इत्यादि करने के श्रम का प्रतिफल मजदूरी या वेतन अलग कर देना पड़ेगा।

उत्पादन में बडी-बड़ी मशीने प्रयोग मे लाई जाती है और प्रत्येक उत्पादक इसी चेष्टा मे रहता है कि उनकी उत्पादन शक्ति का पूर्ण प्रयोग हो। इससे मशीन मे टूट-फूट और अन्य खराबियाँ आ जाती है। कभी अकुशल श्रमिक के अज्ञान से मशीन के आवश्यक पुर्जे टूट जाते है। बडे कारखानो मे यह भी भय रहता है कि उनमें आग न लग जाय जिससे हजारो रुपयो की पलक मारते ही हानि हो सकती है। यदि उत्पादक नयी मशीन लगाना चाहे तो एकदम उतना द्रव्य प्राप्त नही हो सकता है इसलिये वह एक कोष खोल देता है जिसमे प्रतिवर्ष कुछ प्रतिशत द्रव्य जमा कर दिया जाता है और नयी मशीनो को लगाने इत्यादि का व्यय उसी मे से किया जाता है। आग इत्यादि से कारखाने को बचाने के लिये या आग से कारखाने के नष्ट हो जाने पर कुछ द्रव्य नये उद्योग की स्थापना के लिये या उस हानि को कुछ अश तक पूरा करने के लिये उत्पादक उसका बीमा करा देता है। इस कारण उसे आकस्मिक हानि से भय नही रहता है। इस बीमे के लिये भी उसको प्रतिवर्ष कुछ निश्चित मात्रा में द्रव्य बीमा कम्पनी को प्रीमियम के रूप में देना पडता है। अतएव वास्तविक लाभ को निकालने के लिये कुल लाभ मे से उक्त रकमो को घटा देना अनिवार्य है।

जब उत्पादक उत्पादन आरभ करता है तो पहले भविष्य के मूल्य, भविष्य की माँग और पूर्ति, उपभोक्ताओ की रुचि इत्यादि का ध्यान रखकर उत्पादन की मात्रा में नियन्त्रण रखता है और वर्तमान मे उसी भविष्य के अनुमानित मूल्य के आधार पर मजदूरी इत्यादि देता है। यदि यह अनुमान लगभग ठीक निकला तो उसे लाभ होता है अन्यथा हानि। परन्तु वैज्ञानिक साधनो से बाजार या व्यापार पर एक सीमित प्रदेश का एकाधिकार नही रहा है। उस पर अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो का तुरन्त प्रभाव पड जाता है। अतएव यदि युद्ध की आशका से या भविष्य में होनेवाली किसी अवाछित घटना के फलस्वरूप वस्तु की माँग बढ़ जाने से उसकी उत्पादित वस्तु का मूल्य बढ जाता है या उसकी माँग बढ़ जाती है जिससे उसकी उत्पादित प्रत्येक इकाई उपभोग के काम आ जाती है तब यह कहा जा सकता है कि उक्त परिस्थितियो मे हुआ लाभ आकस्मिक लाभ है। वह उत्पादक के अनुमानित लाभ की अधिकतम सीमा से भी अधिक हो सकता है। इसलिये इस आकस्मिक लाभ के अश को भी कुल लाभ में से पृथक् करके वास्तविक लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

यदि उत्पादक या साहसी को किसी वस्तु के उत्पादन का एकाधिकार प्राप्त है तो वह उस अधिकार के बल से सारे बाजार पर अपना प्रभाव जमा सकता है और उपभोक्ताओ से इच्छानुसार मूल्य वसूल कर सकता है। उसे अपने किसी अन्य प्रतिस्पर्धी का भय नही रहता है और इस कारण घटिया वस्तु का उत्पादन करके भी वह अच्छे गुणवाली वस्तु से अधिक लाभ कमा लेता है। इसमे साहसी को अपनी चतुराई और विशेष योग्यता नही दिखानी पडती है या विशेष जोखिम नही उठानी पडती है। अतएव यह भी परिस्थितियो के कारण प्राप्त हुआ आकस्मिक लाभ ही है। वास्तविक लाभ प्राप्त करने के लिये इसे भी कुल लाभ की मात्रा में से घटाना आवश्यक है।

इन सबके पश्चात् साहसी का वास्तविक लाभ भी आता है। कुल लाभ के अन्तर्गत वास्तविक लाभ का समावेश रहता है। यह पहले कहा जा चुका है कि वास्तविक लाभ साहसी के जोखिम उठाने का प्रतिफल है। इसके साथ ही यदि साहसी अन्य साहसियो से अधिक चतुर है और अपनी विशेष योग्यता के बल से अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न कर अधिक लाभ कमा सकता है तो उसे भी वास्तविक लाभ के अन्तर्गत ही समझेंगे। वास्तव मे यह साहसी के उक्त गुणो का प्रतिफल है। यदि यह न मिलेगा तो साहसी श्रमिक की तरह कार्य करना छोड देगा। उत्पादन के दृष्टिकोण से यह आवश्यकीय है कि उत्पादन के प्रत्येक साधन के श्रम का प्रतिफल उसे दिया जाय अन्यथा समस्त उत्पादन कार्य में विघ्न पडते है। इस दृष्टि से यह वास्तवकि लाभ उत्पादन व्यय के अन्तर्गत ही आ जाता है। यदि अल्पकालीन दृष्टिकोण से साहसी लाभ से वचित है, उसका कुल उत्पादन सीमान्त उत्पादन है इस पर भी साहसी को अपने जोखिम उठाने और अनुमान लगाने की विशिष्ट योग्यता का पुरस्कार मिलता है जो उत्पादन व्यय में ही सम्मिलित रहता है। इस स्थिति में यह सभव है कि साहसी अपने उद्योग की प्रारम्भिक अवस्था में है और दीर्घकाल मे उचित व्यवस्था हो जाने से उसे अधिक लाभ प्राप्त हो सकेगा।

प्राय जब हम यह कहते है कि साहसी को उसके श्रम का—जोखिम उठाने और भविष्य की परिस्थितियो के अनुकूल मूल्य आँकने का—प्रतिफल उत्पादन के अन्य सभी साधनो के श्रम का प्रतिफल देने के पश्चात् अन्त में मिलता है तो इससे हमारा यह तात्पर्य नही होता है कि लाभ कुल उत्पादन में उक्त वितरण के पश्चात् जो शेष रह जाता है वही है। वास्तविक लाभ साहसी के श्रम का प्रतिफल है अतएव उसका भी वही वर्ग है जो अन्य उत्पादन के साधनो के प्रतिफल का अर्थात् लगान, सूद और मजदूरी का, और उन्ही की तरह वह उत्पादन व्यय का भी एक भाग है जिसके न मिलने पर उत्पादन कार्य रुक सकता है।

लाभ का और सामाजिक आर्थिक उन्नति का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। समाज की आर्थिक उन्नति का तात्पर्य उत्पादन की वृद्धि और उसके प्राणियों के उच्च रहन-सहन के स्तर से होता है। वर्तमान उत्पादन प्रणाली मे देशीय और अन्तर्देशीय प्रतिस्पर्धा का विशेष महत्त्व है। साहसी को सदा इसी बात की चिन्ता लगी रहती है कि उसकी उत्पादित वस्तु का उपभोग किस प्रकार से अधिक लोकप्रिय हो। यदि वस्तु का मूल्य अधिक होगा तो स्वाभाविक है कि बहुत कम सख्या मे लोग उसका उपभोग कर सकेंगे। इसलिये प्रत्येक उत्पादक यह चाहता है कि उसकी वस्तु का मूल्य कम से कम हो और इसके लिये प्रति इकाई उत्पादन व्यय न्यूनतम होना भी आवश्यक है। यह तभी हो सकता है जब उत्पादन बडी मात्रा में हो और उत्पादन के सभी साधनो का पूरा उपयोग किया जा सके। प्राय. देश की आर्थिक उन्नति मे उत्पादन बडी मात्रा मे किया जाता है, वस्तुओ के मूल्य कम होते है और अधिक लोग उनका उपभोग कर सकते है। मूल्य कम होने से उत्पादक को अधिक लाभ नही हो पाता है। इसके साथ ही उत्पादन के प्रारम्भ में एकाधिकार अधिक प्रचलित था और अच्छी योग्यता के बहुत कम साहसी प्राप्त होते थे। परन्तु वर्तमान मे एकाधिकार की सुविधा मिलनी कठिन है क्योकि उत्पादन क्षेत्र मे अनेक उत्पादक है, उनकी योग्यता भी अधिक होती है और मशीनो का प्रयोग हो जाने से सारा उत्पादन कार्य एक विशेष प्रकार से किया जाता है जिसमे बहुत परिवर्तन नही किया जा सकता है। ऐसी स्थिति मे उत्पादक या साहसी को अधिक लाभ नहीं हो पाता है। उनके बाजार विभाजित रहते है, जो आकस्मिक लाभ पहले दो-एक उत्पादको को मिल सकता था वह अनेक उत्पादको मे विभाजित हो जाता है। पहले व्यापारिक क्षेत्र मे वही व्यक्ति जाते थे जिनकी बुद्धि कुशाग्र होती थी, जिनके पास पर्याप्त पूंजी होती थी और जो व्यापार विधि से परिचित होते थे। परन्तु वर्तमान मे मिश्रित पूंजी की कम्पनियो के स्थापित हो जाने से व्यक्तिगत पूंजी का महत्त्व कम हो गया है। साधारण सगठन शक्ति वाले साहसी कुशाग्र बुद्धि के प्रबन्धको को नियुक्त कर लेते है और व्यापारिक साधन और विधियाँ अधिक वैज्ञानिक हो जाने से अब गुप्त नही रही जिन पर कुछ ही व्यक्तियो का अधिकार हो। इन सब कारणो से लाभ की मात्रा भी घटती जाती है। परन्तु वह शून्य नही हो सकती है। यदि लाभ शून्य हो तो साहसी जोखिम नही उठायेगा और सारा उत्पादन कार्य बन्द हो जायेगा।

राजनैतिक विचारधारा भी लाभ को प्रभावित करती है। समाजवादी विचारधारा वाले व्यक्तियो का मत है कि उत्पादन का मुख्य साधन श्रम

है। यदि वह श्रम न करे तो उत्पादन नही किया जा सकता है। श्रमिक अपनी पूरी शक्ति से काम करता है और उसके परिणामस्वरूप जो लाभ कारखाने या मिल को होता है वह श्रमिको का हुआ। वह यह नही चाहते हैं कि उपभोक्ता और श्रमिक के मध्य मे उत्पादक सारे लाभ को स्वय ले ले। उत्पादक श्रमिको के अकथनीय श्रम का उनकी योग्यता और त्याग का अनुचित लाभ उठाते हैं। उनके अधिकार मे उत्पादन की कुन्जी होने से वे वस्तुओ का बाजार में कृत्रिम अभाव पैदा कर देते है जिससे माँग अधिक होने पर वस्तुओ के मूल्य बढ जाते हैं। इसका एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी पडता है। उपभोक्ता भविष्य के प्रति आशंकित रहते है और वर्तमान की बिगडती दशा से प्रभावित होकर वस्तु का अधिक मात्रा मे अधिक मूल्य पर ही क्रय करके सुरक्षित रखना चाहते हैं जिससे भविष्य की अनिश्चितता कुछ कम हो जाय। उत्पादक इस अनुचित रीति से कमाये लाभ को स्वय ले लेता है। इसी प्रकार चोरबाजारी करके भी उत्पादक काफी लाभ कमाता है। समाजवादियो का मत है कि श्रमिक के श्रम का इस प्रकार दुरुपयोग करके लाभ कमाने का उत्पादक को अधिकार नही है। उनका यह भी मत है कि पूँजीवादी व्यवस्था में व्यक्तिगत लाभ को अधिक महत्त्व दिया जाता है। कुछ उत्पादक अपने व्यक्तिगत लाभ के लिये श्रमिको का और उपभोक्ताओ का शोषण करते है। यह अनुचित है क्योकि इससे समाज को गहरी हानि पहुँचती है। साहसी का व्यक्तिगत लाभ समाज की भलाई के लिये नही हो सकता है। वह उसका प्रयोग नये धन्धे स्थापित करके और अधिक शोषण के लिये करेगा।

इसके विपरीत यदि वर्तमान परिस्थितियो में व्यक्तिगत लाभ के प्रश्न को सुलझाने के लिये उत्पादन के केन्द्रो का और भूमि का राष्ट्रीयकरण नही किया जा सकता है, उत्पादन और वितरण राज्य अपने नियन्त्रण में नही ले सकता है तो यह स्वाभाविक ही है कि मध्यस्थ-प्रथा अवश्य श्रमिको और उपभोक्ताओ का शोषण करेगी। पूँजीपतियो और उत्पादको का यह मत है कि वे बडे त्याग और सयम से द्रव्य जुटाते हैं, उत्पादन के साधनो को बडे कष्ट से एकत्रित करते है, अपनी कार्यक्षमता से उन्हें सगठित करते हैं, भविष्य की अनिश्चितता की जोखिम उठाकर अपना धन उत्पादन मे लगा देते है, उत्पादन की समस्त योजना स्वय बनाते और उसे कार्यान्वित करते है, यदि यह सब करने के पश्चात् लाभ होता है तो उस पर उनका अधिकार उचित है। वे समस्त उत्पादन के साधनो के श्रम का प्रतिफल दे चुकने के पश्चात् अवशेष को ही लेते हैं। यदि वह जोखिम न उठाये और अपनी व्यापारिक कुशलता का प्रयोग न करें तो देश में उत्पादन कार्य रुक जायेगा। यदि वैयक्तिक लाभ न मिलेगा तो

साहसी जोखिम नही उठायेगा; कारखाने और मिल बन्द हो जायेंगी, श्रमिक एक बडी सख्या में बेकार हो जायेंगे, वस्तुओं का अभाव हो जायेगा और उपभोक्ता समाज को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। उन्हें अधिक लाभ केवल इसलिये होता है क्योंकि उत्पादन में उन्होंने अधिक जोखिम उठा रखी है। वे उत्पादन को बढाने और उत्पादित वस्तु के गुणो मे वाछित उन्नति करने के लिये उत्पादन के साधनो में परिवर्तन करते रहते है, भविष्य के लाभ का अनुमान करके वर्तमान में उत्पादन के साधनो के श्रम का भुगतान करते है। यह सभव हो सकता है कि अनिश्चित भविष्य की परिस्थितियाँ उनके अनुमान के अनुकूल न निकली तब समस्त हानि उन्हे ही उठानी पडती है। इसके साथ ही यदि प्रतिस्पर्धी को उत्पादन क्षेत्र से हटा दिया जाय तो उत्पादक ग्राहको से वस्तुओं का मनमाना मूल्य वसूल करेंगे और उसके रहने से वस्तुओं के मूल्य मे जो कमी होती है, वस्तु के गुणो में जो वृद्धि होती है और एक ही वस्तु के जो विभिन्न प्रकार प्राप्त होते है वह सब न हो सकेगा और उपभोक्ताओं की प्रतिस्थापना की शक्ति कुंठित हो जायेगी, उनकी रुचि में परिवर्तन न होने से उनका मानसिक विकास भी शिथिल पड़ जायेगा, इत्यादि। अतएव जब तक समाज मे पूंजीवादी व्यवस्था स्थापित है वैयक्तिक लाभ को दूर नहीं किया जा सकता है और उस लाभ का अधिकारी साहसी ही होता है।

अभ्यास के प्रश्न

१ 'कुल लाभ' और 'वास्तविक लाभ' में अन्तर समझाइये।
२. 'सामान्य लाभ' और 'वास्तविक लाभ' में क्या अन्तर है?
'वास्तविक लाभ' को किस प्रकार निर्धारित करते है?
३. वर्तमान आर्थिक व्यवस्था में 'लाभ' का महत्त्व समझाइये।

अंग्रजी-हिन्दी शब्दावली

A

Abrasion—घिसाई ।

Abstinence Theory—सयम का नियम ।

Acceptability—मान्यता ।

Ad valorem (Duty)—मूल्य के अनुसार (आयात-निर्यात कर) ।

Agricultural Credit Department—कृषि-साख-विभाग ।

Agricultural Income Tax—कृषि-आय-कर ।

Assets—सम्पत्ति ।

Audit—जाँच ।

Authorised Capital—निर्धारित पूंजी ।

Average Cost—औसत लागत ।

Average Revenue—औसत आय ।

Average Utility—औसत उपयोगिता ।

B

Balance of Payments—भुगतान का अन्तर ।

Balance of Trade—आयात-निर्यात का अन्तर ।

Balance of Trade (favourable)—आयात निर्यात का अनुकूल अन्तर ।

Balance of Trade (unfavourable)—आयात निर्यात का प्रतिकूल अन्तर ।

Balance sheet—आँकडा ।

Bank Draft—बैंक ड्राफ्ट ।

Bank Rate—बैंक की दर ।

Barter—अदल-बदल ।

Bearer cheque—धनी जोग चेक ।

Betterment Tax—उन्नति कर ।

Bill of Exchange—बिल ऑफ एक्सचेन्ज ।

Bimetallism—द्विधातु चलन ।

Black Market—चोर बाजार ।

Brassage—ढलाई व्यय ।

Budget—बजट ।

Business Profits Tax—व्यापार-नफा-कर ।

C

Canons of Taxation—कर के नियम ।

Capital—पूंजी ।

Capital Gains Tax—पूंजी के अर्घ की वृद्धि का कर ।

Central Bank—केन्द्रीय बैंक ।

Certainty—निश्चितता ।

Cheap Money Policy—सस्ते दर की नीति ।

Change—रेजगारी ।

Cheque—चेक ।

Circulating Capital—चल पूंजी ।

Civil Administration—नागरिक शासन ।

Civil Works—सार्वजनिक निर्माण ।

Classical Economists—प्राचीन अर्थशास्त्री।

Clipping—कटाई।

Coastal Trade—तटीय-व्यापार।

Cognisibility—परिचयता।

Commercial Bank—व्यापारी बैंक।

Compulsory Contribution—अनिवार्य-शुल्क।

Comforts—सुखदायक आवश्यकताएँ।

Competition—प्रतिस्पर्धा।

Conscious Want—चेतन आवश्यकता।

Conservancy Tax—सफाई की फीस।

Convenience—सुविधा।

Conventional Necessaries—रीति-रिवाज सम्बन्धी आवश्यकताएँ।

Convertible Paper Money—परिवर्त्तनशील कागजी-द्रव्य।

Co-operative Bank—सहकारी बैंक

Consumer's Surplus—उपभोक्ता की बचत।

Consumption—उपभोग।

Cost—लागत।

Cost of Living Index—रहन-सहन के व्यय के सकेताक।

Cost of Production—उत्पादन व्यय।

Counterfoil—प्रतिलिपि।

Covered Issue—नोटो का रक्षित भाग।

Creation of Credit—साख के निर्माण का कार्य।

Credit—साख।

Credit Instruments—साखपत्र।

Credit Mechanism—साख-व्यवस्था।

Credit Societies—ऋण देने वाली समितियाँ।

Crisis—सकट।

Crossed cheque—रेखाकित चेक।

Currency Circulation—मुद्रा प्रचलन।

Currency system—मुद्रा प्रणाली।

Current Account—अस्थायी जमा-खाते।

Curve—वक्ररेखा।

Customs (Duties)—आयात-निर्यात-कर।

D

Daily Market—दैनिक बाजार।

Debased—निकृष्ट।

Debasement—निकृष्टता।

Debt Services—ऋण सम्बन्धी व्यय।

Deductive Method—निगमन रीति।

Defence Expenditure—सुरक्षा सम्बन्धी व्यय।

Deferred Shares—विलम्बित हिस्से।

Deflation—मुद्रा सकुचन।

Demand—माँग।

Demand Bill of Exchange—दर्शनी बिल।

Demand Curve—माँग की वक्ररेखा।

Demand Prices—माँग के मूल्य।

Demand Schedule—माँग का कोष्टक

Density of Population—जनसख्या का घनत्व।

Deposit—जमा-खाते।

Depression—मन्दी।

Desire—इच्छा।

Devaluation—अवमूल्यन।

Development Schemes—विकास की योजनाये।
Diminishing Marginal Utility—सीमान्त उपयोगिता का ह्रास।
Diminishing Returns—क्रमागति-उत्पत्ति ह्रास।
Direct Demand on Revenue—आय पर प्रत्यक्ष माँग।
Direct Satisfaction—प्रत्यक्ष सन्तोप।
Direct Tax—प्रत्यक्ष कर।
Directors—सचालको।
Distribution—वितरण।
Disutility—अनुपयोगिता।
Diversity—भिन्नता।
Dividend—लाभाश।
Divisibility—विभाजकीयता।
Dollar Exchange Standard—डौलर विनिमय मान।
Drawee—देनदार।
Drawer—लेखक।

E

Earned Income—उपार्जित आय।
Economic Goods—आर्थिक वस्तुएँ
Economy—मितव्ययता।
Effect (of Tax)—कर का प्रभाव।
EffectiveDemand—प्रभावपूर्ण माँग।
Effective Supply—प्रभावपूर्ण पूर्ति
Elasticity—लचक।
Elasticity of Demand—माँग की लचक।
Elasticity of supply-पूर्ति की लचक
Enterprise—साहस।
EntertainmentTax—मनोरजन कर
Entrepreneur—साहसी।
Equality—समानता।
Equilibrium Price—सन्तुलन मूल्य।
Equi-Marginal Utility—सम-सीमान्त उपयोगिता।
Excess Profits Tax—अत्यधिक नफा कर।
Exchange—विनिमय।
Exchange Control—विनिमय नियन्त्रण।
Excise Duty—उत्पादन कर।
Exploitation—शोपण।
Export—निर्यात।
Export Duty—निर्यात कर।
Extensive Cultivation—कृषि भूमि मे विस्तार करके खेती करना।
External Economies—वाह्य मितव्ययता।

F

Factor of Production—उत्पादन का साधन।
Family Budget—परिवारिक वजट।
Federal form of government—सघ-सरकार।
Fees—सरकारी शुल्क।
Fertility—उत्पादन-शक्ति।
Fiat Coin—कानूनी सिक्के।
Fiduciary Issue—नोटो का अरक्षित भाग।
Financial Integration—राजस्व सम्बन्धी एकीकरण।
Fines—जुर्माना।
Firm—फर्म।

Fixed Capital—स्थिर पूंजी ।
Fixed Cost—स्थिर लागत ।
Fixed Deposit—स्थायी जमा खाते ।
Foreign Currency—विदेशी सिक्के ।
Foreign Exchange—विदेशी विनिमय ।
Foreign Exchange Bank—विदेशी विनिमय बैंक ।
Foreign Trade—विदेशी व्यापार ।
Form Utility—रूप परिवर्त्तन से उत्पन्न हुई उपयोगिता ।
Free Coinage—स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई ।
Free Goods—असीमित मात्रा में मिलने वाली वस्तुएँ ।
Full Bodied Coin—पूर्णकाय सिक्का ।

G

General Price Level—सामान्य मूल्य का स्तर ।
Gifts—भेंट ।
Gold Bullion Standard—स्वर्ण-पाट-मान ।
Gold Currency Standard—स्वर्ण-मुद्रा-मान ।
Gold Exchange Standard—स्वर्ण-विनिमय-मान ।
Gold Standard—स्वर्ण-मान ।
Goods—वस्तुएँ ।
Grants to Provincial Governments—प्रान्तीय सरकारों को सहायता ।
Gratuitous Coinage—मुद्रा ढलाई ।
Gross Interest—कुल सूद ।
Gross Profit—कुल लाभ ।

H

Hoarding—संचय ।
Homogeneity—समानता ।
House Tax—घरों पर कर ।
Hyper-Inflation—अत्यधिक मुद्रा-प्रसार ।

I

Impact—कर-संघात ।
Imperfect Competition—अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा ।
Import—आयात ।
Import Duty—आयात-कर ।
Incidence—कर-भार ।
Income Tax—आय-कर ।
Inconvertible Paper Money—अपरिवर्त्तनशील कागजी द्रव्य ।
Increase of Demand—मांग की वृद्धि ।
Increasing Average Cost—औसत लागत की वृद्धि ।
Independent Monetary Policy स्वतन्त्र द्राव्यिक नीति ।
Indestructibility—अक्षयशीलता ।
Indigenous Banks—साहूकारी बैंक ।
Indirect Tax—परोक्ष कर ।
Individual Ownership—वैयक्तिक स्वामित्व ।
Indivisibility—अविभाज्यता ।
Inductive Method—आगमन रीति ।
Industrial Bank—औद्योगिक बैंक ।
Industrialisation—औद्योगीकरण ।
Industrial Revolution—औद्योगिक क्रान्ति ।
Ineffective Demand—प्रभावहीन माँग ।
Inflation (Monetary)—मुद्रा प्रसार ।
Inheritance Tax—उत्तराधिकार-कर ।

Intensification of Demand—मांग की तीव्रता।
Intensive Cultivation—गहरी खेती
Interest—सूद।
Interest Bearing Obligations—ब्याज चुकाने वाला ऋण।
Internal Currency—आन्तरिक मुद्रा।
Internal Customs — आन्तरिक आयात-कर।
Internal Economics—आन्तरिक मितव्ययता।
Internal Trade—देशान्तर्गत-व्यापार।
International Monetary Fund—अन्तर्राष्ट्रीय-द्राव्यिक-कोष।
International Standard—अन्तर्राष्ट्रीय मान।
International Trade—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार।
International Wealth—अन्तर्राष्ट्रीय सम्पत्ति।
Issued Capital—निर्गमित पूंजी।
Issue Department (of the Reserve Bank)—निर्गम विभाग।

J

Joint Enterprise—मिश्रित पूंजी की कम्पनियाँ।

L

Labour—श्रम।
Land—भूमि।
Land Cess—स्थानीय भूमि-कर।
Land Mortgage Banks—भूमि-बन्धक बैंक।
Land Revenue—मालगुजारी।
Law of Compensatory Action—क्षति पूर्ति का नियम।
Law of Demand—माँग का नियम।
Law of Diminishing Returns—क्रमागत-उत्पत्ति ह्रास का नियम।
Law of Increasing Cost—औसत लागत की वृद्धि का नियम।
Laissez faire—राज्य के हस्तक्षेप न करने की नीति।
Law of Constant Returns—क्रमागति उत्पादन-क्षमता नियम।
Law of Diminishing Utility—सीमान्त उपयोगिता के ह्रास का नियम।
Law of Increasing Returns—क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम।
Law of Equi-Marginal Utility—सम-सीमान्त उपयोगिता का नियम।
Law of Substitution—प्रतिस्थापन का नियम।
Legal Monopoly—कानूनी एकाधिकार।
Legal Tender Money—कानूनी ग्राह्य द्रव्य।
Letter of credit—साख पत्र।
Liabilities—ऋण।
Limited Coinage—सीमित मुद्रा ढलाई।
Limited Legal Tender—सीमित कानूनी ग्राह्य।
Limping Standard—वैकल्पिक मान।
Liquidity Preference Theory—तरलता पसन्द नियम।
Loan—ऋण।

Localised Materials—स्थानीय भौतिक पदार्थ ।

Long Period Loans—दीर्घ-कालीन ऋण ।

Luxuries—भोग-विलास की आवश्यकताएँ ।

M

Malleability—ढलाई की योग्यता ।

Marginal Cost—सीमान्त लागत ।

Marginal Productivity—सीमान्त-उत्पादन शक्ति ।

Marginal Revenue—सीमान्त आय ।

Marginal Utility—सीमान्त उपयोगिता ।

Market—बाजार ।

Market Price—बाजार मूल्य ।

Material Goods—पार्थिव वस्तुएँ ।

Maximum Net Monopoly Revenue—एकाधिकारी का अधिकतम नफा ।

Measure of Value—विनिमय-शक्ति का माप ।

Medium of Exchange—विनिमय का माध्यम ।

Metallic Money—धात्विक द्रव्य ।

Milled Edges—सिक्कों के किटकिटीदार किनारे ।

Mixed Banks—मिले-जुले बैंक ।

Mobility—गति शीलता ।

Monetary Inflation—मुद्रा-प्रसार ।

Money—द्रव्य ।

Money Market—द्रव्य-बाजार ।

Mono-metallism—एक धातु चलन ।

Monopolistic Competition—एकाधिकारी प्रतिस्पर्धा ।

Monopoly—एकाधिकार ।

N

National Capital—राष्ट्रीय पूँजी ।

National Wealth—राष्ट्र की सम्पत्ति ।

Natural Monopoly—प्राकृतिक एकाधिकार ।

Necessaries—आवश्यक आवश्यकताएँ ।

Necessaries for Efficiency—कार्य-क्षमता प्राप्त करने की आवश्यकताएँ ।

Necessaries for Existence—जीवित रहने की आवश्यकताएँ ।

Net Interest—वास्तविक सूद ।

Non-material Goods—अपार्थिव वस्तुएँ ।

Non-specific factor—अविशिष्ट साधन ।

Normal Price—सामान्य-मूल्य ।

Normal Profit—सामान्य लाभ ।

Normative Science—आदर्श-विज्ञान ।

O

Octroi—चुंगी ।

Open Market Operations—खुले बाजार में सिक्योरिटियों का क्रय-विक्रय ।

Optimum Theory of Population—अधिकतम जनसंख्या का सिद्धान्त ।

Order cheque—शाहजोग चेक ।

Ordinary Shares—साधारण हिस्से ।

Organisation—संगठन ।

Overhead Cost—अतिरिक्त-व्यय ।

Over-population—अधिक जनसंख्या

Over-production—अधिक उत्पादन

आधुनिक अर्थशास्त्र

लेखक

पी. सी. जैन, एम. ए., एम. एस-सी. (लन्दन),

रीडर, अर्थशास्त्र विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय;

रचयिता, 'इण्डिया बिल्ड्स हर वॉर एकॉनॉमी';

सपादक, 'इण्डस्ट्रियल प्रॉब्लेम्स ऑफ इण्डिया'

और

आर. एन. भार्गव, एम. ए.,

लेक्चरर, अर्थशास्त्र विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय;

रचयिता, 'प्राइस कन्ट्रोल ऐण्ड राशनिंग';

'टैक्सेशन ऑफ इनहेरिटेन्स' इत्यादि

प्रकाशक

नन्दकिशोर ऐण्ड ब्रदर्स

बनारस

प्रकाशक
नन्दकिशोर भार्गव
नन्दकिशोर ऐण्ड ब्रदर्स
चौक, बनारस

प्रथम संस्करण १९५२
मूल्य सात रुपया

मुद्रक
पृथ्वीनाथ भार्गव
भार्गव भूषण प्रेस
गायघाट बनार

P

Paid-up Capital—परिदत्त पूंजी।
Paper Money—कागजी द्रव्य।
Paper Standard—कागजी मान।
Partial Monopoly—आंशिक एकाधिकार।
Partnership—साझेदारी।
Payee—लेनदार।
Pay-in-slip—जमा कराने की पर्ची।
Perfect competition—पूर्ण प्रतिस्पर्धा।
Perfectly Elastic—पूर्णतया लचकदार।
Perfectly Inelastic—पूर्णतया वेलचकदार।
Perfect Monopoly—पूर्ण एकाधिकार।
Personal Wealth—व्यक्तिगत सम्पत्ति।
Pilgrim Tax—यात्री कर।
Place Utility—स्थान-परिवर्त्तन से उत्पन्न हुई उपयोगिता।
Planned Expansionist Economy योजना के अनुसार प्रसारित होती हुई आर्थिक व्यवस्था।
Partability—वहनीयता।
Positive Science-वास्तविक विज्ञान।
Post-dated cheque–वाद की तारीख का चेक।
Preference Shares–रियायती हिस्से।
(Cumulative) Preference Shares—जमा होनेवाले रियायती हिस्से।
(Ordinary) Preference Shares—साधारण रियायती हिस्से।
Price—मूल्य।
Price Control—मूल्य का नियत्रण।
Prime Cost—परिवर्त्तित लागत।
Principle of Equi-Marginal Social Benefit—सम-सीमान्त राजकीय या सामाजिक लाभ (या उपयोगिता) का सिद्धान्त।
Principle of Least Aggregate Sacrifice—न्यूनतम भार का सिद्धान्त।
Principle of Maximum Benefit (राजकीय व्यय से) अधिकतम लाभ प्राप्त करने का सिद्धान्त।
Principle of Public Expenditure—राजकीय व्यय का सिद्धान्त।
Principle of Public Finance—राजस्व का सिद्धान्त।
Principle of Taxation—कर का सिद्धान्त।
Private or Individual Capital—वैयक्तिक पूंजी।
Production—उत्पादन।
Productivity—उत्पादन शक्ति, उत्पादकता।
Profit—लाभ।
Progressive—प्रगतिशील।
Protective Duty—सुरक्षण कर।
Provincial Excise—(प्रान्तीय) आवकारी।
Public Debt—राजकीय ऋण।
Public Domain—राज्यकी सम्पत्ति।
Public Expenditure—राजकीय व्यय।
Public Finance—राजस्व।
(Science of) Public Finance—राजकीय अर्थशास्त्र।

Q

Public Revenue—राजकीय आय ।

Purchase—क्रय ।

Purchasing Power—द्रव्य की क्रय-शक्ति ।

Pure Profit—वास्तविक लाभ ।

Quantity Theory of Money—द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त ।

Quasi Rent—अनुपार्जित वृद्धि या अर्ध लगान ।

R

Rail Road Competition—रेल-स्थल मार्ग प्रतिस्पर्धा ।

Rationing—राशनिंग ।

Reflation—सकुचन सुधार ।

Regressive—ह्रासोन्मुख प्रवृत्ति ।

Rent—लगान ।

Representative Firm—प्रतिनिधि फर्म ।

Reserve (Fund)—सुरक्षित कोष ।

Residual Claimant Theory—शेषाधिकारी सिद्धान्त ।

Revenue—आय ।

Revenue Duty—आय-निमित्त कर ।

Risk—जोखिम ।

Risk taking—जोखिम लेना ।

Rupee securities—रुपयो मे चुकाये जानेवाले सरकारी ऋण ।

S

श्री सन्मति पुस्तकालय
Acc. No. 4058

Sacrifice—त्याग ।

Sale—विक्रय ।

Sales Tax—विक्रय-कर ।

Salt Tax—नमक-कर ।

Satisfaction—सन्तोष ।

Saving—बचत ।

Savings Bank Account—सेविंग बैंक के खाते ।

Schedule—कोष्टक ।

Secular Market—सामान्य बाजार ।

Security Services—सुरक्षा सम्बन्धी व्यय ।

Seigniorage—ढलाई लाभ ।

Semi-manufactured—आधी तैयार वस्तुएँ ।

Share Capital—हिस्सो की पूंजी ।

Shifting—कर का हटाना ।

Silver Standard—रजत-मान ।

Simplicity—सरलता ।

Social Capital—सामाजिक पूंजी ।

Social Monopoly—सामाजिक एकाधिकार ।

Social Services—समाज सेवा पर व्यय ।

Special Assessment-विशेष उघाई ।

Specialisation—विशिष्टता, विशेष योग्यता ।

Specific (Duty)—परिमाणके अनुसार (आयात-निर्यात) कर ।

Specific factor—विशिष्ट साधन ।

Speculation—सट्टा ।

Stability—स्थिरता ।

Standard Coin—प्रामाणिक सिक्का ।

Standard of Deferred Payments भविष्य के लेन-देन व भुगतान का मान ।

Standard of Living—रहन-सहन का दर्जा ।

Standard-Token Coin—सांकेतिक-प्रामाणिक सिक्का ।

State Banker—राजकीय बैंक।
State Enterprise—राजकीय उद्योग
Sterling Exchange Standard—स्टर्लिंग-विनिमय-मान।
Sterling Securities—स्टर्लिंग सिक्योरिटीज।
Stock—स्टॉक।
Store of Value—विनिमय-शक्ति का सचय।
Subscribed Capital—प्रार्थित पूंजी।
Subsidiary Industries—सहायक उद्योग-धन्धे।
Subsistence Theory—जीवन-निर्वाह सिद्धान्त।
Substitution—प्रतिस्थापन।
Supplementary Cost—स्थिर लागत
Supply—पूर्ति।
Supply Curve—पूर्ति की वक्ररेखा।
Supply Price—पूर्ति का मूल्य।
Supplyschedule—पूर्ति का कोष्टक।
Sweating (of coins)—जलाई।
Symmetallism—अनेक धातु मान।

T

Tax—कर।
Terminal Tax—सीमा कर।
Terminal Toll—राहदरी महसूल।
Theory of Value—अर्घ का सिद्धान्त।
Time Liabilities—स्थायी सम्पत्ति।
Time Market—समय सम्बन्धी बाजार
Time Preference Theory—समय-पसन्द नियम।
Time or Usance Bill—मुद्दती बिल
Time Utility—समय-परिवर्त्तन से उत्पन्न हुई उपयोगिता।
Token Coin—सांकेतिक सिक्का।
Total Revenue—कुल आय।
Total Utility—कुल उपयोगिता।
Trade—व्यापार।
Trade Depression—व्यापार मन्दी।
Transport—यातायात।

U

Unconscious Want—अचेतन आवश्यकता।
Under population—कम जनसंख्या।
Unearned Income—अनउपार्जित आय।
Unitary form of government—एकात्मक सरकार।
Units—इकाइयाँ।
Unlimited Legal Tender—असीमित कानूनी ग्राह्य।
Unlimited Liability—अपरिमित दायित्व।
Unskilled Labour—अकुशल श्रमिक
Utility Schedule—उपयोगिता का कोष्टक।

V

Value—अर्घ।
Variable Cost—परिवर्त्तित लागत।

W

Wages—मजदूरी या वेतन
Wages Fund—मजदूरी कोष, पारिश्रमिक कोष।
Want—आवश्यकता।
Wealth—सम्पत्ति।
Weighted Index Number—गुरुता के सकेताक।
Weighting—गुरुता की प्रथा।